मेरे
मरुस्थल

योगेश गुप्त

मेरे मस्तूल

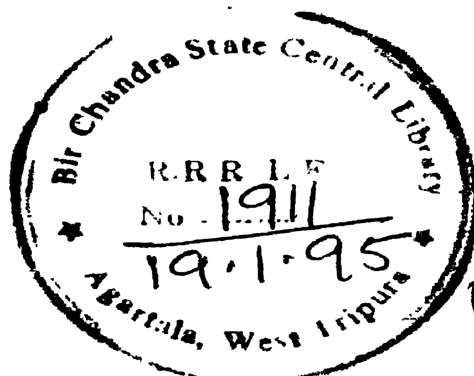
सुमन प्रकाशन

ई-500, हरदेवपुरी, मण्डोली रोड,

शाहदरा, दिल्ली-110093

मेरे मस्तूल

(तीन उपन्यास)



योगेश गुप्त

मूल्य : 195.00
प्रथम संस्करण : 1959
आवरण : धर्मवीर
प्रकाशक : सुमन प्रकाशन
ई-500, हरदेवपुरी, शाहदरा, दिल्ली-110093
मुद्रक : नवप्रभात प्रिन्टिंग प्रैस दिल्ली द्वारा मुद्रित।

MERE MASTOOL : (Novels) by YOGESH GUPT Rs. 195.00

तीसरी पीढ़ी के नाम

अपूर्वा और अनाम आगन्तुकों के
उज्ज्वल भविष्य की आशा में

आत्म-स्वीकृति

यह बताना बहुत मुश्किल है कि कोई व्यक्ति लेखक कैसे बनता है। कहते हैं कि वह और लोगों से अधिक संवेदनशील होता है। वह सामान्य तौर पर जो अनुभव सामने आते हैं उनसे अतिरिक्त भी बहुत कुछ अनुभव करना चाहता है इसलिए रोमैंटिक भी होता है और दुस्साहसी भी। ऐसा भी माना जाता है कि और लेखकों ने जो भी अनुभव किये और उनमें से जो विचार प्राप्त किये उनसे लेखक परिचित होना चाहता है। ऐसा भी लोगों का विश्वास है कि लेखक के 'इंस्टिंक्ट्स' अधिक उद्दाम होते हैं इसलिए उसका सामान्य स्वरूप सामाजिक दृष्टि से उच्छृंखल होता है, और इसी कारण काफी सीमा तक वह परम्परा-विरोधी होता है, जिसे कभी-कभी लेखक की अपराध-वृत्ति भी माना जाता है। मेरा मानना है कि यह सब बातें लेखक में जरूर होती होंगी लेकिन जो सबसे बड़ा गुण उसमें होना चाहिए वह है दूसरे को स्वतन्त्रता देने की सामर्थ्य। समाज में कौन किसको स्वतंत्रता दे सकता है, क्योंकि हर व्यक्ति परावलम्बी होता है, इसलिए समाज के सन्दर्भ में स्वतंत्रता की परिभाषा कभी भी सम्पूर्ण नहीं हो पाती लेकिन लेखक तब तक अच्छा लेखक नहीं बन सकता जब तक कि वह अपने काल्पनिक पात्रों को पूर्ण रूप से स्वतन्त्रता देने में समर्थ नहीं है। उसका काम केवल पात्रों का प्रथम परिचय देना होता है, उनके आपसी संबंधों को पहचानना और परिभाषित करना। उसके बाद उसकी भूमिका लिपिक से अधिक कुछ नहीं होती। जैसे-जैसे उसके पात्र व्यवहार करते है वह देखता हैं और रिकॉर्ड करता है। इन्हीं पात्रों के क्रिया-कलापों से कभी कहानी बन जाती है तो कभी उपन्यास, और यह मनोरंजक तथ्य है कि इन पर लेखक के तौर पर उस तटस्थ दृष्टा का नाम छपता है।

'मेरे मस्तूल' नाम कीं इस पुस्तक में मेरे तीन उपन्यास संकलित हैं, यह कुछ ऐसे पात्रों के क्रिया-कलाप हैं जो थे तो यथार्थ लेकिन एक सीमा तक कल्पनाजीवी थे। 'विसर्जन' की शौकत से तीन चार मुलाकात मेरी हुई लेकिन उसके प्रभाव ने एक पूरे उपन्यास का विस्तार ले लिया। वह बम्बई की एक 'सिंगर गर्ल' थी जो शिद्दत से अपने परिवेश को तोड़कर बाहर आना चाहती थी, वह बाहर आ सकी या नहीं मुझे मालूम नहीं लेकिन मैंने उसे काल्पनिक रूप से उस परिवेश से बाहर आता हुआ दिखाया। हर लेखक अपना चरित्र एक नायक के रूप में प्रस्तुत करना चाहता है, वही विसर्जन में प्रवीण के रूप में हुआ। अपने अग्रज वीरेन्द्र गुप्त के कर्त्तव्यपरायण, नीति कुशल और किसी सीमा तक भय पैदा करने वाले स्वरूप को मैंने सुधीन्द्र का बाना पहनाया अत्यन्त स्नेहमयी माँ जिसमें मेरी अटूट आस्था थी, ने प्रवीण की माँ का बाना पहन लिया। शेष ये सब लोग अपनी अपनी तरह से चलते रहे और समय आया कि उपन्यास का अन्त हो गया। यह उपन्यास मैंने 23 साल की उम्र में लिखा था और सामाजिक स्थिति यह थी कि एक लावारिस की तरह मैं बनारस में

पहुंच गया था, और एक बासे में रहने लगा था और कई दिन रहने के बाद मुझे अहसास हुआ था कि यहां पर देने के लिए मेरे पास पैसे नहीं हैं। बनारस के एक बुक-सेलर भगवान दास से मैंने कॉपी और पैन उधार लिया तथा पूरी गति से यह उपन्यास लिख मारा, जो सुभाष पुस्तक मन्दिर, अवध गर्वी ने तीस रुपये में खरीदा। बासे के पैसे चुकाकर मैं बाहर निकला और निश्चय किया कि ऐसी जगह रहना चाहिए जहां पैसे देने ना पड़ें। इसी संकल्प के फलस्वरूप मैंने राणा घाट पर पंडों के तख्त पर बिस्तरा जमाया। पंडे महोदय रात के ग्यारह बजे से सुबह के चार बजे तक अनुपस्थित रहते थे और इतने ही समय मैं वहां सोता था।

छविनाथ के लिखे जाने की कहानी इस से भी अधिक मनोरंजक है। वह बनारस में शुरू हुआ, बनारस से मैं बम्बई चला गया, छविनाथ आधा लिखा जा चुका था, बम्बई की लोकल ट्रेन में वह कॉपी खो गई। उस दिन मुझे अहसास हुआ कि अपने लिखे के खोने का मुझे कोई खास गम नहीं होता। बम्बई में कुछ महीने गम्भीर त्रास भुगतकर मैं वापिस दिल्ली पहुंचा और यहां फिर एक लावारिस व्यक्ति की तरह रहने लगा। छविनाथ उस समय भी दिमाग की दीवारों पर दस्तक दे रहा था। बचपन के एक दोस्त राधा किशन दुआ, जिसकी स्टेशनरी की दुकान थी, से मैंने कॉपी कलम लिया और 'ईट मोर रेस्टोरेंट' में बैठकर छविनाथ लिखना शुरू किया। रेस्टोरेंट के मालिक करमचंद ने मेरे लिए एक मेज रिजर्व कर दी और मित्र राधा किशन दुआ ने नियम बना लिया कि रोज शाम को एक निब और स्याही मुझ तक पहुंचानी है। मैं सुबह सात बजे लिखने बैठता था और रात को ग्यारह बजे तक, बीच के एक दो घण्टों को छोड़कर निरन्तर लिखता रहता। दिन में एक दो घण्टे के लिए पहाड़ी (दिल्ली विश्वविद्यालय के पास) जाता और किसी भी पत्थर पर पड़कर सो जाता। ग्यारह बजे रेस्टोरेंट बन्द हो जाता तो जनवरी के उस महीने में रात काटना मुश्किल हो जाता। लेकिन चाय पकौड़ों की एक दुकान की भट्टी ने मेरी मदद की। ग्यारह से लेकर सुबह के सात बजे तक मैं वहां बेंच पर बैठता या सोता। मेरे लिए भी यह आश्चर्य का विषय है कि इस उपन्यास का पहला खण्ड केवल नौ दिन में लिखा गया। मुझे आज तक याद है कि कॉपी पर अन्त में 17.1.1956 की तारीख पड़ी थी पर यह मुझे याद नहीं है कि मैंने दरअसल लिखा क्या था और उसका संघटन कैसे हुआ। बहुत बाद में मालूम हुआ कि उपन्यास में भावनात्मक प्रभाव बहुत है और घर के सब लोग अलग-अलग रूपों में उसमें उपस्थित हैं। माता, पिता, बहन (सुभद्रा), भाई (वीरेन्द्र गुप्त), भाभी (राजेश्वरी), और भतीजा (प्रवीण)। बचपन की एक मित्र जसोदा और भाभी के कुछ और सगे संबंधी। शौकत इसमें बानो बनकर आई। लेकिन छविनाथ की कहानी यथार्थ नहीं है। है वह कल्पना प्रसूत ही। बाद में मुझे आश्चर्य हुआ कि बिना किसी प्रयास के इन पात्रों ने ऐसे-ऐसे क्रिया-कलाप कैसे किये। मुझे लगता है कि यथार्थ की एक छवि और समझ कल्पना को जीवंत करती है, और यहीं पर लेखक की परीक्षा होती है कि वह अपने पात्रों को कितनी स्वतंत्रता दे सकता है। वहीं पर मेरी समझ में यह भी आया कि यथार्थ और तथ्य में क्या अन्तर है। यथार्थ को आप बिना स्वप्नजीविता के परिभाषित नहीं कर सकते और तथ्य निर्वस्त्र घटित को कहते हैं, जो असुन्दर तो होता ही है भ्रम पैदा करने वाला भी होता है।

'विसर्जन' और 'छविनाथ' लिखने के बाद मुझे शिद्दत से अहसास हुआ कि मैं व्यवहार में तो पात्रों को स्वतंत्र रख रहा हूं लेकिन उनकी भाषा और अनुक्रियाएं मेरे अत्यन्त प्रिय लेखक शरत् चन्द्र चट्टोपाध्याय से प्रभावित हैं, मुझे लगा कि यह पात्रों के प्रति अन्याय है और मेरी अस्मिता पर एक लांछन है। मुझे यह भी महसूस हुआ कि मैं स्वतन्त्रता शब्द का दुरुपयोग कर रहा हूं। भारतीय समाज का यह ऐसा काल था जब विचारधाराएं अत्यन्त प्रभावशाली थीं, गांधीवाद का आतंक समाज की सामूहिक मानसिकता को विकृत कर रहा था, कुछ विदेश से भी विचारधाराएं आयातित हो रही थी, मैं यह तो मानता था कि विचारधारा जीवन की सबसे प्रभावकारी अभिव्यक्ति है लेकिन यह मानना मुझे स्वीकार्य नहीं था कि मैं अपने पात्रों को उंगली पकड़कर किसी एक विचारधारा की दलदल में फंसा दूं। इसी समय मार्क्सवाद से मेरा संक्षिप्त परिचय हुआ, उसने मुझे सम्मोहित किया लेकिन अन्दर यह शंका भी पैदा की कि जो विचारधारा सम्मोहित करती है वह बहुत जल्दी व्यक्ति को क्या रूढ़िवादी नहीं बनाती ? एक प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लोभ में क्या हम दूसरी तरह से परतन्त्र नहीं हो जाते ? लेकिन इस शंका का भी कोई स्पष्ट समाधान मेरे पास नहीं था और मार्क्सवादी सोच मुझ पर हावी होती जा रही थीं। 'विसर्जन' और 'छविनाथ' की आस्थाएं टूट रही थीं। पुराने भारतीय मूल्यों पर प्रश्नचिन्ह लग रहे थे और ईश्वर तथा संस्कृति के प्रतीक मुझे असंगत लगने लगे थे। आज जब बहुत लम्बी यात्रा पार करने के बाद मैं यह सोचता हूं कि मुझमें यह परिवर्तन इतनी तेजी से क्यों हुआ तो कई कारण स्पष्ट अपना प्रभाव पैदा करते हुए दिखाई देते हैं। पिता की सिद्धांतजड़ता, घूमने के दौरान देखी धर्मस्थलों की विसंगतियां, अर्थाभाव की पीड़ा का प्रत्यक्ष अनुभव और सबसे अधिक हिन्दू धर्म की पाखण्डी प्रवृत्तियां। पिता के निमित्त से मुझे बोध हुआ कि कभी-कभी सिद्धांतवादिता व्यक्ति को असामाजिक बना देती है और व्यक्ति को इस बात के लिए प्रेरित करती है कि वह अपने सिद्धांतों को दूसरों पर आरोपित करे, इस प्रक्रिया में आपसी संबंध सतही हो जाते हैं और मानव मूल्य मात्र शब्दाडम्बर रह जाते हैं। इस तरह की सिद्धांतवादिता न सिर्फ यह कि व्यक्ति की प्रतिभा को कुंठित करती है बल्कि उसे काफी सीमा तक अमानवीय बनाती है। कहीं सिद्धान्त के नाम पर तो कहीं धर्म और जाति के नाम पर वह दूसरों से घृणा करने के लिए बाध्य करती है, और मेरा यह स्पष्ट मत है कि लेखक इस प्रकार की घृणा से बचना चाहता है। मैं किसी के अमानवीय होने की परिभाषा को औरों के प्रति सरोकार ना होना मानता हूं, जिस अमानवीयता को मैंने तमाम धर्मस्थलों में भरपूर अनुभव किया। बनारस में एक बार एक औरत कई दिनों तक दम तोड़ती हुई सड़क के किनारे पड़ी रही थी, और उससे कन्नी काट कर अनेक लोग विश्वनाथ मंदिर जाते और वहां से आते रहे, मैंने जब लोगों का ध्यान इस ओर खींचने को कोशिश की थी तो अलग-अलग भाषा में लोगों ने यही कहा था कि सब भगवान की मर्जी है, या अपने-अपने कर्मों का फल है। मुझे याद है कि मेरी नितान्त ग्रामीण अनपढ़ मां ऐसा नहीं करती थी। किसी को भी तकलीफ में देखकर वह भागकर पहुंचती थी और इस प्रयास में हिन्दू या मुसलमान होना कोई मायने नहीं रखता था। मां पुराने जमाने की छुआछूत वाली महिला थी लेकिन सहारनपुर में (जहां के हम निवासी हैं) उसकी बेहतरीन मित्र मुसलमान औरतें थीं और अपने गांव में अनेक अछूत महिलाओं को अपने पास बैठाकर बतियाना उसका

शौक था। पिता भी ऐसा नहीं है कि सामाजिक सरोकार नहीं रखते थे लेकिन वे सरोकार किसी-ना-किसी सिद्धांत के दायरे में बन्द होते थे यानी स्त्री शिक्षा के लिए कुछ करना है तो कन्या पाठशालाएं खोलनी चाहिएं। अनेक हिन्दू लड़कियों को मुसलमान उठाकर ले गये और सनातन धर्मी यह मानते हैं कि इस तरह की लड़कियां अशुद्ध हो जाती हैं इसलिए उनसे किसी को विवाह नहीं करना चाहिए तो 'शुद्धि आन्दोलन' शुरू करना चाहिए या हिन्दुओं की रक्षा के लिए 'आर्य वीर दल' को संगठित करना चाहिए। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ झण्डा-अभिवादन करता है यानी यह मूर्ति पूजा है तो राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ का विरोध करना चाहिए। मंदिरों की अवमानना इसलिए करनी चाहिए क्योंकि वहां मूर्ति पूजा होती है और भक्ति साधकों को हेय दृष्टि से देखना चाहिए। सनातन धर्मियों को शास्त्रार्थ में हराकर उन्हें अपमानित करना चाहिए, राष्ट्रीय आन्दोलन को सहयोग तो देना चाहिए लेकिन गांधी को नहीं, क्रान्तिकारी आन्दोलन को, क्योंकि गांधी 'ईश्वर अल्ला तेरो नाम' गाते हैं। वेद पूजनीय हैं लेकिन स्वामी दयानन्द द्वारा रचित सत्यार्थ प्रकाश भी उतना ही महत्व रखता है। बच्चों को चप्पल जूते नहीं पहनने चाहिएं, लम्बी चुटिया रखनी चाहिए और अंग्रेजी बाल नहीं कटाने चाहिएं। सुधारवादी आन्दोलन से जुड़े लगभग सभी व्यक्तियों का यही हाल था। वे कूपमण्डूक दृष्टि से भारतीय समाज में परिवर्तन लाना चाहते थे और अपने नियमों के प्रति बहुत सख्त थे। मुझे याद है एक दफा बड़ी बहन की शादी में लड़की को हल्दी लगाने की प्रथा को लेकर घर में इतना झगड़ा खड़ा हुआ था कि पूरी शादी का मजा खराब हो गया था। मुझे कभी-कभी लगता है कि सिद्धांतवादी आदमी जो भी करता है अपनी अहम-तुष्टि और सम्मान की रक्षा के लिए करता है। उसकी यह निष्ठुर कर्त्तव्यपरायणता मानवीय संबंधों पर बहुत भारी पड़ती है। इसीलिए शायद पिता ने सबके लिए सब कुछ किया लेकिन शायद ही कोई व्यक्ति उनके प्रति कृतज्ञ रहा हो, यही उनके जीवन की सबसे बड़ी त्रासदी रही और संभवतः यही कारण है कि उनमें विद्वता और निष्ठा होने के बावजूद एक लचीलापन कभी नहीं आया जिसने उनको यश मिलने नहीं दिया। पिता के स्वभाव का नकारात्मक प्रभाव मेरे मन पर हमेशा रहा और आज भी है, उनके अपने चरित्र पर पड़ने वाले प्रभांव से मुक्त होने का प्रयास आज भी मुझे करना पड़ रहा है। सम्बल के रूप में मां का चरित्र अगर साथ न होता तो स्वतन्त्र होना मुश्किल था।

धर्मस्थलों और हिन्दू धर्म के पाखण्ड का विवेचन विस्तार से करना संभव नहीं है लेकिन जिन स्थलों पर मैं रहा हूं वहां मैंने यही देखा कि धर्म व्यक्ति को अनैतिक काम करने का लाइसेंस देता है, मन्दिरों के पंडे दर्शनार्थियों के साथ गुण्डों जैसा व्यवहार करते हैं, उनको ठगना तो मामूली बात है लेकिन उनकी उच्छृंखलता शराफत की हर सीमा को पार कर जाती है, मुझे कभी-कभी ये महसूस हुआ है कि पाखण्ड हिन्दू धर्म के मूल में है। वे सदाचार की बात करते हैं लेकिन अनाचार से परहेज नहीं करते, वे धन संचय को पाप बताते हैं लेकिन ब्याज पर रुपया चढ़ा कर धन संचय करते हैं, वे 'जनकल्याण' और 'सब समान हैं' का नारा देते हैं लेकिन अपने ही धर्म के एक वर्ग को अछूत बना देते हैं। धर्म के नाम पर अनाचार का प्रचार सबसे अधिक हिन्दू धर्म ने किया है संभवतः इसी कारण उनके यहां का सबसे माननीय चरित्र पलायनवादी है। यह हिन्दुओं की प्रकृति में है। या

तो वे अनाचार की हद तक विलासी होते हैं या पलायनवादी। जैनेन्द्र जी से एक दफा मैंने पूछा कि, 'आप तो अपरिग्रह में आस्था रखते हैं पर लोग आपको अर्थलोलुप मानते हैं' तो उन्होंने एक बहुत चतुर उत्तर मुझे पकड़ा दिया कि 'मेरे गलत होने से सिद्धान्त गलत थोड़े ही होता है' यही संभवतः हिन्दू धर्म का मूल है। इनके यहां व्यक्ति और सिद्धांत समानांतर चलते हैं, इसीलिए व्यक्ति सिद्धांत का उपयोग तो करता है उसे ग्रहण कभी नहीं करता है। मैं हिन्दू घर में पैदा हुआ हूं और मेरे पिता ना सिर्फ आस्तिक थे बल्कि अत्यन्त धर्म-निष्ठ थे। इसलिए यदि मैं कहूं कि मुझ में यह पाखण्ड नहीं है तो झूठ बोल रहा हूंगा। विरोधाभासों की इस सांकल से कोई भी शायद पूरी तरह मुक्त नहीं हो सकता।

वाल्तेयर से एक बार उसके एक मित्र ने कहा था कि, "तुम ऐसा सच क्यों बोलते हो कि लोग तुम्हारे दुश्मन हो जाते हैं" तोर वाल्तेयर का उत्तर अत्यन्त सटीक था। उसने कहा था, "सच बोलना मेरा पेशा है अगर मैं सच बोलना बन्द कर दूंगा तो लिखना बन्द हो जायेगा।" मुझे लगता है कि यही आज के लेखक की सबसे बड़ी विडम्बना है। वह चाहकर भी सच नहीं बोल पाता। जीवन पद्धति और, विचारधारा और तथा भाषण कुछ और। सच बोलने की ताकत कहां से आयेगी, यह शक्ति व्यक्ति को सिद्धांत या नैतिकता में से प्राप्त नहीं होती यह अपनी अनुक्रियाओं को, उनकी दिशा को स्पष्ट रूप से समझने से होती है, इसी प्रक्रिया में वह अपने अन्दर के विरोधाभासों को समझ सकता है और इसी समझ के आधार पर वह सामाजिक विरोधाभासों को पाठकों के सामने प्रस्तुत करता है साथ ही यही रास्ता निजी और सामाजिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने का है। मैं जब यह देखता हूं कि मेरे यहां सामन्त नाना, महाजन दादा तथा सुधारवादी पिता तीनों एक साथ जिन्दा हैं तो कभी-कभी मुझे अपने आप से डर लगता है, यह भी महसूस होता है कि इन प्रवृत्तियों को मारने का तरीका, इन व्यक्तियों का विरोध न होकर प्रवृत्तियों का विनाश करना है। विसर्जन और छविनाथ में मुझसे यही गलती हुई। इनमें व्यक्ति विरोध है, उदात्त प्रवृत्तियों का काल्पनिक चित्रण है, पर सामन्तवाद और महाजनी संस्कृति के विनाश की स्पष्ट इच्छा नहीं है। इसलिए भावनात्मक प्रभाव तो है वैचारिक उद्वेलन नहीं है लेकिन यह भी बात सच है कि उन दो उपन्यासों में कुछ पात्र ऐसे हैं जो मेरे लिए स्थायी मूल्य रखते हैं और हवा के रुख को पहचान कर मेरी नाव को चलाने में समर्थ हैं। लेकिन हवा के रुख पर नाव को चलने देना व्यक्ति की असमर्थता का द्योतक है। मुझे लगता है कि इस असमर्थता को जीतने की कोशिश के फलस्वरूप उप-संहार लिखा गया। उसमें वही पुराने वाला 'रोमैंटिसिज़्म' लो है पर अर्थाभाव की भयानक पीड़ा इसको तोड़ती हुई नजर आती है। निराशा और विषाद इस उपन्यास में घनीभूत हो कर आये हैं जो मेरे विचार से 'विसर्जन' और 'छविनाथ' की करुणा का ही परिवर्तित रूप है। इस उपन्यास में अनैतिकता और निर्नैतिकता, सौन्दर्यबोध और अपराध-बोध, स्वप्नजीविता और निष्ठुर यथार्थ का द्वंद्व है। मुख्य पात्र इसमें भी घर से भाग जाता है लेकिन विसर्जन और छविनाथ में इस पलायन को 'ग्लोरीफाई' किया गया है लेकिन उप-संहार में पलायन मुख्य पात्र की विवशता है। यह समझना मेरे लिए दुरूह है कि मेरे अवचेतन में इस प्रकार के पलायन को उतना महत्वपूर्ण स्थान क्यों मिला है। इस स्थिति की खोज संभवतः मैं अपने अगले उपन्यास 'मेरे अतिरिक्त' में कर पाऊंगा।

मेरा प्रश्न वही है कि मैं लेखक क्यों बना ? ग्यारहवीं तक मैं विज्ञान का विद्यार्थी रहा, बचपन मैं मैंने सुना है कि मैं वकील बनना चाहता था। बेघरबारी जमाने में कई बार साधुओं के ठिकानों पर गया और साधु बनने की इच्छा प्रकट की। पेशे के तौर पर प्रेस से संबंधित लगभग सभी काम सीखे, फरमा भांजने से लेकर मशीन चलाने तक। आंखें कमजोर होने के कारण मशीन चलाना छोड़ दिया और पिता का सिखाया हुनर प्रूफ रीडिंग करता रहा। इस सबके अतिरिक्त भी किताबें बेचने से लेकर घी बेचने तक अनेक काम किये। रेडियो इंजीनियरिंग का काम सीखा और एक बार कुछ दिनों के लिए रेडियो ठीक करने की दुकान भी खोली। जैसे शहर बदलना मेरी फितरत थी उसी तरह पेशे बदलना भी आदत बन चुका था लेकिन लेखक बनने की इच्छा संभवतः महत्त्वाकांक्षा के रूप में कभी पैदा नहीं हुई। आज भी जब कोई मेरा परिचय लेखक के तौर पर कराता है तो अन्दर बहुत संकोच होता है। शायद मेरे लिए लेखन पेशा नहीं है इसीलिए लेखक होना किसी व्यक्ति का परिचय हो सकता है यह मैं नहीं मानता। किताब से आने वाले पैसे की प्रसन्नता मुझे कम होती है लेकिन यदि कोई मेरी किताब पढ़ कर बातचीत के लिए तैयार हो जाये तो मैं गदगद हो जाता हूं। मोहन राकेश ने एक दफा मुझसे कहा था, "इतना अच्छा लिखते हो फिर लेखन को अपना करियर क्यों नहीं बनाया—मानी प्लैन क्यों नहीं किया ?" मुझे इस वाक्य पर उस दिन भी हँसी आई थी और आज भी मैं हँसने के लिए बाध्य हूं। लेखन करियर नहीं है। वह संभवतः अपने नये पुराने रिश्तों की खोज है, उन लोगों के साथ जीने का प्रयास है जो खो गये हैं और यह जानने की कोशिश है कि व्यक्ति किस तरह के लोगों के साथ और समाज के बीच जीना चाहता है। यद्यपि एक हताशा पिछले दस सालों से मेरे दिमाग को अपनी गिरफ्त में लिए है फिर भी मेरी यह कोशिश जारी है और मुझे आशा है कि जारी रहेगी।

—योगेश गुप्त

85 शिवा खण्ड
विश्वकर्मा नगर
शाहदरा,
दिल्ली-95

विसर्जन

पहला स्वप्न

भगवान किसी को छोटा न बनाये। हर कोई अपने बड़प्पन की धाक से जैसे उसका सिर कुचल-मुचल डालना चाहता है। अब देखिये न, इस बेचारे प्रवीण की ही व्यथा सुनिये ! माँ है, सो जब सामने से निकलता हूँ पूछ बैठती हैं—'क्यों रे प्रवीण, कहाँ चला ?'

मैं अत्यन्त विनयपूर्वक निवेदन करता हूँ—'माँ जी, कल जो अपने कालिज का मैच है न, क्रिकेट का, हिन्दू कालेज से, सो उसकी प्रैक्टिस है, आपका यह दीन-हीन पुत्र प्रवीण उसी ओर अपनी कलाबाजी दिखाने का प्रयास कर रहा है। आज्ञा है न माता जी ?'

माँ कहती है—'क्यों रे, तेरे ये मैच-फैच कभी इस जिन्दगी से खत्म भी होंगे ? तेरे कालिज तो अब बन्द हो गए पर ये मैच ?... देख प्रवीण, अब तू बड़ा हो गया है और तू देखता ही है कि तेरे भैया पर व्यापार का कितना काम रहता है। क्यों, क्या तेरा कभी मन नहीं करता कि तू भी उसके काम में हाथ बँटाये ?'

मैं और सब सहन कर सकता हूँ पर यह सहन नहीं कर सकता कि कोई मुझे यह कहे कि तू अकर्मण्य है, या काम करने को तेरा मन नहीं करता। अपने हृष्ट-पुष्ट शरीर को जब मैं ध्यान से देखता हूँ तो मुझे अपने शुद्ध भारतीय योद्धा होने में तनिक भी सन्देह नहीं रहता। अर्जुन की कहानी याद आ जाती है। उसे भला कोई अकर्मण्य कह सकता था ? माना कि एक बार श्रीकृष्ण ने अपनी शेखी बघारने के लिए उसे 'क्लीव' कहा था पर उसने बर्दाश्त किया हो सो करे, मैं बर्दाश्त करने वाला नहीं हूँ। मैंने तत्काल ही हाथ का बैट जमीन पर निर्दयता से पटका और पूजनीय माँ के दोनों चरणकमलों को दोनों हाथों से थाम जोर से दबाने लगा। उफ् री ! निर्दयी माँ, तेरा क्रोध इतने पर भी नहीं पिघला। तूने जोर से अपने पैर मेरे हाथों में से खींच लिये। जैसे आजकल के भगवान किसी निर्धन पुजारी को देख, पीठ घुमा लेते हैं और भर्त्सना से अपने इस दासानुदास सुपुत्र को कह डाला—'ढोंगी, निर्लज्ज ! बस, फरेब रचना आता है, न काम का न धाम का। अच्छा जा, मेरी आँखों से ओझल हो जा। यह अपना डंडा उठा और इसी समय कमरे से बाहर निकल। और फिर अपना मनहूस चेहरा लेकर मेरे पास न आना।'

मैं माँ की आज्ञा का उल्लंघन करूँ, यह मुझसे कभी बन ही नहीं पड़ा। अत्यन्त धैर्य से मैंने अपना बैठ उठाया और बाहर को प्रस्थान करने ही वाला था कि दरवाजे के परे से सुनाई दिया—'ठक्, किच्, ठक्, किच्, ठक् किच् !' अरे बाप रे ! मर गये। परम पूजनीय बड़े भाई

श्री सुधीन्द्र जी महाराज तशरीफ ला रहे हैं। सोचना था कि उनके अत्यन्त गोरे-चिट्टे मुख के दर्शन भी हो गये। दुर्भाग्यवश वे उसी दरवाज़े से आ रहे थे जिस दरवाज़े से मुझे निकलना था। अब क्या हो ? राम के दरबार में सुना है सीता-माता को पृथ्वी ने आंचल में छिपा लिया था। पर त्रेता में अवश्य ही जमीन कच्ची और पली रही होगी, इस घोर कलियुग में कुछ भी हो जमीन बहुत पक्की हो गयी है। सीमेन्ट से लिपी और चूने से पुती। यह न कभी फटती है और न ही किसी शर्मदार को भीतर स्थान ही देती है।

और भाग्य में जो भी लिखा हो उसे रोकने की सामर्थ्य भला किसमें है ! भाई साहब, माँ से न बोलकर सीधे मुझसे ही बोले, 'अरे प्रवीण ! मुझे तुमसे एक काम था।'

मैंने कहा—'जी !'

'तुम्हें आज ही रात की गाड़ी से बम्बई जाना होगा।'

मैं चौंका, फिर कहा—'जी !'

उन्होंने हँसकर कहा—'यह जी-जी क्या लगा रखी है, ठीक से क्यों नहीं बताता कि जायेगा या नहीं ?'

मैंने कहा—'जी' और मन-ही-मन कहा…अरे, पाखण्डी ! मैं जानता हूँ कि मेरे हर प्रोग्राम में तू रोड़ा अटकाया करता है। मैंने कल ही उस साले हिन्दू कालिज के कप्तान से कहा था कि बच्चू इस बार अगर बोलती न बन्द कर दी तो मेरा नाम प्रवीण नहीं। पर…खैर, कर ले तू अपनी मनमानी, मैं कुछ नहीं बोलता। ब्रह्मा से इतनी ही प्रार्थना करता हूँ कि हे ब्रह्मा, इस बार जरा मुझे धरती पर से पहले उठा लीजियो और अगली बार जरा पहले उतार दीजिओ। मेरा खाता भी बैलेंम्ड रहेगा और मेरी मर्जी भी पूरी हो जायेगी।

इस बार भाई साहब मुझसे कुछ न कह कर माँ से बोले, 'बात यह है कि माँ कल मेरी यहाँ मुकदमे की तारीख है और उधर बम्बई में एक टेण्डर खुलना है। तुलसी इसके साथ चला जाएगा। पहले तो सोचता था कि मुनीम जी को ही भेज दूँगा पर वह भी ठीक इसी मौके पर छुट्टी ले बैठे हैं। सो इसके सिवाय कोई दीखता ही नहीं जिसे भेज सकूँ और फिर इसने बम्बई देखी भी नहीं है। देख आयेगा। अच्छा प्रवीण, तू चलने की तैयारी कर मैं सब सामान तैयार करवा कर गाड़ी पर भिजवाये देता हूँ ! ऐं…'

और यह कह कर वे कमरे से बाहर हो गये।

मैंने धीमे से कहा—'हरे राम !'

माँ हँसकर बोलीं—'अरे, तू भैया से इतना डरता क्यों है ?'

मैंने भी सच्ची बात कह दी कि 'राक्षसों से कौन नहीं डरता।'

माँ बोली—'क्या बकता है, सुधीन्द्र तुझे राक्षस दीखता है ?'

'ठीक से तो नहीं कह सकता माँ। क्योंकि उनके होते मैं आँखें खोलता ही नहीं, आँखें मूँदे ही खड़ा रहता हूँ।'

माँ हँस दी। थोड़ी-बहुत हँसी मुझे भी आ गई पर मन में अपार क्रोध ठाठें मार रहा था। हिन्दू कालिज के कप्तान के ठहाके मेरे कानों में गूँज रहे थे और सब लड़के स्पष्ट स्वर में कहते सुन पड़ रहे थे 'डरकर भाग गया।' मेरी टीम हारी खड़ी दीख रही थी और मेरे साथी जैसे एक स्वर में मुझे कोस रहे थे। यहाँ तक कि फील्ड की हरी-हरी घास भी एक ही दिन में सूख कर काँटे-काँटे हो आई थी और…न जाने क्या-क्या हो गया था !

पर यह सब देखने को मैं था कहाँ ? जब मैच शुरू हुआ होगा, उस समय तो मैं ट्रेन के एक डिब्बे में सिर झुकाये एक नाविल पढ़ रहा था।

हमारे पिता का कारोबार बहुत बड़ा था। उनके देहान्त के बाद भाई साहब ने उस कारोबार में तनिक भी कमी नहीं आने दी। उसे उत्तरोत्तर बढ़ाया ही, घटने नहीं दिया। उसकी ही श्रीवृद्धि के लिए आज मुझे कलकत्ते से बम्बई भेजा जा रहा है। आत्मग्लानि से बार-बार मन भरा आ रहा था। मन होता कि बम्बई ने जाकर कहीं रास्ते में ही कूद पड़ूँ और इस आवश्यक कर्त्तव्य से छुट्टी पा जाऊँ। पर कर मैं कुछ नहीं पा रहा था। केवल बैठा-बैठा झुके-झुके शरतचन्द्र का 'गृहदाह' पढ़ रहा था।

'गृहदाह' लगभग समाप्ति पर था। अब तक मुझे वह तनिक भी अच्छा नहीं लगा था। महिम की अथाह गम्भीरता से जैसे डर-सा लग आया था। सुरेश की उच्छृंखलता भी बिलकुल पसन्द नहीं आई थी और अचला से तो जैसे घृणा हो चली थी। यह सब था, फिर भी मन जैसे भीतर से रोऊँ-रोऊँ कर रहा था। काश, ये सब-के-सब जल्दी-से-जल्दी मर जाते और मैं इस दर्द से छुट्टी पा जाता या जल्दी ही सब मिल कर एक हो जाते और मैं खुशी से नाच उठता! पर कुछ भी नहीं हो रहा था और मेरे आँसू कलेजे के भीतर से निकल-निकल कर आँखों की ओर बढ़े चले आ रहे थे।

आखिर सुरेश मर गया और महिम ने अचला को क्षमा कर फिर उसे अपने संरक्षण में ले लिया। मन के सभी भाव न जाने कैसे अचानक ही पलटा खा गये। सुरेश के प्रति गहरी सहानुभूति मन के किसी कोने से फूट निकली। महिम के सामने श्रद्धा से फिर झुकाने को मन करने लगा और अचला के लिए तो बार-बार इच्छा होने लगी कि काश, ऐसी ही कोई आत्मीय मेरी भी होती और मैं भी उसे इस तरह प्यार कर सकता···पर तत्काल ही मन जैसे एकाएक ही विषण्ण हो उठा। अरे ना बाबा! ऐसी घटना मेरे जीवन में कहीं घट जाये तो मैं दुःख-क्लेश से मर जाऊँ! मैं क्या भला महिम बन सकता हूँ। ना बाबा ना! और चाहे जो हो ले, पर यह न हो।

खिड़की से बाहर झाँक कर देखा। पेड़, खेत और लोग-बाग धूप-छाँव की तरह आगे-पीछे दौड़ रहे थे। अपने मन की एक बात कभी समझ नही पाता हूँ कि कैसे हर कोई मुझे अपना चिरपरिचित-सा लग उठता है। आज जिससे मिलूँगा कल ही उसके बारे मे सोचने लगूँगा कि यहीं नहीं मैंने इसे पहले ही कहीं देखा है। एक बार नहीं अनेक बार और अब फिर यह इतने दिनों बाद मुझसे मिलने आया है। मन कर उठता है कि जोर से उसे गले लगा लूँ और खूब फूट-फूटकर रोऊँ कि अरे! ओ मेरे चिरकाल के परिचित, तू इतने दिनों तक खोया कहाँ रहा और अब भी तू मुझे ऐसे अनजानों की तरह क्यों देख रहा है ? आ मुझे अपने गले से लगा ले। आ मिल कर दो घड़ी रो लें, जिससे इतने दिनों के विरह की व्यथा कुछ हल्की हो।

यह मेरा गुण है या अवगुण···यह तो ठीक से नहीं जानता पर हाँ, अपने इसी गुण के कारण अपने सगे-सम्बन्धियों में मैं अत्यन्त निर्मम, माया-ममता रहित होकर प्रसिद्ध हूँ। इसका एक कारण है। कभी बचपन में मैं अपने किसी दूर के नाना के यहाँ गया था। वहाँ के लोगों से मैं इतना घुलमिल गया कि इधर के लोगों को बिलकुल भूल ही बैठा। और फिर जब उधर से इधर आ गया तो दो ही चार दिन में उधर के सब लोगों को भुला बैठा। आज तक मेरी आदत

ज्यों की त्यों बनी बैठी है और मुझे ही कहीं उसके लिए शर्मिन्दा होना पड़ता है।

सैकिण्ड क्लास का वह कम्पार्टमेंट लगभग खाली-सा ही था। बस, उस छोर पर एक बंगाली बाबू अपनी सात-आठ साल की एक लड़की को लिये बैठे थे। सामान भी उनके पास कुछ अधिक नहीं था। और बैठे भी तब से गम्भीर और शान्त भाव से थे। उधर मेरा हाल बुरा था। साथ में और कोई किताब भी न थी। खाली बैठना मेरे लिए दण्ड भोगने के ही बराबर है। खिड़की से बाहर मुँह निकालकर बाहर के दृश्यों का उपभोग कर सकता था। पर कितनी देर, क्योंकि जिस प्रदेश में से हमारी गाड़ी इस समय गुजर रही थी वह न तो सुन्दर ही था और न असुन्दर ही। फिर देखने की विकट प्रवृत्ति कैसे होती, जिसकी तन्मयता में आदमी अपने को पूरी तरह डूबा सकता है। तुलसी कम्बख़्त तीसरे दर्जे में घुसा बैठा है। नहीं तो उसी के साथ दो घड़ी झक मारते। लाख कहा कि तू भी साथ ही चल पर उसे अपने मालिक का नुकसान करना पसन्द नहीं था।

तभी बंगाली बाबू की उस छोटी लड़की के भीतर कहीं से भगवान आ बैठा। ठीक कहा है किसी ने कि 'जब-जब भीर परी सन्तन पर, तब-तब दोड़त आयो।'···मैं सन्त नहीं था···मानता हूँ। पर फिर भी भगवान को मुझ पर दया आ ही गयी।

लड़की बहुत तेज थी। पास आई और आते ही बोली—"तुम्हारा नाम ?"

अरे बाप रे! मैंने उसे ध्यान से देखा। देखा कि वह मुझसे बड़ी नहीं है बिलकुल छोटी है। फिर यह कैसा प्रश्न ? पर आप आश्चर्य न करें। मालूम पड़ता है, जिस बीमारी से मैं बीमार था उसी से वह बीमार थी। पिता की गम्भीरता को तोड़ने का साहस न था और कोच की गद्दी को जितना उधेड़ सकती थी उधेड़ चुकी थी। इससे अत्यन्त व्याकुल थी कि अब और क्या करे कि मुझे अपनी ओर लगातार ताकते देख जैसे तिनके का सहारा पा गई और धीमे-धीमे पिता की नजर बचाकर चली आई और परिचय होने में लज्जा-संकोच के जो प्रारम्भ के दृश्य होते हैं, उनमें व्यर्थ ही समय न खो, तत्परता से नाम पूछ बैठी। बहुत समय से रुके उद्वेग ने उसकी सहायता की।

मैंने सँभालकर उसे सामने वाली सीट पर अत्यन्त सावधानी से स्थापित कर पूछा—'पहले तुम अपना बताओ ?'

उसने कहा—'क्यों, पहले क्यों बताऊँ ? पहले तुम बताओ !'

मैंने गम्भीर भाव से कहा—'अच्छा बताओ कि छोटी तुम या मैं ?'

यहाँ वह जरा कुछ सकपकाई पर तत्काल दोनों हाथों को मेरे मुँह के आगे नचाकर बोली—'वाह जी ! नाम बतलाना पहले, छोटा-बड़ा पूछना बाद में।'

मैंने कहा—'अरे ! तुम कैसी लड़की हो जी, तुम्हें यह भी नहीं मालूम कि नाम पहले छोटे बच्चे बतलाया करते हैं।'

पहले तो उसने अविश्वास से मेरी ओर देखा पर मेरे गम्भीर चेहरे को देखकर वह बोली—'पता क्यों नहीं, मेरा नाम है सुषमा रानी !'

'ओह हो। सु-ष-मा रा-नी !'

'हाँ, अब अपना नाम बताओ।'

'मेरा नाम ? मेरा नाम···वह, देखो-देखो, मैं भूला जा रहा हूँ। अरे, याद आ ! हाँ-हाँ,

बुद्धू राजा।'

वह खिलखिलाकर हँस पड़ी। बोली—'बुद्धू राजा।' और फिर जोर-जोर से हँसने लगी। सीट पर ही उलट-पलट होकर हाथों-पैरों को चिड़िया के बच्चे के पंख की तरह खोलने और बन्द करने लगी। मैं भी उसकी हँसी में साथ देता हुआ हँसने लगा और बीच-बीच में यह भी कह देता कि मेरा नाम बुद्धू राजा ही तो है। इसमें हँसने की कौन-सी बात है। वह यह सुनती और उसकी हँसी का उफान और तेज हो जाता।

तभी वे बंगाली बाबू भी सामने आकर खड़े हो गये और मुस्कराते हुए बोले—'वाह जी! हमें तो पता भी नहीं चला कि कब आप दोनों में इतनी गहरी दोस्ती हो गयी और यह इतना हँस क्यों रही है ?'

मैंने देखा कि बंगाली बाबू गम्भीर हैं पर अरसिक नहीं हैं। सभ्य हैं और उदार भी। खड़े होकर नमस्कार किया और हँसी का कारण बताने ही जा रहा था कि सुषमा खुद ही बोली—'बाबूजी, इसका नाम है बुद्धू राजा !'

उन्होंने मेरी तरफ मुँह फेरा, हँसकर कहा—'पगली है।'

मैंने कहा—'बड़ी प्यारी बच्ची है।'

बंगाली बाबू अपनी लड़की की इस तारीफ से बहुत प्रसन्न हुए। बोले, "बहुत ही शैतान है। दिन भर शैतानी के सिवाय इसे और कुछ काम नहीं है। मैं इसका जितना खयाल रखता हूँ शायद ही कोई बाप अपनी बच्ची का रखता हो। नाचने के लिए अलग मास्टर है, गाने के लिए अलग और पढ़ाने के लिए अलग। वैसे मैं यह नहीं कहता कि उन सब में ध्यान नहीं देती, ध्यान भी देती है और तीक्ष्णबुद्धि भी है। इतनी ही उम्र में जितना अच्छा यह नाच-गा लेती है उतना क्या कोई कर पायेगा ? अरे साहब, नाच में इसने अभी-अभी एक प्रतियोगिता में पहला प्राइज विन किया है। वैसे होनहार है पर शैतान बहुत है।···हाँ, तो आप कहाँ जा रहे हैं ?"

यह प्रेम भी न मालूम क्या चीज है। आदमी के कहीं भीतर रहता है और जब प्रकट होता है तो सब लिपे-पुते को क्षण में ही छिन्न-भिन्न करके फेंक देता है। ये इतने गम्भीर बंगाली बाबू मेरे सामने इतने सरस होकर आयेंगे, भला कौन आशा कर सकता था ? उनके प्रश्न के उत्तर में—'जी, मैं तो बम्बई जाऊँगा और आप ?'

'हमारा तो स्टेशन आ गया। बस, इसी स्टेशन पर उतरना है हमें तो !'

'इसी स्टेशन पर ?'

'जी हाँ।'

न जाने कैसे मैं कह बैठा—'इस लड़की को मुझे दे जाइये। इसकी आपसे भी अधिक खोज-खबर रखूँगा।'

वे हँस पड़े—बोले, 'सब यही कहते हैं। ले लीजिये, मैं क्या मना करता हूँ।'

पर अपना-पराया दुनिया में न होता तो यह दुनिया तहस-नहस हो जाती। सुषमा मेरी कहाँ थी जो मुझे मिल सकती। माँग कर ही मैंने कितना असंगत प्रश्न किया था। यह मैं जब भी सोचता हूँ लज्जा से भर आता हूँ। वे भी अपने मन में क्या सोचते होंगे कि कितना मूर्ख आदमी था कि दो मिनट की बात-चीत में ही बाप से आठ साल की बेटी माँग बैठा। उन आठ सालों में कितना स्नेह उन्होंने उस नन्हीं-सी लड़की पर लपेटा होगा और उस सबको पोंछ-पोंछ कर यह कहता है फेंक देने को एक अनजान के हाथों में। वास्तव में मैं मूर्ख ही था।

स्टेशन आया। वे लोग यथायोग्य नमस्कार नमन् कहकर हँसते खिलखिलाते विदा हो गये पर मेरे हृदय के भीतर जैसे सौ-सौ शूल चुभो गये। घूमकर मैंने उस कम्पार्टमेंट में देखा तो मन रो उठने को करने लगा। ऐसा लगा जैसे सुषमा की हँसी अब भी सारी हवा में रह-रहकर गूँज रही है और वह उस गूँज की ताल पर नाच रही है 'धुन-धुन-धुन'। उसके वे नन्हें-नन्हें पैर उस फर्श की धूल को जैसे धो-पोंछकर साफ कर रहे हैं।

पर सपने तो सपने ही होते हैं। मैंने एक बार अपने को पागल कहा फिर सुषमा को धकेल कर दूर किया और आराम से 'गृहदाह' के जले हुए घर के साथ फिर एक बार मन-ही-मन सहानुभूति प्रकट करने लगा। एक ही स्टेशन बीतने पर अपना कम्पार्टमेंट लोगों से खचाखच भर गया। देखने में सब अपनी ही उम्र के थे। कुछ लड़के और कुछ लड़कियाँ। उनके बीच होती बातचीत से ही अनुमान लगाया कि ये सब किसी संगीत प्रतियोगिता में भाग लेकर आ रहे हैं। एक बार मन हुआ भी कि चलो, इनसे ही मिला जाये पर तत्काल ही संभल गया। मन-ही-मन बोला – 'ना बाबा, माफ करो।'

उनके ठहाके, मधुर संगीत की ही तरह मेरे कानों में गूँजते रहे पर मैं अत्यन्त विरक्त भाव से बाहर के खेत-खलिहानों में मन लगाये रहा।

बम्बई नजदीक आती जा रही थी।

बम्बई बहुत सुन्दर लगी। मन ठगा-सा खड़ा-का-खड़ा रह गया। ऊँची-ऊँची इमारतें कलकत्ता में भी कुछ कम नहीं हैं पर उनमें जैसे ऐसी खूँद-खूँदकर सुन्दरता भरी नहीं पड़ी है और इन्हीं इमारतों के नीचे वह विशाल तरंगित जल-राशि! उस गहरे काले पानी को देखकर ऐसा मन होता जैसे स्वयं साक्षात् सौन्दर्य काली चादर सिर से पैर तक ताने लेटा है और उसके अंग-अंग से फूटती प्रभा उस झीनी चादर के रोके नहीं रुक रही थी।

बम्बई की सुन्दरता में जैसे मैं अपने को खो बैठा। भाई साहब ने अपने एक मैरिन ड्राइव स्थित मित्र का पता देते हुए कहा था कि वहीं ठहरना, वहाँ तुम्हें कोई तकलीफ न होगी। पर जब उनका काम खत्म कर मैंने उन्हें चिट्ठी लिखी कि अभी और कुछ दिन मैं वापिस न आ सकूँगा तो उन्होंने ही सलाह दी कि बेहतर हो, तुम किसी होटल में अपना प्रबंध कर लो। मैरिन ड्राइव की उस अलौकिक सुन्दरता को छोड़ कर मन नहीं चाहा कि इधर-उधर भटकूँ। पर कतार बाँधे खड़े रंग-बिरंगे सपनों की तरह रंगीन बल्बों की गोल बहती गंगा, आकाश गंगा को भी मात दे रही थी। सड़क पर इधर-से-उधर और उधर-से-इधर घूमती मोटरें ऐसी लगतीं, जैसे हृदय में आकांक्षाओं का तूफान-सा आ गया हो और नीले समन्दर पर छिटकी सफेद मखमली चाँदनी! अरे! झूठ कहते हैं ये वैज्ञानिक कि स्वर्ग-लोक कुछ नहीं। वह यही नहीं तो और क्या है?

पर मुझे यह सब छोड़ना पड़ा। बीच शहर में होटल के एक कमरे में आकर मैंने डेरा डाला। जिनके यहाँ ठहरा था, उनके डर से मैरिन ड्राइव के किसी भी होटल में नहीं ठहर पाया।

और वहीं होटल में मेरे एक परम आत्मीय मिल गये। दो दिन की जान-पहचान में ही हम दोनों जैसे दो शरीर एक प्राण हो गये। और फिर हमारी टैक्सी, दिन-रात और रात-दिन बम्बई की सड़कों पर तैरती फिरने लगी। और...और...एक दिन रात के ग्यारह बजे वह एक ऐसी इमारत के सामने जाकर रुकी, जहाँ उसे नहीं रुकना चाहिये था। जहाँ कि उसे रुकना

शोभा नहीं देता था। पर वह रुकी और मेरे वे मित्र मेरे हाथ को थामकर मुझे ऊपर खींच ले गये। पर मेरा हृदय तो जैसे नीचे, बहुत नीचे किसी गहराई में गिरा जा रहा था।

दूसरा स्वप्न

अपनी कहानी मैं उस दिन से शुरू करूँगी जिस दिन से वह शुरू हुई। पर उस दिन जब कि प्रवीण बाबू अपने मित्र के साथ मेरे यहाँ पहुँचे तो जैसे बहती नदी एक मोड़ खा गई। उस दिन तक मैंने कभी सोचा भी नहीं था कि मेरी चलती-फिरती जिन्दगी कभी करवट भी बदल सकती है। वैसे अपने और अपनी उस जिन्दगी के प्रति विद्रोह की भावना मेरे मन में थोड़ी भी न हो, यह मैं नहीं मानती पर उन में जैसे प्राण नहीं थे। वे बस जैसे सोच-विचार के विषय थे, उनमें उबाल नहीं था। मैं अकसर किसी ऐसे व्यक्ति को पाने का खयाल किया करती जो असलियत में आदमी हो। ऐसा हो जो मुझसे न खेलकर मेरे साथ हाथ-से-हाथ मिलाकर खेले पर अकसर मेरे वे ख्याल अपनी 'माँ जी' की गहरी आँखों में घुलकर रह जाते और मैं खूब हँसकर, खूब-खूब हँसकर अपनी माँ जी के गले में दोनों बाहें डालकर कहती, 'अयहय माँ जी , तुम मेरी माँ न ह.क.र यदि खाविन्द होतीं तो बला सिमटकर हम दोनों से दूर चली जाती। माँ जी मेरे इस मज़ाक को न जाने समझती थीं कि नहीं। पर इसके उत्तर में अकसर आँखें आँसूओं से गीली कर कहतीं, 'मेरी बन्नो, अब और जीने की आस मुझे भी नहीं है। बस, तेरे लिए एक भला-सा साथी तलाश कर दूँ तो खुदा कमस चैन से मर सकूँ।'

कभी भी उन्होंने जो भी मेरे लिए तलाश किया था, वह था गाना सिखाने वाला नया मास्टर, नया सितार, नई ठुमरियाँ और नये तराने। मैं भी उन्हें खाविन्द से कम प्यार नहीं करती थी। इसमे कोई शक नहीं कि संगीत से और संगत से मुझे बेहद प्यार था पर एक कसक हमेशा ही दिल में हिलोरें मारा करती थी कि एक दिन मेरे संगीत की ये मदभरी तानें दूर बहते उस समन्दर में डूबकर रह जाएंगी और मैं भी किमी बाई के कोठे की झाड़ू देने वाली बनूँगी। तब मेरा नाम शौकत बानू न होगा, होगा बानू या शौकत या ऐ!, कभी-कभी, हाँ-हाँ शायद कभी मेरे इन दिनों का साथी आकर मुझे पहचानेगा और कहेगा, दुनिया का यही दस्तूर है मेरी बानू! चढ़ता सूरज ढले न तो दुनिया में तूफान आ जाए और बैठकर उसी अन्दाज से मेरी मालकिन के गाने सुना करेगा।

तब सोचकर भी मैं इस हमदर्दी का जवाब न सोच पाया करती थी पर आँखों मे आँसू भर आया करते और मैं मन-ही-मन कह उठती, 'या खुदा! जीना क्या मरने से भी मुश्किल नहीं है।'

उस दिन हमारे यहाँ की नजमा की मौत हो चुकी थी। कहते हैं, कभी नजमा भी बम्बई के बाजार की रौनक थी। सवेरे ही बेचारी मर गई थी। लोग उसे दफनाकर लौट चुके थे। अब तक शायद भूल भी चुके थे। महफिलें गर्म हो चुकी थीं पर मेरी महफिल अब तक ठण्डी थी। कोई न जाने क्यों उस दिन आया ही नहीं था। असल में मुझे इस बात का अफसोस थोड़ा था, खुशी ज्यादा। उस दिन मन बहुत ही अनमना था और नाचने को जरा भी नहीं था। तभी देखा

कि दो अनजान आदमी आकर चौखट पर खड़े हो गये हैं। पहली नजर में ही भाँप गई कि इन घरों में घुस आने की शक्ति दोनों में से किसी में भी नहीं है। पर दोनों में एक अन्तर है कि एक पीछे खड़ा दूसरे को अन्दर धकेल रहा है और दूसरा जैसे पीछे लौट जाने में भी शर्म महसूस करता मौन भाव से खड़ा मुझे निहार रहा है। मैंने भी उसकी तरफ देखा। एक साँवला पर भोला-भाला सा चेहरा था, मोटी नाक पर बेडौल नहीं, छोटी आँखें पर पैनी और चमकीली। कहने को उसे सुन्दर न कहना ही अच्छा था, पर जैसे उसमें आकर्षण था ! हाँ, वह तो उसमें था।

माँ जी ने खड़े होकर बेचारों की दुविधा दूर की। कहा, 'बाहिर क्यों खड़े हैं। अन्दर तशरीफ लाइये।'

पीछे वाले साहब हँसते हुए आगे बढ़कर कोच पर आ बिराजे और जो आगे खड़े थे ये धीमे-धीमे पीछे-पीछे आकर कोच पर ऐसे बैठे जैसे किसी देवता की मूर्ति स्थापित की जा रही हो। बैठकर फिर उसी तरह टक लगाकर मेरी ओर देखते बैठे रहे। मैं अत्यन्त सुन्दर हूँ, मेरा बदन निहायत सुडौल और लचीला है, यह तकरीबन सभी की भूखी आँखें और लपलपाती जबान से मैं सुना करती थी। पर वे आँखें जो उस दिन मुझ पर टिकी थीं, जैसे निराली ही थीं। उनमें न भूख थी और न प्यास, जैसे एक दर्द हो, एक करुणा हो, एक ममता हो।

वे आँखें यकीनन आज भी मेरी पुतलियों में खिंची हैं। उनको उस दिन मैं सही मायनों में समझ न पाई थी। पर खुशी मुझे उस समय कितनी हुई थी, यह आज तो क्या शायद मैं किसी दिन भी बता न पाऊँगी।

मैंने पान पेश किया तो झुकी नजरों और काँपते हाथों से उठा लिया। फिर जेब से एक दस का नोट उसमें रखते हुए एक बार उन्हीं करुणा भरी आँखों से मुझे देखकर नजरें झुका लीं।

मैंने चुपके से माँ के कानों के नजदीक होकर जरा तेज आवाज में कहा—'माँ जी, अल्लाह कसम, मुझसे भी ज्यादा लचीले हैं, ये आज के हमारे मेहमान।'

उन्होंने सुना या नहीं, यह नहीं जानती, क्योंकि देखा कि वे एकदम शान्त बैठे हैं और उस कमरे में नहीं हैं, जैसे कहीं और हैं।

गाना शुरू हुआ। फिल्मी तर्ज पर दो गीत ही शायद मैं गा कर चुकी थी कि बोले—'अब चलेंगे।'

मैंने समझा कि शायद गाना पसन्द नहीं आया। मजाक से बोली—'कुछ भजन सुनाऊँ ?'

जरा-सा हँसे, और अत्यन्त मीठी आवाज में बोले—'न बाबा, यहाँ की ऐसी गति-मति हो तो फिर न आ सकेंगे।'

'तो फिर बैठिये ना।'

'अरे नहीं-नहीं, देखिए न, बारह बजने को हैं। सोना नहीं है क्या ?'

न जाने कैसे मुँह से निकल गया—'आप सोते भी हैं ?'

जोर से हँस पड़े, ऐसी स्वच्छ और निर्मल हँसी मैंने कभी न सुनी थी। बोले—'क्यों, ऐसा आपने क्यों सोचा।'

मैंने कहा—'इसलिए कि नींद जब मन में है तो वह आँखों में भी रहे, यह कोई जरूरी थोड़ी ही है।'

इस बार जरा गम्भीर हो आये, बोले—'नहीं जी नहीं, नींद मेरे मन में नहीं है, मैं पूरा जागा हूँ पर अपने और साथियों की तरह वीर पुरुष नहीं हूँ जो इधर-उधर छीना-झपटी करता फिरूँ। अपने हिस्से के लिए भी किसी से किसी दिन शिकायत करने नहीं जाऊँगा। क्यों, गंगाधर बाबू, अब चलियेगा नहीं।'

मैंने कहा—'कल आइयेगा।'

उठकर खड़े हो चुके थे, बोले—'आपके यहाँ आना कुछ आसान तो है नहीं, फिर भी देखिए, कोशिश करूँगा। और हाँ, कुछ धार्मिक गीत याद रख छोड़ियेगा।'

वे चले गये और मैं खड़ी-की-खड़ी रह गई। एक निहायत शर्मीले आदमी की तरह आये पर बोलने में शर्मीले नहीं हैं, जबान कैंची की तरह चलती है। पर वे आँखें ? उनमें तो अन्त तक वही कुछ था जो एकदम शुरू में दीखा था। वही दया, करुणा, प्रेम ! फिर इन दोनों में से सत्य कौन था ? अरे, रहस्यमय-सा आदमी क्या है ? कुछ समझ में नहीं आता। इससे भले तो वे शराबी ही हैं जो आते ही अपनी बदबू फैलाना शुरू कर देते हैं, और अन्त तक वही करते रहते हैं। उनके भीतर और बाहर कोई अन्तर नहीं होता। पर यह तो जैसे कहता था कि अगर भजनों का जाल यहाँ बिछा हो तो फिर आना न हो सकेगा और जाते जाते कह गया कि धार्मिक गीत याद कर रखना। तो इनमें से मजाक कौन था ? तो क्या यह भजनों के साथ भी मजाक कर सकता है। अरे नहीं-नहीं, यह शरीफ आदमी नहीं है, ढोंगी है। इसे लाज-शर्म नहीं है, निर्लज्ज है।

मेरे श्रद्धाभाव क्षण में ही झनझना कर टूट गये और मैं उस दिन इतनी कड़वी हो उठी कि आज भी माँ जी को कहे उस दिन के शब्द मुझे बिच्छू की तरह डंक मारा करते हैं।

माँ जी रात को बिस्तर पर लेटकर बोलीं—'अजब आदमी था, जाते हुए मुठीभर रुपये दे गया जैसे—'

'तुम तो रुपये के लिए खून भी कर सकती हो।' मैं उनकी ओर पीठ किए लेटी थी पर उनकी आवाज से जान पड़ा कि वे तिलमिला उठी हैं। अधिक कुछ न बोलीं। बस एक बार भर्राए गले से 'शौकत' कहकर रह गई और मैंने भी जवाब में अत्यन्त धैर्य से कहा—'और नहीं तो क्या ?'

वह रात बीत गई, और भी रातें आयेंगी और बीत जायेंगी। कभी-कभी सोचा करती हूँ इन बीतती रातों में जो एक-आधा काँटे हृदय में चुभ जाया करते हैं वे भी क्या कभी बीत पाते हैं, निकल पाते हैं।

अगले दिन वे नहीं आये तो अत्यन्त घृणा से मन तिक्त हो उठा। माँ जी से कुछ कहने को साहस न हुआ। रात की घटना से कुछ मनमुटाव हम दोनों में हो गया था और जानती थी कि जरूरी है कि मनमुटाव पाँच-सात दिन चले। इससे सारी रात जागकर ही कटी। उनके न आने पर भी महफिल खूब जमी थी। थकान भी कुछ कम नहीं थी, पर नींद न जाने किस देश चली गई थी कि आती न थी। दुनिया के सब लोगों को मन-ही-मन गालियाँ दे रही थी। निर्दयी, नीच, हमें मिट्टी का खिलौना समझते हैं। हमसे खेलते हैं और हँसते-हँसते हमारे कलेजों में शूल घुसेड़ते हैं फिर उपहास से उन जख़्मों से बहते लहू को देखते हैं, देखकर प्रसन्न होते हैं, तालियाँ बजाते हैं, और...नीच, कमीने, बदजात ! और देखो न उस ऊपर वाले का अन्याय कि नीच लोग फिर भी हम ही माने जाते हैं। वे सब ऊँचे हैं। आज जब उस रात की बात सोचती

हूँ तो वास्तव में लाज आती है। क्रोध में मैं इतनी बावली हो उठी थी कि अपने मुँह पर रह-रहकर तमाचे मारे जा रही थी, अपने खूबसूरत रेशमी बालों को फटकार-फटकारकर नोच रही थी, अपने बदन के हर हिस्से को जैसे काटकर फेंक देने को मन करता था। उस रात न जाने मैं अपना क्या कर डालती पर तभी सपनों ने आकर मुझे अपनी गोद में ले लिया और मैं सोते-सोते देखने लगी कि मैं हिन्दुस्तान की मलिका बन गई हूँ और सैकड़ों नौकर-चाकर, दास-दासियाँ मेरे पीछे-आगे दौड़ रहे हैं और न जाने क्या-क्या; उन्हें बताकर मैं आपको और अपने को लज्जित करना नहीं चाहती।

सुबह हुई, फिर दिन झुका और साँझ पलट आई। दिन भर मैं अनमनी पलंग पर, कभी कोच पर और कभी नीचे के फर्श पर ही लेटी बैठी डोलती रही। रात हुई, और साज आकर मेरे चारों ओर घिरने लगे। नौ बज गये, दस बजते भी देर न लगी। जो आ चुके थे, वे जाने लगे थे, नये भी आते ही जा रह थे। मैं गा रही थी पर अभी शायद गला पूरी तरह नहीं खुला था। न जाने क्यों बीच-बीच में भर उठता। कभी-कभी तो सुर-ताल भी खो बैठती। तभी अचानक ही दरवाजे की ओर नजर पड़ी तो देखा कि वे ही दो मूर्तियाँ एक-दूसरे को आगे-पीछे धकेल रही हैं। एक बार तो उनके चेहरों को देखकर हँसने को मन कर आया पर फौरन अपने को सम्हालकर मैंने माँ जी की तरफ देखा। उन्होंने भी शायद भाँप लिया हो। माँ जी को कुछ कहने की जरूरत नहीं पड़ी। वे खुद ही आकर उसी शर्मीली और संकोची चाल से कोचों पर स्थापित हो गये।

उस दिन मुझे याद है मेरा गाना खूब जमा। वक्त और रात से कुछ जल्दी ही कटा। पर ग्यारह बजते-बजते ही देखा कि महफिल में उन दो रंगरूटों के सिवाय और सब चले गये हैं। मैं भी लगभग थक चुकी थी। चाहती थी कि गाना किसी तरह बन्द हो तो चैन की साँस मिले। चेहरा मेरा थकान से लगभग लाल था। आँखों में भी लाली-सी आ गई थी, जो सामने लगे शीशे मे साफ दीख रही थी। एक गाना खत्म हुआ था, और दूसरा शुरू होना ही चाहता था कि जाने कैसे गले से बोले—'आप थक नहीं जातीं ?"

मैंने उनकी ओर देखा। वैसे तो रोज ही नारी के मन का अभिनय करना होता था। हर मेहमान से कहना होता—'कल नहीं आए आप, शायद इस कनीज से कुछ गलती हो गई। या छोड़िये-छोड़िये, यह झूठी मुहब्बत न फरमाइये, तीन दिन बाद तो आज शक्ल दिखाई है।' ऐसे ही और भी रटे-रटाये नुस्खे बीमारों का इलाज करने के लिए हमें याद कराये जाते हैं पर उस दिन तो अचानक जो मेरे मुँह से निकल गया उस पर बाद में मैं भी चकित रह गई। मैं बोली—'मजदूरी करती हैं हम लोग, मुफ्त तो आप पैसे दे नहीं जाते।'

वे दो पल को चकित रह गये पर मैंने देखा कि उनके चेहरे पर प्रसन्नता छा गई है। प्रसन्नता वह किस बात की थी यह बाद में समझा। फिर हँसकर बोले—'आप लोगों को बुरा कोई इसलिए कहता है कि औरों को मेहनत करने से छुट्टी दिला देती हैं। अब मेरी ही बात देखिए, भाई का तार आया है कि काम निपट चुका हो तो वापिस चले आओ, पर मैं हूँ कि आपके यहाँ हूँ।'

मैं क्रुद्ध हो उठी, बोली—'हमारे यहाँ से तो कोई किसी को बुलाने जाता नहीं, लोग खुद ही आते हैं। सच मानिये, किसी के भी आने से हमें रत्ती भर खुशी नहीं होती।'

माँ जी क्रोध में थीं, कुछ नहीं बोलीं। फिर जानती भी थीं कि बोलने से कुछ फायदा नहीं होगा।

पर वे नाराज नहीं हुए, और भी मुस्कराकर बोले—'यही तो आफत है। औरों की तो बात नहीं जानता पर अपनी बात जानता हूँ, कोई बुलाये तो लाख चाहने पर भी मुझसे जाते नहीं बनता और जो बुलाते नहीं, उनके यहाँ जाने को खूब मन करता है।' इस बार उनके कहने के ढंग पर और उनकी बात पर मुझे हँसी आ गई। बोली—'इतने बेशर्म आदमी हैं आप ?'

पर मालूम हुआ कि बेहद हाजिर जवाब आदमी है, बोले—'शर्म औरतों का जेवर है और मैं मर्द हूँ। ठीक नहीं क्या ?'

बातों का सिलसिला जम गया। गाना और नहीं हुआ।

मालूम पड़ा कि कल का वह रहस्यमय, गम्भीर आदमी एकदम बातूनी होकर जैसे भेष बदलकर आज उतरा है। इधर-उधर की कहानियाँ सुनाने लगे तो मन मुग्ध होकर रह गया। लगता है कि कही हुई बातों में से काफी झूठ हैं पर सुनने से मन उकताता नहीं था बल्कि करता था कि ये कहे जायें और मैं उसे सुने जाऊँ। शरीर की सब थकान दूर हो चुकी थी और मैं उस हँसमुख झूठे आदमी को मुग्ध भाव से देख रही थी कि अचानक ही मेरी ओर मुड़कर बोले—'आपको मालूम है, कल क्यों नहीं आ सके। परसों आपका नाम पूछना भूल गये और रात में मकान पहचान नहीं पड़ा। इस-उस मकान में घूमते शर्म लगी और लौट गये। मेरी एक आदत है, आप सुनकर हँसेंगी, कुछ भी खरीदने में जाऊँ तो जिस दुकान पर सबसे पहले टिक जाता हूँ सौदा ना पटने की वजह से या किसी और कारण से मैं उस दुकान को छोड़कर किसी और की दुकान पर नहीं जा सकता। कभी-कभी भाई वगैरह के साथ होने पर ऐसा करना पड़ा है तो ऐसा लगा है, जैसे पहले दुकानदार की दोनों करुण आँखें मेरी पीठ पर चिपक गई हैं और मैं शर्म से मरा जा रहा हूँ। मुझे याद है कि एक बार चाटवाले की दुकान पर बैठकर मुझे इसी आदत से मजबूर होकर इतनी गन्दी चाट खानी पड़ी थी कि तीन महीने बीमार पड़ा रहा था। अरे ! मैंने आपका बड़ा वक्त खराब कर दिया। आप भी सोचती होंगी कि अच्छा आदमी है, समझ बैठा कि जैसे अपना ही घर है।'

यह कहकर उठने को तैयार हुए। उस अजीब आदमी को मैं रोकने के लिये कुछ कहना ही चाहती थी कि माँ जी बोलीं—'ऐसा क्यों सोचते हैं, घर आपका है और जब तक जी चाहे बैठे रहिये।'

साथ-ही-साथ मैं बोली—'मेरा नाम शौकत है, नोट कर लीजिये, भूल न जाइयेगा।'

'शौकत ! शौकत तो मर्दाना नाम है भाई ! आप तो मेरा खयाल है कि औरत हैं।'

'जी हाँ, मैं औरत ही हूँ और मेरा नाम शौकत बानू है।'

मैं इतना कहकर चुप हुई ही थी कि बच्चों की तरह बोले—'पर तहजीब आपको थोड़ी भी नहीं है। आपको मेरा नाम भी पूछना चाहिये था।'

मैंने जरा सकपकाकर जो उनकी तरफ देखा तो दीखा कि इनके चेहरे पर एक छल-कपट से परे की रोशनी है, उनकी आँखों में एक चमक है, एक खुशबू-सी है और उनके होठों पर एक बहुत ही मीठी मिठास है।

मेरे मुँह से एक बोल भी नहीं निकला तो आप ही हँसकर बोले—'पर खैर, छोड़िये ! बेशर्म की उपाधि तो मैं पा ही चुका हूँ, खुद ही बताये देता हूँ, मेरा नाम प्रवीण कुमार है और

अधिकतर लोग प्रवीण बाबू कहकर पुकारते हैं।'

मैंने हँसकर कहा—'मानते हैं साहब, नाम आपका वाकई मर्दों वाला है। क्या बताया आपने, परवाना बाबू! आप हैं तो असल परवाने, चाटवाले से लेकर कोठेवालों तक आप सभी पर मरते फिरते हैं।'

पर वे चूकने वाले नहीं थे, बोले—'नहीं जी, कलियुग में लोग नाम के अनुकूल होते ही नहीं, मैं कैसे हूँगा।'

दो बज चुके थे। उन्होंने उठने की तैयारी की तो मैने माँ से चुपके से कहा—'कल खाने पर!' उन्हें कहा गया तो फौरन राजी हो गये पर बोले—'आपके यहाँ तो मांस बनता होगा, और मैं तो प्याज भी नहीं खाता।'

मैंने कहा—'तो क्या हुआ, खाना बाजार से आ जायेगा।'

'जैसी आपकी इच्छा!'

उस वक्त मन को बहुत अच्छा लग रहा था। सवा दो बजे थे, नींद आँखों में घुमड़-घुमड़कर आने लगी थी। ऐसी गहरी नींद अपनी आँखों में उस दिन पहली ही बार महसूस की थी। बहुत लम्बा सफर तय कर जब आदमी अपनी मंजिल पर पहुँच कर बैठ जाता है तो उसे ऐसी ही नींद आया करती है। वह नींद थकान की बेहोश नींद नहीं होती पर खुशी की, सफलता की उजली और मीठी नींद होती है।

पर तभी एक दुर्घटना घट गई। उसने सारी मिठास में एक ऐसी कड़वाहट घोल दी कि मन घृणा से तिक्त हो उठा। प्रवीण बाबू के वे मित्र न जाने क्यों और कैसे पूछ बैठे—'क्यों जी, आपके यहाँ सिर्फ गाना-बजाना ही होता है या और भी कुछ?'

शुद्ध साफ पानी में एक बूँद नीली स्याही जो कुछ कर देती है, वही इस वाक्य ने उस हँसी-खुशी के वातावरण में किया। मुझे रोमांच हो उठा। पर तत्काल ही एक भयंकर क्रोध सर्प की तरह फन उठा-उठाकर मेरे माथे में डंक मारने लगा और मेरा सारा शरीर नीला हो उठा। ऐसी ही अवस्था में जो क्रोध से भभकती अपनी लाल आँखों को उठाकर मैंने प्रवीण की ओर देखा तो लगभग सुन्न रह गयी। उनका सारा शरीर शिथिल हो आया था और वे अत्यन्त करुण, भीगी, भिक्षुक आँखों से मेरी ओर देख रहे थे। पल भर पहले का ही अदम्य क्रोध क्यों इतने गहरे आह्लाद, इतनी निर्मल प्रफुल्लता में बदल गया सो तो नहीं जान सकती पर याद पड़ता है कि उन दोनों भावों के साथ-ही-साथ उसी मन के किसी कोने से एक भयंकर रुदन उठकर मेरे सारे शरीर मे व्याप गया था।

और रात के कौन से पहर तक एक अविरल अश्रुधारा चुपचाप मनमाने भाव से मेरी आँखों से बहती रही सो तो नहीं बता सकती और यह भी नहीं जानती कि मन में क्या-कया, कैसे-कैसे भाव उठते रहे पर एक भाव याद है कि नहीं, मुझे प्रवीण बाबू की राह से हट जाना चाहिये। मेरा असली स्वरूप वही है जो उनके मित्र ने आँखों में उँगली डालकर समझा दिया है। उस बात पर शौक करूँ, या क्रोध करूँ इससे बड़ी मूर्खता और क्या होगी। यह तो मेरे लिये हर कोई पूछ सकता है। वह जो गली में कुत्ता पूँछ फटकारता लेटा है, यदि गली में से ही कहीं से उसे एक चाँदी का टुकड़ा पड़ा मिल जाये तो वह भी आराम से पूछ सकता है और मुझे उस समय यकीनन यह सोचना होगा कि यह चाँदी का टुकड़ा मैं खोऊँ या न खोऊँ?

हाँ-हाँ-हाँ, यही तो मेरा असली स्वरूप है।

पर क्या इस स्वरूप से मुक्ति पाने का एकमात्र दीपक भी मुझे अपने ही हाथों बुझा देना होगा ?

मुक्ति पाने की आशा कितनी सुनहली होती है यह पिंजरे में बन्द पंछी से पूछिये । मैं उस दीपक को बुझाने की जितनी दृढ़ता से इच्छा करती, उतनी ही तीव्रता से उसकी रक्षा में संलग्न दीखती, और अगले ही दिन खाने पर अनायास ही मुझे और अपने-आप को अकेला पा जब वे बोले—'अपने मित्र के कल के अपराध के लिए मैं आपसे माफी चाहता हूँ, हाथ जोड़कर ! मुझे उसका कितना दुख है यह मैं ही जानता हूँ । आप मुझे माफ करेंगी मुझे पूरी आशा है ।' और यह कहते-कहते जब उन्होंने सचमुच ही हाथ जोड़ दिये तो न जाने कैसे मैं यकीनन ही उनके दोनों जुड़े हाथों को अपने हाथों में ले रुँधे कंठ से आत्मनिवेदन कर ही बैठी, 'प्रवीण बाबू, दुख क्यों कीजियेगा ? नरक में हूँ तो कीड़े काटेंगे ही । उनमें से एक आपका दोस्त है, उसके लिये आप मुझसे माफी माँग सकते हैं पर यहाँ तो···उसकी यंत्रणा तो मुझे अकेले ही भुगतनी पड़ती है । आप तो सान्त्वना देने नहीं आ पाते ओर यह भी कौन जाने कि कल ही आप आ पायेंगे ? कल आप चले जायेंगे यह मैं जान थोड़े ही पाऊँगी । जानने का अधिकार भी नहीं है ।'

याद पड़ता है कि आँखों में एक धुंध-सी उस समय छा गयी थी । तभी जोर करके उन्होंने अपने हाथ छुड़ा लिये, धीमे-से बोले—'माँ जी आ रही हैं ।' और तब और भी स्वर में लगभग फुसफुस की-सी आवाज में बोले—'मैं जब भी जाऊँगा बानू, तुमसे पूछकर जाऊँगा और जैसा भी तुम्हारा हुक्म होगा वही होगा··· ।'

खाना खाकर बोले—'यह शौकत बानू हमसे नहीं चलेगा जी, हम तो आपका कोई दूसरा नाम रखेंगे ।'

मैंने कहा—'रखिये न, आपको रोकता कौन है ?'

कुछ देर सोचते रहे फिर एकदम उच्छ्वसित कण्ठ से बोले—'सुषमा रानी ।'

फिर क्षण भर चुप रहकर आप ही बोले—'रेल में आते हुए हमें एक छोटी-सी सुषमा रानी मिली थी । उसके पिता जी कह रहे थे कि गजब की नाचती-गाती है । छोटी-सी कोई सात साल की रही होगी । क्यों सुषमा रानी, आप भी तो नाच सकती हैं न ?'

मैंने सिर को हिलाकर सूचित किया कि बहुत बढ़िया । फिर बोले—'आपको यह नाम पसन्द आया ?'

मन में हुआ कि कहूँ कि खूब पसन्द आया है पर माँ जी सामने बैठी थीं और अब वे उनके मित्र महोदय जो नीचे से अपने लिए सिगरेट लेने गए थे लौट आये थे, इससे पूछा—'इसके मतलब क्या होते हैं ?'

बोले—'मतलब ? मतलब शौकत बानू ।'

'शौकत बानू ? तब तो ठीक ही बना ! चलिए भला हुआ एक नाम और मिल गया ।'

अल्ला मियाँ मेरी महफिल में नहीं आते थे, और याद नहीं पड़ता कि किसी दिन किस्मत नाम की किसी चीज को मैंने देखा हो पर इतना याद जरूर पड़ता है कि इन दोनों ही चीजों पर बिना देखे ही मुझे यकीन था । जानती थी कि खुदा की रहमत हर आदमी पर किसी-न-किसी दिन होती ही है और वही होता है जो किस्मत में लिखा होता है । इन दोनों ही बातों को सोचने पर बेहद आश्चर्य होता है पर अपनी जिन्दगी में इससे बड़ा आश्चर्य मेरी नजर में नहीं आया कि दो ही दिन की बातचीत

में मैंने प्रवीण बाबू के हाथों पूरी तरह अपने-आपको सौंप दिया। उन पर मैंने खुदा से भी ज्यादा विश्वास कर लिया और रात-दिन सोचने लगी कि ये ही हैं जो मेरा इस नरक से उद्धार करेंगे।

मुझसे कोई पूछे कि प्रेम क्या है तो मैं कहूँगी कि मैं नहीं जानती हूँ, इतना जानती हूँ कि जिस दिन से उन्हें पाया है दुनिया ही बदल गई है। सोलह-सत्रह साल के ये संस्कार जिनसे मैं इस कदर लिपटी थी कि जैसे कभी छुटकारा हो ही नहीं पायेगा, क्षण में झनझनाकर टूट गये और न जाने कहाँ को बिखरकर चले गये। कहने को जी चाहता है नारी सुलभ लाज और संकोच उसमें आ जाता है। नारी—नारी बनती ही प्रेम के बाद है। नारी के शरीर में, नारीत्व का सृजन होता ही प्रेम के बाद है। नहीं तो वह अधूरी है, असफल है और मात्र जड़ शरीर है।

प्रवीण बाबू ने अपना वायदा पूरा किया। लगभग पन्द्रह दिन तक हमने बम्बई के गली-कूचे छाने। हम खूब घूमे। उस घूमने को उन्होंने क्यों इतना लम्बा किया सो तो ठीक से नहीं जानती। शायद मुझे पहचानना और भली-भाँति समझना चाहते थे। बीच-बीच में कभी-कभी तो मुझे संशय-सा भी हो उठता कि वे मुझसे खेल रहे हैं। बस फर्क इतना है कि औरों का खेल छोटा होता है और इनका जरा लम्बा हो गया है। पर आश्वासन बार-बार एक ही बात से होता कि इन लम्बे पन्द्रह दिनों में उन्होंने मुझे छुआ तक नहीं था। मेरे इतने नजदीक होते हुए भी जो जरा भी अस्थिर नहीं हो पाया वह और कुछ भी हो अविश्वसनीय नहीं हो सकता, नीच नही हो सकता।

एक दिन कोच पर बैठे थे। मैं सामने बैठी उनके उस भोले-भोले चेहरे की मीमांसा कर रही थी। कमरे में और कोई न था कि अचानक बोल उठे—'भई ज्योतिष-विद्या भी खूब होती है। किसी ने मेरा हाथ देखकर कहा था, बच्चा विदेश जाओगे और वहाँ बुरे काम में फँसोगे।'

मैं जानती थी कि मुझे बनाया जा रहा है। इसीलिये बनावटी त्यौरियों से बोली—'दीदे वे कैसे हैं जिनमें भले-बुरे की पहचान नहीं और इसका निश्चय ऐरों-गैरों से सलाह लेकर करना होता है।'

बोले—'भई मैं तो बात कर रहा था, तुम तो बुरा मान गई।'

मैंने कहा—'कसम है तुम्हें जो कल से यहाँ आये। मन बहलाना उस मुए जयोतिषी के यहाँ जाकर।'

बोले—'देखिये साहब, अब तक तो कर रहा था मैं मजाक और अब मैं आपको बताये देता हूँ कि ज्योतिषी ब्राह्मणों को अपना पूज्य समझता हूँ। उनके सम्मान में आपकी ये ऊल-जलूल बातें कम-से-कम मैं सहन नहीं कर सकता।'

मैंने जरा चौंककर उनकी तरफ देखा। देखा कि मजाक को कोई भी चिन्ह उनके माथे पर नहीं है। एकदम गम्भीर मुँह फुलाये बैठे हैं। मैंने घबराकर कहा—'तो फिर तुम क्यों मुझसे ऐसी बातें करते हो।'

बोले—'माफी माँगो।'

मैंने कहा—'अच्छा, माफ कर दो, चलो!'

'ठीक है, तो लाओ हाथ, हम तुम्हें तुम्हारा भविष्य बतायें।'

'तुम भी हाथ देखना जानते हो ?' न जाने क्या कैसे हुआ कि मैं बच्चों के से उत्साह से घुटनों के बल उनके पैरों के पास जा बैठी और हाथ फैलाकर बोली—'लो बताओ, तुम जानते हो न ?'

हाथ को उन्होंने अपने हाथ में नहीं लिया, कहा—'नीचे रखो।'

मैं जल हीतो गई। उनके कालर को एक हाथ से जोर से पकड़कर कहा—'अच्छा जी! तो अछूत हूँ मैं। मुझे छूने से तुम्हारी जात जाती है?' यह भाषा मुझे अपने मेहमानों से बोलने को सिखायी गयी थी। पर उस दिन यह सिर्फ जबान से नहीं निकली थी, रोम-रोम मेरा यही कह उठा था।

उन्होने अत्यन्त कौतुकपूर्ण ऑखो से मुझे देखा। उनकी दृष्टि में एक चमक चमकी पर तत्काल ही बुझ भी गई। फिर कौतुकपूर्ण हॅसी से अपनी छोटी-छोटी स्वच्छ ऑखो को मुझ पर टिकाये-ही-टिकाये उन्होने अपने मुँह को आगे बढाया। मै उनके अत्यन्त समीप थी। न जाने कैसे वे अपने मुँह को मेरे कान के पास ले गये कि मेरे गालो से उनके ओठ छू गये। फिर धीमे-से फुस-फुस करते हुए बोले—'तुम्हारा यह हाथ रानी! तुम्हारी मॉ ने तो मेरे हाथ मे दिया नही न? फिर कैसे ले लूँ अपने हाथ मे। वे आ गई तो उन्हे क्या जवाब दूँगा इसका, तुम ही कहो।'

मै लाज के मारे लाल हो उठी। पुड़िया मे बन्द चुटकी भर सिन्दूर की तरह सिकुड कर रह गई। सोच ही नही पा रही थी कि अब क्या करूँ, कैसे करूँ कि आप ही पीछे को हटकर स्वस्थ होकर बैठे और बोले—'बामुलाहिजा होशियार, तो हॉ फैलाओ हाथ, अब हम तुम्हारा भविष्य बतायेगे।'

मैने हाथ फैला दिया।

तो बोले 'खूब! क्या हाथ पाया है। नन्ही-नन्ही पतली-पतली उँगलियॉ, छोटी-सी हथेली, जिसमे कुछ ही दाने चावल के समा सके। वह भी इतनी मुलायम, कितनी चिकनी, डर लगता है कि कही वे चार चावल के दाने फिसलकर न गिरे। हाथ की लाली गुलाबी तो '

मैने कहा—'ज्योतिषी जी, उस गुलाबी लाली मे कही रेखाएँ तो नही मिटी, यह देखिये जरा ध्यान से।'

'नही बाई जी, नही मिटी। देखिये, मै आपके भाग्य का लेख कितना स्पष्ट और कितना साफ-साफ पढकर सुनाता हूँ। हाथ कहता है कि लडकी की जिन्दगी सोलह साल बाद शुरू होती है। वह अपने दिन बहुत कष्ट मे काट रही होती है कि सात समन्दर पार से एक राजकुमार आता है। लडकी उसके प्रेम मे फॅस जाती है। राजकुमार उसे बृहस्पतिवार को रात के ग्यारह बजे पुष्पक विमान मे बैठाकर ले जाता है। पिजरे की सलाखें टूटकर बिखर जाती है और पिजरे के मालिक देखते-के-देखते रह जाते है।'

मैने समझा और पूछा—'लडकी के चारो तरफ महाराज जो अनगिनत पहरेदार है उनका क्या होता है?'

तो बोले—'राजकुमार के बुद्धिबल के सामने कुछ भी नही टिक पाता और वे बिना किसी रोक टोक के अपने देश पहुँच जाते है।'

इतने मे ही मॉ जी आ गई। हॅसते-हॅसते बोली—'क्या सुना रहे हो बेटा?'

तपाक से बोले—'अपने पुराणो की एक कथा सुना रहा था मॉ जी! बैठिये आप भी सुनिये।'

'हॉ बेटा, सुनाओ।'

आपने फिर उसी गुरुगम्भीर स्वर मे शुरू किया—'पर वहॉ जाकर वह लडकी अपने उद्धारकर्ता उस राजकुमार को बिलकुल भूल जाती है। मन्त्री के लड़के से....'

मैं जल कर बोली—'अच्छा-अच्छा, बन्द करो यह अपनी बकवास बहुत हो चुका। चाय का टाइम हो गया। अब चलो!'

आप शिकायत के स्वर में माँ जी से बोले—'देखिये माँ जी, देख लीजिये अपनी इस गुस्ताख छोकरी को। यह हमारे पुराणों की खिल्ली···।'

मैंने कहा—'अब बन्द भी करोगे। मुआ सिर चाट लिया। जब से तुम गई हो माँ जी, इसी तरह ऊलजुलूल बके जा रहे हैं।'

उन्होंने कहा—'देखिये फिर।'

माँ जी बोलीं—'शौकत तेरी यह बात बिलकुल ठीक नहीं।'

मैं और सब भूलकर यकायक ही माँ जी की तरफ मुड़कर झल्लाये स्वर में बोली—'अय हय माँ जी! तुम बार-बार यह क्यों भूल जाती हो कि मेरा नाम अब शौकत नहीं सुषमा रानी है। कितनी बार बताया है तुम्हें पर तुम बार-बार भूल ही जाती हो।'

और वही हुआ जो ज्योतिषी को स्वीकार था। निश्चित रात को ग्यारह बजे मैंने अपने को सैकिण्ड क्लास के एक कम्पार्टमेंट में बैठे पाया। मन में सोच रही थी कि न जाने कैसे इतने सारे लोगों की आँखों में धूल झोंककर उठा लाए हैं। मैं मन-ही-मन कितना अहसान उनका मान रही थी यह तो मैं ही जानती हूँ पर जब गाड़ी ने पहली सीटी दे दी और वे नहीं आये तो मन आत्मग्लानि से भर उठने लगा। सोचने लगी कहीं अपने स्वार्थ के लिए मैंने उनकी जान तो खतरे में नहीं डाल दी। वे अभी लड़के हैं, समझते नहीं कि कितने लोग हमारी रक्षा करने में रहते हैं और वे कितने भयंकर होते हैं। पर जब गाड़ी एक कदम ही चल थी कि दरवाजे को धकिया कर अन्दर घुसते हुए मैंने उन्हें देखा। चैन की साँस ली। न जाने कैसा मन हुआ कि उनके पास आते ही अनायास ही उनके पैर छू गद्गद् कंठ से बोली—'तुमने मुझे दूसरा जन्म दिया है प्रवीण बाबू! आज से मैं तुम्हें भगवान की तरह पूजूँगी। तुम ही मेरे सिरजनहार हो। तुमने ही क्या मुझे पत्थर से औरत नहीं बनाया? तुम्हें मैं भगवान न मानूँ तो फिर क्या मानूँ?' और यह कहते-कहते ही मेरी दोनों आँखों से आँसुओं की अजस्र धारा बह निकली।

उन्होंने मुझे दोनों बाजुओं से पकड़कर उठाया और बोले—'सुषमा रानी! यह बात भूल न जाना!'

मैंने कहा—'तुम मेरे भगवान हो, प्रवीण बाबू, यह मैं कभी नहीं भूलूंगी।'

वे मौन ही रहे। अब तक वे मेरे पास बैठ चुके थे। मेरा सिर उनकी छाती पर टिका था और वे अपना दायाँ हाथ मेरे सिर पर आशीर्वाद देते से फेर रहे थे।

न जाने कितनी देर हम इसी अवस्था में रहे, पर धीमे-से मैं ही बोली—'पर प्रवीण बाबू, यह सब हुआ कैसे?'

वे हँसे, फिर बोले—'तुम्हारी माँ जी को तुम्हारे अभिनय पर पूरा विश्वास हो चुका था और मुझे तुम्हारे प्रेम पर। प्रेम जीत गया और अभिनय धोखा देकर रह गया। बस, इसी तरह हो गया सुषमा रानी! अच्छा अब तुम सोओ। यह रो-रोकर जो अपनी आँखें लाल कर ली हैं, इन्हें धो डालो कपड़े बदलना चाहो बदल लो, नहीं तो ऐसे ही सो रहो। समझीं··· और सुनो सुषमा! तुम्हें मुझसे डर तो नहीं लगता?'

मैंने उनकी ओर ध्यान से देखा। वे ही निष्पाप, उज्ज्वल, स्वच्छ आँखें दीखीं। किसी और ही ने मेरे भीतर से कहा—'क्योंकि मैं तो खुद भी उनका मतलब नहीं समझी कि मैं जानती

हूँ प्रवीण बाबू कि जो सृजन करता है वह उसे खाता नहीं, भोगता नहीं। अपनी बनाई चीज को मिटाना किसी को पसन्द नहीं होता। यह मैं जानती हूँ। और यदि मिटाये भी तो दुख किसे होगा ? मिटने वाले को नहीं, खुद मिटाने वाले को। आप ऐसे नहीं हैं मैं जानती हूँ।'

रात बीत गयी। सुबह हुई। मैंने जीवन में पहली बार ही शायद उगते सूरज को देखा था। उसे देखकर आनन्द रोम-रोम में खनक उठा। प्रकृति में इतना सौन्दर्य है, यह मैं कैसे जान पाती जबकि शीशे में अपनी परछाई देख-देखकर अघाती न थी। उस उल्टे दीखते सौन्दर्य को देखकर ही प्रसन्न हो उठने वाली आँखें भला प्रकृति के अलौकिक सौन्दर्य को देखने की शक्ति कहाँ से बटोरकर ला पातीं ? उस सुबह तो मुझे नई आँखें प्राप्त हो चुकी थीं। उन्हीं आँखों से उस अनन्त सौन्दर्य का उपभोग मैं आनन्दपूर्वक कर रही थी कि तुलसी दीखा। स्टेशन पर प्रवीण बाबू ने उस बूढ़े से मेरा परिचय करवाया था। कोई स्टेशन था और नल पर शायद वह हाथ-मुँह धो रहा था। उसने जिन घृणा भरी आँखों से मेरी ओर देखा उनसे मैं काँप उठी। सारा प्रकृति सौन्दर्य हवा हो गया। एक आशंका तीर की तरह मेरे कलेजे मे घुसती चली गयी। पल में ही सब अपने छितरा गये। मन में एक विचार तेजी से घूम गया। 'अभी मैंने प्रवीण बाबू को ही तो देखा है, उनकी माँ, उनके भाई और बन्धु-बान्धव! ···वे भी क्या मुझे स्वीकार करेंगे ? प्रवीण बाबू की तरह क्या समाज भी मुझे इसी तरह गोद में उठा सकेगा ?···हे भगवान क्या होगा, कैसे होगा ?' मेरी आँखें मुँद आयीं। चारों तरफ अन्धकार-ही-अन्धकार छा गया। जो एकमात्र दीपक उस अन्धकार को छिन्न-भिन्न करने की चेष्टा कर रहा था, वह था प्रवीण बाबू का बिम्ब, उसी का अवलम्ब था, उसी पर विश्वास था, उसी का आश्रय था।

नहीं तो अन्धकार था। केवल अन्धकार···।

तीसरा स्वप्न

जीना भी एक कला है। अपनी चादर पर एक भी धब्बा न पड़ने दे वही सच्चा मनुष्य है। यह क्या कि उधर से निकले तो यह कर निकले और लोग छि छि करते रह गये और इधर से निकले तो कुछ ऐसा कर निकले कि थू थू करते लोग घृणा से नाक-भौं सिकोड़ने लगे। कभी गर्व से कहा करता था कि मेरा घर ध्रुवतारा है। उसकी ज्योति सबसे निराली है, सबसे निर्दोष है। पर अब तो मैं शर्म से किसी के सामने सिर भी नही उठा सकता।

घटनाचक्र किस तरह कैसे घट जाता है, यह सिवाय उस भगवान के कौन जान सकता है ? किसे मालूम था कि मेरा ही छोटा भाई दूर देश से निर्लज्जो की तरह एक वेश्या की लड़की को भगा लायेगा और लाकर उसे रखेगा बाप-दादों के मकान में, जिसमे कभी वे पूजा-पाठ, जप-तप किया करते थे। उसकी ऐसी मति होगी मैंने सपने मे भी नही सोचा था।

और यहीं तक नहीं, माँ की मति तो देखो, कैसी बिला गई है। मैंने जब कहा, 'माँ, यह नहीं हो सकेगा।'

तो बोली—'क्या नहीं हो सकेगा रे ?'

'यही कि वह अभागिन मेरे ही घर में रहे।'

'पर वह तो हो चुका, अब कैसे नहीं हो सकेगा ?'

'हो चुका ? क्या हो चुका ! मैं अभी उसे बाहर निकाल देता हूँ। सब हुआ अनहुआ हुआ जाता है।'

'पर प्रवीण को इससे दुख जो होगा ?'

मन को एक गहरी ठेस लगी। जिस माँ को मैं कभी देवी की तरह पूजता आया था, उसकी मूर्ति न जाने मन पर से कुछ खिसकने-सी लगी। पर फिर भी यथासाध्य उसे सम्भालते हुए बोला—'आज तुम्हें हुआ क्या है माँ, अपने बेटे को भला क्या तुम नहीं चाहतीं।'

पर माँ न जाने किस धुन में थी, बोली—'तुमसे एक बात कहूँ सुधीन्द्र, वह लड़की मुझे बहुत अच्छी लगी है। उसके रूप-सौन्दर्य की बात नहीं कहती। पर आचार-व्यवहार में भी खूब है। मैं भी उससे यही कहने गई थी कि 'डायन मेरे घर का, मेरे परिवार का सत्यानाश न कर। मेरे बेटे के रास्ते से हट जा।' पर उसके उस भोले-भाले मुँह को देखकर कुछ भी नहीं कह पायी। मैं पहुँची तो अनमनी-सी बैठी सूने में कुछ देख रही थी। मुझे देखते ही उठकर खड़ी हो गयी। चेहरे के ऊपर भय के भाव स्पष्ट उभर आये। डरते-डरते ही जैसे उसने मुझे बैठने को आसन दिया और फिर डरते-डरते ही सिर झुकाकर खड़ी हो गयी। उसके उस फूल से चेहरे को कुम्हलाया देख कर सुधीन्द्र, मेरे मन में जो व्यथा उठी, उसकी बात तुझसे क्या कहूँ। छुआछूत सब भूलकर मैंने उसका हाथ पकड़कर बैठा लिया। वह जमीन पर ही बैठ गई और टुकर-टुकुर भीगी आँखों से मेरी ओर ताकने लगी। तुमसे क्या कहूँ सुधीन्द्र, इतनी सुन्दर आँखें मैंने अपने जीवन में कभी नहीं देखीं। नहीं भैया, सच मान, वह वेश्या नहीं हो सकती। वह बेहद सुशील लड़की है। न जाने बिचारी वहाँ कैसे पहुँच गयी। मैंने जब उसकी ठुड्डी उठाकर स्नेह से पूछा—'तुम्हारा नाम क्या है ?'

तो बोली—'सुषमा रानी।'

मैंने चकित हो कहा—'वह तो कहता था तुम शौकत बानू हो ?'

'थी, अब नहीं हूँ।'

'सो कैसे ?'

'यह तो आपका बेटा ही आपको बता सकेगा।'

मैंने हँसकर कहा—'पारस पत्थर की कथा सुनी थी, जिससे लोहा सोना बन जाता था। पर, ऐसे लोग भी अब पैदा होने लगे हैं, इसकी कल्पना मैंने नहीं की थी सुषमा रानी।'

'इस पर वह कैसी मीठी हँसी हँसी थी सुधीन्द्र, मैं तुमको नहीं बता सकती। सुना करती थी कि नारी भगवान का स्वरूप होती है। पर आज वह स्वयं अनुभव कर लिया।'

सुनकर दंग रह गया। सोचा, क्या प्रवीण के साथ माँ का भी दिमाग घूम गया। पर बरसों के संस्कार के कारण कह कुछ नहीं सकता था फिर भी पूछा—'पर यह जो शोर मचा है लोगों में इसका क्या होगा माँ। लोग पूछते हैं आपके बगीचे में कौन ठहरी है ? इसका क्या जवाब दूँ वह भी तो बताओ।'

'कहा कर कि अपनी ही कोई है। घूमने के लिये आई है।'

'नहीं माँ, मुझसे झूठ बोलना नहीं हो सकेगा।'

'नहीं हो सकेगा ? सुधीन्द्र, इतना तो हो सकेगा कि तू पूछने वालों से कह दे कि वह मुझसे आकर पूछ लें। दुनिया की पूछताछ से डरकर मैं उस फूल को फिर से लोगों के पैरों तले

तो फेंक न सकूंगी।'

मै क्रोध एवं घृणा से कड़ुआ हो आया। बोला, 'समझ नही आता माँ, तुझे क्या हुआ है?'

तो बोलीं — 'समझने की तुझे जरूरत भी नहीं है, और सुन, समझ सकने की तुझमें सामर्थ्य भी नहीं है। थोड़ी-सी संस्कृत और देशी-विदेशी भाषाओं की पुस्तकें पढ़कर पाप-पुण्य की मर्यादा जो तूने अपने मन में खींची है सुधीन्द्र, उनकी झूठ-सच कहने की मुझमें न प्रवृत्ति है और न शक्ति ही। पर जो सबसे सच है और जिसे हम स्त्रियाँ व्यथा के नाम से पुकारा करती हैं, उसको पहले ही दिन मैंने उसके चेहरे पर पढ़ लिया है। उससे सच दुनिया में कुछ नहीं। जिस भय और संशय की नजर से उसने उस दिन मुझे देखा था सुधीन्द्र, उसके पीछे कितना कठोर सत्य छुपा था ? जिसको एक स्त्री की दृष्टि ही परख सकती है। मैं उस सत्य की रक्षा सारी दुनिया की समाधि पर खड़े होकर भी करने को प्रस्तुत हूँ, समझा! और तू अब जा सुधीन्द्र, अपना काम देख, मुझमें अब और बोलने की शक्ति नहीं है।'

'माँ!'

'हाँ, सुधीन्द्र, अब जा। और देख, वहाँ जाने से मैं तुझे नहीं रोकती पर इतना ध्यान रहे कि उसका रत्ती भर भी अपमान न हो, समझा।'

कैसे एक पापी के रहते किसी दिन समूची नाव ही डुबकी खा गई थी सो अपनी आँखों से नहीं देखा था, पर आज देख लिया कैसे एक औरत ने मेरे भोले भाई को पागल बना दिया और मेरी सती साधवी माँ भी पल में ही पथभ्रष्ट हो गयी। यह देखकर मन विस्मय से भर आने लगा। आचार-विचार में इतनी पवित्र माँ, जिस म्लेच्छ लड़की का मुँह देखते ही उसे छूने को तत्पर हो गई, इसे देखने को मन आतुर हो उठा। काश, माँ की आज्ञा तोड़ने की सामर्थ्य मुझमें होती तो मैं क्षण भर भी उस रहस्यमयी को अपने यहाँ टिकने न देता। पल में गर्दन से पकड़कर बाहर धकिया देता और कह देता कि रास्ता भूलने का डर हो तो ठहर, मैं रास्ता बताये देता हूँ। पर, माँ की बुद्धि की दुहाई दे भगवान कि वे आज स्वयं ही अपने घर में आग लगाने को बैठी हैं। पर अब हो तो क्या हो ? कुछ भी तो सोच नहीं पाता। हे भगवान! मैं कैसे किसी के सामने मुँह दिखलाऊँगा। बाहर तो मुझे ही बैठना पड़ता है, भाई साहब आजाद और माँ जी घर की चौखट में, दुर्गति होगी तो मेरी ही न।

दो-तीन दिन बाद बगीचे वाले मकान से निकल रहा था तो सोचा कि चलूँ सुषमा रानी से मिलता चलूँ। शायद कोई तरीका निकल सके, जिससे उद्धार हो।

चौथा स्वप्न

दर्शनशास्त्र का 'अ-आ' भी नहीं जानता। कुछ घंटे के लिए द्वापर युग के महान दार्शनिक श्री कृष्ण से मिल पाता तो शायद कुछ सीख पाता। वसे आज भी संसार में बड़े-बड़े दार्शनिक विधमान हैं, पर सोचता हूँ कि मरने के बाद ही शायद आदमी प्रामाणिक होता है। फिर कृष्ण से बड़ा दार्शनिक मैं संसार में और किसी को नहीं मानता। जिसने महाभारत जैसा महायुद्ध

लड़ा और राधा जैसी रानी से प्रेम किया। दोनों को साथ-साथ लेकर जो चला ! भला उससे बड़े दार्शनिक की कल्पना भी कोई कैसे कर सकता है ? आज के दार्शनिक भी कोई दार्शनिक हैं। कोई स्त्री का दामन पकड़े झूल रहा है तो कोई पानी की एक भी बोतल साथ न लेकर मरूभूमि में घूमने निकला है।

खैर, हमें उस सबसे क्या ? मैं तो अपनी बात कह रहा था। शौकत को पाकर मुझे ऐसा लगा जैसे मेरे रोम-रोम में जो एक अनजाना-सा झगड़ालू आलस्य बैठा हुआ है, वह निकल भागा है। बचपन से ही जैसे मन के एक कोने में विद्रोह की भावना रहा करती, जो सबसे झगड़ने पर उतारू कर देती, उसका भी कहीं पता नहीं है और अब मन हर समय 'करूँ करूँ' की पुकार लगाये रहता है, 'भागूँ, भागूँ' वाला पक्ष जैसे किसी सुदूर कोने में अस्त हो गया है। शौकत को अपने बगीचे वाले मकान में छोड़कर और समुचित प्रबन्ध कर, मुझे फिर बम्बई जाना पड़ा था। शौकत की माँ को पाँच हजार रुपया नकद देना पड़ा और हर महीने सौ रुपया भेजने का वायदा करना पड़ा। मन नहीं था कि ऐसा करूँ पर कलकत्ते पहुँचने के तीन ही दिन बाद जब देखा कि मकान के सामने शौकत के चचाजन, भाई जफ़र मियाँ चक्कर लगा रहे हैं तो मन धक् से रह गया। मुझे आशा थी कि इस घर का पता कोई न चला सकेगा पर व आशा इतनी जल्दी टूट जायेगी इस बात की आशा नहीं थी। खैर, उनसे मिला समझौते की शर्त सुनी और समझौता करके चला आया। माँ जी से कहता आया कि वहाँ ठीक-ठाक हो जाने पर मैं तुम्हे भी वहीं बुला लूँगा। मुझे डर था कि कहीं दो-चार दिन बाद ये लोग फिर तंग न करें। पर आश्चर्य के साथ देखा कि माँ जी की आँखें पानी में तिर आयी हैं। उनके होंठ काँप उठे हैं। कुछ पल तो वे कुछ बोल ही न पायीं फिर धीमे-धीमे बोलीं—'वह इस नरक से निकल गई, बहुत ही भला हुआ। मुझे और कुछ नहीं चाहिये। मरे काबिल यहीं बहुत है। अब फिर मैं तुम दोनों के बीच में आना भी नहीं चाहती। मैं तो बेटा, काला तारा हूँ, जहाँ भी गई हूँ, सर्वनाश ही हुआ है, पर एक बात मेरी याद रखना बेटा कि उसे दुख न होने पाये। मैंने उसे कितने लाड़-प्यार से, कितनी जोड़-जुगत से पाला-पोसा है। यह तू क्या जानेगा बेटा ? वेश्या तो जरूर हूँ पर दिल तो मेरे भी पास है न, तू सच ही मानना कि मैंने उससे कभी बुरा काम नहीं लिया। वह एकदम पाक-साफ है, उसके दामन पर कोई धब्बा नहीं है। बस दोष उसका इतना ही है कि वह मेरी कोख से जनमी है।'

संसार का आठवाँ आश्चर्य ही समझिये कि मेरी आँखों में आँसू भर आये। भर्राये गले से बोला—'हर धब्बा आँसुओं के खारे पानी धुल सकता है माँ जी ! उसकी आँखों में आँसू देखकर ही मुझे विश्वास हो गया था कि वह पवित्र है।'

'पर बेटा, इतने दिनों जो इस नापाक घर में रही इसलिए, तुझे जताने के लिये एक बात तुझसे कहूँ बेटा। इसी ही बम्बई के एक-एक सेठ ने पचास-पचास हजार रुपए देकर उसे खरीदना चाहा पर मैने साफ इनकार कर दिया। जानती थी, खरीद उसके रूप की हो रही है, जिन्दगी की नहीं। कब उसे दूध की मक्खी की तरह निकालकर फेंक दिया जायेगा, कोई नहीं कह सकता। पर तुझ पर मुझे विश्वास है तू ऐसा नहीं करेगा। क्यों बेटा, ठीक है न ?'

मैंने विश्वास के साथ कह दिया—'जब तक मैं जिन्दा हूँ शौकत को कोई कष्ट नहीं होगा।'

उस समय देखा तो नहीं पर मन होता है कि जरूर ही उधर बैठा वह नियंता हँसा होगा

कि देखो, पागल समझ रहा है कि सब वही कर रहा है। और मन की बात ही कहता हूँ, वास्तव में मेरे गर्व की सीमा नहीं थी। मैं समझ रहा था कि कोई अत्यन्त महान कार्य मैं सम्पन्न कर रहा हूँ।

महाभारत के युद्ध में जिस प्रकार अर्जुन एक सेना को परास्त कर दूसरी सेना की ओर मुड़ता था, उसी प्रकार मैं भी बम्बई राज्य पर अपनी विजय का स्तूप खड़ा कर कलकत्ता राज्य में घुसा। पर यह जानकर कि उस राज्य की अधिष्ठात्री देवी को मेरे मन की अधिष्ठात्री देवी ने चुटकियों में ही परास्त कर दिया है तो फूला नहीं समाया, सुषमा ने समाचार दिया, 'माँ, मुझे अभय दे गयी है।'

मैंने पूछा—'अरे, पर कैसे ?'

उसने अपना हाथ उठाकर अभिनय के साथ मेरे सिर पर रख दिया बोली—'ऐसे।'

सिर पर के हाथ को अपनी मुट्ठी में दबोच मैंने कहा—'तुम सचमुच जादूगरनी हो सुषमा रानी ! माँ को पिघला दिया, ताज्जुब है।'

'जादूगरनी हूँ ?'

'नहीं तो क्या !'

'अच्छा ?'

'मुझे तो तुमसे डर लगने लगा है। सच बताओ, कहीं बन्दर-वन्दर बनाना तो नहीं जानतीं ?'

अत्यन्त गम्भीर भाव से बोली—'जानती क्यों नहीं, जानती तो हूँ। तुम दोनों आँखें मींचो, देखो तुम्हें अभी बन्दर बनाकर दिखाती हूँ।'

मैंने कहा—'कितनी देर में बन जाऊँगा ?'

'यही कोई पाँच मिनट में।'

अच्छा तो लो, मूँदे लेता हूँ।

मैंने आँखें मूंद लीं। उसने मेरी ही जेब से रूमाल निकालकर मेरी आँखों पर कसकर बाँध दिया। फिर आज्ञा के स्वर में बोली—'जब तक मैं न कहूँ रूमाल मत खोलना।'

फिर पाँच मिनट तक न जाने क्या करती रही। हम बगीची में शायद किसी अमरूद के पेड़ के नीचे खड़े थे। मैं सोच ही रहा था कि बन्दर तो न मालूम बनूँ या न, पर अंधा तो उसने बना ही दिया। हाथों को पीछे ले जाकर रूमाल खोलने ही को था कि टप से एक कच्चा अमरूद आकर छाती पर लगा और साथ ही आवाज आई, 'गैरकानूनी हरकत।'

मैंने कहा—'पर तुम्हारे पाँच मिनट कितने लम्बे होते हैं जी ?'

तभी एक अमरूद आया और कन्धे की जड़ में लगा और साथ ही कानों में पड़ी नदी की कलकल ध्वनि की तरह प्रवाहपूर्ण खिलखिलाहट।

मन झल्ला उठा, जल्दी-जल्दी रूमाल खोलने लगा। पर न जाने कैसी गाँठ लगा दी गई थी कि खुलने में ही नहीं आ रही थी। उधर कच्चे अमरूद आँधी की तरह टपाटप मेरे ऊपर पड़ रहे थे। और गाँठ थी कि जितना सुलझाता उतना ही उलझती जा रही थी। न जाने क्यों मन खीझ-सा उठा, रूँआसे स्वर में बोला—'अरे बन्द करो न, यह भी कोई खेल हुआ।'

ऊपर से बोली—'कलियुग आ गया है महाराज, सुना है कि पहले तुम्हारे श्रीकृष्ण महाराज इसी तरह गोपियों को नचाया करते थे और अब गोपियों की बारी है।'

मैंने चीखकर कहा—'ओ गोपी की बच्ची नीचे तो उतर, देख मैं तेरी कैसी गति बनाता हूँ।'

और उत्तर में आयी वही खिलखिलाहट! और एक बड़ा-सा अमरूद!

उसकी प्रसन्नता से मुझे खुशी न हो रही हो सो बात नहीं, मन बेहद प्रसन्न था। शायद इस गर्व से कि इस सारी प्रसन्नता का श्रेय मुझे ही तो है पर अपनी हार पर मैं खीझ रहा था। आखिर किसी तरह जब आँख खुली तो जो देखा दिल धक् से रह गया। पचीसों फीट की ऊँचाई पर पेड़ की लगभग सबसे ऊँची डाल पर तीन डालों के संगम पर बैठी है। और मटक कर बोली—'जलते क्यों हो, लो तुम भी खाओ।'

मैंने कहा—'सुनती नहीं है, नीचे उतर, नहीं तो मारूँगा पत्थर फेंककर! उफ्! पगली कहीं की! अरी उतर नीचे। तुझे मेरी कसम! अगर पाँच मिनट के भीतर नीचे न उतरी तो मरे का मुँह देखेगी। उतर!'

इस बार वह जरा सतर्क हुई और गुस्से से मुँह का जूठा अमरूद मेरे ऊपर फेंककर वह धीरे-धीरे नीचे उतरने लगी। मैं भी ठीक उसकी सीध में चलने लगा कि गिरे तो उसके चोट न लगने दूँ। साड़ी डालियों में अटकी और गिरने-गिरने को हुई पर सँभल गई और आखिर सही-सलामत जमीन पर उतर गई। शायद मेरे मुँह पर अब भी आशंका और भय के चिन्ह मौजूद थे सो मेरी ओर देख-देखकर खिल-खिल करके हँसने लगी।

मैं कुछ स्वस्थ हुआ—बोला—'तू तो बिलकुल पागल है सुषमा और यह पेड़ पर चढ़ना किससे सीखा?'

कहा—'बचपन से।'

मैं चुप ही रहा तो बोली—'डर गये थे?'

मैं बोला—'अरे मुझे क्यों डरना-मरना था। तुम्हें खुद जब अपने अच्छे-बुरे का खयाल नहीं तो मुझे क्या जरूरत है कि तुम्हारे बीच पड़कर बुरा बनूँ! तुम्हे खयाल नहीं हुआ कि गिरकर मर गई तो क्या होगा, मुझ पर क्या बीतेगी और सबको क्या जवाब दूँगा?' यह कहते-कहते मेरे गले में आँसू फँस आये पर वह पगली उसी तरह खिल-खिल गिल-गिल करके हँसती रही। झींककर पूछा—'आज तो बड़ी खुश हो, बात क्या है?'

उसी तरह हँसती-हँसती बोली—'एक बात बताना तो भूल ही गई। आपके भाई साहब आये थे। तुम्हारे आने से कुछ ही देर पहले।'

मैंने चौंककर पूछा—'भाई साहब आये थे?'

'हाँ, और वे भी मुझे अभय दे गये हैं।'

'वे भी अभय दे गये हैं? क्या कहते थे?'

'कहते थे, माँ तुम्हारी बड़ी तारीफ करती थीं। देखने से पहले तो उस तारीफ को भ्रम ही माना था पर अब उस तारीफ के स्वर में मैं भी शामिल हूँ। तुम खुशी से रहो, मैं तुम्हें कुछ न कहूँगा और न प्रवीण को ही।'

मैंने हँसकर कहा—'मार दिया, आखिर उन पर भी तुम्हारा जादू चल ही गया। चलो, कलकत्ता राज्य तुमने जीत लिया पर समझ में नहीं आता सुषमा कि आदमी के चेहरे पर ऐसा क्या लिखा होता है कि पल भर पहले के सब विचार ही उलट-पुलट जाते हैं।'

न जाने क्यों यह सुनकर वह यकायक ही अनमनी हो आयी, बोली— 'यही मैं भी सोच

रही हूँ प्रवीण बाबू ! न जाने यह सब क्यों होता है। आश्चर्य नहीं तो और क्या है, आदमी आदमी में कोई अंतर नहीं होता पर क्यों एक को देखकर अनायास ही विश्वास करने को मन कर उठता है और दूसरे को देखकर अविश्वास ही विश्वास, सो कभी समझ में नहीं आता। क्यों एक आदमी बार-बार धोखा देने पर भी विश्वसनीय बना रहता है और एक कभी भी धोखा देने पर भी विश्वासपात्र नहीं बन पाता। यह सब कैसा खेल है, मेरी तो कुछ समझ में नहीं आता। अपने शास्त्रों में पहले जन्म के संस्कारों का जिक्र आता है शायद वे ही ठीक हैं प्रवीण बाबू ! देखिये न, माँ जी ने पूरे सोलह साल तक पाल-पोसकर मुझे बड़ा किया, हर तरह से मेरी रक्षा की, सच मानिये, बड़े-बड़े झगड़े और खून-खच्चर उन्होंने मेरे पीछे झेले। मैंने भी उन्हें कम चाहा हो सो बात नहीं, बचपन की याद करती हूँ। कोई छः सात साल की रही हूँगी। माँ जी किसी पड़ोस में गई थीं उन्हें लौटने में जरा कुछ देर हो गई। कितने घण्टों मैं रोती रही सो क्या कहने की बात है ? और जब तक उन्होंने आकर मुझे चूम नहीं लिया मैं चुप नहीं हुई। पर उनको छोड़कर आते मुझे कितनी देर लगी। पल में मेरा सारा विश्वास उन पर से उठ गया और वह सब तुम पर आ गया। कोई तुमसे ही पूछे तो क्या बता सकोगे कि आखिर क्यों तुमने मुझ अनजान के लिए अपनी जान पर खेल जाना उचित समझा और क्यों नहीं यह भी समझने की कोशिश की कि मैं भी धोखा दे सकती हूँ ? इस दस-बीस साल की जिन्दगी में कितने आदमियों से सम्बन्ध होता है, क्यों वे आते हैं और क्यों एक लकीर-सी खींचकर चले जाते हैं, कोई नहीं जानता। तो कहती हूँ प्रवीण बाबू कि यदि कहीं वह आपका ईश्वर है तो शायद वह भी इसी रहस्य को न जान पा सकने के कारण मुँह छिपाये रहता है, सामने नहीं आता।'

उसकी व्यथा का मर्म मैं उस समय समझ नहीं पाया। पर उसके उत्तर में धीमे-से कहा—'नहीं सुषमा, भगवान सब जानता है, हमें उस पर विश्वास करना चाहिये। आज कल के लोग न जाने कैसे कहते हैं कि वे खुद अपने मालिक हैं पर मैं तो सुषमा, विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि मालिक शब्द एक के लिये ही प्रयुक्त हो सकता है और वह है भगवान जो भी होता है उसके इंगित से होता है, हम सब तो खिलौने हैं, मात्र खिलौने ! बड़ा भला-सा तर्क लोग दिया करते हैं कि 'बुरे कर्मों' को करके छुट्टी पा लेने का साधन बना लिया है भगवान को दुनिया ने। समझते हैं यह कहने से कि सब कर्ता-धर्ता वही है, बरी हो जाते हैं, उस बुरे काम का फल उन्हें नहीं मिलेगा—नहीं, आदमी काम करने में स्वतन्त्र है और उसका फल उसे जरूर मिलता है। उनकी यह बात बिलकुल सही है सुषमा जो लोग सिर्फ अपने बुरे कामों में ही भगवान को साझीदार बनाते हैं वह गलती करते हैं पर जो बुरे और भले दोनों में भगवान को ही कर्ता-धर्ता मानते हैं, उनको पाप-पुण्य कभी छू नहीं पाता। वे उससे ऊपर रहते हैं।'

'पर बुरे कामों का फल ?'

'अरे ! पूजा करोगी तो प्रसाद नहीं मिलेगा क्या ? नहीं-री-नहीं, भगवान इतने निष्ठुर नहीं हैं। हर आदमी को प्रसाद वे अवश्य देते हैं।'

कई क्षणों तक सुषमा चुपचाप साथ-साथ चलती रही। कोठी का दरवाजा दीखने लगा था। दरबान भी हमें आता देखकर सतर्क हो गया था। गनीमत यही थी कि दसों दिशाओं में अंधकार उठ-उठकर सारी हवा में व्याप रहा था। बस, सूरज की एक हल्की-सी किरण सुषमा के मुख पर पड़ रही थी। मैंने देखा कि उस व्यापते अन्धकार की ही तरह सुषमा के चेहरे पर भी काला-काला कुछ जम गया है। सोचा, शायद इस तर्क-वितर्क से यह व्यथित हो उठी है।

वास्तव में ऊपर की बातचीत ने वातावरण को इतना गाढ़ा कर दिया था कि उसमें साँस लेना भी दूभर हो रहा था। उसे ही कुछ हल्का करने के लिये बोला—'अन्धेरा हो आया सुषमा, अब चलूँ ?'

उसने मेरी ओर व्यथा भरी दृष्टि से देखा, रुँधे कण्ठ से बोली—'प्रवीण बाबू, आपके प्रति मुझसे कभी कोई अपराध बन पड़ा तो क्षमा कर सकोगे ?'

मैंने हँसकर कहा—'अपराध कर देखो तो पता चल जायेगा।'

उसने कहा—'मजाक नहीं, ठीक से कहो।'

मैंने उसका हाथ अपने हाथ में लिया, उसे धीमे-से दबाकर छोड़ते हुए बोला—'मुझे तो हँसी आती है सुषमा, आदमी के गर्व की सीमा नहीं है। भला उसे अधिकार क्या है, किसी को दण्ड या क्षमा देने का ?'

'यानी तुम क्षमा नहीं कर सकोगे ?'

'पर दण्ड भी नहीं दे सकूँगा। कभी भी किसी भी प्रकार से कष्ट नहीं दे सकूँगा सुषमा।'

'यह कैसी बात हे प्रवीण बाबू, दण्ड और क्षमा का विधान उन्हीं के बीच होता है जिनमें आपस में गहरा सम्बन्ध होता है, तो क्या तुम मानवीय सम्बन्धों में विश्वास नहीं रखते ? इससे सम्बन्ध टूटते नहीं अटूट बनते हैं।'

मैंने जोर देकर कहा—'इस बात का जवाब मैं ठीक से नहीं जानता पर हमेशा यही करने को मन करता है कि यदि मुझे कष्ट देकर कोई सुखी होता है तो मैं उसमें बाधा क्यों डालूँ ?'

'तो तुम दण्ड सिर्फ अपने को देते हो यानी अपने सिवाय किसी को अपना नहीं समझते। यह कितना बड़ा गर्व है, जानते हो तुम ?'

'हाँ सुषमा, शायद ऐसा ही हो, पर अब मैं चलूँगा। देखो न, कितना अन्धेरा हो गया है। जाऊँ न ?'

मैं यकायक यह कहकर बिना उत्तर ही प्रतीक्षा किये ही घूमकर वापिस चल दिया। वापिस घूमकर भी नहीं देखा कि सुषमा क़िस हाल में खड़ी है और कैसे-कैसे अन्दर जा रही है। घर में घुसा ही था कि पता चला कि भाई साहब भीतर हैं और कई बार मेरे आने के बारे में पूछ चुके हैं।

भाई साहब से मिलकर लौटा तो मन यकायक ही खिन्न हो उठा था। पूछा गया था कि मुनीम जी से जो पाँच हजार रुपये की रकम ले गये हो, उसका क्या हुआ ? मैंने बताया तो मूर्ख की एक उपाधि दी गयी। माँ भी थी, मैंने इस उपाधि प्राप्ति की खुशी में जो उनकी तरफ देखा तो वह हँस उठीं। बोलीं—'निरा पागल है रे!' मन-ही-मन कहा—'बस, हँस दीं और कह दिया कि पागल है! हो गया इतने से ?'

कुछ पल खड़े रहकर बाहर निकल आया। मन-ही-मन भुनभुनाता हुआ। पर खुशी भी थी कि चलो सस्ते छूटे। खिन्न तो मन सुषमा से हुए वार्तालाप के कारण था जो न मालूम हाथ फैला-फैलाकर क्या कह रहा था ?

पाँचवाँ स्वप्न

जिस तरह घूमकर उस दिन प्रवीण बाबू चले गये सो मन बहुत खराब हो गया। यह तो स्पष्ट

था कि वे नाराज होकर गये हैं पर यह बिलकुल समझ नहीं आया कि आखिर वे नाराज हुए क्यों हैं ? दिमाग पर खूब जोर देकर सोच लिया और जो भी बातें हुई थीं उन्हें बार-बार दुहरा लिया पर सब में से कोई बात ऐसी नहीं निकली जिस पर नाराज हुआ जा सकता था। सोचा, शायद पेड़ पर चढ़ने की बात पर नाराज हुए हों पर तभी तर्क किया कि उसके बाद तो वे खुश थे, फिर वह जो ऊटपटाँग बहस छिड़ उठी शायद उस पर···पर तत्काल ही मन ने कहा कि नहीं-नहीं, सो भी कोई नाराज होने की बात थी। फिर याद आया कि मैंने उन्हें गर्वीला कहा था, शायद इस बात पर। यहाँ तर्क कुछ देर टिका रहा, पर अधिक देर न टिक पाया और सब तरफ से यही फैसला हुआ कि वे मुझ पर व्यर्थ ही नाराज होकर चले गये हैं।

कुछ देर इस बात को मन में बैठाने में लगी। पर फिर तो ऐसा मालूम होने लगा जैसे शरीर का रोम-रोम यही कह रहा है कि वे मुझ पर नाहक ही नाराज होकर चले गये हैं। ज्यों-ज्यों में यह बात सोच रही थी, शरीर का तापमान बढ़ता चला जा रहा था। शरीर में जैसे काँटे से चुभे जा रहे थे और जैसे हर काँटा खड़ा होकर यही कह रहा था कि वे मुझसे बिना कारण नाराज होकर क्यों चले गये ? आखिर इसका उन्हें अधिकार क्या था ? यह क्या सिर्फ उन्होंने इसी गर्व में किया कि उनका मुझ पर कुछ अधिकार है। इसलिए कि—

औ, धी -धीरे मैंने अनुभव किया, मेरे शरीर के रोम-रोम से ज्वाला निकल रही है और मैं जली जा रही हूँ।

दासी ने आकर सूचना दी कि भोजन तैयार है तो मैंने कह दिया कि भूख नहीं है दया करो।

दासी ने फिर कहा—'पर आपने ही तो हुक्म देकर सब चीजें तैयार कराई हैं।'

मैं तीखी हो आई, बोली—'और अब हुक्म देकर ही कह रही हूँ कि सब चीजें बाहर फेंक दो और सो रहो।'

'पर···'

'पर-वर नहीं, जाओ।'

दासी बेहद ढीठ निकली, दृढ़ता से बोली—'ऐसा कैसे होगा मालकिन आप न खायेंगी तो घर में कोई भी न खा सकेगा। क्यों नहीं खा रहीं यह तो बताइये। तबीयत खराब हो तो किसी डॉक्टर को बुलाने को किसी को कहिये।'

अन्दर की ज्वाला वैसे उसके मीठे स्वर से कुछ-कुछ शान्त हुई थी पर ऊपर की जिद न टूट सकी, बोली—'अब आप सिर पर खड़ी होकर लैक्चर ही दिया करेंगी या जायेंगी भी, कह जो दिया कि मुझे नहीं खाना, सुना नहीं ?'

वह हँस दी, बोली—'क्यों झूठ-मूठ गुस्से का ढोंग कर रही हो मालकिन आपसे वह बन नहीं पड़ रहा।'

'क्या मतलब है तेरा ?'

'मतलब यह कि पेट में तो चूहे नाच रहे हैं और रूठने का अभिनय कर रही हैं। कैसे बात बनेगी ? जिस बात पर आप नाराज हैं वह मैं जानती हूँ। खाना बनने में देर हुई, यही न, सो उसके लिये हाथ जोड़कर माफी माँगती हूँ।'

मेरा गला अब लगभग बन्द हो आया क्योंकि गले तक तो हँसी भर आई थी और करना मुझे क्रोध था। तेज सोडे की बोतल की डाट खोल देने पर भी यदि उँगली से उसे बन्द रखा जाये तो उसके गले में जिस तरह झाग भर आती है लगभग यही हालत उस समय मेरे गले की थी। कुछ ही मिनटों पहले का क्रोध कहाँ गायब हो गया यह तो मालूम नहीं पर यह निश्चित है कि उस समय खूब खुलकर हँसने और बातें करने को मन कर आया था। आखिर बोली—'कलमुँही, तू जायेगी नहीं यहाँ से ?'

पर वह अकेली नहीं गई साथ में मुझे भी जाना पड़ा।

खाने के समय वह रोज ही मेरे सामने बैठा करती थी। आज भी बैठी।

कुछ देर चुप रहकर मैंने पूछा—'तू यहाँ कब से है बासन्ती ?'

बोली—'कुछ याद नहीं पड़ता मालकिन, मैं माँ की गोद में ही रही हूँ शायद, तभी से इनके यहाँ हूँ। प्रवीण बाबू और सुधीन्द्र बाबू को तो मैंने ही पाल-पोसकर बड़ा किया है। माँ जी तो सब नाम की ही माँ हैं।'

मैंने आश्चर्य से पूछा—'अच्छा ? तो क्या तुम तब से यहीं रहती हो ?'

उसने बताया कि जब ये लोग जहाँ रहने को कहते हैं वहीं रहती हूँ। आखिर हूँ तो नौकरानी ही।'

'यहाँ रहने को किसने कहा तुमसे ?'

'प्रवीण बाबू ने।'

'क्या कहा ?'

वह हँसी, फिर अत्यन्त मीठे स्वर में बोली—'बासन्ती दीदी, तुम्हारी नई मालकिन आई हैं बम्बई से, जरा अच्छी तरह साज-सहेज रखना।'

'तुम जानती हो मैं कौन हूँ ?'

'सामने तो बैठी हो फिर और जानने को क्या रह गया ?'

मैंने उसकी तरफ देखा। मन में शंका हुई कि यह व्यंग्य कर रही है। पर उसके चेहरे पर व्यंग्य का कहीं चिन्ह न देख निश्चिन्त होकर कहा—'नहीं-नहीं मेरा मतलब कि बम्बई में कौन थी, क्या थी ?'

मेरी थाली में एक और फुलका रखती हुई बोली—'और कि पिछले जन्म में कौन थी, क्या थी, यह तो फिर बहुत कुछ जानने को बच जायेगा। नहीं मालकिन, मेरे लिए तो यही जानना बहुत है कि मेरा प्रवीण तुम्हें लाया है और तुम एक स्त्री हो। तुम शौकत बानू हो इससे स्त्री होना मिटता नहीं, और उससे हटकर सुषमा रानी हो गई हो उससे स्त्री होना कुछ बढ़ता नहीं।'

मैंने समझ लिया कि वह सब जानती है और यह इस घर की दासी मात्र नहीं है बल्कि इस परिवार का ही एक हिस्सा है जो इसके तौर-तरीकों और कायदे-कानून को खूब जानता है।

खाना खत्म हो चुका था। कहारिन को काम-काज समझाकर वह रोज ही करोशिया या यह-वह लेकर मेरे पास आ बैठा करती थी। आज आई तो मैंने बातों का दौर फिर चला दिया, कहा—'अच्छा बासन्ती दीदी, यह तो बताओ कि तुम्हारे दोनों बाबुओं में तुम्हें प्यार कौन अधिक करता है और तुम दोनों में से किसे अधिक चाहती हो ?'

वह फिर हँसी, बेहद मीठी थी उसकी हँसी। क्षण भर चुप रहकर बोली—'क्या जानना चाहती हो, सच-सच बताओ ?'

उसकी आँखों में एक अजीब प्रकार का कौतूहल लक्ष्य कर मैंने भी कौतूहल से पूछा—'क्या मतलब ?'

बात को घुमा-फिराकर कहने की उसमें जरा भी आदत नहीं थी, सो बोली— 'मतलब यह कि दोनों को तोल रही हो फिर निश्चय करोगी कि वरण किसका करूँ ?

लज्जा से मेरा सारा शरीर सिकुड़ गया। मेरे तो मन में कहीं भी यह बात नहीं थी। पर न जाने कहाँ से प्रकाश की एक तीक्ष्ण रेखा की तरह दिमाग में एक बात चक्कर काट गई कि कहीं प्रवीण बाबू आज इसीलिए तो नाराज होकर नहीं चले गये कि सुधीन्द्र बाबू यहाँ आए थे और उन्हें यह बुरा लगा हो कि मैंने उनसे बातें कीं या कुछ और। शरीर फिर अनायास ही शिथिल हो आया। मैं स्तब्ध सोचती बैठी रही कि बासन्ती दीदी फिर बोली—'क्या सोचती रह गईं मालकिन ?'

'कुछ नहीं, पर यह क्या बिना सोचे-समझे कह डाला तुमने ?'

'बिना सोचे नहीं कहा मालकिन, समझकर ही कहा। हो सकता है मेरा ख़याल गलत हो पर लगता है कि तुम्हारा मन दुविधा में है। वह दुविधा क्या हो सकती है, कहो तो ?'

मैंने कहा—'मैंने तो एक क्षण के लिए भी यह नहीं सोचा, तुम्हें न मालूम कहाँ से सपने आते रहते हैं।'

वह चुप ही रही पर मैं चुप न रह सकी, पूछा—'और तुम्हारे बड़े मालिक क्या अब तक कुँवारे ही बैठे हैं।'

उसने कहा—'शादी हुई थी, पर छः महीने बाद ही पत्नी जाती रही।'

'फिर शादी नहीं की ?'

'नहीं।'

'क्यों ?'

'उनसे बहुत प्यार करते थे। शायद आज तक उन्हें भूल नहीं पाये।'

अनायास ही सारा मन सहानुभूति से भर आया, बोली—'तुम्हारे बड़े बाबू बहुत गम्भीर आदमी मालूम पड़ते हैं।'

'हाँ मालकिन, उन्हीं की बदौलत यह घर टिका है। छोटे तो जानते भी नहीं कि कहाँ क्या हो रहा है। कोई सोलह साल के थे कि एक दिन अचानक पिता चले गये। न जाने कैसा रोग था कि जबान ऐंठ गई थी और गला बन्द हो गया था। इतना बड़ा कारोबार और जाते हुए कुछ भी बताकर न जा सके पर मानना होगा सुधीन्द्र बाबू को कि उस कच्ची उमर में जो व्यापार सम्भाला है सो किसी दिन घाटा नही होने दिया। बल्कि लगातार बढ़ोतरी ही कर रहे हैं। छोटे बाबू तो बस खोने को उतारू रहते हैं। अभी आज ही उस घर गई थी तो माँ जी कह रही थीं, प्रवीण मुनीम जी से पाँच हजार रुपये लेकर न जाने क्या कर आया है। प्रवीण को मैंने ही पाला-पोसा है और जब वह शिमला में रह कर पढ़ा करता था तो मैं ही इस के पास रही थी। इससे सब यही कहते हैं कि तूने ही अधिक लाड़ करके बिगाड़ डाला है।'

'उनसे पूछा कि पाँच हजार रुपये क्या हुए ?'

'तीन दिन से जाने कहाँ, बिना बताये ही चला गया था और फिर पूछने से ही क्या होगा,

गढ़कर कोई कहानी सुना देगा। भाई कहेगा कि चल तो, बता तूने किसे दिये हैं रुपये, तो कह देगा कि तुम उससे वापिस माँगने गये तो पुल से कूद कर प्राण दे दूँगा।'

'तो किसी की नहीं सुनते वह ?'

'ना! उसकी अलग ही मति है मालकिन! कभी तो ऐसा लगता है जैसे वह आधा पागल हो। कहता है कि जो किया करता है वह सब खुद नहीं करता कोई और ही उससे कराया करता है। पाप-पुण्य नहीं मानता, धर्म-कर्म नहीं मानता। एक दिन घर से किसी बात पर रूठकर चला गया। घर में तहलका मच गया। माँ जी और बड़े बाबू तो लगभग पागल हो उठे। शहर के कोने-कोने में नौकर-चाकर गये, सम्बन्धी दौड़े-भागे। पर रात नौ बजे तक कोई पता नहीं। ठीक तो नहीं बता सकती पर इतना जानती हूँ कि पाँच-सात घण्टों में ही बाबू ने हजारों रुपया लुटा दिया। माँ जी ने बड़े-बड़े जप-तप बोल दिये और ब्राह्मणों की तो उस दिन बन आई। धीरे-धीरे आध घण्टा और बीता तो शोर मच गया कि वह देखो, वह आ रहा है। देखा कि बड़े धैर्य से सड़क के किनारे-किनारे चले आ रहे हैं। माँ जी दौड़ीं। पीछे-पीछे सब दौड़े। माँ जी ने उसे छाती से लगा लिया, बोलीं, 'हतभागे, गया था तो फिर लौटा क्यों है ?' तो आप निर्विकार भाव से बोले, 'मैं खुद नहीं आया, कोई मुझे उँगली पकड़ कर लौटा लाया है।' सबने एक स्वर में पूछा, 'कौन था, कहाँ है ?' तो बोला, 'वह दीखता नहीं था मुझे। उस रोशनी के पास पहुँचाकर लौट गया।' उसका चेहरा देखने से लगता था जरा भी झूठ नहीं बोल रहा है। पर ऐसी बात कौन विश्वास करने लगा था। सबने यही समझा कि साहब डरकर लौट आए हैं। शेखी बघारने को यह कहानी गढ़ ली है। मुझे याद है कि सब ही उसकी बात का मज़ाक उड़ाया करते हैं पर वह आज भी उसी गम्भीर भाव से कहता है, 'तुम हँस सकते हो पर मुझे आज भी अच्छी तरह याद है कहाँ क्या हुआ था।' ऐसे ही न जाने कितने कारनामे साहब ने किये हैं। मैं आपसे क्या बताऊँ मालकिन ?'

मैं अचरज में पड़ गई। मुँह से अनायास निकल गया—'और देखने में कितने भोले लगते हैं।'

दीदी बोली—'पर एक बात है मालकिन कि दया-ममता उसमें बहुत है। जिससे प्यार करता है जान देने को तैयार रहता है।'

मैंने कहा—'ऐसा प्यार किस काम का दीदी, जो पल को हँसाए और जन्म भर रुलाए।'

'हाँ, यह तो है।'

इसके बाद हम दोनों देर तक चुप बैठे रहे। मैंने देखा कि रात बहुत हो गई है। न जाने मैं किन विचारों में खो गई थी कि बासन्ती बोली—'अच्छा, चलूँ मालकिन, सोने का वक्त हो गया।'

मैंने कहा, 'दीदी!'

'जी!'

'मैं तुमसे कितनी छोटी हूँ और तुम यह 'जी-जी', 'मालकिन हालकिन' लगाए रखती हो। भला यह क्या ठीक है दीदी।'

वह हँसने लगी। बोली—'ठीक नहीं तो क्या है; आखिर हूँ तो...'

'तुम मुझे सुषमा कहा करो।'

तो बोली—'जो तुम्हें बम्बई से उठाकर यहाँ तक लाए हैं, वह सुनेंगे तो नौकरी से अलग

कर देंगे।

'तुम्हें नौकरी से कोई अलग नहीं कर सकता।'

'तो तुम्हारे आसरे।'

मैंने पूछा—'दीदी, तुमने तो उन्हें पाला-पोसा है। वह तुमसे डरते नहीं?'

हँसकर बोली—'मालिक कहीं नौकरों से डरते हैं?'

'सच बताओ।'

तो गम्भीर स्वर में बोली—'नहीं, ऐसी बात नहीं, और चाहे उसमें जो दोष हो पर बड़ों के सामने मुँह खोलना उसने नहीं सीखा। मैं ही उससे दस बात कहूँ पर चूँ नहीं करता।'

मैंने कहा—'अच्छा! फिर तो मुझे भी तुमसे माफी माँगनी होगी, आज के व्यवहार के लिए।'

वह हँस दी, बोली कुछ नहीं।

मैंने कहा—'माफ कर दोगी ना?'

वह और जोर से हँस दी, बोली फिर भी कुछ नहीं।

मैंने पूछा—'हँस क्यों रही हो?'

बोली—'तुम्हारा मुँह देखकर।'

'मुँह पर क्या है?'

'पागलपन, भला माफी की कौन बात आ पड़ी?'

मैंने कहा—'सोचती हूँ कि जिनकी तुम इतनी पूज्या हो उन्हें मेरे इस बर्ताव का पता चलेगा तो क्या सोचेंगे?'

वह बहुत जोर से हँस दी, फिर उठते हुए बोली—'पता चलेगा ही क्यों, सुषमा रानी। मैं तुम दोनों के बीच झगड़ा कराने वाली नहीं हूँ।'

बासन्ती दीदी चली गई पर मैं बैठी सोचती रह गई। कैसे आदमी हैं यह प्रवीण बाबू! उनसे मुझे जैसे डर लगने लगा। उस रात शायद ही कोई घड़ी मैं सो पाई होऊँ?

सुबह प्रातः कार्यों से निपटी ही थी कि बासन्ती दीदी आती दीखीं। आते ही बोलीं—'माँ जी ने बुला भेजा है तुम्हें, गाड़ी आई है।'

मैंने आश्चर्य से पूछा—'कहाँ बुला भेजा है?'

'और नहीं तो क्या काली मन्दिर में मिलन होगा। रानी माँ ने बुलाया है कोई 'उन्होंने' नहीं।'

मैंने कहा—'अच्छी नहीं है यह बात...'

उसने धीरे-से मेरी चिबुक छुई और हँसती हुई वहाँ से चली गई।

जल्दी-जल्दी नहाने से निपटी और कपड़े पहने। बम्बई से तो कुछ साथ लाई थी नहीं। यहीं आकर एक दिन देखा कि साड़ियों का एक बड़ा पुलिन्दा लिए प्रवीण बाबू चले आ रहे हैं। देखने पर मालूम हुआ कि सभी बेशकीमती हैं। उन्हीं में से एक जो खूब भली लगी पहन ली। शायद बादामी रंग था। उसी रंग का ब्लाउज भी था। शीशे में देखकर चेहरे को भली प्रकार साफ किया। बम्बइया मेकअप के जो चिन्ह थे वे रगड़-रगड़कर उतार फेंके और एक हल्की-सी लाल बिन्दी माथे पर लगा, जूड़ा बाँध मैं उतर आई। गाड़ी के पास आने पर देखा कि लेटेस्ट मॉडल की शैवरलेट खड़ी मेरी प्रतीक्षा कर रही है। कुछ ही दूर बैंच पर बासन्ती

दीदी भी तैयार हुई बैठी हैं।

गाड़ी की चमक ने याद पड़ता है मेरी आँखों में एक चौंध-सी पैदा कर दी थी। मैं पिछले सुख-दुख के दिन भूल उस गाड़ी में सवार हो गई। पल को बम्बई की माँ जी की, चचाजात भाई-बहनों की और वहाँ के अपने साथी-संगियों की याद हो आई पर बस इसलिए कि काश वे इस समय यहाँ होते और देख सकते कि शौकत अब बाई नहीं रही बल्कि सुषमा रानी बन गई है। और वह मोहन ? नीच, कमीना तबलची कहीं का !

तभी बासन्ती दीदी ने कहा—'सुषमा रानी, यह कलकत्ते का सबसे बड़ा बाज़ार है। कितनी ऊँची-ऊँची इमारतें हैं। हैं आपकी बम्बई में इतनी ऊँची इमारतें ?'

मैंने कहा—'नहीं दीदी, वाकई तुम्हारा कलकत्ता बम्बई से हजार गुना खूबसूरत है।'

कोठी पर पहुँचकर देखा कि खूब चहल-पहल है। कोई उत्सव-सा हो रहा है। मैंने बासन्ती दीदी से पूछा—'आज कुछ है क्या ?'

'हाँ, बड़े बाबू का जन्म-दिन है।'

'ओह ! तभी !'

कार धीरे-धीरे आगे बढकर कोठी के लॉन में खड़ी हो गई। मैंने और बासन्ती दीदी ने कार से नीचे उतरते ही देखा कि ऊपर छज्जे पर खुद सुधीन्द्र बाबू खड़े हमारी ओर ताक रहे हैं। जैसे हमारी ही प्रतीक्षा में हों।

छठा स्वप्न

जो लोग कहते है कि जन्म-दिन खुशी का दिन है शायद सही नही है। वे शायद ठीक नहीं हैं। मैंने तो इसे हमेशा से ही गहरी चिन्ता के साथ मनाया है। आज मेरा तीसवॉ जन्म दिन आया और आकर चला गया और कह गया कि सुधीन्द्र बाबू तुम्हारे जीवन मे से तीस साल घट गये हैं। और अब कुछ थोडे शेष ही बचे हैं। सोच लो कि अब तक तुम ने क्या-क्या किया और अब क्या करना शेष है।

पर मॉ जी के आयोजन की आज सीमा बॉधे नही बॅधती। मैंने हर बार, हर जन्म-दिन पर हजारो ही बार उनसे कहा होगा कि मॉ रहने भी दो न यह सब, क्या शोभा देता है। पर इसके उत्तर में जो हमेशा मुझे मिला है वह यही है कि नही है कि इस भयानक दुनिया में मेरे बेटे ने इतने वर्ष सफलता मे बिता डाले है, दामन पर एक भी काला दाग लगने नही दिया है। जितने-जितने वर्ष बीतते जाते हैं, उतनी-उतनी ही शोभा बढ़ती जाती है।

मै यह कहकर चलने को होता हूँ कि न जाने किस साहस पर इतना पैसा लुटा पाती हो मॉ। तो पीठ पर जवाब मिलता है 'तू बड़ा कंजूस हो गया है रे ! बड़ा ही मुँहजोर हो गया है, जो जी में आता है कह देता है। अच्छा जा, यह सब रुपया मैं तुझसे न लूँगी।'

भारतीयों के पास यदि कुछ गर्व करने को है तो वास्तव में उनकी मॉ-बहनें ही हैं।

ऐसे ही समय यकायक ही कमला की याद हो आई। मेरा एक जन्म-दिन उसके सामने भी पडा था और उस दिन उसने एक कुर्ता भेंट किया था। कितना चकित हो गये थे हम सब

लोग उसके कुर्ते को देखकर। वह करोशिये से बुना हुआ था और उस पर तरह-तरह के फूल-बूटों के बीच मेरा और कमला का नाम बनाया गया था जो बहुत ही ध्यान देने पर दीखता था। कितने बारीक धागे से वह गूँथ-गूँथकर बुना गया था कि पहली नजर में एक मलमल का कुर्ता भर दीखने के सिवाय और कुछ न सूझता था। पर जब उसका भेद खुला तो मैंने ही कमला से पूछा था, 'तुमने बुना है ?'

बोली नहीं। सैन से बता दिया था कि 'हाँ।'

मैंने हँसकर कहा — 'मिल में किसी बुनकर की जगह खाली होते ही पूछ लूँगा। आप काम करना पसन्द करेंगी ?'

'हाँ, पर अकेली नहीं, तुम भी साथ लगना।'

'पर मैं तो बुनना जानता नहीं।'

'मैं सिखा दूँगी।'

पर जो कुछ उसने सिखाया वह था कि...ऐसे लोगों की न जाने क्यों उमर कम होती है ? भगवान...

तभी माँ ने जोर से पुकारकर पूछा — कि — 'अरे, यह प्रवीण कहाँ है और तू यहाँ छज्जे पर खड़ा-खड़ा क्या कर रहा है ?' साथ ही आवाज के साथ-साथ खुद ही पास आ गईं।

मैंने कहा 'कहाँ है प्रवीण, सवेरे से तो दीखा नहीं।'

बोलीं — 'अकल्याणी है अकल्याणी। किसी का भला वह कभी चाह ही नहीं सकता। हर जप-तप, बार-त्यौहार, दिन-दिवस को सवेरे से गायब हो जाएगा और जब तक कि सब निपट न ले दर्शन नही देगा। ऐसा खोटा लड़का है कि न जाने क्यों किसी को कभी खुली ऑख से देखता ही नहीं। हर काज में सिर पर धूमकेतु की तरह लटका रहता है। अब देखो न, न तो वह विमला आई और न ही वह सुषमा। सब लोग चले आ रहे हैं और उसका पता नही। सब कहते हैं छोटे बाबू नहीं दीखते। क्या कहूँ उनसे ? कह दूँ कि भगवान के यहाँ चले गये हैं। लोग न जाने समझते होंगे दोनों भाइयों में बनती नही, या क्या बात है ? हे भगवान! और यह तो तब है जब कि रात के ग्यारह बजे साहब को जगाकर कह आई थी कि कल कहीं मत जाना और विमला और सुषमा को लाना तेरा काम है, पर सुनता कौन है ? वह तो सुनता...'

किसी ने आवाज दी और प्रवीण को दो-चार मन-आयी गालियाँ देती हुई वे निकल गई। इस प्रवीण को वे कितना प्रेम करती हैं, यह कोई ही जान सकता है। पर प्रवीण के माथे में न जाने क्या भरा है कि किसी की सुनता ही नहीं। बड़ा ही अजब आदमी है, कभी-कभी तो एकदम मूर्खों जैसी बातें करता है। पर यह तो कभी भी नहीं कहा जा सकता कि किसी का बुरा कर सके यह असम्भव है। हाँ, अनचाहे में रोज ही उससे जिस-तिस का अपकार हुआ ही करता है। पर आश्चर्य है कि प्रेम उससे वे भी करते हैं, जिनका वह लाख बार अपकार कर चुका होता है।

यही और न जाने क्या-क्या सोचता मैं बरामदे में खड़ा नीचे बगीचे की लहलहाती पत्तियों को देख रहा था कि दीखा दालान में गाड़ी आकर खड़ा हुई है और सुषमा दीदी और बासन्ती दीदी उतरकर नीचे खड़ी हो गई हैं। फिर देखा कि सुषमा ऊपर मेरी ही ओर टक लगाये देख रही है। उस दिन मैंने सुषमा को देखा था। उस दिन असुन्दर लगी हो सो बात नहीं पर आज सा बिखरा रूप उस दिन नहीं था। सिर्फ एक साडी और जम्फर में लिपटी वह शुभ्र, स्वच्छ

संगमरमर की मूर्ति और उस पर जड़ा वह लाल बहुमूल्य हीरा आज अनोखी ही शोभा बिखेर रहा था। सुषमा सुन्दर है यह तो इसी बात से प्रकट हो सकता है कि वह बम्बई से आई है और प्रवीण जैसा आदमी लाया है पर वह इतनी सुन्दर है, यह मुझे आज ही मालूम हुआ। वह किस भाव से इस तरह टक लगाये देखती रह गई यह तो नहीं कहा जा सकता पर उसे इस तरह खड़ी यदि कोई देख लेगा तो क्या कहेगा ? यह सोचते मुझे देर न लगी। उसकी तन्द्रा तोड़ने को हाथ जोड़कर नमस्कार किया और इशारे से कहा कि ऊपर आओ। इतनी दूर से चेहरे के भाव को स्पष्ट नहीं देख पाया पर यह ज़रूर देखा कि नमस्कार का वह कोई उत्तर नहीं दे पाई है और अब मुड़कर धीमे-धीमे दीदी के साथ ऊपर चढ़ी आ रही है।

माँ जी के सामने मैं उसे लेकर हाज़िर हुआ तो उसने झुककर पैर छुए। माँ जी व्यस्त थीं, बोलीं—'इतनी देर कर दी रानी, क्या बैठी चरखा कात रही थी ?'

धीमे से मुस्कराकर उसने गर्दन झुका ली और बोली कुछ नहीं।

फिर खुशी बिखरी, चारों ओर अतिथियों के बीच मेरा तमाशा किया गया और फिर भोजन हुआ। तीसरा पहर भी बीत रहा था कि संगीत मी महफिल बैठी, कईयों ने गाना गया और सुषमा ने सितार बजाया। पर मुझे न जाने क्यों सब धुँधला-धुँधला-सा लग रहा था। मन एकबारगी ही अन्यमनस्क हो उठा था और करता था कि लोगों की इस भीड़-भाड़ से दूर भाग कहीं एकान्त में बैठकर कुछ देर चुप रहूँ और सोचूँ कि आज मुझे हुआ क्या है। पर हँसी-खुशी के उस तूफान में मेरी कौन सुनता। बैठे रहना पड़ा, हँसना पड़ा और कभी-कभी खिलखिलाना भी पड़ा पर मन के भीतर उठता तूफान उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया, घटा नहीं।

तभी धीमे-धीमे पग धरते हुए प्रवीण आया। न जाने क्यों मन को ऐसा लगा जैसे जान बच गई हो। भार से दबा मन जैसे छुटकारा-सा पा गया और प्रसन्न हो उठा। पास आते ही पूछा—'कहाँ से चले आ रहे हैं साहब ?'

वह हँसकर बात उड़ाने में माहिर है। हँसना उसने शुरू किया ही था कि माँ जी ने डपटकर कहा—'सच-सच बता।'

बोले—'कैसी बातें करती हो माँ जी, झूठ के तो मैं कभी पास नहीं जाता। बात यह हुई कि सुबह जैसी कि मेरी आदत है प्रातः भ्रमण के लिए नदी किनारे जा रहा था, ठण्डी-ठण्डी हवा चल रही थी, भौंरे अभी नहीं आये थे पर कलियाँ खिलने लगी थीं, फूलों की खुशबू तो नहले पर दहला जमा रही थी और नदी के बहते पानी की कल-कल ध्वनि बस यों समझिए कि हुक्म का इक्का ही तो था, पर ऐसे ही समय जो मैंने सुना, नहीं बता सकता माँ जी। सुनकर आपका दिल धड़कने लगेगा—काम करने की अत्यधिक इच्छा रखने वाले प्रेत की तरह बाँस पर ऊपर-नीचे चढ़ने-उतरने लगेगा। नहीं माँ जी, आपका यह सुपुत्र आपको इतना कष्ट नहीं दे सकता।'

उसका कहने का ढंग निराला होता है। लगभग सभी लोग हँसने लगे। हँसी माँ जी को भी आ रही थी पर वे उसे दबा गंभीर स्वर से बोलीं—'अच्छा-अच्छा जा भाग यहाँ से, चला है...'

'जी, बहुत अच्छा, जाता हूँ।'

पर और सब लोगों ने विशेष आग्रह के साथ कहा—'नहीं साहब, यह न हो सकेगा, बात पूरी करनी होगी। और लगभग पाँच मिनट की खींचातानी के बाद उसने पूरे हाव-भाव के साथ

फिर से कहना आरम्भ किया !

'हाँ तो साहब आप लोग जानना चाहते हैं कि मैंने क्या सुना और क्या देखा। मैं सुनाता हूँ पर आप लोग कृपया सब अपने-अपने दिनों को किसी धागे से कसकर बाँध दीजिए और नौकर से कहिए कि जितने भी यहाँ आदमी हैं, कृपया उतने ही डाक्टरों का प्रबन्ध कर लायें, जिससे कि कोई दुर्घटना न होने पाये। हो गया, तो सुनिये, मैंने सुना कि एक मेंढकी बड़े करुण कण्ठ स्वर से चीख रही है, 'बचाओ-बचाओ', आप में से शायद अधिक न जानते हों पर कुछ जानते हैं कि मैं नारी जाति का कितना सम्मान करता हूँ। यदि वह मेंढकी न होकर मेंढक होता तो मैं चुपचाप सब सुनकर भी अपनी सैर का मजा लेता रहता पर वह तो थी मेंढकी—यत्र नार्यस्तु पूज्यंते—तो—तो मैं कूदकर उस किनारे पहुँचा कि देखूँ मामला क्या है ?'

तभी एक ने बीच में टोककर पूछा—'क्यो साहब, इतने फासले से आपने यह कैसे पहचाना कि वह मेंढकी है ?'

प्रवीण ने उस आदमी की तरफ देखा, फिर अत्यन्त तिरस्कार से बोला—'जान पड़ता है आपने कभी स्त्री का स्वर नहीं सुना, उसकी मधुरता का स्वाद नहीं लिया या जान पड़ता है आपने कोयल नहीं देखी बस कौवों में ही रहे हैं।'

सब लोग खिलखिलाकर हँस पड़े और प्रवीण साहब ने फिर से अपना बयान जारी किया। 'तो साहब लोगो, मैंने देखा कि एक मेंढकी ने अपनी एक टाँग किनारे की रेती में गढ़ा रखी है और उसकी दूसरी टाँग को एक बड़ा-सा मगरमच्छ अपने मुँह में दबाये है। मगरमच्छ उसे खींचकर पानी के भीतर ले जाना चाहता है, और बेचारी मेंढकी अपने प्राणों की रक्षा के लिए हाय-हाय' कर रही है। मुझसे यह नहीं देखा गया। पल को मैंने आँखें बन्द कर लीं। फिर झटपट सौ दण्ड और हजार बैठकें लगा डालीं और जिस टाँग को अब तक धरती माता ने पकड़ रखा था, उसे मैंने अपने दोनों हाथों में कसकर थाम लिया। ऐसे अब, आप अन्दाजा लगाइये, खुद ही सोचिए, देखिये। उधर एक प्रबल प्रतापी मगरमच्छ और इधर यह दीन-हीन राम नाम सेवी प्रवीण कुमार। पर राम नाम में बड़ी ताकत है साहब। मैं बराबर डटा रहा। कभी वह पानी में सौ गज घसीट कर मुझे ले जाता और कभी मैं उसे सौ गज जमीन पर ले आता। साहब दोनों के पसीनों से नदी में बाढ़ आ गयी और हुआ यह कि आखिर ...।'

प्रवीण बाबू ने अपने माथे का पसीना पोंछा और चुप हो गये

सबने हँसकर कहा—'आप हार गये ? हम चलें।'

अत्यन्त गंभीर स्वर में प्रवीण बोला—'ऐसी बात न कहियेगा साहब, हार जाता तो जीवित आपके सामने न आता।'

'तो आपने मेंढकी को बचा लिया।'

'हाँ।'

ऐसा लगा जैसे बात खत्म हो गई। पर तभी प्रवीण ने कहा—'पर साहब आश्चर्य की बात तो यह थी कि मेंढकी वास्तव में मेंढकी नही षोडशवर्षीया एक अनिन्द्य सुन्दरी थी।'

'सुन्दरी ? पर आप तो ...'

'जो मगरमच्छ के दाँतों के जहर से मेंढकी बन गई थी।'

'अच्छा फिर ?'

'मैंने उस सुन्दरी से उसका नाम पूछा तो वह बोली—'मेरा नाम है सुषमा रानी।' और

मैं तुम्हारी माँ की सम्बन्धिन हूँ।'

जोर के ठहाके के साथ सारा मकान गूँज उठा।

बताना भूल गया कि आज जिसने भी सुषमा का परिचय पूछा माँ जी ने यही परिचय दिया था, पर प्रवीण को यहाँ न होते हुए भी कैसे पता चल गया सो नहीं जानता।

'पर सुषमा देवी तो यहाँ थीं।'

'इनकी आत्मा वहाँ थी मेरे पास।'

सबों ने सुषमा की तरफ देखा, उसका चेहरा लाज से और क्रोध से लाल हो रहा था।

'और साहब वह मगरमच्छ नहीं पहचाना गया कि कौन था ?' एक ने फिर पूछा।

प्रवीण कुछ कहने को ही था कि सुषमा बोली—'यह मैं बताऊँ ?'

सबने हाँ में हाँ मिला दी।

तो जरा हँसकर बोली—'इन्हें पानी में अपना अक्स दिखाई दे रहा था !'

'वाह-वाह ! बीयुटिफुल ! एक्सैलण्ट ! मारक्लैस !'

चारों ही ओर से ये शब्द गूँज उठे। हँसी के मारे लोग गोल होने लगे। प्रवीण का चेहरा तो देखने ही काबिल था। माँ जी बोलीं—'वाह बेटी, वाह ! बड़ा बातूनी समझता था, अपने आपको ! आज मिला है जवाब कि जन्म भर ये गप मारनी भूल जाएगा।'

एफ़ को मज़ाक सूझा। पानी का एक गिलास लेकर प्रवीण के पास जा पहुँचा और बोला—'प्रवीण बाबू ! इसमें जरा गौर से देखिये, न सही मगरमच्छ पर छिपकली तो इसमें भी नजर आ सकती है। दोनों के साइज में फर्क हो तो हो शक्ल में बिलकुल नहीं होता।'

प्रवीण से बिलकुल बोले नहीं बन रहा था। मैंने कहा—'अरे बोल न कुछ खानदान की नाक कटवायेगा। बम्बई जीती तो कलकत्ते को तो बस डूबने भर को जगह रह जाएगी।'

प्रवीण प्रार्थना भरे स्वर में बोला—'हे सीतामाता, मुझे अपने पास बुला ले, आज इतने जन्मों के बाद स्त्री से मात खा गया हूँ। हे पृथ्वीमाता, जगह दे।'

लोगों ने चीखकर पुकारा—'शेम-शेम-शेम।'

ऐसे ही हँसी-खुशी में दिन कट गया। लोग चलने लगे और एक-एक करके बस चले भी गये। घर के लोग रह गये तो प्रवीण साहब, सुषमा की ओर झपटकर बोले—'तो मैं मगरमच्छ हूँ।'

सुषमा चुपके से चलकर माँ के पास खड़ी हो गयी और वहीं से बोली—'तो मैं मेंढकी हूँ।'

बेचारे प्रवीण अब क्या करते।

प्रवीण की गति पर आज मुझे भी कुछ कम हँसी नहीं आ रही थी। बोला—'सुषमा देवी। हमारे भाई को इस बात का घमंड था कि उसे बातों में कोई नहीं हरा सका, पर आज आपने…'

बीच में ही बात काट प्रवीण बोला—'आज आपने उसकी नाक काट ली।' और यह कहकर 'अच्छा देख लूँगा।' वह क्रोध का अभिनय करता हुआ धम-धम पैर पटकता ऊपर चढ़ गया।

दिन बीत गया। शाम हो गई। सुषमा बोली—'माँ जी, मैं भी चलूँ।'

पर माँ जी ने उसे जाने नहीं दिया। रोक लिया। कहा—'मेरी तो तबीयत ठीक रहती नहीं बेटा। काम में मदद ही होगी। अच्छा, अब तू जा कपड़े बदल ले, दिन भर हो गया थक गई

होगी। उधर बासन्ती है, वह तुझे सब बता देगी।'

सुषमा चली गई तो यकायक ही मेरे मुँह से निकल गया—'लड़की अच्छी है सुषमा।'

और यह सुनकर जिन आँखों से माँ जी ने मेरी ओर देखा, वह मैं सहन नहीं कर पाया। जैसे कुछ उनमें सहानुभूति थी और ममता भी थी, और शंका व कौतूहल भी। यह सुनकर खुशी की एक चमक भी उनमें चमकी थी और वेदना की किसी गहरी बदली से तत्काल ही वह ढँक भी गयी थी।

मैं घूमकर अपने कमरे में बिछौने में आ लेटा। मेरा मस्तिष्क जैसे उस समय काबू में नहीं था। जोर-जोर से घूम रहा था।

सातवाँ स्वप्न

वैसे तो अपने जीवन में न जाने मैंने कितने कर्म-कुकर्म कर डाले हैं। मारा भी है और बचाया भी है, विश्वास किया है और अविश्वास का पात्र बना हूँ। झूठ तो नित्य ही मैं बड़े-से-बड़ा बोलता हूँ और उसके लिए कितना मुझे लांछित होना पड़ा है, यह मेरा हृदय ही जानता है। पहले तो इस काबिल ही नहीं था कि विश्वास-अविश्वास की कहानियाँ सोच सकूँ। पर इतना बचपन से याद पड़ता है कि कभी के भी अविश्वास या छल-कपट की बात मैं जुबान पर नहीं ला पाता, उससे जैसे मन को गहरी टीस होनी है। वैसे इस टीस को हल्का करने के लिए उस काल्पनिक नाम से नीचे अनेक कहानियाँ गढ़कर मैंने माँ को और भाई को सुनाई हैं और मन को हल्का किया है। जानता हूँ कि इस घर की ये दो तीक्ष्ण आँखें सब समझती है, सब जानती हैं, पर मैं लाचार हूँ और सच बोल नहीं पाता।

पर जैसी घटना आज मेरे जीवन में घट गयी, उसकी मैं कभी कल्पना भी नहीं कर सकता था। सोने के घड़े में विष होने की कल्पना सभी करते हैं पर सोने की नारी में छल की कल्पना कम-से-कम मैंने कभी नहीं की थी।

कल रात जब पता चला कि भैया का जन्म-दिन है तो मन प्रफुल्ल हो उठा। सोचा, कल की चहल-पहल में दिन अच्छा कटेगा। खाली दिन साँप की तरह काटने को दौड़ता है। सबेरे जरा जल्दी उठा और नहा-धोकर घूमने चल दिया। घूमते-घूमते न जाने कितनी दूर चला गया। अनाप-शनाप न जाने क्या-क्या सोचता कि सिर पर चढ़े सूरज का भान हुआ। मन-ही-मन सोचने लगा कि देखो, न जाने मेरा कैसा भाग्य है, भलाई कभी मिल ही नहीं पाती। आज माँ फिर यही सोचेंगी कि उत्सव के दिन कम्बख्त सवेरे ही भाग जाता है, अशुभ अकल्याणकारी!

यही सोचता-सोचता मैं तेज चाल से घर की ओर चलने लगा। जिस तरफ चला आया था उस ओर न जाने क्यों सवारी ही कोई नजर नहीं आ रही थी। अधिकतर सुनसान था और कमेरे कुम्हार ही उधर रहते थे।

तभी सुना कि एक स्त्री-कंठ बहुत ही धीमे से मेरे एकदम पीछे से कह रहा है—'सुनिये!'

मैंने पीछे मुड़कर देखा। एक स्त्री माथे तक घूँघट खींचे मेरे एकदम पीछे-पीछे चली आ रही है। मोटी और मैली धोती वह पहने है और हाथ में उसके तीन-चार साल के लडके का

शव है। मुझे देखते ही उसने गर्दन को झटककर घूँघट पीछे को हटा दिया। उसके चेहरे को देखा तो देखता ही रह गया। अपने सारे जीवन में मैंने ऐसा सौन्दर्य नहीं देखा था। किसी कुशल कलाकार के हाथों तराशे गये नक्श! उन पर जड़ी दो बड़ी-बड़ी आँखें! और सबसे बड़ी चीज जो वहाँ थी उस सारे चेहरे पर फैली एक शान्ति! कहीं उद्वेग नहीं, चांचल्य नहीं!

जैसे गहरा, बिलकुल लहरों से सूना समुद्र हो पर गतिहीन नहीं, गतिमान। अन्तर बस इतना कि समुद्र का रंग कभी-कभी पराई धूप से चाँदी की तरह चमक रहा होता है और उसका रंग उसके अपने आंतरिक प्रकाश से प्रकाशमान था।

शायद मिनट भर मैं उसे ताकता का ताकता रह गया पर देखा कि इससे उसके चेहरे पर किसी तरह का कोई विकार नहीं आया। वह अपने उसी अत्यन्त मधुर कंठ से मुझे जगाती हुई-सी बोली—'मेरी एक मदद कीजिये ?'

'नाहीं' का अवसर नहीं था सो बोला—'कहिये।'

'इसको यथास्थान ले जाकर गाड़ आइये।'

मुझे साहस नहीं हुआ कि पूछूँ कि किसका बच्चा है ? उसे दुखी भाव से अपने हाथों सँवारकर लेता हुआ बोला—'कैसे क्या हुआ ? आप साथ नहीं चलियेगा।'

'नहीं ही चल सकूँगी शायद ! शक्ति नहीं है।'

'लौटकर आपको कहाँ सूचना देनी होगी ?

'उसकी जरूरत नहीं, आप सब कर-धरकर घर चले जाइयेगा। इस अनुग्रह के लिए आपको कुछ दे न सकूँगी। पर इसे जीवन भर भूलूँगी भी नहीं।'

मैं चुप रहा, क्या बोलता ?

बोली—'तो मैं जाऊँ ?'

उसके मुख की निर्विकार शान्ति देखकर मन में हलचल-सी मची थी सो पूछ बैठा—'आपका ही बच्चा है ?'

बोली—'मैं तो विधवा हूँ।'

'तो ?'

'पड़ोसिन का है और वह बेहोश पड़ी है।'

'उसके घर में और कोई नहीं है ?'

'पति हैं, पर वे कभी-कभी आते हैं।'

'ओह !'

पल को शान्ति रही। फिर साहस कर पूछा—'मैं आपकी कुछ और मदद कर सकता हूँ।'

'आप एक विधवा की क्या मदद कीजियेगा ?'

प्रश्न इतना टेढ़ा था कि उत्तर देते न बना। न ही उस समय मेरे मन-मस्तिष्क में इतनी ताकत थी कि विधवाओं की समस्या पर विचार कर सकता। उजाला अधिक हो चुका था और छुट-पुट लोग भी इधर उधर दिखायी देने लगे थे। हमें ऐसे खड़े देखते तो क्या-कुछ न समझ बैठ सकते थे, कुछ भी कहा नहीं जा सकता था, सो तत्परता से मैंने कहा—'तो मैं चलूँ।'

उन्हीं शान्त आँखों से उसने मुझे अनुमति दी। वे दोनों आँखें इस बार दीखा कि मेरे चेहरे को बेधकर देख रही हैं पर हैं निर्विकार।

मैं आगे बढ़ा, एक अनजान बालक की लाश मेरे हाथों में थी। मैंने उसे कभी देखा नहीं

था, उससे एक भी बात कभी की नहीं थी और न ही कभी कोई खिलौना लाकर दिया था। पर कितने बड़े आश्चर्य की बात है कि उसकी अन्तिम यात्रा का साथी केवल मैं था। भगवान न जाने किस अँधेरी कोठरी में क्या-क्या लाकर लेख लिखता है। नहीं तो यह क्या अन्याय नहीं कि घण्टों का साथ हो वह भी पहला-पहला और कोई किसी से बोल तक न सके, बात तक न कर सके। सुख की न दुख की।

पर अभी तो इन अभागी ऑखों को बहुत कुछ देखना बदा था। यथाविध सब कर गड्ढे में रखने को जब उस लाश के सब अन्तिम बन्धन खोले तो देखा कि वे एक नहीं दो हिस्से करके सजा-सँवारकर बाँध दिये गये हैं। वह सब क्या था, मैं भली प्रकार अपनी आँखों से देख भी नहीं पाया, मस्तिष्क इस योग्य भी नहीं रहा था कि सोच सकता कि उस लाश को जल्दी-से-जल्दी गड्ढे में दफना देने की आज्ञा दे सकता, जिससे पाप मिट्टी के नीचे आकर पुण्य बन सकता। किसका यह पाप है यह तो जानता था नहीं पर इतना जानता था कि इसकी अन्तिम यात्रा का साथी बस मैं ही हूँ और इसलिए शायद यदि कोई देख ले तो पूरे पाप का भागी भी मुझे ही होना पड़ेगा। पर हाँ, मैं तो ऐसा बैठा था जैसे पत्थर का एक टुकड़ा हूँ और सामने पड़े थे उस बाल-शरीर के वे दो टुकड़े जिनके बाँध भी रास्ते की हिलडुल मे लगभग टूट गये थे।

तभी एक नाम मुझे याद आया, या किसी ने याद दिलाया। मेरी इन्द्रियों में चेतना जैसे लौटी। मैं जैसे फिर से एक बार खोये प्राण पा गया। मैंने उँगली के पास की ही जमीन पर लिखा 'राम' और हाथ जोड़, आँखें मूँद उसे नमस्कार किया। लगा जैसे किनारा पा गया, बुद्धि लौट आयी, लगा अब सब ठीक हो जायेगा। सामने पड़े टुकड़ों को देखा जो निर्जीव आँखों से मेरी ओर अपने कल्याण की भीख-सी माँगते हुए देख रहे थे। उस मुख को देखा जिसे मुझे मिट्टी में दाबकर बन्द कर देना था। पर अब वह उतना भयावह नहीं लग रहा था। भ्रम होता था कि वह निर्जीव नहीं है। लगता था जैसे जी उठा है और कुछ कहना चाहता है, कहने से पहले मुस्कारा रहा है।

मैं उठा, लाश को उठाकर गड्ढे में रखा और धीमे-धीमे बुहार-बुहारकर मिट्टी उसके ऊपर गिराने लगा। डर लगता था कि कहीं कोई कंकर ऊपर से गिरकर चोट न पहुँचाये। होते-होते उसका सारा शरीर मिट्टी से ढँक गया। न जाने क्या हुआ कि एक बार फिर से मिट्टी उठाकर मैंने उसका मुँह देखा। अनायास ही ऑखों से दो बूँद आँसू दुलककर उसक मुँह पर जा गिरे। याद पड़ता है कि रोना उसके बाद थमा नहीं। ऑसुओं की अविरल धारा बह-बहकर उसके मुँह पर गिर-गिरकर उस पर लगी मिट्टी साफ करने लगी और दूर कहीं कोई मन के भीतर से कह उठा—'न सही भैया! मैं इस जन्म में तेरे मुँह में घी-चन्दन न लगा पाया तो न सही पर अगले जन्म में भगवान तुझे यदि मेरा छोटा भाई बनायेगा तो मैं तुझे कुछ भी कष्ट न होने दूँगा।'

आखिर मिट्टी से उसको ढँक दिया। ऊपर उँगली से ही 'राम-राम' लिख दिया और कुछ देर तक उस मिट्टी को चीरकर उस अपने अनजान छोटे भाई को देख मैं मुड़कर चल पड़ा। सारा शरीर मेरा बोझिल था। पर मन हल्का था। आँसुओं की धारा अब भी रह-रहकर उमड़ आती थी। कुछ बाहर निकल पड़ते और कुछ मैं पी जाता। पर वे भीतर रहना नहीं चाह रहे थे, उमड़े आ रहे थे।

यह सब सोचता-सोचता मैं न जाने कब घर पहुँचा। यहीं आकर भान हुआ कि अरे,

आज तो भाई साहब का जन्म-दिन था। आने पर न जाने क्या-क्या घटा पर जो भी घटा अनजाने में घटा, मुझे याद नहीं पड़ता।

और उसी रात

यही सब सोचते-सोचते न जाने किस समय मैं सो गया था। सुबह उठा तो अभी काफी अँधेरा था। पर बगीचे के शोरगुल से पता चलता था कि रात अब अधिक नहीं है। सोचा, चलूँ नीचे बगीचे में टहलूँ। नींद अभी भरी पड़ी थी सो आलस में और थोड़ी देर पड़े रहने की ठानी, पर पड़े नहीं रहा गया और नीचे बगीचे में उतर आया।

सोच रहा था, कल दो का अपराधी बना हूँ। भाई साहब का और सुषमा का।

यही सोचता धीरे-धीरे जा रहा था। तभी यह देखकर कि पेड़ के एक झुरमुट के नीचे से भाई साहब और सुषमा की आवाज़ें आ रही हैं, दंग रह गया। एक कह रहा है, 'गेंदे का फूल गुँथा हुआ और अधिक ठोस होता है, गुलाब की बड़ी-बड़ी पर बिखरी-बिखरी पत्तियाँ मुझे बिलकुल पसन्द नहीं—यह सुषमा थी।' दूसरा बोला—'पर गुलाब की वह खुशबू जिसे एक ही घूँट पीकर आदमी बेहोश होने को हो जाता है··· ।'

'पर सुधीन्द्र बाबू बेहोश होना कौन अच्छी बात है।'

'मैं तो नहीं जानता, पर किसी बेहोश होने वाले से पूछकर देखा जाये तो शायद ठीक से पता चल जाये।'

'मैं जानती हूँ सुधीन्द्र बाबू! मुझसे पूछिये बेहोश होने से जिन्दगी नहीं चलती। मौत पास आती है।'

अरे रे! इस पगली सुषमा को इतने सारे दार्शनिक तत्व और इन मेरे भाई साहब को इतना रस-ज्ञान कहाँ से प्राप्त हो गये? खूब मौके पर पकड़ा है। चलो जरा कुछ आनन्द ही लिया जाये, लगे हाथों।

पास की ही एक झाडी से काँटा तोडा और हल्के पैरों उनके पास पहुँचा। दोनों बैंच पर बैठे थे और बहस का दौर गरमागरम था। मैं धीमे-से जाकर बैंच के पीछे बैठ गया। सुषमा बोली—'सुधीन्द्र बाबू, फूल उठे ··· ।' और मैंने धीमे-से नीचे घुसकर हाथ का काँटा उसके पैर में चुभा दिया।

'ओह!'

भैया बोले—'क्या हुआ?'

सुषमा कुछ नहीं बोली। पैर को हाथ से मसलती हुई फिर अपनी बात दुहराने को तत्पर हुई पर मुँह से वह एक शब्द निकाले कि मैंने हाथ का काँटा उसके दूसरे पैर में चुभा दिया।

'उफ! क्या है?'

अब छुपना व्यर्थ था क्योंकि उसने इधर-उधर देखना आरम्भ कर दिया था और भैया की नजरें भी अनजाने ही कुछ तलाश करने लगी थीं। सो खड़े होकर दोनों हाथों को जोड़कर मैं बोला—'जी अच्छे-बुरे फूलों की महान् प्रतियोगिता में हमारा भी एक मत है कि फूलों की शोभा काँटों के बिना नहीं होती।'

दोनों ही सकपकाकर रह गये। वह उसके मुँह को देखता और वह उसके। अन्त में भाई साहब बोले—'अरे तू कहाँ था?'

मैंने समझा था कि सुबह-सुबह भाई साहब एकदम अच्छे मूड में हैं। वैसे मैं उनसे बहुत

डरता हूँ पर कभी-कभी अच्छा मूड देखकर मजाक भी कर लिया करता हूँ सो उसी गलतफ़हमी में कह बैठा—'आपके चरणों में, नीचे।'

अनायास ही वह एकदम उठकर खड़े हो गये और क्रोध से नथुने फुलाकर बोले—'क्या ऊलजलूल बका करता है यह रात-दिन। तुझे क्या कुछ शर्म-हया है ही नहीं'''।'

और यह कहकर जैसे क्रोध से उनका कंठावरोध हो गया और वे अपनी उसी गुरुगम्भीर चाल से वहाँ से चले गये। मुझे इस सबकी आदत थी पर सुषमा एकदम घबरा गयी थी। मैंने उसकी ओर मुड़कर हँसते हुए कहा—'हमारे भाई साहब की जरा आदत ही ऐसी है, आपके लिए घबराने की कोई बात नहीं।'

वह बोली—'बैंच के नीचे लेटकर दो आदमियों की बातें चोरी-छुपे सुनते आपको लज्जा नहीं आयी?'

'अरे रे! दो आदमियों की बातें होतीं तो न सुनता पर वाग-प्रतियोगिता हो रही हो और वह भी फूलों पर'''सो उसमें मैं भाग न लूँ?' राम-राम, आठवाँ आश्चर्य!'

'कब से पीछा कर रहे थे?'

मैंने कहा—'सारी रात करता रहा जनाब।'

एक बार जैसे वह झुँझला आयी। एकदम मेरी आँखों में देखती हुई गहरे तिरस्कार से बोली—'नींद नहीं आयी आपको?'

कोई अनिन्द्य सुन्दरी यह प्रश्न पूछे, चाहे तिरस्कार से या प्रेम से, और मन में कवित्व न फूटे। राम-राम, यह नपुंसकत्व भला मुझसे कैसे बन पड़ता? खुद तो कभी कवि रहा नहीं पर उस परम-पिता परमात्मा की कृपा से हम जैसे प्रेमियों के ऐसे ही अवसरों के लिए कुछ सुन्दर, सरल कविताएँ रचने के हेतु इस भारत की स्वर्ग-भूमि पर अनेक कवि प्रकट हुए हैं। सो उन्हीं की कविता का अंश उनसे बिना पूछे ही कह डाला। कहा—'तुम्हारी अधमुँदी पलकें मुझे सोने नहीं देतीं।'

बोली—'उफ!'

मैंने कहा—'कहिये!' फिर मन-ही-मन सोचा, चलो रात का बदला निकाल लिया।

वह क्षण भर रुकी। मेरी ओर तीक्ष्ण दृष्टि से देखा। क्रोध और झुँझलाहट उसकी रग-रग से टपक रही थी। फिर फुफकारती हुई-सी बोली—'सुना है, आजकल तो हीरे-जवाहरातों का व्यापार शुरू किया है आपने।'

मैं बात को बिलकुल नहीं समझा। पूछा—'मैंने?'

'हाँ, सुना है, पाँच हज़ार रुपये लेकर कहीं सात समन्दर पार खरीदारी करने गये थे, हीरों के देश में।'

सुनकर पल भर तो सुन्न खड़ा रह गया। सोचा कि इसे कैसे मालूम हुआ। ध्यान आया कि भाई साहब ने बताया होगा। पर भाई साहब को तो पता न था कि उन पाँच हज़ार का क्या हुआ? फिर शायद बासन्ती दीदी ने कहा होगा। पर छोड़ो। जरा हँसकर बात को टालने के लिए बोला—'बात यह है सुषमा रानी कि मर्दो के व्यापार की चिन्ता औरतें नही किया करतीं।'

'नहीं, नहीं, जरा हम भी तो सुनें कि कौन-सा हीरा खरीद लाये हैं आप?'

यकायक ही मुँह से निकल गया—'अरे! हीरा तो ऐसा लाये हैं कि उम्र भर साथ रहेगा।' पर कहने के साथ ही मन को खुद ही यह वाक्य एक चोट-सी लगा। आत्मग्लानि से मन भर

आया। औरतें खरीद-बेच की चीज़ें नहीं होतीं। यह मैंने कह क्या दिया ? ऐसा लगा जैसे चारों ओर से कोई धिक्कार रहा है। चाहता था कि सुषमा को सब बता दूँ पर बात कुछ इस तरह सामने आयी थी और आ रही थी कि कुछ भी कहते न बन पड़ रहा था, तभी सुषमा खुद ही बोली—'क्या मतलब तुम्हारा ?'

मैंने कहा—'मतलब यह सुषमा रानी कि इस समय छोड़ दो, समय आयेगा तो तुम्हें खुद ही पता चल जायेगा कि उसका मैंने क्या किया है। तुम उसकी कुछ चिन्ता न करो।'

वह न जाने कैसे व्यंग्य-भरे स्वर में बोली—'वाह प्रवीण बाबू तुम भी खूब हो। तुम मेरी इतनी चिन्ता करो कि रात-रात भर मेरा पीछा किया करो। किसी से बात भी करूँ तो नीचे लेट कर बात सुना करो और मैं तुम्हारी इतनी-सी चिन्ता भी न करूँ कि···नहीं जी, इतनी अकृतघ्न मैं नहीं हूँ।'

मैं अवाक् रह गया। बोला—'सुषमा !'

उसी स्वर में बोली—'प्रवीण बाबू। मैं आपकी कृतज्ञ हूँ। आप मुझे बम्बई से यहाँ लाये हैं। इसे मैं जन्म भर नहीं भूलूँगी। वहाँ मैंने आपसे ब्याह का वायदा किया था उसे मैं निभाऊँगी, हर कीमत पर ! तुम कहोगे प्रवीण बाबू तो मैं कभी किसी से बात न किया करूँगी। कभी किसी से नहीं बोलूँगी।'

उसकी इन व्यर्थ की बातों से मन तिक्त हो उठा था। जरा गम्भीर होकर मुस्कराते हुए बोला—'मैं तुमको उस वायदे से मुक्त करता हूँ सुषमा। मैंने तुम्हें पाना चाहा है, खाली तुम्हारे वायदे को लेकर क्या करूँगा ? तुम बिलकुल स्वतन्त्र हो।

पर वह बोली—'तुम्हारे छल की सीमा नहीं है, प्रवीण बाबू। अपने को धोखा देते हो और दूसरे को भी धोखा देते-देते वह तुममें इतना रम गया है कि अब तुम्हें उसका भान भी नही होता, सुन रखिये, मैं आपके अहसानों से इतनी दबी हूँ कि कमर सीधी करके चले भी नहीं सकती। अब और अहसान मुझ पर न लादिये। मैं मर जाऊँगी।'

इतना कहकर वह वहाँ से अपने दोनों हाथों में मुँह दबाये रोती हुई चल दी। मेरा मन व्यथा से भर उठा ऐसा जैसे वास्तव में मैंने कोई बड़ा भारी अपराध किया हो। न किया होता तो यह इस कदर रोती क्यों ? ज़रूर कुछ हुआ है। रोना किसी का यो ही नहीं बन सकता। मैंने कातर स्वर में कहा—'सुषमा, सुनो। मेरी बात सुनो। रोओ मत, मुझे देखो, तुम मेरी बात तो सुनो।'

पर वह रुकी नहीं, चलती चली गई। उसकी रुलाई उससे रोके नहीं रुक रही थी। वह लड़खड़ाते कदमों से बढ़ी चली जा रही थी।

मैं खड़ा उसे देखता रहा। वह आँखों से ओझल हो गई तो आकर मैं बैंच पर बैठ गया। मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि आखिर क्यो सुषमा से अपना विश्वास खो बैठी। ऐसा मैंने कौन-सा अपराध किया है।

मै भी उठकर चला और रास्ते राह चलकर निरुद्देश्य ही किसी ओर जाने लगा। पर जब खत्म हुआ तो मालूम हुआ कि वहाँ पहुँचा हूँ जहाँ कल उस बालक को समाधिस्थ किया था और उसकी उस समाधि के पास ही अपने बैठने योग्य स्थान साफ कर रहा हूँ।

उस सुनसान श्मशान में पहुँचकर जैसे मुझे कुछ शांति मिली। मेरे उस प्रिय बन्धु की सपाट समाधि पर अब भी छाया थी। चाहता था कि कुछ देर सो लूँ। नींद की जगह घूम-घूमकर

सुषमा की तस्वीर ही आँखों में घूमने लगी। पहली बार जिस दिन उसे देखा था और अपने आपको खो बैठा था, याद आया। फिर याद आया वह दिन जब कि उसने कहा था—'पिक्चर चलोगे ?'

पूछा—कौन-सी ?'

'जोगन !'

और हम साथ-साथ पिक्चर चले गये थे और साथ ही लौटकर आये। फिर हमने बाग घूमे, बगीचे घूमे और समन्दर की गहराई आँखों से और चौडाई मोटरबोट से नापी। एलिफैंटा की गुफाओं की त्रिमूर्ति के सामने हमने साथ-साथ श्रद्धा से हाथ जोड़े थे। याद आया वह सब, याद आया जो तब से अब तक हुआ और ऑखों के सामने फिर एक बार बम्बई की शौकत और एक बार आज की सुषमा साथ-साथ घूम गई। अदा के साथ नाचने वाली और हाथ फैलाकर सलाम कर रुपये-दो रुपये का नोट लेने वाली शौकत और गर्व के साथ फटकार सुनाने वाली शौकत में मुझे एक बड़ा-सा अन्तर लगा।

न जाने कब यही सब सोचते-सोचते मे खो गया। कहॉ-कहॉ से क्या क्या इकट्ठा होकर उस श्मशान में मेरे चारो ओर नाचने लगा। मै मुर्दा ऑखो से साफ-साफ देखने लगा।

एकबारगी तो मैं चीख़ उठा। झटके के साथ ऑख खुली और देखा मेरे हाथ मे एक हाथ है। धीरे-धीरे दुनिया सामने आने लगी और धूप छॉव दीखने लगा। देखने पर पता चला कि वही कल वाली स्त्री मेरे पैरों के पास बेठी हे और धीमे-धीमे आंचल से हवा कर रही है। मै पसीने से लथपथ हूँ और दिल मेरा बॉसो उछल रहा है। मैने कहा—'तुम ?'

उसने कहा—'आप बहुत डर गये थे। थर थर कॉप रहे थे। क्या कोई सपना देख रहे थे ? और इस भरी दोपहरी मे यहॉ कैसे लेटे थे।'

मैंने कहा—'तुमने जमीन खोदकर वह लाश निकाल ली है ?'

देखा कि इससे उसके शात मुख पर एक काली छाया सी दौड रही है। पर यथासाध्य अपने को शात बनाये रखकर ही उसने कहा—'अब कैसी तबीयत है ?

मैने कहा—'बोलो, कब ले गई तुम उसे निकाल कर ?'

इस बार वह कुछ दृढ स्वर मे बोली—'मैं उसे नहीं ले गई।'

'तो यहॉ क्यों आई ?'

'आपको यहॉ लेटे देखा था। कल आपसे एक झूठ बोला था, उसी भूल को सुधारने आना हुआ।'

'अब सच बोलोगी, तुम्हें विश्वास है ?'

'बात मेरे विश्वास की नही, आपके विश्वास की है।'

वह फिर बोली—'वह लडका मेरा ही था और मैने ही उसे मार डाला था।'

मैने कहा—'भला किया, अब आप जा सकती है।'

'आप नही चलियेगा।'

मैंने कहा—'कृपा कर आप जाइये। मैं नहीं चाहता मेरी घृणा इस सीमा तक पहुँच जाये कि आपको पुलिस के हवाले कर दूँ।'

वह हँस आयी, बोली—'पुलिस को बुलाइयेगा ?'

'आपने खून किया है आप नहीं जानतीं ?'

'पर किसका ?'

'आप मुझसे बेहतर जानती हैं ।'

'सो ही आपको बताना चाहती थी। सुभाग मेरा इकलौता बेटा था और मैंने उसे नौ महीने गर्भ में रखकर खून से सींचा था। फिर पल-पल उसके ऊपर छाया की और चार साल तक सब धूप अपने ऊपर झेल उसे छाँव में ही रखा और परसों उसके दो टुकड़े कर कल तक देखा और कल उन दो को भी आपके हाथों इस गड्ढे की भेंट कर दिया। अब आप ही बताइये इसमें पुलिस का क्या आता-जाता है ।'

'उफ् ! तुम जाओ, तुम यहाँ से चली जाओ ।' मैंने चीख़कर कहा। दोनों हाथों में अपने मुँह को छुपा लिया। क्रोध से सारा शरीर थर-थर काँप रहा था। कई मिनटों तक मैं उसी तरह रोता रहा। पर तत्काल ही अपने रोने से अलग एक और आवाज़ सुनी, मुँह उठाकर देखा, तो देखता हूँ कि दोनों हाथों की उँगलियों से वही स्त्री उस मृत शरीर पर की मिट्टी खोद रही है और रोना जैसे भीतर की हर दिशा से, उसे खोद-खोदकर बाहर फेंक रहा है।

झटककर मैंने उसकी बाँह पकडी और अपनी ओर खींचते हुए बोला—'क्या करती हो ?'

वह और भी बिलखकर बोली—'एक बार, बस। एक बार मुझे उसे और दिखा दो बाबू ! मैं तुम्हारे हाथ जोड़ती हूँ ।'

मैंने उसे और जोर से खींचा। वह जोर-जोर से मेरे पैरों में सिर पटक-पटककर रोती-रोती चीख-चीखकर कह उठी—'मारने से पहले दो घूँट दूध माँगता था बाबू ! पर मैं उसे वह भी न दे पायी। कितने दिन बिना दूध का मुँह देखे उसे हो गये थे। पर मेरे पास तो रोटी के लिए पैसा न था, दूध कहाँ से देती ? माँ ही तो थी, कोई दुश्मन तो थी नहीं। पाव भर दूध के लिए दूधवाले को सब-कुछ देना स्वीकार किया पर बाबू मैं अभागिन सब देकर भी पाव भर दूध न पा सकी। क्यों न पा सकी, यह तो तुम्हारा वह ऊपर बैठा भगवान ही बता सकता है। पर लौट आकर उसी दूधवाले की दुकान के सामने एक खाली मैला कुल्हड़ हाथ में लिए मैंने अपने सुभागे को देखा। तो बाबू···हाँ बाबू मैंने उसे मार डाला। और पिटते-पिटते वह कहता जाता था कि शिवानी दीदी अब नहीं करूँगा, बस इस बार छोड़ दो, पर मैंने उससे कहा—सुभागे, तुझे मरना ही होगा, मेरे लिए, अपनी माँ के लिए तुझे मरना ही होगा।

शिवानी दीदी कहकर वह मुझे पुकारा करता था बाबू। इस मिट्टी के नीचे वही आवाज मुझे आज भी सुनायी पड़ रही है—दीदी, बस एक बार माफ कर दो, फिर कभी नहीं करूँगा। क्यों बाबूजी, कर दूँ उसे माफ, कहिये आप क्या कहते हैं ?'

यह सब कहकर वह अचेत हो गई।

कोई घंटे भर बाद उसकी आँख खुली। इधर-उधर भटकती आँखों से जाने वे उस शून्य में किसे ढूँढ रही थीं ? अनन्तर दोनों हाथों को जरा सा हिलाकर वे बोलीं—'सुभागे।'

अत्यन्त धीमे, भारी स्वर में बोला—'शिवानी दीदी। सुभागा अब नहीं है। मेरा नाम प्रवीण है और तुम मुझे अपना ही सुभागा करके मान सकती हो। मैं यथासाध्य इस जन्म भर तुम्हारी सेवा करता रहूँगा। उठो दीदी, अब चलें। हमें घर भी तो जाना है।'

कितने ही क्षण वे उसी प्रकार पड़ी न जाने क्या सोचती रहीं, फिर मेरा हाथ अपने हाथ में लिया और स्फुट स्वर में बोलीं—'तुमने मुझे जिला दिया भैया। तुम ही मेरे उद्धारकर्ता हो,

तुम ही पार पहुँचा दो। क्यों भैया एक उपकार और कर सकोगे मुझ पर।'

मैंने रुँधे कंठ से कहा—'कर सकूँगा दीदी। जो तुम कहोगी वह सब कर सकूँगा। पर एक वचन दो कि पराया न समझोगी। हर घड़ी, हर पल मुझे याद रखोगी।'

वे बोलीं—'वचन देती हूँ भैया। भगवान ने मुझे पहला जन्म दिया है और तुमने दूसरा।'

दीदी का हाथ पकड़कर उन्हें उठाता हुआ मैं गद्‌गद हो उठा—'तो उठो दीदी, चलो तुम्हें घर पहुँचा दूँ फिर जैसा तुम कहोगी वैसा ही होगा।'

'भैया मैं लौटकर उस जगह नहीं जाना चाहती। तुम्हें कष्ट तो होगा, पर पहले मुझे काशी की गाड़ी में बिठा आओ।'

मैंने कहा—'तो चलो पहले तुम्हें काशी पहुँचा दूँ फिर ही आकर कुछ करूँगा।'

और जैसे-तैसे पैसे का प्रबन्ध कर दीदी को ले पहली ट्रेन से ही काशी के लिए चल दिया। किसी से कह भी नहीं पाया। सोचा, वहीं जाकर पत्र से सूचना दे दूँगा।

आठवाँ स्वप्न

बराबर पन्द्रह दिन तक जब प्रवीण लौटकर नहीं आये तो चिन्ता से प्राण सूखने लगे। पता चला कि मुनीम जी से कुछ रुपये ले गये हैं और कह गये हैं कि काशी जा रहा हूँ और जल्दी ही लौट आऊँगा। मन न जाने क्यों बैठा जा रहा था। बार-बार यही कह रहा था कि तेरे ही कारण वे यहाँ से गये, तू ही अपराधिन है। उस दिन जब वह मनहूस कहा-सुनी हुई थी तो खाने पर बैठकर सुना कि वे न खाने को कह गये हैं तो गले से एक भी टुकड़ा निगलना मुश्किल हो गया। बासन्ती दीदी ने चिढ़ाकर कहा, 'सुषमा रानी। उसके पीछे रहोगी तो साल में तीन-सौ दिन भूखा रहना पड़ेगा। वह तो आकाश में उड़ने वाला पंछी है, बाँधकर उसे न कोई रख सका, न रख सकेगा। पर मैं मना नहीं करती, हम सब तो कोशिश करके हार गये, अब तुम कर देखो। अब तुम्हारे ही किये से उसके पैरों में जंजीर पड़ सके तो अच्छा है।'

मैं लाज से गढ़ ही तो गई पर टुकड़ा फिर भी चलाये न चला। मन ही-मन सोचा कि इन्हें तो सबेरे की सब बातों का पता है नहीं, इसीलिए ऐसा सोचती हैं, पता होता तो अवश्य ही चिन्ता में पड़ जातीं। पर बार-बार जुबान तक आकर वे बातें उन्हें न बता पायी।

शाम को भी जब खाने को मना किया तो माँ जी खुद चलकर आयीं, बोलीं—'बेटी, खाना खा लो। उस निकम्मे छोकरे के लिये दुख-क्लेश करोगी तो अपनी उम्र ही घटा बैठोगी। चलो, वह आ जायेगा। समझीं।'

पर मन को सन्तोष नहीं हुआ। खाना तो आधा खाया। यह आधा भी जैसे पेट में ऊपर ही ऊपर टँगा रहा, नीचे न उतर सका। और इसी तरह चिन्ता करते करते दस दिन बीत गये। न प्रवीण बाबू आये न उनकी कोई चिट्ठी-पत्री ही आयी। अब तो रह-रहकर आँसू आँखों में भर आने लगे। सारा घर सूना-सूना लगने लगा। दीवार और दरवाजे ऐसे लगते जैसे काट ही खाने को हैं। ऐसा मन किया कि इस आदमी भरे घर में से निकलकर भाग चला जाये। मन हुआ कि बगीची वाले मकान में चलकर रहा जाये। जहाँ सूना हो और शान्त हो। माँ जी से ये

कहने की हिम्मत न हुई। सुधीन्द्र बाबू रोज आया करते थे। मेरे स्वास्थ्य और प्रवीण बाबू के लिये विशेष चिन्ता प्रकट करते। उन्हीं से कहा—'बगीची वाली कोठी तो खाली होगी ?'

'हाँ, खाली तो है ही, पर क्यों ?'

'मेरा वहाँ रहने का प्रबन्ध न कर सकियेगा सुधीन्द्र बाबू, मन करता है कि कुछ दिनों वहाँ जाकर रहूँ।'

वे क्षण भर मेरी तरफ देखते रहे, फिर बोले—'यहाँ तुम्हें कुछ तकलीफ है सुषमा ! जो वहाँ रहना चाहती हो ?'

'नहीं, सो बात नहीं। ऐसे ही मन जरा घुटा-घुटा-सा रहता है सो बाग की हवा और···।'

'और तो वहाँ कुछ भी नहीं। दीवारें हैं और सूनापन है।'

'सो ही तो, सो ही तो मैं चाहती हूँ।' उच्छ्वास की तरह मेरे मुँह से निकल गया और तैसे ही मैं ओठ काटकर रह गई।

सुधीन्द्र बाबू बोले—'प्रवीण की कोई खबर नहीं आयी इसी से तुम बहुत दुखी जान पड़ती हो। तुम सोचती होगी कि यह कैसे भाई और माँ हैं जो लड़का पन्द्रह दिन से गायब है और सुध ही नहीं लेते। पर सो बात नहीं है, इस घर का हर प्राणी उसे अपने प्राणों से भी अधिक प्रेम करता है। मैं अपनी ही बात तुमको कहता हूँ, सच मानो या झूठ मुझे याद नहीं पड़ता कि इतने बड़े जीवन में मैंने उससे अधिक किसी और को प्यार किया हो। पर सुषमा, साथ ही यह भी तो जानता हूँ कि वह इस पृथ्वी का जीव नहीं है। वह उनमें से नहीं है जो बँधकर रहते हैं। उसके लिए सब नाते-रिश्ते, धन-दौलत फीके हैं, वह इनमें से किसी को प्यार नहीं करता। नहीं सुषमा, शायद यह नहीं जान पड़ता है कि किसी एक के प्यार में अटककर नहीं रह सकता। वह तो बना ही प्रेम का है, इसी से उसका प्यार छलकता नहीं। उसके प्रेम की प्रगाढता ही है जो सबको घोर विरक्ति और निर्ममता दिखाती है। उसे इस समूचे संसार में बस तीन ही आदमी चीन्हते हैं, मैं, माँ और बासन्ती दीदी। हम तीनों ने उसके लिए कितनी चिन्ता की है पर अन्त में यही समझा है कि वह इन सबसे परे का जीवन है। भला हो कि उसे अनचीता ही करने दो और अब हम उसके लिए चिन्ता न करने के आदी हो गये हैं। पर सच ही कहता हूँ कि तुम्हारे आने से हम सबको बहुत खुशी हुई है। तुम चाहो तो उसे बाँधकर रख सकती हो सुषमा !'

मैं अवाक् खड़ी देखती रही। मुझे इस घर का हर आदमी अजीब लग आया। बोली—'नहीं सुधीन्द्र बाबू, मुझे यह सम्भव नहीं जान पड़ता।'

'सो शक मुझे भी है पर कोशिश तो कर देखो।'

'मैं बाजी हार चुकी हूँ। उस दिन बगीचे में जो दुर्व्यवहार मैंने उनके साथ किया है, उसे लेकर वे कभी मेरा वचन स्वीकार न करेंगे। वे मुझसे नाराज हैं सुधीन्द्र बाबू। नहीं तो जरूर मुझसे कहकर जाते।'

सुधीन्द्र बाबू अब तक कुछ अन्यमनस्क हो आये थे। बोले—'वह सब तो नहीं जानता मैं, तुमने मुझसे कहा नहीं।'

'अच्छा सुधीन्द्र बाबू, आदमी भेजकर खबर न मँगवाई जा सकेगी ?'

'मँगवाई क्यों न जा सकेगी। आज ही भेज देता हूँ।'

'साथ ही यह भी कहलवाइयेगा कि मैं उनके सिर्फ एक बार दर्शन करना चाहती हूँ।'

'हाँ सुषमा ! कोशिश कर देखो।'

'नहीं, मैं उन्हें बाँधने के लिए बुलाना नहीं चाहती सुधीन्द्र बाबू, हमेशा के लिए कम-से-कम अपने डाले बन्धन से मुक्त करना चाहती हूँ। वे मुझसे रूठकर चले गये हैं, यही घटना कहती है कि वे मेरा बन्धन मानते हैं पर ऐसे आदमी को बाँधकर रखना पुण्य नहीं, पाप है। एक बार उन्हें बुला दीजिये मैं उनसे कहूँगी कि वे भय न करें। मेरी ओर से सदा-सदा के लिए मुक्त हैं।'

'सुषमा!'

'हाँ, सुधीन्द्र बाबू! आपने ही तो मुझे समझाया है। अब से यह न कहियेगा कि इस ससार मे केवल तीन आदमी प्रवीण बाबू को पहचानते है, अब तीन नहीं वे चार है और मै भी उनमे से एक हूँ जो उनका अनर्थ नही करना चाहती। आप तीनो मुक्ति दे पाये है तो कदापि उनके बुरे के लिए न दे पाये होंगे। आपसे अधिक उनका है कौन? फिर मै हतभागिनी ही क्या उनके रास्ते का रोड़ा बनूँ। मेरी आप जो भी व्यवस्था करेंगे, मुझे स्वीकार होगी।'

देखा, सुधीन्द्र बाबू की आँखों मे आँसू भर आये है।

उन्होने रुँधे कण्ठ से कहा—'तुमने ठीक ही कहा है सुषमा! उसे बाँधना पुण्य नहीं है, पाप है। एक बार ऐसा ही पाप मै और माँ अपने सिर ले चुके है। हम लोगो के सिर पर एक हत्या का पाप है।'

'हत्या का?'

'हाँ।'

'कैसे?'

'सालेक भर की बात है यहा से आठ मील दूर एक पचनयनी गाँव है। उसमे हमारी एक विधवा बडी बहन रहा करती थी। बेचारी बहुत दुखी थी। बीस साल की उम्र मे विधवा हो गयी थी। फिर धीरे धीरे सास ससुर भी छोड गये। उनका एक लडका था श्रीकान्त जिसे प्रवीण बहुत प्यार करता था पर वह भी एक दिन गगा मे डूबकर प्राण खो बेठा। बहिन के दुख की सीमा न रही। ऐसे ही समय प्रवीण खुद उनके पास जाकर रहा और सुनते है उसने खूब सेवा की। पर उन्होने अधिक इसे अपने पास नही रहने दिया। और आते हुए यह वचन देकर कि किसी भी जरूरत मे वे इसे फौरन ही खबर देगी वापिस कलकत्ता भेज दिया। पर प्रवीण ऐसे मानने वाला कहाँ था। हर इतवार को सुबह वहाँ जाता और दिन भर वहा रहकर लौट आता। उसे यह सब किये बिना चैन ही न पडता।

पर उस दिन शायद शनि था या शुक्र, याद नही पडता। सुबह ही सुबह बिस्तर से उठकर आया और कपडे पहने कही जाने को तैयार होने लगा। माँ ने पूछा कि कहाँ की तैयारी है तो बोला—'पचनयनी जा रहा हूँ।'

'आज क्या इतवार है रे?'

'नही, पर जा रहा हूँ।'

माँ को जाने उस दिन क्यों क्रोध आया, बोली—वहाँ न जाकर यदि पागलखाने जाने का प्रबन्ध कर ले तो अच्छा है। बोल तो कि क्यो जा रहा है?'

बोला—'जाना बहुत जरूरी है।'

'और कालिज जाना शायद जरूरी नही है।'

'नही, उतना जरूरी नही है।'

माँ सुनकर ही तो रह गयीं। चीखकर बोलीं—'मेरी नहीं सुनेगा न ? अच्छा ठहर उसे बुलाती हूँ जिसकी तू सुनेगा। निकम्मा पाजी कहीं का।'

मैं पास ही के कमरे में बैठा किताब पढ़ रहा था और उनकी सभी बातें सुन रहा था कि किसी की सुनता ही नहीं। आकर बोला—'क्या बात है प्रवीण ?'

मुझसे वह बहुत डरता है। मेरी बात कभी नहीं टालता। एक दफा से दूसरी दफा कहने की जरूरत नहीं पड़ती, पर उस दिन प्रत्युत्तर में बोला—'मेरा मन कह रहा है कि दीदी मुझे बुला रही हैं।'

मैंने कहा, 'आज शनि है, कल जाना। अब कालिज जाओ।'

फिर वह कुछ नहीं बोला। सीधे चलकर अपने कमरे में पहुँचा और वहीं जाकर खुटर-पुटर करने लगा।

पर कोई चार ही घंटे बाद जब यह खबर आयी कि पंचनयनी की हवेली में आग लग गयी और दीदी उसमें जलकर राख हो गयीं तो हम दोनों ही सिर थामकर रह गये। सुबह का सारा दृश्य आँखों में खिंचकर रह गया और आँसू रोके न रुके। यही सोचने लगे कि प्रवीण को कैसे यह मुँह दिखायेंगे ? मैंने माँ से कहा—'माँ, गाड़ी तैयार है, बासन्ती दीदी यहीं पर रह जायेंगी। प्रवीण को सब कह-सुनकर उसी के साथ चली आयेंगी।'

माँ तो खैर चली गईं पर प्रवीण नहीं गया। बासन्ती दीदी ने जब सब कहा तो उत्तर में बस यही कहा—'दीदी, जब वह बुलाती रहीं तभी मैं नहीं जा सका तो क्या अब उनकी राख पर सर पटकने जाऊँ ?'

लाख समझाया पर नहीं गया और सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह कि जिन्हें वह इतना प्यार करता था, उसके लिए एक बूँद भी आँसू न बहा पाया।'

यह कहते-कहते सुधीन्द्र बाबू की आँखो में आँसू छलछला आये। उन्हें पोंछ कर उन्होंने कहा—'पर मैं अभी आदमी भिजवाकर खबर मँगवाये देता हूँ, तुम चिन्ता मत करना। तुम्हारा सन्देश भी भिजवा दूँगा।'

वे चले गये और मैं बैठी सोचती-रह गयी—कैसा घर है। लगता है जैसे किसी को किसी को कोई वास्ता ही नहीं पर कितने गाढ़े विश्वास से एक-दूसरे से गुँथे हैं। मैं इस घर के योग्य कहाँ हूँ। बम्बई में तो इससे उल्टा ही देखा और सीखा था। एक ही साथ खाना खाते हैं और साथ-साथ ही मुँह पोंछते हैं, साथ-साथ उठते हैं, पर यह उनका कायदा है मजबूरी नहीं। कायदा निबाहो और फिर अपनी दूरी चाहे जितनी बढ़ा लो। यहाँ कोई पास बैठकर एक ही टेबिल पर खाना नहीं खाता पर कितने पास-पास हैं सब। यकायक ही मन में एक बिजली-सी कौंध गयी। विचार आया कि क्या मैं प्रवीण बाबू के साथ विवाह कर सुखी रह पाऊँगी ? या इस घर की शान्ति को सही सलामत रख पाऊँगी ? नहीं, मैं उनके योग्य नहीं हूँ ? कूट-कूटकर तो मुझमें वे आधुनिक संस्कार भरे पड़े हैं जो बम्बई में सिखाये जाते हैं। जहाँ पति जब सन्देह की निगाह से देखता है तो पत्नी मुस्कराकर कहती है चलो मुझे पता तो चला कि मुझे दूसरों के साथ देखकर तुम्हें जलन होती है। यानी साबित हुआ कि—वह किसी पाश्चात्य मनोविज्ञान शास्त्र के ज्ञाता की पुस्तक निकालकर सामने रखेगी और पन्ने पलटकर झट उन लाइनों पर लाल या नीली पैंसिल से निशान लगा देगी कि देखो यह जो लिखा है यही है, यही साबित करता है। मैंने कह तो दिया कि मैं उन्हें मुक्ति देने के लिए बुला रही थी पर वह मुक्ति देना क्या उतना

आसान है ? पल को उस दिन मन में विचार आया कि वे वृथा ही मुझसे नाराज हो गये हैं तो ही मैंने क्या-क्या कर डाला ? नहीं-नहीं, मुझसे वह विश्वास किये न दिया जायेगा जिसकी आवश्यकता प्रवीण बाबू को है। मैंने यदि जरा भी दुस्साहस किया तो इस घर की खुशी, इसकी यह स्वर्गिक शान्ति नष्ट-भ्रष्ट होकर रह जायेगी। नहीं, जिस घर ने मुझ पर इतना उपकार किया है उसका मैं इतना अपकार नहीं कर सकती। मैं उनसे शादी नहीं कर सकती।

उन्होंने मुझे पत्थर से स्त्री बनाया है, उन्होने मेरी नवीन रूप में सृष्टि की है, उसके बदले में मैं उन्हें देवता से आदमी बनाने की चेष्टा नहीं कर सकती। नहीं, कदापि नहीं, ऐसा नहीं हो सकता।

यकायक ही मुँह पर मुस्कराहट खेल गयी। अन्दर से किसी ने पूछा—'शौकत बाई, तुझमें इतनी बुद्धि कहाँ से आई ?' मैंने उत्तर दिया, 'शौकत बाई, अब मैं सुषमा रानी हूँ और जिसने मुझे यह नाम दिया है उसने ही जाने-अनजाने यह बुद्धि भी दी है।'

रात को खाना खाने मैं और माँ जी साथ ही बैठीं। बासन्ती दीदी परोस रही थीं।

माँ जी बोलीं—'सुनती है बासन्ती, सुषमा ने सुधीन्द्र से कहकर प्रवीण को ढूँढ़ने के लिए आदमी भिजवाया है⋯।'

मैं लाज के मारे सिकुड़कर रह गयी।

वे फिर बोलीं—'हतभागिनी ! जिसके साथ हजारों मील से भागकर आई है, यदि उसे जानती होती तो दो कदम न चलती। लेकिन आजकल लडकियाँ तो बस⋯पर लगे हैं पर !' '

मैं तो चुप रही पर दीदी ने कहा—'क्या शुरू किया है माँ जी, बेचारी शर्म के मारे मरी जा रही है, उसे खाना तो खाने दो।'

तो बोलीं—'आहा, शर्म के मारे मरी जा रही है ! घर से जब भागी एक अनजान आदमी के साथ तो शर्म नहीं आई और खाये न मैं क्या काट रही हूँ ?'

इस बार न जाने कैसे सुबह की सोची बात मुँह से निकल गयी, बोली—'मैं उनके काबिल नहीं हूँ माँ जी !'

माँ जी बोलीं—'अरी तू उसके काबिल नहीं है या वह तेरे काबिल नहीं है। तुझमें क्या दोष है ? पर उसकी बदमाशी है कि नहीं, न जाने कहाँ भटकता फिरता है ? परोपकार करता है, परोपकार ! पापी, अधर्मी।'

बासन्ती दीदी बोली—'आज तुम्हें क्या है माँ जी ?'

'आग लगी है बदन में। खून जल रहा है। हम तो फुँकते ही थे और एक को लाकर बैठा गया है कि फुंका करे और उम्र कम किया करे। पराई बेटी है, लाड़-प्यार से पली होगी। देख न बासन्ती, दस ही दिन में क्या मुँह निकल आया है। तू ही देख न, खाती है न पीती है।'

और यह कहते ही उनका कंठ रुँध आया। मेरी भी आँखों में आँसू भर आये।

पर बासन्ती दीदी मुसकराकर बोली—'ब्याह कर दो माँ जी, सब ठीक हो जायेगा।'

माँ जी बोलीं—'तेरी अक्ल पर तो पत्थर पड़ गये हैं बासन्ती, ब्याह कर दो। मैं ब्याह कर दूँ और वह घूमता फिरे बन-जंगलों में। यहाँ रहा करे बगीची वाली कोठी में, भूतों की तरह, और यहाँ ? नहीं जी, यह मुझसे न होगा। आने दो इस बार उसे। साफ कहूँगी कि भैया, तुझे तीर्थ-यात्रा प्यारी है तो मुझे अपनी जान प्यारी है। तू इसे इसके घर छोड़ आ और मुझे मुक्ति दे।'

दीदी बोली—'घर क्यों छोड़ आये माँ जी ! उसे बन-जंगल में घूमना-फिरना है तो घूमता फिरे । हमारी सुषमा हमारे पास ही रहेगी ।'

'ऐसा कैसे होगा री ?'

'हो जायेगा । मैं बता दूँगी ।'

उसके बाद कोई कुछ नहीं बोला । माँ जी एकदम चिन्तामग्न हो गईं । वे उठकर खड़ी हो गईं ।

मैंने भी सब बातों को समझा । वहाँ से उठी । आकर बिस्तर पर लेट गई । सोचने लगी—मेरे ही कारण इस घर की शान्ति डगमगा गई है, यह सोच-सोचकर अपने को नोच डालने को मन करने लगा । बासन्ती दीदी के मन में क्या था, वह मुझसे छिपा नहीं था । माँ जी भी न जानती हों सो भी बात नहीं थी और यह खयाल घर के बुरे के लिये भी नहीं था । ऐसा वे सोच भी नहीं सकती थी । पर प्रवीण बाबू ! उनका क्या होगा ? वे मुझसे प्रेम करते हैं यह तो निश्चित है पर वे यदि सहन न कर पाये और कुछ अनर्थ कर बैठे तो क्या होगा ? कहीं मैं इस गृहस्थी को तहस-नहस करने को तो नहीं आयी । इन भाइयों के प्रेम के धागे जो आज इतने सालों से इतनी मजबूती से बँधे हैं क्या मेरे ही कारण टूटने वाले हैं । हे भगवान क्या होगा !

कितनी कठिन समस्या थी मेरे सामने । लगता था जैसे दो वरदान-पत्र सामने प्रस्तुत हों, एक में लिखा है, आकाश की सैर, समन्दर में डुबकी, पर्वतारोहण और सपाट नदी पर तैरना । हर जगह मौत इतनी नजदीक कि जब चाहे उठा ले । साथी एक उन्मुक्त पक्षी जिसके गले में एक धागा पड़ा हो । उसी धागे को अपने गले में बाँधकर चलना होगा । धागा कच्चे सूत का बना है पर कहते है टूटता नहीं । साथ में साज-सामान कुछ नहीं ले चलना है, पैसा-धेला भी नहीं, बस, राम का भरोसा ! साथ न चल सको तो एक जगह स्वस्थ होकर बैठो और मौन होकर उसी पक्षी के करतब देखो ।

बाप रे ! कितना भयंकर रास्ता है पर एक बात है, जिस पक्षी की इँस वरदान पत्र में तस्वीर दी है वह बहुत सलोना है, बहुत ही आकर्षक, देखो न कितना प्यारा लगता है । साथ उड़ने में कितना आनन्द आयेगा ! पर···पर नहीं, मुझमें इतना साहस नहीं है । वह साहस मैं इस जन्म में कभी भी नहीं कर सकती । जिस कीचड से निकलकर आयी हूँ उसमें और इसमें बहुत अन्तर है । कई सीढ़ियों का । मैं तो इस जन्म में एक ही सीढ़ी चढ़ पाऊँगी । बस, एक । और उसके लिए यह दूसरा वरदान-पत्र ही ठीक है । छोटा-सा घर, सब साज-सामान से भरा-पूरा और प्रिय साथी का साथ । तुम उसकी सेवा करो और वह तुम्हारी ।

पर वह पंछी मेरी ओर टुकुर-टुकुर क्या देख रहा है ? क्या कह रहा है अपनी उन मूक मौन आँखों से ? यह कि क्यो, मेरे साथ नहीं चलोगी ?

'नहीं, पछी तुम उड़ो ! राह में तुम्हें और बहुत-से साथी मिल जायेंगे ।'

'सो तो मिलेंगे ही । पर तुम तुम रहोगी और वे···वे ।'

'नहीं, तुम्हारी राह भयंकर है । मुझमें इतना साहस नहीं है ।'

'मैं मर गया तो मुझ पर रोओगी तो ?'

'ऐसा न कहो । देखो, मेरी आँखों में आँसू भर आये हैं ।'

'तो अच्छा । मैं जाता हूँ । तुम्हारे आँसू पा गया सो ही बहुत है ।'

मैंने चीखकर कहा तो देखा कि पास कोई नहीं है और कमरे में घुप्प अँधेरा है ।

'हे भगवान क्या होगा ?' मुँह से निकला और मैंने चुप हो फिर से आँखें मुँद लीं।

अगले दिन सबेरे ही घर में बड़ी धूम-धाम मच उठी। आँख खुली तो लगा कि अन्धकार अभी झीना भी नहीं हो पाया है, खूब गाढ़ा है पर रसोईघर में, गुसलखाने में, नीचे-ऊपर के सब कमरों में खूब चहल-पहल है। जल्दी से उठ भागी-भागी रसोई में पहुँची तो देखा कि आधा खाना तैयार हो चुका है। दास-दासियों के साथ माँ जी तत्परता से काम में लगी हैं। मैं अवाक् खड़ी देख रही थी कि दीदी ने कहा—'देख रही हो, जल्दी-से निपट लो, हाथ बँटाओ आकर। कितना तुम्हें जगाया पर तुम तो जैसे यहाँ थीं ही नहीं।'

माँ जी ने अब तक शायद मुझे देखा ही न था, देखते ही बोलीं—'ओ हो, उठ आईं आप। सारा घर केवल आवाज़ें लगाने से उठ बैठा है। यहाँ खड़ी क्या बूढ़ी माँ की हड्डियाँ पिसती देख रही हो, जाओ। जल्दी से नहा-धोकर आकर रसोईघर में पैर रखो। मुझसे तो कुछ होता नहीं।'

जानती थी कि यह सब मेरा संकोच दूर करने और रसोई का काम सिखाने वगैरह के लिए कहा जाता है। नहीं तो मैं उन्हें क्या मदद दे सकती थी और थोड़ा-बहुत काम बढ़ा ही देती थी और ठीक भी है, मैंने बजाया था सितार, चकला-बेलन तो कभी देखा भी न था।

नहा-धोकर रसोईघर में पैर रखते हुए दीदी से पूछा—'आज क्या है दीदी ?'

'मन्दिर में भोग है।'

'मुझे भी साथ ले चलोगी ?'

वे हँस दीं और बोलीं—'चलना। तुम जाना चाहोगी तो जरूर ले चलेंगे।'

मैंने कहा—'जाना क्यों न चाहूँगी ?'

इस पर वे और जरा-सी हँस दीं।

हँसी कुछ गलत नहीं थी। बम्बई में कितनी ही बार इन प्रथाओं की हँसी उड़ा चुकी थी। मैं माँ से कहा करती,'माँ' इन औरतों का अपने शौहरों से पेट नहीं भरता कि देवता-वेवता पूजने जाती है और वह भी एक नहीं तैंतीस करोड़।'

माँ को ऐसी बातें पसन्द नहीं थीं, डपटकर कहतीं—'जो मुँह म आता है, सो ही बक देती है। शौहर एक चीज होता है और देवी-देवता एक चीज।'

मैं पूछती—'पर माँ, प्यार तो जिन्दगी में एक ही बार किया जा सकता है।'

कहतीं—'सो तो जानती नहीं। न मैंने कभी किसी से प्यार किया है पर दूर से ही देखकर समझ पड़ता है कि भाई-बहिन, माँ-बाप, नाते-रिश्ते, पैसा, शौहर, देवी-देवता, भगवान सब ही से तो प्यार करना होता है। छोड़े किसी को भी नहीं बनता।'

इसके जवाब में शायद कहा था—'जहाँ बैठी हो वैसी ही बात कहती हो माँ। तुम्हारा कसूर नहीं, तुम्हारी जगह का कसूर है। ठीक ही तो है कि सभी को प्यार करना होता है। कभी कोई भी तो छोड़े नहीं बनता।'

उस दिन जिस मजाक से अपनी पालने-पोसने वाली मो जी को यह बात कह आयी थी आज वही बात अपने से भी उसी मजाक के साथ नहीं कह पाई। मन में तीव्र इच्छा उठी कि मन्दिर में मुझे भी जाना है। मैं वहाँ के विधि-विधान, पूजा करने के तरीके नहीं जानती थी। पर मन-ही-मन निश्चय कर रही थी कि माँ जी के बिलकुल पीछे-पीछे रहूँगी या बासन्ती दीदी

के ही पीछे-पीछे हो लूँगी। इनको देखूँगी और जैसे ये करेंगी वैसे ही मैं भी करूँगी। किसी तरह कोई गलती बन भी पड़ी तो मन-ही-मन भगवान से माफी माँग लूँगी। वे जरूर माफ कर देंगे। निश्चय ही।

तभी खयाल आया कि आज प्रवीण बाबू यहाँ होते तो सब मुझे सिखा देते। न जाने क्या जादू उनके पास है कि रेल में आते-आते ही सलाम की जगह हाथ जोड़कर नमस्ते कहना, झुककर चरण छूना और अपने से छोटों को प्यार करना उन्होंने मुझे सिखा दिया था। यहाँ के तौर-तरीके पल भर में समझा दिये थे और आज तक मैं उन्हें भूल नहीं पायी हूँ। आज वे होते तो उसी पल मन्दिर में जा भगवान की पूजा करना सिखा देते और मुझे किसी के सामने शर्मिन्दा न होना पड़ता, पर खैर! वे तो हैं नहीं। बासन्ती दीदी से ही सब सीख लूँगी। पर ये इतना जल्दी नहीं सिखा सकतीं।

रसोईघर में आलू छीलने का काम मुझे मिला था। काम सौंपकर वे तो बाहर कहीं किसी काम से चली गयीं और मैं अत्यन्त तत्परता और तन्मयता से आलू छीलकर सही जगह पर रखने लगी। पर तभी दीदी का कंठ सुन कर चौंक पड़ी—'आलू नाली में और छिलका पतीली में, वाह! खूब!'

मैं पीली पड़ गयी। बोल कुछ भी न पायी।

दीदी पास बैठ गयीं! फिर उसी तरह मुसकराते हुए बोलीं—'किसका ध्यान हो रहा था रानी। आदमी गया तो है काशी, तीन दिन से पहले तो लौटकर आयेगा नहीं।'

मुझे न मालूम क्या हुआ? एकदम बिखर आयी। बोली—'नहीं दीदी नहीं, उनका नहीं मैं तो मन्दिर का सोच रही थी···।'

'मन्दिर का क्या!''

'यही कि पूजा कैसे करनी होती है। पूजा करने से क्या मिलता है और उसमें यदि त्रुटि बन पड़े तो भगवान क्या दण्ड देते हैं?'

'भगवान कोई दण्ड नहीं देते, उन्हें इतनी फुर्सत नहीं है। पूजा किये चलो। त्रुटि की माफी मिलती चली जायेगी।'

'दीदी एक बात पूछूँ?'

'पूछो, पर आलू छीलती रहो।'

मैंने पूछा—'आपके यहाँ तो पति को जन्म-जन्मांतर का साथी मानते हैं न?'

दीदी बोलीं—'कहने का अंतर है, पति को नहीं, प्रेम को हम जन्म-जन्मांतर का साथी मानते हैं।'

'यानी?'

'यानी क्या, जिससे भी प्रेम करती हो, वही तुम्हारे जन्म-जन्म का साथी है।'

'तो क्या पति से स्त्रियाँ प्रेम नहीं करतीं।'

'करती थीं, हमारे पहले युगों की स्त्रियाँ। जो पति के दोष-गुण नहीं देखती थीं, हम उतनी महान नहीं हैं। आज पति हमारी सामाजिक स्थिति का मात्र एक अवलम्ब है। पहले पति में प्रेम और कर्त्तव्य दोनों निहित रहते थे अब केवल कर्त्तव्य निहित रहता है। उसके साथ रहने की उन्हें कोई आन्तरिक विवशता नहीं है, रहना चाहिए इसलिए रहती हैं।'

'तो क्या···।'

'अरी क्या, क्या ? बात यह है कि शरीर की भूख और आत्मा की भूख में फर्क है। आज के हमारे पति बस शरीर की भूख मिटाने वाले हैं मन की भूख मिटाने को देवी-देवताओं और भगवान के पीछे दौड़ती फिरती हैं। नहीं तो भगवान तो पहले भी था। पहले की स्त्रियाँ तो उन्हें पति में ही पा लेती थीं।'

'पर वे कर कैसे पाती थीं ?'

'उनकी कामनायें, उनकी वासनायें उनके अपने बस में होती थीं। इतना पतला प्रेम उनका नहीं होता था जो इन सबसे पानी हो सके। आज के पति-पत्नी भी कुछ पति-पत्नी हैं ? जैसे मशीन के दो पुर्जे, पेंच से कस दिये सो चल रहे हैं बेचारे...।'

'पर दीदी...।'

'अरी पर-वर कुछ नहीं, आलू छील।'

'मैं पूछती हूँ क्या आजकल के पति-पत्नी में प्रेम नाम की कोई चीज़ नहीं होती ?'

'होती है। जैसे बरसों पास रहने से एक मकान से जो नाता है। या उस पनवाड़ी से जो मीठा पान खिलाता है। बस, और क्या ?'

मैं दंग रह गयी। लगा जैसे दीदी कहीं चोट खाये हुए हैं। वे मन लगाकर काम कर रही थीं। मैं भी काम में लग गई पर एक अजब समस्या मेरे सामने खड़ी हो गई कि क्या दाम्पत्य-जीवन जिसकी बुनियाद पर समाज खड़ा है इतना खोखला है, जितना कि दीदी कहती हैं ? क्या उसके नीचे कोई पक्की नींव नहीं है—प्रेम की, विश्वास की, श्रद्धा की, भक्ति की और यदि वह ऐसा ही है तो उसका भविष्य क्या है, उसका किनारा क्या है, वह रात-दिन किस ओर बह रहा है ? मेरा मस्तिष्क एकबारगी ही झनझना उठा। लगा जैसे फट जायेगा। मेरी सोचने की शक्ति भी लुप्तप्राय हो गई और मैं यंत्रचालित-सी बैठ आलू छीलती रही।

औरों की तो बात नहीं जानती कि भगवान से उन्होंने क्या माँगा पर अपनी जानती हूँ कि हाथ जोड़कर मन-ही मन अत्यन्त कातर स्वर में मैंने तो यही कहा था कि 'हे भगवान, यदि वास्तव में तू कहीं है तो आकर मुझे राह दिखा। प्रवीण बाबू महान हैं, पर मैं इतनी छोटी हूँ कि शायद उन्हें लेकर अपनी जिन्दगी नहीं बिता सकती। मैं उनसे कितना प्रेम करती हूँ यह तो पिछले दस दिनों में ही मुझे पता चल गया है। पर मैं उनके योग्य नही हूँ, बार-बार मन यही क्यों कहता है ? इसमें से कौन सच कहता है और कौन झूठ ? इसका फैसला तू ही कर, मुझे तो राह सूझ नहीं पड़ती। पर मेरे कारण इस घर का, प्रवीण बाबू का अनर्थ न हो, यही मैं चाहती हूँ।'

घंटे घड़ियाल की घनघोर ध्वनि में साफ तो कुछ सुन नहीं पायी पर ऐसा लगा जैसे कोई कह रहा है कि भगवान स्वयं ही सब ठीक करेंगे तू चिन्ता न कर।

सुनकर माथा ऊपर उठाया तो देखा कि पास ही माँ जी, सुधीन्द्र बाबू और दीदी हाथ बाँधे सिर झुकाये खड़े हैं और घंटे निरन्तर बज-बजकर मन, बुद्धि और आत्मा को विभोर कर रहे हैं।

वापिस आते हुए सुधीन्द्र बाबू बोले—'आदमी भेज दिया।'

मैंने कृतज्ञ भाव से उनकी ओर देखा, मन श्रद्धा से भर उठा। खयाल हुआ कि वे देखो, तीन-चार आदमियों के संसार की किस प्रकार से निरन्तर रक्षा-चिन्ता किया करते हैं। कभी किसी को नहीं भूलते, कभी किसी की उपेक्षा नहीं करते। ये न हों तो इस घर की कैसी दुर्दशा

हो ? क्या कहा जा सकता है।

दीदी ने क्या कहा था सो तो ठीक से नहीं समझ पायी। न तब ही न अब ही। पर एक अन्धकार की काली रेखा मन के इस छोर से उस छोर तक खिंच गई। लगता था जैसे एक बड़ी बुद्धि की बात ही उन्होंने कही है पर क्यों वह बुद्धि की बात ही उन्होंने कही है पर क्यों वह बुद्धि की बात मेरे कानों में ही बज-बजकर रह जाने लगी, मन में नहीं उतर पायी सो ठीक-से मैं नहीं समझ पायी।

समाज नीचे से क्यों खोखला है और मनुष्य के अत्यन्त स्वाभाविक भाव—प्रेम श्रद्धा—भक्ति और विश्वास किस दलदल में फँस गये हैं ? सो भी मुझे नहीं मालूम। इस घर की ही दशा मुझे आज डगमगाती-सी दीख रही है। प्रवीण बाबू मुझे लाये इसलिए उनका मुझ पर अधिकार है, वे उसे किसी समय मुझसे माँग सकते हैं, वह कदापि अनुचित न होगा। न्याय के अनुसार उनसे ही मेरा विवाह होना चाहिए पर यह भी स्वतः सिद्ध है कि जैसी उनकी प्रकृति सुनी है, सुन रही हूँ, उनके साथ मुझे जैसी सामान्य और अशिक्षत पर तथाकथित आधुनिक लड़की का जीवन बिताना असम्भव है। इस घर को सुख-शान्ति कभी नहीं मिल सकती। दोनों ही ओर खाई है, कूदें तो किधर कूदें। उधर सुधीन्द्र बाबू अपने मन की कोई थाह नहीं दे रहे। वे इस घर की रीढ़ हैं, इसे किसी कीमत पर भी डिगने नहीं देंगे। मैं न मिली तो भी उनके रोज के काम-काज में कोई अन्तर न आयेगा। कुछ दिनों से जो एक बीज उनके मन में उगा है, उसे एक घूँट में ही वे सटक जायेंगे और फिर कभी उच्छ्वसित होने न देंगे मिल गई तो शान्ति से ग्रहण कर लेंगे और घर-गृहस्थी में फिर स्थिर मन से लग जायेंगे। इधर 'हाँ' या 'ना' किसी में खतरा नहीं है और उधर दोनों तरफ खतरा है। मैं जोर से भगवान को पुकार उठी और चीख़-चीख़कर पूछ उठी कि क्या होगा ? बताता क्यों नहीं, निर्दयी, होगा क्या ?

तीन दिन इसी तरह सोचते और खाते-पीते बीत गये। लगता था जैसे एक भारी वजन सिर पर रखा है जो न झटका मारकर गिरा ही दिया जा सकता है और न हटाये ही हट रहा है।

उस दिन मन कुछ शिथिल हो आया था। प्रवीण बाबू को देखने को आदमी गया, सुनती थी वह अभी लौटकर नहीं आया। सुबह का नाश्ता-पानी हो चुका था। नाश्ते पर सब लोग गम्भीर थे। डर लग आया कि न जाने क्या सुनना पड़े। मब लोग चले गये। मैं भी अपने कमरे में आकर लेट गई।

कितनी देर बाद अनुभव हुआ कि कोई आदमी धीमे-धीमे मेरे कमरे में घुस आया है। आकर वह कुछ देर मेरे पलंग के पास खड़ा रहा और कुछ ही देर बाद मुझे सुनायी पड़ा—'सुषमा बेटी।'

माँ जी मेरे कमरे में कभी नहीं आयी थीं। मैं चौंककर उठ बैठी। वे फिर बोलीं—'सो रही थी ?'

'जी, नहीं तो।' मैंने बताया।

'तो ऐसे क्यों पड़ी है। कुछ सोच रही थी ?'

मैंने कहा—'मैं, भला सोचूँगी क्या ?'

'सुषमा' उन्होंने रुककर कहा—'एक बात बता, तुझे मुझ पर विश्वास है न ?'

करुण दृष्टि से मैंने उनकी ओर देखा, बोली कुछ नहीं।

'तो बेटी, जो व्यवस्था मैं तेरे लिये दूँगी तुझे स्वीकार होगी न ?'

मैंने फिर उसी दृष्टि से उनकी ओर देखकर स्वीकृति दे दी।

वे बोलीं—'तब ठीक है। अच्छा तो अब मैं चलती हूँ। तू आराम कर।'

वे चल दीं।

उनके दृष्टि से ओझल होते ही फिर उसी तरह पलंग पर लेट गई। जीवन की यह मेरी पहली हार थी। जब से होश सम्भाला था कभी अपने लिए की गई व्यवस्था को मैंने इतना सहज स्वीकार नहीं किया था।

दोपहर को यदा-कदा बासन्ती दीदी आकर कमरे में बैठ जाती थीं। आज कुछ रोज से जल्दी ही आ बैठीं। आते ही बोली, 'कहो सुषमा रानी! सब पता चल गया न ?'

मैंने कहा—'हाँ।'

बोलीं—'खुश हो।'

मैंने कहा—'इसका पता नहीं चला।'

पूछा—'क्या मतलब ?'

माँ जी कह गई हैं कि तुम्हारी सब व्यवस्था हो गयी। वे यह नहीं बता गई कि मुझे खुश होना चाहिए या दुखी ?'

'ओ हो! तो नाराज हो ?'

'नहीं, यह भी न बता नहीं गई।'

बासन्ती दीदी हँसकर बोली—'मुँह न फुलाओ, वे नही बता गई तो मै बता देती हूँ। काशी से खबर आयी है कि प्रवीण बाबू तीर्थाटन को गये है और दो महीने कम में वे नहीं लौटेंगे और उनके साथ कोई शिवानी देवी भी है...।

'कैसे पता चला ?'

'शिवानी देवी का होटल के रजिस्टर से और तीर्थाटन का पास के कमरे से किसी आदमी से ?'

मैं चुपचाप खड़ी रही।

बासन्ती दीदी ने आगे कहा—'और माँ जी ने सुधीन्द्र बाबू से तुम्हारा विवाह निश्चित किया है।'

मैंने सुना और सुनकर चुप रही। लगा जैसे यह सब व्यवस्था भगवान ने स्वयं ही की है। अब चिन्ता का कोई कारण नहीं है।

नौवाँ स्वप्न

सुषमा से मैं प्रेम करने लगा हूँ, यह मैंने उस दिन जाना बाग में से जिस दिन प्रवीण पर नाराज होकर चला आया। पर आकर कितनी लज्जा का अनुभव मुझे हुआ, उसे मैं ही जानता हूँ। मैं प्रवीण के साथ अन्याय कर रहा हूँ यह साफ लगने लगा। मगर उसका अनायास ही लुप्त हो जाना, मन को बहुत ही बुरा लगा है। जैसे उसने अपने और मेरे बीच अविश्वास की एक रेखा

खींच दी है। फिर वह हफ्तों नहीं आया और एक दिन खबर आयी कि किसी शिवानी देवी के साथ वह घूमने-फिरने निकला है। मन तिक्त हो उठा। जानता हूँ सुषमा उससे प्रेम करती है, यह सुनकर उसे कितना दुःख होगा। इसका कुछ अनुमान किया और आँखें बरबस छलछला आयीं। सोख, पागल ने उस बेचारी को भी कितना कष्ट दिया है। काश मैं उसका पता पा सकता और उसे यहाँ कान पकड़कर ला सकता।

माँ ने मेरे और सुषमा के विवाह की घोषणा की। जानता था, मन इससे सुखी ही होगा पर खाली मेरे मन के सुख से क्या होगा ? सुषमा यदि सुखी न रह पायी तो सब व्यर्थ है, सब निरर्थक है। और ज्यों-ज्यों दिन बीतने गये, मैं इस खोज में रहने लगा कि कहीं पल को भी सुषमा दुखी दीख जाये तो मैं इसकी आड़ लेकर माँ को समझा सकूँ कि यह ठीक नहीं हो रहा है। सोचता कि यह क्या भेद है ? पर कुछ समझ न पाता। माँ से कहा—'माँ, ऐसी जल्दी क्या है, प्रवीण को आ जाने दो न।'

वे बोलीं—'आ जायेगा।'

'फिर भी··· ।'

'तू अपना काम कर रे ! मुझे अपना काम करने दे।'

अब मैं क्या कहता रे ! प्रवीण का नतीजा आ गया है, वह डॉक्टरी की परीक्षा में सारी यूनिवर्सिटी में प्रथम आया है। कितनी खुशी होती अगर वह यहाँ होता ? माँ से कहता—'माँ आज तो मन करता है, खूब मिठाइयाँ बाँटू' पर उन्होंने जो कहा उससे चौंककर रह गया। बोलीं—'नहीं सुधी। उस अभागे के लिए तू यह सब न कर।' और उनकी आँखों में आँसू घिर आये। अपनी माँ को इतना दुःखी मैंने कभी नहीं देखा था। कुसूर यह प्रवीण ने पहला ही किया हो सो बात नहीं थी पर क्यों इस बार माँ अपने को ढूँढ़े न खोज पा रही थीं समझ नहीं पाया।

पूछा—'माँ, क्या बात है ?'

बोलीं—'कुछ नहीं सुधी। सोचती हूँ, यदि प्रवीण हुआ ही न होता तो कितना भला होता। तू क्या कम था। जो कष्ट देने को भगवान ने एक और दे दिया। तेरे कंधों पर यह घर कितनी मजबूती से टिका रह सकता था।'

मैंने कहा—'भूल न करो माँ ! घर तो मेरे कंधों पर टिका रह सकता था पर हम सब किसके कंधों पर टिके रह सकते थे ?'

वे मुस्करा आयीं, बोलीं—'भाई के दोष छिपाना तुझे खूब आता है। पर सोच तो यह है कि उसके अपने भाग्य का क्या होगा ?'

इस बात का कोई उत्तर मुझे खोजे नहीं मिलता। यह प्रश्न स्वयं मेरे मन का भी है, फिर उत्तर कैसे पा सकता हूँ ?

दिन बीते जा रहे हैं और प्रवीण नहीं आ रहा है। उसके बिना इस सूने घर में शहनाई की आवाज खाली गूँजकर रह जायेगी। पर ऐसा पाजी है कि जहाँ जाता है सो पता नहीं देता, पत्र तक नहीं डालता।

क्या हो, कैसे हो, कुछ समझ में नहीं आता।

विवाह की तैयारियाँ इतनी भयंकर हो उठेंगी, इसका अनुमान भी न था। सात दिन रह गये हैं। रोज ढेर की ढेर गाड़ियाँ भरकर सामान आता। रोज गाड़ी स्टेशन जाती और मेहमानों से भर लौट आती। मेहमान सबसे पहले मेरे कमरे में आते और अच्छी तरह देख-परखकर

मीमांसा करते हुए लौट जाते। बासन्ती दीदी काफी देर मेरे पास बैठी रहतीं क्योंकि आने वाले के अगणित प्रश्नों का उत्तर उन्हें ही देना होता।

प्रश्न तो क्योंकि सबके भिन्न-भिन्न होते सो ठीक से याद नहीं रहे पर बासन्ती दीदी के सब उत्तरों का निष्कर्ष क्रम से मैंने यह निकाला।

मैं माँ जी की पूर्वजन्म की कोई सम्बन्धिन हूँ, इस जन्म में फिर से नाता निभाने आ गयी हूँ।

मेरा जन्म एक अत्यन्त अलौकिक ढँग से हुआ है। उस अलौकिक ढँग का वर्णन केवल माँ जी ही बता सकती हैं, दीदी नहीं, और माँ जी को फुरसत नहीं है। वैसे इतना कहा जा सकता है कि दूर दक्षिण प्रदेश में समुद्र के किनारे मेरा जन्म हुआ था।

मेरे बारे में एक विशेष बात जानने योग्य यह है कि मैं अत्यन्त सुशील, आज्ञाकारी और उदार प्रकृति की हूँ। वैसे ये सब बातें मैं स्वयं नहीं जानती थी पर दीदी इन्हें अत्यन्त विश्वस्त रूप से जानती थीं।

और न जाने क्या? विवाह का स्वरूप भी अजब ही होना था। न बारात चढ़ेगी और न उतरेगी। कोठी के चौंक में मण्डप का विशाल आयोजन था। वहीं पर फेरे फिर जायेंगे और तीन दिन तक लगातार दावतों की धूम रहेगी।

यह सब एक कौतुक-सा लग रहा था। आज एक मुद्दत बाद माँ याद हो आयीं। जफर मियाँ याद आ गये और तीन साल के भतीजे लच्छन मियाँ तो रह-रहकर याद आने लगे। काश वे लोग भी रौनक में हिस्सा बँटा सकते। न जाने उनकी क्या हालत होगी। मेरे ही भरोसे तो वे सब रहते थे। मुझसे ही तो उनकी रोजी चलती थी। अब न जाने भूखे मरते हैं या जफर भाई ने कुछ कर-धर लिया है। रह-रहकर आँखों में आँसू घुटने लगे, सोचती, यह कैसी विडम्बना है भगवान की कि कोई पालता है, कोई बनाता है और साथ निभाता है।

शादी-ब्याह के हमारे अपने अलग तरीके हैं। माँ सब जानती हैं। उनकी इतनी इच्छा थी कि मेरा ब्याह वे अपनी आँखों से देखें। पर किससे कहूँ? प्रवीण बाबू होते तो जरूर कोई जुगत निकाल लेते। पर अब हो भी क्या सकता है। सात दिन ही तो रह गये हैं और प्रवीण बाबू का कोई पता नहीं और उनसे अब कहूँगी कौन मुँह से? उनसे बिना पूछे-ताछे ही तो सब रास रचा रही हूँ।

तभी कोई दासी आयी और फुसफुसा कर दीदी के कान में कुछ कह गई। मैं नहीं सुन पायी।

मैंने पूछा तो दीदी ने कहा—'कुछ नहीं।'

पर अनुमान से जान पड़ा कि बाहर कुछ खलबली अवश्य है। मैं तत्काल ही निकलकर बाहर आ गयी। देखा कि कुछ लोग अपना सामान असबाब बाँध रहे हैं और वापिस जाने को तैयार हैं। माँ जी चुपचाप अपने काम में लगी हैं। एक वृद्ध बड़ी तत्परता से सामान बाँधने का आदेश दे रहे हैं। जब सामान बँध चुका तो वे माँ जी के सामने पहुँचे। हाथ की बेंत को जोर से जमीन पर ठुकठुकाते हुए कहा—'तो आप यह मानने से इनकार करती हैं कि सुषमा रानी जिसका असली नाम शौकत बानू है, एक वेश्या की लड़की है।'

माँ जी अत्यन्त गम्भीर थीं। बिलकुल अनुत्तेजित स्वर में बोलीं—'नहीं, इनकार नहीं करती।'

'फिर आपने हमसे झूठ क्यों बोला ?'

'नहीं, मैंने झूठ नहीं बोला। आप लोगों को बताया गया कि वह मेरे पहले जन्म की सम्बन्धिन है। और यह बात मैं फिर से दुहराये देती हूँ।'

वे और भी रोष और व्यंग्य से बोले—'आप हम सबकी आँखों में धूल झोंकना चाहती हैं ? आपको कैसे मालूम है कि वह आपकी पूर्व जन्म की कोई है ?'

माँ जी ने हाथ का काम करते ही करते उत्तर दिया—'नहीं तो वह मेरे घर में न आती। मैं पहली ही नजर में उसको इतना प्यार न कर सकती।'

पर वे सज्जन अत्यन्त बुद्धिमान थे, बोले—'ये सब अपने पापों को छुपाने की तरकीबें हैं। पर याद रखिये एक वेश्या की लड़की को अपनी बहू बनाकर हिन्दू समाज में चैन से नहीं बैठ सकतीं। या तो यह साबित कीजिए कि यह पवित्र है, या घर से निकाल दीजिए। बोलिए, क्या सबूत है, आपके पास कि यह निर्दोष है ?'

माँ जी यकायक ही कठिन हो आयीं, बोलीं—'सुनिये महोदय, मेरे पास उसकी निर्दोषता का प्रमाण है मेरा अन्तःकरण, मेरा विश्वास, उसकी निर्दोष आँखों की पहली झलक ने ही मुझे बता दिया था कि वह निर्दोष है, समझे। और हाँ, और भी बात सुनिये, जिसके बारे में आप बात कर रहे हैं, वह मेरी होने वाली बहू है। यदि आप अपनी जुबान पर काबू नहीं रख सकते तो कृपया यहाँ से बाहर चले जाइये।'

वे चीख उठे—'मेरा नाम राय साहब हरिदास है अनुपमा देवी। आपको शायद ध्यान नहीं पड़ रहा कि आप किसका अपमान कर रहीं हैं ?'

अब तक की गम्भीर माँ जी हँस पड़ीं—'राय साहब, मुझे खूब याद है। कैसे भूल सकती हूँ ?'

माँ जी ने हँसकर जवाब दे दिया पर मैं तो ताककर उस राय साहब को देखने की चेष्टा कर रही थी। राय साहब हरिदास मेरा जाना-पहचाना नाम था। पर शक्ल जब तक न देख लेती तो व्यक्ति से कैसे परिचय पा सकती ? माँ जी के इस उत्तर ने उसको अत्यन्त क्रोधित किया और उसने मुड़कर ज्यों ही अपने नौकरो को सामान उठाने का आदेश किया कि मैंने उसका परिचित चेहरा देखा। उसे मैं वास्तव में पहचानती थी।

लगभग तेरह साल की थी। तब तक मैंने गाना-बजाना शुरू नहीं किया था, मैं घर में ही गाया करती और यह 'महापवित्र आदमी' माँ के विशेष मेहमानों में से था। एक दिन कहीं मुझे उसने अपने शृंगार में देख लिया। माँ मुझे काफी सजा-सँवारकर रखती थी। इसी के लिए एक अंग्रेज नौकरानी मेरे ऊपर नियुक्त थी। सुना कि आपने मेरे साथ एक रात बिताने के दस हजार रुपये बोले हैं, पर माँ ने इनकार कर दिया। मैं तब तक 'रात बिताने का' कुछ भी मतलब नहीं समझती थी। बस, इतना जानती थी कि आस-पास सोया जाता है। माँ से पूछ बैठी—'माँ, मना क्यों कर दिया ? एक दिन पास सो ही जाता तो मेरा क्या बिगड़ जाता, उनमें मैं एक नया हार खरीद लेती।'

माँ मेरे भोलेपन पर एक हँसी हँसी तो पर उनकी वह हँसी जैसे उनके अपने मुँह को और भी खराब करके निलक गई। मेरी बात का उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया। न जाने कैसी एक काली-काली छाया उनके चेहरे पर छा गयी। लगा, जैसे कलेजे में उनके कोई आग सुलग रही है, उसका धुआँ आ-आकर चेहरे को काला किये दे रहा है।

उसके बाद राय साहब हरिदास को हमारे दरवाजे में घुसने की इजाज़त नहीं मिली।

उसके और भी दो वर्ष बाद जो मुझे पता चला वह आज तक कलेजे पर एक काली लकीर खींचे है। वह लकीर है, जिसने उस जगह के लिए इतनी गहरी घृणा मेरे भीतर भर दी कि मैं माँ को भूलकर, नाते-रिश्तेदारों को छोड़कर पल भर में एक अनजान आदमी के साथ यहाँ चली आई। पता चला कि उन ही राय साहब का नाम मेरे पिता के रूप में लिया जा सकता है। यदि मैं किसी समय अदालत में खड़ी होऊँ और मुझसे मेरे बाप का नाम पूछा जाये और मैं उसके जवाब के लिए अपनी माँ की ओर ताकूँ तो ढूँढ़ने पर माँ भी इन राय साहब हरिदास के सिवाय और किसी का नाम नहीं बता सकती थीं।

और जब उन्होंने मेरे साथ रात बिताने का प्रस्ताव किया था, तब माँ ने यह गिड़गिड़ाकर बताया था, पर मेरी माँ के उस कर्म के एकमात्र प्रेमी ने इस पर विश्वास नहीं किया और वह प्रेम का अटूट बन्धन तोड़ रूठकर चला गया था।

पल में ही यह सारी तसवीर मेरी आँखों में खिंच गई। एक कड़वी मुस्कराहट भीतर मन में से उठी और सारे मुँह पर बिखरकर रह गई। मन किया कि सब कह दूँ पर आस-पास के लोगों को खड़े देख बोलने का साहस न हुआ। पर बासन्ती दीदी को न जाने क्या सूझी कि ऊपर से ही खड़े-खड़े बोल पड़ीं—'क्या आप हमारी सुषमा रानी को जानते हैं, राय साहब ?'

राय साहब ताव में आकर बोले—'इसे तो क्या इसकी माँ तक को जानता हूँ। मेरा नाम··· ।'

दीदी हँस पड़ीं, और लोग भी हँस पड़े। दीदी ने पूछा—'पर कैसे ?'

'कैसे क्या ?'

'कैसे क्या यह राय साहब, कि इतने नीचे लोगों से आपका परिचय कैसे ?'

राय साहब यकायक ही कोई दूसरा जवाब नहीं दे सके। हकलाते हुए बोले—'इन्हें मैंने देखा था।'

इस बार बासन्ती दीदी कुछ गम्भीर हो आयीं। बोलीं—'कहीं ऐसा तो नहीं कि इन लोगों के यहाँ आप जाते रहे हैं। फिर तो आप भी नीच हुए राय साहब।'

राय साहब ने इस बात का उत्तर दीदी को नहीं दिया। बल्कि माँ जी की ओर मुड़कर, गरजकर बोले—'आप एक दासी से मेरा अपमान करवा रहीं हैं। जानती हैं इसका परिणाम क्या होगा ?'

माँ जी को भी शायद बासन्ती दीदी का बोलना अच्छा नहीं लगा था। बोलीं—'तुम चुप रहो बासन्ती!'

पर दीदी छज्जे पर और भी सीधे तनकर खड़ी हो गई। उनकी पूरी लम्बाई और स्वस्थ, गठा हुआ शरीर मैंने उस दिन ही देखा। उन्होंने क्षणभर राय साहब की ओर टक लगाकर देखा, फिर अत्यन्त संयत और गम्भीर स्वर में कहा—'ओ राय साहब, इस घर की मैं दासी ही नहीं हूँ, तेरी जायदाद और तेरी मिल्कियत में आधे की हिस्सेदार भी हूँ। मुझसे तू बीस-बाइस साल बड़ा जरूर है, पर जहाँ तक याद पड़ता है, अपनी माँ से तू छोटा था। तू वह दिन भूला नहीं होगा जब कि पैसे के लोभ में पिता के मरने के दो ही महीने बाद तूने अपनी गर्भवती माँ को झूठे दोष लगाकर घर से बाहर निकाल दिया था। मेरे बाप की वसीयत में साफ लिखा तूने देखा होगा कि मेरी पत्नी गर्भवती है और मेरी वह सन्तान भी मेरी जायदाद में आधे की मालिक

होगा। तूने अपनी माँ को, जिसकी कोख में जन्मा है, क्या-क्या दुख दिये सो तुझे याद ही होगा। न हो तो इन सब लोगों के सामने याद दिला दूँ। पर छोड़ यह बात, यह बता ओ महापवित्र, ऊँचे आदमी कि मेरा हिस्सा कब दे रहा है ?'

राय साहब स्तब्ध थे, सुनने वाले मुँह बाये खड़े थे। दीदी रुकी तो जैसे सबको होश हुआ। राय साहब चौंके और अपनी स्थिति का भान होते ही नौकरों से गरजकर बोले—'खड़े मुँह क्या ताकते हो, गधे के बच्चो, सामान उठाओ ?'

पर दीदी की वही शान्त व मधुर आवाज तभी सबको सुन पड़ी, 'जाओ राय साहब, मैंने तुम्हें माफ किया। अपना हिस्सा माँगने भी फिर किसी दिन नहीं आऊँगी। क्योंकि एक अहसान मुझ पर है तुम्हारा कि तुमने ही मुझे इस घर तक पहुँचाया है और मुझे विश्वास है कि तुम्हारे उस घर में मालिक की हैसियत से मैं यह सुख नहीं पा सकती थी, जो इस घर में दासी के रूप में पा रही हूँ। पर याद रख सको तो यह अवश्य याद रखना कि दूसरों के दोष देखने के बदले तुमने पल को भी अपने दोष देखे होते तो निश्चय ही पाया होता कि और लोग तुमसे कहीं कम नीच और छोटे हैं।'

इतना कहते ही राय साहब अपना सामान मँगवाकर घर से बाहर निकल गये थे। सब लोग फिर अपने-अपने कमरे में चले गये। यह घटना कुछ ऐसे घटी कि और किसी का साहस नहीं हुआ जो कह सके कि मैं भी जाना चाहता हूँ। सब अपने-अपने कमरों में बन्द थे। जैसे बासन्ती दीदी की राय साहब को दी गई चेतावनी सबको छू गयी हो और सब चुप अँधेरे में बैठे, अपने दोष देख रहे हों।

दीदी ने मेरा हाथ पकड़ा और फिर लाकर कमरे में बिठा दिया। फिर मेरी ठोड़ी छूकर बोलीं—'किसी बात का बुरा तो नहीं मान गई रानी !'

मैंने कहा—'मान तो गई हूँ।'

उन्होंने चकित प्रश्न-भरी निगाहों से मेरी तरफ देखा। मैंने हँसकर कहा—'जानती हो, तुमने किसका अपमान किया है।'

वे फिर भी चुप बनी वैसे ही खड़ी मेरी ओर देखती रहीं।

मैंने उनका हाथ पकड़ लिया और अपनी ओर घसीटती हुई बोली—'मेरे पिताजी का।'

उनकी आँखें फट आयीं, बोलीं—'सच ?'

मैंने कहा—'हाँ।'

'अरे ! तब तो बुरा हुआ। राय साहब को लौटना होगा ?'

'पर वे तो विश्वास नहीं करते।'

फिर यकायक ही हँसकर बोलीं—'ऐसे आदमियों को कैसे विश्वास दिलाया जाता है सो मैं जानती हूँ। तू निश्चिंत होकर बैठ। मैं अभी माँ जी से कहकर सब प्रबन्ध कराती हूँ।'

और शाम को सुना कि राय साहब लौट आये हैं पर लड़की का पिता होने के नाते या जाने क्यों, यहाँ इस घर में नहीं आ सकेंगे सो बगीचे वाली कोठी में ठहरे हैं। मन हँसने को कर उठा पर भीतर से किसी ने कहा— 'काश, प्रवीण बाबू भी होते। उन्हीं के कारण ही मैं यह सब पा सकी हूँ। और उसी समय मन के किसी भीतरी कोने से किसी ने कहा—'और कहीं वे आकर कोई उपद्रव खड़ा कर दें तो ?' पर तर्क ने उत्तर दिया—'सो कैसे होगा, और वे शिवानी देवी ?'

और जब आध ही घण्टे बाद मैंने सुना कि प्रवीण बाबू आ गये हैं और नीचे माँ और सुधीन्द्र बाबू से बातचीत कर रहे हैं तो मैं अपने को रोक नहीं पायी, सीधी टप-टप सीढ़ियाँ कूदती हुई उनके पास ही जा पहुँची।

अत्यन्त सुन्दर तो मैं प्रवीण बाबू को कभी नहीं कह सकी थी, पर आज उनके चेहरे को यह क्या हो गया है ? हमेशा बुलाब के फूल की तरह खिला हुआ चेहरा आज पतझड़ की तरह मुर्झाया हुआ क्यों है ? छोटी-छोटी आँखें भीतर को धँस गयी हैं और अत्यन्त छोटी हो आयी हैं। चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ गयी हैं और कपड़ों से पता चलता है कि न मालूम कितने दिनों से साफ नहीं हो पाये हैं।

देखा कि माँ सामने ही एक और कुर्सी पर उनके घुटने पर हाथ टेके बैठी हैं और सुधीन्द्र बाबू कुर्सी का दायाँ कंधा पकड़े खड़े हैं। प्रवीण बाबू अत्यन्त दुखी भाव से कह रहे हैं—'कितनी बड़ी कीमत उन्हें देनी पड़ी माँ! विधवा थी पर माँ ही तो थीं। पाव भर दूध के लिए अपना सब कुछ दे डाला पर वह दूध नहीं पाया और उसके ही कारण बेटा खो दिया। पर यहाँ निबट जाता तो बहुत था। मुझसे बोलीं, भैया, काशी दिखा दो। भगवान विश्वनाथ के मंदिर में अपने अपराध की माँफी माँगूँगी। काशी ले गया पर न जाने क्या उनके मन में टीस रहा था कि काशी के सब मन्दिरों के दर्शन करके भी शान्ति नहीं पायी। रात को कहतीं—'चलो, घाट पर चलें। चलकर वहीं बैठूँगी . शायद वहाँ बैठने से ही कुछ शान्ति मिले।' पर शान्ति तो मन के भीतर से मिलती है और वहाँ उनके प्रलय मचा हुआ था। एक दिन गंगा के किनारे जाकर बोलीं—'प्रवीण बाबू, मुझे इसें धक्का दे दो। तेरे हाथों ही तर जाऊँगी। मेरी आँखों में आँसू भर आये। उनका हाथ पकड़कर धीमे-से कहा—'दीदी, अपने प्रवीण भैया को छोड़कर चली जाना चाहती हो ?'

वे कुछ नहीं बोलीं। चुप बनी रहीं और गंगा की उथली-पुथली लहरों को देखती रहीं।

मैं तो जानता नहीं था। समझता था कि सुभागे का शोक ही उन्हें खाये जा रहा है। यदि पता होता कि वे किस अग्नि में जल रही है तो सब तीर्थों को छोड़कर उन्हें इस घर में ले आता। फिर देखता कि वे कैसे मरती हैं। तुम्हारे हाथों उन्हें सौंपकर मैं निश्चिन्त हो रहता माँ। जानता था कि इन दो हाथों से उन्हें स्वयं भगवान भी छुड़ाकर नहीं ले जा सकते थे। पर वैसा भाग्य मेरा था कहाँ। मन-ही-मन वे कुढ़ती भी रहीं और मौत की तरफ बढ़ती रहीं। लाख पूछने पर भी असली रोग की खबर उन्होंने मुझे नहीं दी।

काशी में उन्हें सम्भलते न देख मैंने कहा—'और किसी तीर्थ में चलोगी दीदी ?'

बोलीं—'चलो, पर भैया, तुम्हारा घर-बार ?'

मैंने हँसकर कह दिया—'उसकी तुम चिन्ता न करो दीदी। मेरे घर का मुझे पूरा विश्वास है कि कुछ सोच-विचार न करेगा।'

'पर एक चिट्ठी तक तो तुमने डाली नहीं।'

'तार दिया था कि मैं काशी में हूँ चिन्ता न करें।'

बोलीं—'इतने से··· ।'

मैंने बात काट दी, कहा—'हम लोग जल्दी-जल्दी ही चलेंगे दीदी और खबर बाद को दे दूँगा। चिट्ठी नहीं चाहता। जब जाऊँगा तब मुँह से ही कह दूँगा।'

और इस तरह समझा-बुझाकर उन्हें ले चला। पर हालत क्या सम्भलनी थी जो सम्भलती। दिन-पर-दिन सूखती चली जा रही थीं। रंग पीला पड़ गया था। तुमसे सच ही कहता हूँ, माँ ऐसी सुन्दर काया मैंने अपने जीवन में कभी नहीं देखी थी पर मेरी आँखों के सामने ही सब मिट्टी हुई जा रही थी। मैं क्या करता, क्या नहीं करता। कहता कि डॉक्टर बुलाता हूँ तो हाथ जोड़ने बैठ जातीं। पर मैं मूरख तब भी समझ नहीं पाया और पता चला उस दिन जब हरिद्वार में एक बुढ़िया बोली—'अरे, इसे तो किसी दाई-वाई को दिखा। रोज डॉक्टर डॉक्टर किया करता है।'

मैंने घूमकर दीदी की तरफ देखा। राख की तरह सफेद उनका चेहरा हो आया। मैंने पास जाकर कहा—'दीदी, मुझसे नहीं कहा सो क्या ठीक किया। मैं अभी···।'

फीकी हँसी हँसकर बोलीं—'छोड़ रे! दुखी क्यों होता है? मैं अब और जीना नहीं चाहती। चल प्रवीण, आज ही यहाँ से चलें।'

लाख जिद की कि यह करूँ वह करूँ पर एक न मानी। और आज सुबह इसी कलकत्ते में अपनी टूटी-फूटी झोंपड़ी में प्राण छोड़ दिये।'

माँ की आँखों से आँसू झर-झर झर रहे थे। बोलीं—'यह क्या प्रवीण! अभी तक दाह-संस्कार का कोई प्रबन्ध नहीं किया।'

'नहीं, सो सब निपट चुका है माँ।'

'और हमें खबर भी नहीं दी।'

'कैसे आता माँ। उन्हें अकेली छोड़कर आ भी तो नहीं सकता था और फिर उनकी अन्तिम आज्ञा भी यही थी कि उनकी घृणित देह के लिए मैं किसी और को तकलीफ न दूँ। जैसे अकेले ले जाकर सुभागे को गाड़ आया था वैसे ही अकेले ले जाकर उन्हें भी जला आऊँ सुभागे के ही बराबर। उसी जमीन में।'

इतना कहते-कहते ही उनका कंठ रुँध आया। हल्की नमी उनकी आँखों में तैर आयी और उसी रुँधे कंठ से बोले—'माँ, दीदी मेरी साक्षात् लक्ष्मी थीं जिसे इस दुनिया ने असमय में मार डाला।'

उनकी उस मर्मांतक पीड़ा की बात समझ सकता है, जिसने कभी अपने अत्यन्त आत्मीय को निर्दोष होते हुए भी फाँसी पर चढ़ते देखा है। यह वाक्य कहते-कहते ही उनका सदा का संयम बाँध तोड़कर बह निकला और आँसुओं की एक अविरल धारा उनकी आँखों से बहने लगी। सुधीन्द्र बाबू जो अब तक शान्त खड़े थे वहाँ से अपने को हटा ले गये। माँ ने दोनों हाथों से प्रवीण बाबू के दोनों हाथ थाम लिए और फूटकर कहा—'चुप रह मेरे बच्चे, अभी तो मुझे और भी एक दुख की खबर तुझे सुनानी है।'

प्रवीण बाबू उन्हीं आँसुओं में से तत्काल मुस्करा उठे। उठते हुए बोले—'सब मालूम है माँ। मुझ पर अन्याय न करो उस इतनी खुशी की खबर को दुख की खबर कहकर। मुझे यों न मारो कि मैं कभी अपने भाई और भाभी को मुँह भी न दिखा सकूँ। मेरे लिए इससे बड़ी खुशी की खबर कोई न होगी। मेरे भैया खुश रहें, मेरी भाभी खुश रहें इसी में मेरी कृतार्थता है। माँ, दुख है तो इस बात का कि इतने शुभ अवसर पर मैं उनकी कोई सेवा न कर सकूँगा। शिवानी दीदी के फूल लेकर मुझे काशी जाना है। यही उनकी इच्छा थी···।'

माँ जी ने कहा—'कब जाना होगा?'

'परसों सवेरे।'

काश उसी समय उस मनुष्य के पैरों में गिरकर मैं अपने सब अपराधों की क्षमा माँग सकती। पर, सच तो यह था कि मैं उसके भी योग्य नहीं थी। तीसरे दिन जब उनके जाने का समय होने लगा तो उन्हें अकेले में एक जगह पकड़कर बोलीं — 'प्रवीण बाबू एक भिक्षा और देते जाइये।'

'आज्ञा कहो भाभी, भिक्षा क्यों कहती हो ?'

वे चुपचाप मेरी ओर देखते रहे। उनकी वह शरीर को भेद देने वाली दृष्टि ही मेरे लिए सबसे बड़ा रहस्य है। उससे काँप आना स्वाभाविक है। पर उस दिन मैं झूठ पर नहीं खड़ी थी सो साफ शब्दों में बोली — 'आपको शादी के दिन यहीं रहना पड़ेगा।'

उन्होंने पूछा — 'इतना आग्रह क्यों भाभी ?'

'इसलिए कि सुधीन्द्र बाबू से अधिक आप पर मेरा अधिकार है और मैंने उस अधिकार को इसलिए छोड़ा है कि मैं उसके योग्य नहीं थी। नहीं तो मुझे आपका हाथ ही पकड़ना चाहिए था और आप ही तो हाथ पकड़कर मुझे इस घर में लाये थे। मैं चाहती हूँ कि उस दिन आप यहीं रहें और मेरे पाप या जाने क्या···का अनुमोदन करें। जिससे कोई यह न कह सके कि मैंने प्रवीण बाबू के साथ कृतघ्नता की। यदि मैंने आपको वास्तव में सही समझा हो तो भगवान मेरे इस कार्य को आप ही के द्वारा सम्पन्न करायें, नहीं तो आप ही उसे तहस-नहस कर डालें। मेरे बाप-भाई और माँ सब आ रहे हैं। उन सबके सामने यह काम करना होगा।'

उन्होंने मेरी ओर देखा। दोनों की आँखों में दो-दो बूंद आँसू चमक आये। पर फौरन ही हमने अपने को सम्भाला। वे जाने लगे तो मैंने झुककर उनके पाँवों की धूल ली और माथे पर लगा ली। होंठों में बड़बड़ाई, 'फिर न जाने मौका मिलेगा कि नहीं।'

एक छोटी-सी अटैची लेकर जाने को तैयार हो गये। मुद्रा से स्वस्थ मालूम पड़ते थे। चेहरा प्रसन्न था।

माँ के पैर छुए तो वे अत्यन्त त्रस्त थीं। बासन्ती दीदी की आँखों से टप-टप आँसू बह रहे थे। अपने भैया के पैर छूने गये तो उन्होंने ऊपर से ही थाम लिया और फिर कंधे पर हाथ रखकर अत्यन्त प्रेम से बोले — 'पैसा है न रे, प्रवी ?'

वे एकदम खिलखिलाकर हँस आये, बोले — 'है। पर अब उसके लिए मैं आपके आगे हाथ न फैलाया करूँगा। क्यों भाभी, दे दिया करोगी न ? पर इनसे छिपकर। नहीं तो मेरी जगह तुम्हें मूर्ख की महा-उपाधि से विभूषित करेंगे।'

मैं लाज से सिकुड़कर रह गयी। सोचने लगी कि कैसा आदमी है। अपने इतने दुख में भी सबको हँसाकर चलने को तैयार है।

और फिर वे उस घर की चौखट से आगे बढ़ निकले। धीमे-धीमे बहुत दूर निकल गये। बहुत दूर। हम लोगों की आँखों से आँसू बह रहे थे। न जाने क्यों ऐसा भान हो रहा था कि अब फिर कभी वे इस घर के अत्यन्त आत्मीय होकर वापिस नहीं लौटेंगे।

स्वप्न का अन्त

दस साल का अखण्ड सौभाग्य-सुख भोगकर मैं विधवा हुई। विधवा होते ही काशी चली गई। माँ जी तो पहले ही जा चुकी थीं। बासन्ती दीदी अभी साल भर हुआ कि मरी हैं। अब एकदम

अकेली पड़ गई तो सब याद करने की सूझी। और भी एक काम करती हूँ, सुबह-शाम भजन गा लेती हूँ इससे भी मन को कुछ शान्ति मिलती है।

प्रवीण बाबू विवाह में आये थे। फिर जो गये तो लौटकर नहीं आये। यदाकदा पैसे का आग्रह आया तो तुरन्त पहुँचा दिया गया। पर यह सच है कि पल भर के लिए भी मैं उन्हें भूल नहीं पाई।

सुधीन्द्र बाबू मरते समय मेरे प्रति अपना असीम सन्तोष और आठ साल का एक पुत्र छोड़ गये थे जो आजकल कलकत्ते में होस्टल में रहकर पढ़ रहा है। कभी-कभी यहाँ आता है और मेरा आशीर्वाद पाकर लौट जाता है। मैं विश्वास से कह सकती हूँ कि उसके लिए मैंने अपना पूरा कर्त्तव्य निभाया है।

यहाँ यदि इतना और कह दूँ तो शायद गलत न होगा कि प्रवीण बाबू का प्रेम ही था, जिसने मुझे जीवन दिया। और जिसने मुझे इस जीवन के योग्य बनाया वह मात्र सुधीन्द्र बाबू का प्रेम था। दोनों मेरे मन के दो किनारे थे, जिनमें से होकर मैं बही हूँ। निश्चय ही एक भी टूट जाता तो मैं छितरा कर बह जाती। मैं दोनों को ही जन्म-जन्मान्तरों तक पूजती रहूँगी।

फिर भी कोई मुझे कृतघ्न कहे तो यह उसकी भूल है। उससे कहा जा सकता है कि उसने नारी-हृदय को समझा ही नहीं है।

छविनाथ

अनुभव

घर शब्द में कितना आकर्षण, कितनी मिठास होती है इसका अनुमान वही लगा सकता है जिसने पल को भी उसका बिछोह सहा हो। उसे छोड़ते हुए हृदय किस तरह बीच से चिरता है इसका सही विवरण हम आपको नही बता सकेंगे. छविनाथ बता सकता था, पर वह तो अब जीवित नहीं है, मर चुका है। न जाने कितने वर्ष उसे मरे बीत चुके हैं; पर उसकी याद··· उसे याद करने में आनन्द नहीं है, परम दुःख है, हृदय टीसता है।

उसने भी एक दिन घर छोड़ दिया था, हमेशा के लिए घर से विदा हो गया था। घर से विदा होने का उसका यह पहला ही मौका नही था, पर उस बार विदा होते हुए क्योंकि कोई भी दरवाज़े पर नहीं था, या तो इसलिए, या इसलिए कि उसके भीतर कोई कह रहा था कि फिर कभी उसे इस घर के दर्शन नहीं होंगे, सडक पार करते न-करते वह फूट-फूटकर रो उठा था। आँसू गालों पर से होकर नीचे ढुलकने लगे थे, पर उन्हें पोंछने की उसे सुध नहीं थी। साँस फूल उठी थी। उसका अंग-अंग पतझड में झड़ने के नज़दीक आये पत्ते की तरह काँप रहा था, पर कदम आगे बढ़ते ही चले जा रहे थे।

और वह रेल में जाकर बैठ गया। लोहे से बनी रेल। रेल उसकी व्यथा को क्या समझती? वह बढ़ निकली और पल-छिन उसको घर से दूर ढकेलने लगी। समय बीतता गया और रेल की गति तेज़ होती गई। छविनाथ को लगा जैसे कोई उसके अपने बच्चे को उसकी गोद से छीन कर ले भागा है। वह भागा जा रहा है। पर छविनाथ लाचार है, वह उसको पकड़ने के लिए हाथ-पैर तक नहीं हिला सकता। वह लाचार है, वह असमर्थ है

छविनाथ की गाड़ी आगे भाग रही थी पर उसका मन पीछे भाग रहा था। भविष्य की उसे चिन्ता नहीं थी, क्योंकि उसको तो वह चीन्ह नहीं पा रहा था। वर्तमान उसके लिए भविष्य से भी अधिक धुँधला था। पर जो बीत चुका था, वह उसकी आँखों में स्वच्छ पानी में पत्थर के छोटे-छोटे टुकड़ों की तरह ही स्पष्ट था। कितनी ही स्मृतियाँ – दूर की पास की, उसकी आँखों के आँसुओं में तैर रही थीं। उनको फिर-फिर पढ़ने की अभिलाषा उसके मन में इतनी गहरी थी, ऐसी तीव्र थी कि वह लाख चाहने पर भी अपने को रोक नहीं पा रहा था।

एक समय था कि माँ जीवित थी और उसके जीवन-काल में समय की गति इतनी उथली-पुथली नहीं थी। बेटों का भाग्य माँ की मुट्ठी में था। उनकी तमाम आपदाओं विपदाओं

की वह स्वयं मालिक थी । बारिश, धूप या सर्दी सब कुछ वह खुद झेलती थी। छविनाथ ग्यारह साल का रहा होगा। सातवीं की छमाही परीक्षा चल रही थी। सर्दी के दिन थे। ठिठुराती सर्दी थी और रात के दस बज चुके थे कि माँ ने रसोई में से कमरे में घुसते हुए कहा, "छवि, आज तो गज़ब हो गया। पान मँगाना तो याद ही नहीं रहा। जा बेटा, ला तो दे, दो पैसे के; सुबह को शरीर नहीं चलेगा, नहीं तो।"

छवि बोला, "सुबह ला दूँगा।"

माँ ने कहा, "सुबह कौन पाँच बजे तेरे लिए दुकान खोलेगा, कह तो। मुझे तो तड़के ही चाहिए न।"

छवि ने गुस्से में आकर कहा, "वह खोलेगा जो अब रात के दस बजे खोले बैठा होगा।"

"पर देखने में क्या हर्ज़ है, शायद हो ही।"

"अब नहीं जाऊँगा, सुबह ला दूँगा।"

माँ ने प्यार भरे आश्चर्य से पूछा, "सुबह तो तू ला ही देगा, पर उसके बिना तो मेरा बदन करवट भी नहीं ले पाता, तुझे खाना कैसे बना कर दूँगी ?"

"पर मैंने जो कह दिया कि अब नहीं जाऊँगा।"

माँ ने दुलार से झिड़कारा, "तो अब से जो तू एक बार अच्छा-बुरा कह दिया करेगा, उससे कभी नहीं मुड़ेगा।"

छवि ने भी झल्लाकर कहा, "देख माँ, तू हर घड़ी सताया न कर। दिन में अगर तू पान मँगाना याद नही रख सकती तो यह मेरा कसूर नहीं है। न मैं अब पान लाऊँगा, न सुपारी। मैं सोता हूँ और अब दया कर तू भी सो जा। रात-भर चैन नहीं पड़ती तुझे।"

अपने-जाये छवि का इतना लम्बा लैक्चर सुनकर ममतामयी को गुस्सा आ गया, बोली, "बहुत बुरा हो गया है तू तो, छवि। रात-भर चैन मैं अपना कफ़न सीने में नहीं लेती न, जो ताना दे रहा है। दिन-भर तेरी तीमारदारी में ही तो बीतता है। न ला तू पान, सुबह सात बजे खाना न मिलेगा तो नानी याद आ जाएगी।"

अब तक छवि सो चुका था। गहरे लम्बे साँस भी एक खास अन्दाज़ से चलने लगे थे।

माँ ने फिर पूछा, "तो तू पान नहीं लाएगा ?"

छवि ने करवट बदल कर जतला दिया कि वह सो रहा है।

माँ ने अन्तिम हथियार सँभाला, "न ला। चिट्ठी लिखकर तेरे बाप को सब जता दूँगी और वे आकर तेरी मरम्मत बनाएँगे तो तुझे पता चलेगा।"

छवि को घाव लगा तो, पर हल्का-सा, वह प्रभाव न डाल सका। उसने हल्के से अपनी आँखों में थोड़ा-सा प्रकाश भरा और फिर उन्हें अँधेरी घुप बना लीं और फिर सो गया।

कड़कड़ाती सर्दियाँ पड़ रही थीं। ममतामयी का बूढ़ा कृश शरीर और थका, विरक्त मन इस बात का साहस नहीं कर पा रहा था कि इस समय जाकर वह स्वयं पान ले आये। पर पचीस-तीस साल के निरन्तर साथ ने उसको और पान को कुछ ऐसा दो शरीर एक प्राण बना दिया था कि विछोह सहना दूभर था, और फिर ऐसी शीत-भरी रात में। सर्दी वास्तव में भयंकर थी, नहीं तो वह लगभग घर-बाज़ार के सभी काम स्वयं ही कर लिया करती थी। सुबह पाँच बजे से रात के दस बजे तक उसे मिनट-भर का आराम न मिलता था। सुबह सात बजे छवि जाता तो नाश्ता बनाना होता। नाश्ता हल्का हो और पुष्ट हो इस बात का ध्यान रखना होता,

जिससे इन इम्तिहानों के दिनों में बेटे के दिमाग पर बुरा असर न पड़े। फिर दस साढ़े दस बजे तक खाना तैयार करना होता और यदि किसी दिन छवि के दो पर्चे होते तो खाना स्कूल तक भी पहुँचाना होता। सब्ज़ी खुद ही ख़रीद कर लाती। उसका विचार था कि अठारह साल से पहले बच्चा सब्ज़ियों में अच्छी-बुरी को नहीं पहचान सकता। पल-छिन उसके मन में यही विचार होता कि कहीं कुछ ऐसा न हो जाये कि छवि की सेहत पर बुरा असर पड़े। वह यह सब करती और खुश होती, कहा करती, "मेरे दो बेटे हैं, रवि और छवि, मैं दावे से कहती हूँ कि ऐसी औलाद इस कलियुग में किसी और की नहीं होगी।"

ममतामयी के दो बेटे हैं। रवि बड़ा है। दसवीं पास कर चुका है और अपने पिता के साथ दिल्ली चला गया है। बात यह हुई कि 1942 के काँग्रेस आन्दोलन में छवि के पिता का बहुत बड़ा छापाखाना ज़ब्त कर लिया गया और अब उन्हें काम की तलाश में परदेश जाना पड़ा। वे अपने बड़े बेटे को भी साथ ले गये। छवि और ममतामयी को छोड़ गये। इसके दो कारण रहे। एक तो यह कि छवि का साल खत्म नहीं हुआ था और दूसरा यह कि वहाँ पहुँचने से पहले रहने का प्रबन्ध होना आवश्यक था और उन्हें विश्वास था कि छवि के रहते ममतामयी को कोई कष्ट नहीं होगा।

इसीलिए छवि के इस बर्ताव से उसकी आँखों में आँसू भर आये। उसे बड़े बेटे की याद आ गई। रवि में चाहे कोई बात न हो, यह गुण अवश्य है कि आधी रात उसे किसी काम को कहा, मना नहीं कर सकता। यह बात मन में आते ही आते उसकी आँखों में पानी खूब छलछला आया। होंठों ही होंठों में बुदबुदा कर बोली, "आप तो बैठ गये वहाँ जाकर और मुझे छोड़ गये इसके साथ, जिसके साथ आदमी तो आदमी, जानवर तक ढंग से न जी सके।"

सर्दी की हवा का एक तीखा झोंका किवाड़ों को ठेलता हुआ भीतर आया। माँ की बूढ़ी हड्डियाँ थरथरा उठीं। लिहाफ़ को और खींचकर उसने ऊपर कर लिया। पर उसकी विचारधारा इस झोंके के साथ ही एकदम बदल गयी। मन ही मन सोचने लगी, 'मैं भी कैसी स्वार्थिन हूँ, कैसी ठण्डी हवा चल रही है, और मैं अपने बच्चे को ऐसे में बाहर भेजना चाहती हूँ! कहीं हवा लग गई तो क्या होगा। मर न जाये ऐसा शौक़। देखो न, एक दिन नहीं ही खाऊँगी तो मौत तो आ न जायेगी। सुबह पान भी आ जायेंगे, कहीं भागे नहीं जाते। ममतामयी को छवि को दी गाली याद आ गई। साथ ही होंठों पर हल्का-सा स्मित आया। लिहाफ़ में वह और भीतर को खिसक गई; फिर लेटे ही लेटे उसने छवि की ओर देखने के लिए करवट बदली। करवट बदलने में इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखा कि छवि यदि जागता हो और उसी की तरफ़ देख रहा हो तो यह न जान पाये कि माँ ने उसी को देखने के लिए करवट बदली है। करवट बदलने के अपने इस कौशल पर मन ही मन वह बहुत खुश हुई। फिर अपनी मुँदी आँखों को उसने धीमे से खोला। खोल कर अपने उस कुपूत की तरफ़ देखा। छवि सोने का सफल अभिनय कर रहा था। उसके साँवले किशोर मुख पर इस समय अजब शोभा खिल रही थी। प्रकाश सीधा मुँह पर पड़ रहा था। साँवले रंग में अभिनय से उत्पन्न चांचल्य ऐसे घुला था जैसे दही में मक्खन या शहद में मिठास। ममतामयी अपने बेटे की ऐसी शोभा देख मुग्ध रह गयी। उसका हृदय एक प्रसन्न कौतूहल से गद्‌गद हो आया। बार-बार यही इच्छा होने लगी कि उठकर धीमे से उस कृष्ण-मुख के पास पहुँचे और उसे खूब चूमे। उसे अपनी छाती के घोंसले में छिपा ले और बार-बार कहे कि, 'मुझे माफ कर मेरे छवि, ऐसी सर्दी में तुझे अपने स्वार्थ के लिए बाहर भेजने की इच्छा अवश्य ही किसी शैतान ने पैदा की है, नहीं तो मैं ऐसा कभी न चाह सकती। तू कली की तरह

बढ़ा-फला है, तू भला क्या पान लाने के लिए पैदा हुआ है ! नहीं...'

पान की याद आते ही ममतामयी को जैसे एक सच्ची-सी बात याद आ गई। उसे लगा कि अगर कहीं सचमुच ही सुबह पान न मिलने से उससे जल्दी न उठा गया या बदन में दर्द हो आया और नाश्ता या भोजन समय से तैयार न हो सका तो सब मिट्टी में मिल जायेगा। तो चलूँ, मैं ही पान ले आऊँ। पर ऐसे जाना होगा कि छवि की हवा को भी पता न चले। नहीं तो कम्बख़्त माँ के हाथ से पैसे छीनकर भागा चला जायेगा और फिर उसे सर्दी लगे बिना न रहेगी। कच्चा बदन जो है।

ममतामयी ने लिहाफ़ को पलट कर दूर किया। पास पड़ी चादर को बग़ल में दबाया। सोचा—बाहर चलकर ओढ़ लूँगी। चप्पलों को धीमे से पैरों में पिरो दरवाज़े से बाहर हो गयी।

बाहर भयंकर शीत पड़ रहा था। कल ही बारिश और ओले पड़े थे। चद्दर और झम्पर और धोती और माँस को चीरकर हवा ममतामयी की हड्डियों में धँसने लगी। एकबारगी ही समूचा शरीर थर-थर काँपने लगा। दाँत किट-किट बज उठे, पर ममतामयी रुकी नहीं। धीरे-धीरे वह दालान पार कर गयी। पर हाँ उसके मन में एक लालसा बहुत तीव्रता से उभर आई कि देखें, छवि उठकर आता है या नहीं। कुछ क्षण पहले जो वह भूल गयी थी कि छवि सो नहीं रहा, सोने का अभिनय कर रहा है अब फिर याद आ गया। एक बार उसने अपने मन में दोहराया भी कि जरूर उसने मुझे बाहर आते देखा होगा और अब वह खुद बाहर आता होगा। वह बाहर अवश्य आएगा। ममतामयी का छवि ऐसा नहीं हो सकता कि बाहर न आए। इस ही विश्वास के साथ और छवि को आँकने की अभिलाषा से ममतामयी की चाल धीमी हो गयी, चप्पलें जो पहले शान्ति से चल रही थीं, अब फटकारने लगीं। धीमे-धीमे दहलीज समाप्त होने लगी। ममतामयी बड़े दरवाजे तक पहुँच गयी थी। पर आशा के अनुसार छवि नहीं आया। मन को समझाने को पल को वे दरवाज़े पर ठिठकीं, ठिठक कर दबी नजरों से पीछे देखा, पर घुप अँधेरे के सिवाय और कुछ न था। माँ का कोमल हृदय ठेस खा गया। जहाँ वह इस बात से प्रसन्न थी कि भला ही हुआ वह बाहर नहीं आया, नही तो इतनी तेज हवा उसका कोमल शरीर कभी भी सहन न कर पाता, वहीं यह सोचकर कि छवि नहीं आया, ममतामयी माँ की आँखों में आँसू छलक आए मन ही मन कहा, 'मन रखने को ही आ जाता, मैं उसे जाने थोड़े ही देती।'

पर क्षण बीता नहीं कि अनर्थ हो गया। न जाने कौन, कब उसके हाथ से इकन्नी छीन भाग गया। 'कौन है, कौन है ?' ममतामयी चीखी, 'सुन तो। छवि, ओ छवि ! यह चादर तो लेता जा, बाहर कितनी तेज सर्दी है, सुनता नहीं, सुनेगा नहीं, सर्दी लग जाएगी। उफ् ! नीच, हे भगवान, इस लड़के से तो मैं निपूती ही भली थी मेरी कोख तो एक ही से भर गई थी। न जाने यह मुझे कितना दुख देगा।'

और वे बूढ़ी हड्डियाँ हाथ में चादर लिए अपने बेटे की मौत की दुआ माँगती उस खुली सडकर पर सरपट दौड़ने लगीं।

'खड़ाक्-खड़ाक्' की तीव्र ध्वनि से छविनाथ की पलकें नाटक के पर्दे की तरह उठीं। उठते ही उन्होंने देखा कि एक सामान रखने का तख़्ता टूटकर नीचे आने को ही है और उस पर रखा निर्दय लोहे का सामान नीचे बैठी एक वृद्धा का कचूमर निकाल देने को एकदम तत्पर है। छविनाथ पल में सचेत हो उठा। अपनी चिर-परिचित बिजली की सी तेजी से उसने अपने दोनों

हाथ तख़्ते के नीचे लगा दिए और उस वृद्धा को मौत के मुँह से बचा लिया। खटपट सुनकर और सब भी जागे। जागकर घटना को सुव्यवस्थित किया। सामान उतरा, तख़्ता मौत से मजाक़ बना और वृद्धा ने जो अब तक सो रही थी जागकर 'तेरे बाल-बच्चे राजी रहें' से छविनाथ का अभिवादन किया ओर फिर सो गई। गाड़ी के और लोग भी कमज़ोर लकड़ी, रेलवे वालों की असतर्कता और छविनाथ की बहादुरी पर पल को वाद-वार्ता कर सो गये। पर छविनाथ के हृदय में शूल-सा जा चुभा। जिस वृद्धा को उसने बचाया था उसे देख-देख कर वह अपनी माँ को याद करने लगा। कोई उसके भीतर से कहने लगा, 'यदि कभी उसने अपनी माँ के लिए इतना किया होता तो वह मेरे लिए क्या न कर डालती। फिर क्या यह डिब्बा रात-भर सो पाता। यहीं क्या मुझे छाती से लगा वह दो चार बार चूम न लेती। मेरी उंगली से कोहनी तक क्या वह टटोलकर न देखती कि कहीं चोट तो नहीं आई, क्या सचमुच ही मेरी आयु को सौ साल से भी दुगुनी करने की अर्जी पास कराने के लिए वह अभी ही भगवान को यहाँ न बुला डालती।' पर उसको तो हमेशा उसने कष्ट दिया है, दुःख दिया है और आज जब वह कुछ भी देखने के लिए नहीं है उसको याद करने से फ़ायदा ! छविनाथ का कलेजा चिरने लगा। उसने डिब्बे में आँसू-भरी दृष्टि से देखा। क्या कहां उसकी माँ है ? सोती या जागती हुई। पर कहीं कुछ परिचित नहीं दीखा। सब जैसे वह खो चुका है और इतना अकेला है कि 'अपना' शब्द ही उसे भूल जाना चाहिए। अब तो प्रकाश की तरफ देखने से भी उसे डरना चाहिए। प्रकाश उसके लिए नहीं है। बस अँधेरा है, चारों ओर अँधेरा है।

इस ही निराशा में उसने उस छोटी सी दुनिया, रेल के एक डिब्बे से आँखें घुमा लीं और बाहर के शून्य में आँखें फैला दीं।

2

माँ को कष्ट देने में छवि को एक विशेष प्रकार का आनन्द आने लगा था। ऐसा आनन्द जैसा किसी आदमी से बदला लेने पर आता है। ममतामयी अपने बेटे को तो क्या, किसी को भी हानि पहुँचा सकती है इसका विश्वास कोई दुश्मन भी न करेगा, पर छवि की यह प्रवृत्ति इतनी रहस्यमयी-सी लगती थी और इतनी पुष्ट होती चली जा रही थी कि माँ के दुख का अन्त न था। छविनाथ स्वयं भी बहुधा उस पर सोचता। सोचने से अपने भीतर उसे यही मिलता कि वह माँ से बहुत प्यार करता है। माँ की खूब सेवा करना चाहता है। पर करता हमेशा उससे उल्टा ही है। जिस काम को करने को माँ मना करेगी, वही वह अवश्य करेगा और जो वह करने को कहेगी उसको वह चाहकर भी न कर सकेगा। उस दिन दोस्तों में प्रोग्राम बना कि अजमेर घूमा जाए। समय के बारे में बता दें। कई साल बीत गए हैं, परिवार दिल्ली आकर बस गया है और रवि की शादी भी हो गयी है। बहू का नाम है छलनामयी।

घर में घुसते ही छवि ने माँ से कहा, "मैं अजमेर जाऊँगा।"

माँ ने पूछा, "क्या है अजमेर में ?"

"देखने क़ाबिल बहुत-सी चीज़ें हैं।"

ममतामयी ने चिढ़कर कहा, "तो क्या हमें देखते-देखते ऊब गया है ?"

"हाँ, ऊब गया हूँ और खासकर तुम्हें··· ।"

ममतामयी लाल हो उठी। उसके बारे में थोड़ा-सा और कह दें तो आसानी होगी। वह अब पहले जैसी सहनशील नहीं रही है। स्वभाव में बहुत तीखापन और चिड़चिड़ापन आ गया है। कारण है, निरन्तर की बीमारी और परिवार की आर्थिक दुरवस्था। बात सच है कि गरीब से अमीर होना जितना बड़ा वरदान है अमीर से गरीब होना उतना ही भयंकर शाप! छवि अब उसे फूटी आँखों नहीं सुहाता। रवि का बहुत मान करने लगी है; कारण यह कि छवि हमेशा पैसा खोने की बात करता है और रवि हमेशा कमाने की। पिता को यदि रवि का सुदृढ़ सहारा न होता तो गृहस्थी अब तक डगमगा ही जाती। गृहस्थी के खर्चे छलनामयी ने बस में किये हैं। उनके शाहानापन को मध्यमवर्गीय गृहस्थ के खर्चे बना डाला है। इस तरह छलना और रवि इस समय उस डोलती नैया के कर्णधार हैं और यह छवि, कि बस···नालायक़ कहीं का!

माँ ने चीख़कर कहा, "किसी दिन सोते में दियासलाई लगा देना कलमुँहे, और तुझसे आशा ही क्या है।"

छवि बोला, "यही करना पड़ेगा किसी दिन। पर वह सब तो आज करने का मन नहीं है, आज तो भैया से कहकर जाने के लिए कुछ पैसे दिलवा दो।"

"एक पैसा नहीं मिल सकता।"

"क्यों नहीं मिल सकता?"

"अन्धा तो है नहीं, देखता नहीं कैसे खर्चा चल रहा है।"

छवि ने निर्द्वन्द्व भाव से कहा, "वह सब मैं कुछ नहीं जानता, मुझे पचास रुपए चाहिए और जरूर चाहिए।"

"पचास रुपए?"

"हाँ"

माँ बोली, "पचास रुपए की तो बात ही क्या है पाँच पैसे भी नहीं मिल सकते तुझे।"

"नहीं मिल सकते?"

"नहीं मिल सकते, बिलकुल नहीं।"

"तो...तो मैं बिना टिकट ही चला जाऊँगा।"

"क्या कहा?"

"जाऊँगा और जरूर जाऊँगा।"

माँ अपने इस बेटे को पहचानती थी। डर गई। बोली, "चले जाना। पर उनके आने के बाद और उनसे ही कह कर जाना कि मैं बिना टिकट जा रहा हूँ।"

छवि बोला, "मुझे किसी से कहने-सुनने की जरूरत नहीं है। कहती रहना, मैं तो जाता हूँ।"

"जाकर तो देख।" कहकर ममतामयी ने छवि का हाथ पकड़ा तो छवि एक ही झटके में हाथ छुड़ा बाहर की तरफ चल दिया और तब उसे पता चला कि अब वह पहले वाला छवि नहीं है जिसे वह पैरों पर बैठाकर नहलाया करती थी। ममतामयी का कलेजा धक् से रह गया। और तो उसे कुछ सूझा नहीं ज़ोर से चीख़ कर बहू को पुकार उठी। छलनामयी दौड़ी हुई आई और अपनी हांपती हुई सास को टक भर कर देखने लगी। ममतामयी खयाल में छवि को दूर-दूर जाता देख रही थी। गुस्से में थी और दुखी भी, सो सारा गुस्सा सामने खड़ी बहू पर निकाल

बैठी। बोली, "कलमुँही, खड़ी मेरा मुँह क्या देख रही है, छवि बिना टिकट अजमेर जाने को घर से निकल पड़ा है। रोक उसे। या यही इच्छा है कि वह घर से एक बार ही कहीं निकल जाये और तुम दोनों मियां-बीवी गुलछर्रे उड़ाओ।"

छलनामयी और तो कुछ नहीं समझी। बस इतना ही समझ में आया कि देवर जी माँ से लड़कर घर से निकले हैं और उन्हें रोकना है। अठारह-उन्नीस साल की यह छलनामयी बहुत बुद्धिमती है। कभी सोचने में समय खराब नहीं करती। हमेशा अपने परिवार के लिए जो भी उचित होता है करती ही रहती है।

और उस समय भी उसने पल भी खराब नहीं किया। झपटकर बाहर को निकल गई। देवर जी सदर दरवाज़े की चौखट पर दुविधा में खड़े थे, या शायद सोच रहे थे कि देखें कौन मनाने आता है। भाभी को देखा तो झट अपने रुके पैरों में गति भर दी। पग दो क़दम ही चले होंगे कि छलनामयी ने कलाई पकड़ हँसते हुए कहा, "कहिए देवर जी, आज कौन-से नये उपद्रव का सूत्रपात हुआ है। सुना है कहीं जाने का इरादा है।"

"जा तो रहा हूँ।" छवि ने कलाई छुड़ाकर कहा।

"कहाँ ?"

"अजमेर।" विरक्त भाव का सफल प्रदर्शन कर छवि बोला।

"क्या अकेले ?"

"नहीं, और दोस्त भी साथ हैं।"

पैसा नहीं चाहिये शायद ?"

"मेरे लिये इस घर में कुछ नहीं है, यह घर मेरा नहीं है, मैं अब फिर कभी वापिस नहीं आऊँगा।" छवि का कण्ठ यह कहते-कहते रुँध गया।

छलनामयी जोर से हँस पड़ी। इस बार उसकी हँसी में इतना स्वच्छ परिहास था कि छवि अन्दर-ही-अन्दर क्रुद्ध जाने के बावजूद मंत्रमुग्ध भाभी को देखता रह गया। फिर जरा सतर्क हो लगभग गद्‌गद् कण्ठ से बोला, "मैं तुमसे सच कहता हूँ। मैं फिर कभी इस घर में वापिस नहीं आऊँगा।"

छलनामयी ने हँसते-हसँते ही कहा, "अच्छा-अच्छा मत आना। पर कुछ खा-पीकर जाना। चलो भई, जल्दी चलो। सब्ज़ी चढ़ाकर आई हूँ, कहीं जल गई तो मेरे मुँह पर मारोगे।"

कहते-कहते छलनामयी ने छवि की कमीज का पल्ला पकड़ा और आगे क़दम बढ़ा दिये। पल में ही छवि का सारा प्रतिरोध घुल गया और वह चुपचाप भाभी के पीछे कमरे में चला आया। कमरे में छलनामयी ने एक चारपाई पर उसे बैठा दिया और हँसकर सास से बोली, "बड़े जिद्दी हैं हमारे देवर जी माँजी, अब इनका ब्याह कर दो। ये ऐसे मानने वाले नहीं हैं।"

माँ बोली, "तुझसे तो देख कैसा भला-सा चला आया। दुश्मन तो मैं ही हूँ इस घर में। मुझसे ही इसका कलेजा फुँकता है।"

छवि बोला, "हाँ, है।"

छलनामयी हँसती हुई रसोई की तरफ़ बढ़ गई। माँ भीतर के कमरे की तरफ़ और छवि चुपचाप खाट पर लेट गया। लेटे-लेटे सोचने लगा—न जाने भाभी में क्या है कि मैं इससे इतना डरता हूँ। पता नहीं क्यों मैं इसकी कोई भी बात टाल नहीं सकता। माँ की, जो इतना प्यार करती है, हर बात कितनी आसानी से टाल जाता हूँ, और इसकी मज़ाक में कही बात को भी

पूरा करने को मन करता है। माँ न जाने क्या सोचती होंगी ? पता नहीं कैसा मन है मेरा। सपनों में और लेटे-लेटे माँ की तरह-तरह से सेवा करता हूँ। तरह-तरह के प्रोग्राम बनाया करता हूँ। माँ को वहाँ-वहाँ घुमाने ले जाऊँगा। रास्ते की भीड़भाड़ से बचाने का मन-ही-मन कैसा-कैसा अभ्यास करता हूँ। कभी-कभी यह भी सोचा है कि ब्याह नहीं करूँगा। जब तक माँ जीवित रहेंगी उनकी सेवा करूँगा। भाई ने कर लिया, मैं भी कर लूँगा तो फिर पिता जी और माँ की सेवा कौन करेगा। न जाने किस दिन भैया भाभी को लेकर अलग हो जायें और ये दो बूढ़े जन निराश्रित रह जायें। बहुओं का क्या है। मेरी आये और कहीं वैसी ही आ जाये जैसी कि अकसर होती हैं तो फिर क्या होगा ? नहीं-नहीं, मेरे रहते माँ-बाप तकलीफ़ नहीं उठा सकते। मैं उन्हें हर तरह का सुख दूँगा। माँ को तो रोज शाम को बाग में घुमाने ले जाया करूँगा। धीरे-धीरे माँ मेरा हाथ पकड़ कर चला करेगी और किनारे-किनारे मैं उसे दुनिया की नई-नई खबरें सुनाता हुआ चलूँगा। माँ खूब खुश हुआ करेगी। पर बाग के नज़दीक पहुँच कर अचानक कहेगी कि, 'छवि बेटा, मैं अपना पान का डिब्बा तो घर ही भूल आई!'

मैं कहूँगा, 'तो ?'

'तो क्या, अरे थक गई, अब वापस कैसे जाऊँगी, वहाँ तो कोई दुकान भी नहीं है।'

'हाँ, यहाँ तो नहीं है। पर घर पर तो है ही। वहीं पहुँचकर खा लेना पान।'

माँ कहेगी, जरा गुस्से से, 'बड़ा भोला बन रहा है। बिना पान तो मुझ से दो क़दम न चला जायेगा।'

मैं कहूँगा, 'तो रात यहीं बिता देना। बड़ी अच्छी जगह है।'

'और तू ?'

'मैं बिना पान खाये चल सकता हूँ।'

'तू मुझे यहीं छोड़ जायेगा ?'

'हर्ज़ क्या है ?'

माँ की आँखों में आँसू भर आयेंगे। वह मुझे खूब सारी गालियाँ देगी, कहेगी, 'निर्दयी, नीच, मैं फिर कभी तेरे साथ नहीं आऊँगी, तू जा, मैं किसी और के सहारे चली जाऊँगी।'

और तभी बिजली की तरह अपने दोनों मजबूत हाथों से मैं माँ को गोद में उठा लूँगा और कहूँगा, 'रह माँ रह, जिसके दो-दो सपूत सहारा देने को हों, उसे किसी और के सारे की भला क्या जरूरत है।'

पर जो आज तक वह माँ को कह पाया है वह तो यह कि 'मैं तेरी एक बात न सुनूँगा, कोई बात न मानूँगा, क्योंकि मैं तुझसे चाह कर भी प्यार नहीं कर पाता, बस घिन कर पाता हूँ।'

छलनामयी ने जब छवि को खाने के लिए बुलाया तो वह लगभग उनींदा हो आया था। उठकर उसने खाना खाया। भाभी से चुप-चुप अपनी अजमेर जाने की इच्छा प्रगट की। तत्काल ही दस-दस रुपये के पाँच नोट उसके हाथ में आ गये और बिस्तर कपड़े निकल गये। माँ, जो शायद सो गई थी जब जगाई गई तो छवि की सब तैयारी पूरी हो चुकी थी। ममतामयी उठकर बाहर के कमरे में आई तो बीच कमरे में बिस्तर अटैची रखी देख आग-बबूला हो गई। बहू से बोली, "जान पड़ता है, रानी जी ने जाने की इजाज़त दे दी है साहब को।"

छलनामयी बोली, "चलो माँ जी, खाना खा लो, कब से ठंडा हो रहा है।"

"अरी, पर यह सब क्या है ?"

"देवर जी अजमेर जा रहे हैं।"

"अजमेर जा रहे हैं ?"

"हाँ।"

"किसी से कुछ पूछने की ज़रूरत नहीं क्या तुम दोनों को ?"

"मैं कह दूँगी पिताजी से, अब चलो, खाना खा लो।"

ममतामयी ने बच्चों की तरह हठ करके कहा, "पहले तू यह बिस्तर खोल दे, खाना मैं तब खाऊँगी।"

"इतने मैं बिस्तर खोलूँगी, खाना ठंडा हो जायेगा। खाना खा लो फिर जो कहोगी कर दूँगी।"

"नहीं, पहले इसे खोल दे, खाना मैं बाद में खाऊँगी। मैं अपने रवि का पैसा यूँ नहीं लुटने दूँगी।"

इस बार छलनामयी जरा कठिन स्वर में बोली, "बिस्तर खोलने के लिए मत कहो माँ जी, तुम्हारे बेटे का एक भी पैसा मैंने नहीं लिया है।

"बेटे का पैसा नहीं लोगी तो क्या आसमान से टपकेंगे पैसे।"

"मैंने रुपये दे दिये हैं।"

"पर आये कहाँ से ?"

अब तक ममतामयी की ममता क्रोध की चट्टान तोड़ कर ऊपर छलक आई थी। उसका स्वर भीग उठा था। छलनामयी ने भी तत्काल ही सास के भीगे स्वर को भाँप लिया, विनती-सी करती हुई बोली, "मेरे रखे थे, 'भैया दोज', 'राखी' के।"

"तो क्या सब देना होगा ?"

"नहीं, बस आधे।"

छलकती आँखों से ममतामयी ने बहू की तरफ़ देखा, फिर बोली, "इस लड़के को मेरे हाथों से छीने ले रही हो बहूरानी, पछताओगी। वह बहुत धूर्त्त है, तुम उसकी डोर कस न सकोगी।"

छलनामयी कुछ न बोली, सिर्फ हँस दी।

ममतामयी फिर बोली, "चलो, भला ही हुआ, मेरी चिन्ता मिट गई। सोचा करती थी, न जाने मरने के बाद इसकी कौन खोज-खबर रखेगा। पर बहू, जरा डोर खींचे ही रखना। कहीं इतना प्यार न कर बैठना कि एक दम हाथ से निकल जाए।"

छलनामयी इस बार भी हँस दी, फिर बोली, "चलो न माँ जी, खाना ठंडा हुआ जाता है।"

ममतामयी खुशी-खुशी आगे हो ली, साथ ही कहती गई, "चल बाबा चल, तू मुझे चैन नहीं लेने देगी। न जाने किसने तेरा नाम रख दिया छलनामयी और मेरा ममतामयी ! उलट न दिया मुए ने··· वाह री लड़की, देखी तेरी दानशीलता। इतना भी ध्यान न रखा कि कल को तेरे भी अड़-भीड़ पड़ने वाली है। दे डाले पचास रुपए उसे।" और दोनों सास बहू रसोईघर में घुस बरतन खटखटाने लगीं।

छविनाथ चला गया। रात को पिताजी ने जब गुस्सा होने की कोशिश की तो ममतामयी ने छलनामयी को आगे कर दिया और सब शान्त हो गया। ममतामयी ने पति को ताना देते हुए कहा, "बस, मुझ पर ही धौंस चलती है तुम्हारी, बहू के सामने तो भीगी बिल्ली बन जाते हो।"

पति बस मुस्करा भर दिये।

और रात के साढ़े दस बजे जब छलनामयी ने पति के कमरे में प्रवेश किया तो रवि बाबू उछलकर पत्नी की कलाई थाम बोले, "आइए देवी जी, पुराणों में लिखा है, त्रिया चरित्रं पुरुषस्य भाग्यं देवो...इत्यादि-इत्यादि, सुनो जी, कुछ जादू-टोना तो नहीं सीखकर आई थीं पिता के घर से।"

और छलनामयी छल से कलाई छुड़ा बोली, "छोड़ो बाबा, नींद लगी है, सोने दो।"

3

रेल निश्चित दिशा में निश्चित गति से बढ़ी चली जा रही थी। पर छविनाथ की स्मृतियों का कोई क्रम न था। कुछ ऐसी ही उनकी गति थी जैसे किसी ने ए बी सी डी को सी बी डी ए करके रख दिया हो और करने वाला स्वयं परेशान हो कि इन्हें संगवाया कैसे जाए।

कालिज से आकर छवि बैठा ही था कि माँ बोली, "छवि, तुझे नाना के यहाँ गाँव जाना होगा।"

छवि बोला, "मैं नहीं जाऊँगा।"

"कैसे नहीं जाएगा ?"

"नहीं जाऊँगा, बस।"

"अरे शादी है वहाँ, रवि को छुट्टी नहीं मिल रही है, तू नहीं जाएगा तो कौन जाएगा।"

छवि बोला, "शादी है ?"

"हाँ।"

"किसकी, नाना की ?"

ममतामयी को छवि की इसी तरह की बातों से नफ़रत है। अपने दोनों हाथों को उसकी तरफ़ उछाल कर बोली, "छवि, तू मर क्यों नहीं जाता ?"

छवि ने हँसकर कहा, "माँ मरने नहीं देती। पर छोड़, यह बता ब्याह किसका है ?"

"जसोदा का।"

"जसोदा का! अरे माँ, सच बता ?"

"सच नहीं तो क्या!"

"पर माँ वह तो इत्ती-सी थी, उसका ब्याह होने वाला है ?"

ममतामयी को भी हँसी आ गई, बोली, "बात न बना बड़े-बूढ़े, जब वह इतनी-सी थी, तब तू भी इतना-सा ही था। आज वह भी तेरी ही तरह खूब लंब-तड़ंग हो गई होगी, काठी उसकी भी मज़बूत थी।"

छवि बोला, "उंह, मज़बूत थी, खूब पीटा है मैंने उसे।"

"आँ-हाँ, वह मुझे मालूम है, पर अब कहीं जाकर उसे पीटना शुरू न कर देना समझे ।"

छवि बातों में रस ले रहा था, बोला, "अरे, पीटना न सही, पर उसके उन पति मियाँ को यह तो बताना ही होगा कि उनकी इस पत्नी की मैंने खूब मरम्मत बनाई है ।"

ममतामयी माथे पर हाथ मार कर बोली, "कैसी बातें करता है छवि, ये बात वहाँ जाकर मत करना ।"

"जाकर, कहाँ जाकर ?" छवि झटपट जैसे कुछ याद आ जाने पर बोला ।

"गाँव, ब्याह में ।"

"पर जा कौन रहा है ?"

"तू, और कौन !"

"नहीं, मैं नहीं जाऊँगा । मेरे पास एक भी दिन खोने के लिए नहीं है । परीक्षा पास आ रही है ।"

"पर अभी तो··· ।"

"अभी तो क्या, कह नहीं दिया कि मैं नहीं जाऊँगा । बस, मुझे और परेशान न करना, समझीं ।"

ममतामयी सपूत को ताकती-की-ताकती रह गई । उसको कुछ भी समझ नहीं आया इस सोलह-सत्रह साल के लड़के में कितना छल भरा पड़ा है । उसको वह हाथ में बाट होते भी तोल नहीं सकी । पल-पल में इसकी मति बदलती है । कहीं यह हाथों से सरका तो नहीं जा रहा, या कुछ भूत-प्रेत तो इसके दिमाग़ पर नहीं छा गया, या घर में मिले ढेर से लाड़-प्यार का ही यह नतीज़ा है ? उसने जरा मुख पर अतिरिक्त क्रोध लाकर कहा, "तू नहीं जाएगा ?"

छवि चुप बना अपनी किताबों को उलटता-पलटता रहा, कुछ नहीं बोला ।

माँ ने गुस्से में तम-तमाकर कहा, "आने दे उनको, कहूँगी कि छवि वहाँ जाने को मना करता है । उन्होंने ही कहा था कि छवि को भेज देना ।"

छवि बोला, "कह देना, पर मेरा सिर न खाओ माँ, मुझे पढ़ना है ।"

ममतामयी दिमाग़ खोती जा रही थी, झींककर बोली, "उफ़, यह लड़का इतना दुत्कारने योग्य हो जाएगा यह मैंने कभी सोचा भी न था । मुँह पर देखो कैसा भोलापन टपकता है पर अन्दर विष भरा पड़ा है ।"

ममतामयी सम्पूर्ण शरीर से क्रोध अभिव्यक्त करने लगी, पर छविनाथ निश्चल बैठा रहा । हाथ उसके किताबों से खेल रहे थे और चेहरा लगभग भावहीन था । पर उस स्तब्ध सतह के नीचे का पता भगवान या भाग्यवान ही जान सकता था ।

और होनी को कौन टाल सका है । घंटे नहीं बीते कि छवि जसोदा की शादी में शामिल होने चला जा रहा था । रेल में । पीछे की तरफ़ जहाँ से वह कुछ सालों पहले चला आया था ।

जसोदा ममतामयी की दूर की रिश्तेदार थी । अक्सर वह छवि के नाना के यहाँ आया करती । ख़ास कर गर्मियों में आम के मौसम पर । छवि की गर्मियों की छुट्टियाँ गाँव में ही बीता करती थीं । छवि को गाँव भाता भी खूब था । हरे-हरे खेतों को अपने छोटे-छोटे पैरों से रौंदता वह ऐसे घूमता जैसे माँ की गोद में शिशु, जिसको इस बात की रत्ती भर चिन्ता न हो कि माँ की कीमती साड़ी में उसके कारण सिलवटें पड़ रही हैं । ऊँचे-ऊँचे पेड़ों पर ऐसे चढ़ता जैसे कोई

शिशु-पक्षी जिसके कि डैने अभी खूब मज़बूत नहीं हुए हैं पर जो ऊँचे-ऊँचे आकाश के सबसे ऊँचे छोर तक पहुँचने का अभिलाषी है। चढ़ते-चढ़ते जब थक जाता तो दो शाखाओं के समन्वय पर जमकर, पैर लटकाकर, बैठ जाता। पत्तों में अपने को छिपा लेता और राहियों के सिरों पर कच्चे आमों का पक्का प्रहार करता। गालियाँ सहर्ष स्वीकार करता और एक ही हँसी के ठहाके से शरीर की समूची थकान शरीर से बाहर निकाल देता। पास-पड़ोस के लोग कहा करते कि माँ और बाप तो बेचारे बोलना तक नहीं जानते पर बेटा तो खूब छप्पर-कूद हुआ है। पर इस सबसे उस नन्हीं-सी चिड़िया के उड़ने पर कोई असर न होता, वह उड़े चलता, बढ़े चलता।

हर बार जब वे गाँव पहुँचते तो घर का ताला खोल कर भीतर घुसते या मुट्ठी भर की नानी को बीच चौक में एक छोटी-सी चारपाई पर चिलम फूँकते पाते। पर उस बार जब पहुँचे तो घर में खूब चहल-पहल थी। पाँच-सात छोटे-बड़े बच्चे कच्चे आमों के छिलकों से घर को गंदा करने में लगे थे और रसोईघर में, उसकी माँ की उमर की एक स्त्री खाना बना रही थी। रसोई में धुआँ था इसलिए चेहरा साफ नहीं दीखता था पर इतना तो लगता ही था कि वह साधारण ग्रामीण स्त्रिओं से अधिक सुन्दर और साफ-सुथरी है और काम करने के उसके ढंग में ग्रामीणता नहीं है। नानी का पहले तो कहीं खोज ही नहीं मिला पर बाद में तीदरी के एक अँधेरे कोने में उसकी चारपाई समुद्र मे टापू की तरह खोज निकाली गई। ममतामयी पल को ठिठकी, कुछ नहीं बोली, उस स्त्री को पहिचानने की चेष्टा करती रही। अब तक वह भी रसोईघर से निकलकर प्रकाश में आ गई थी। धोती के पल्ले से गीले हाथ पोंछते-पोंछते बोली, "क्या पहिचाना नहीं बहना ?"

ममतामयी ने आश्चर्य और आह्लाद से प्रफुल्ल होकर कहा, "कौन, क्या सावित्री ?"

"हाँ-हाँ, सावित्री ?"

आगे का दृश्य जरा आवश्यकता से अधिक मार्मिक हो उठा। पता नहीं कितने बरसों के बाद दोनों सहेलियाँ मिली थीं। सावित्री नानी की भतीजी थी पर पति समेत पिता के घर ही रहती थी बरसों-बरस पहले जब ममतामयी अपने नाना के यहाँ साल भर रहकर आई थी तो दोनों धर्म-बहिन व सखी बनने का विधान सविधि सम्पन्न कर चुकी थीं। फिर दोनों की शादियाँ हो गईं और पढ़ना-लिखना क्योंकि दोनों में से कोई भी नहीं जानती थी इससे बेचारी लाचार रहीं। दोनों को दोनों की याद आती थी और आकर रह जाती थी। भारतीय ग्रामीण अनपढ़ नारी कैसे अपने हृदय का हाल दूर बैठी अपनी सखी को भेजे इसका आविष्कार तब तक नहीं हुआ था और किसी और से पत्र लिखवाना एकदम असम्भव था। क्योंकि सखी को जो लिखना होता है उसे तो कोई हवा से भी नहीं कह सकता, जुबान पर लाने की तो बात ही क्या है। आज इतनी मुद्दत के बाद दोनों मिली थीं, रोना फूट-फूटकर बह निकला। दोनों खड़े-ही-खड़े खूब रोईं और नानी यदि फटकार न बताती तो जाने कब तक रोती रहतीं। फिर बैठकर दोनों ने लाने-उलाहने देना शुरू किया। काफी देर तक रूठना और मनाना चलता रहा। फिर बच्चों की बातें हुईं और फिर जो बातें होने को हुई तो झट सावित्री बोल उठी, "चैन से बैठकर बताऊँगी सब रानी, और सब सुनूँगी भी। देखूँ शायद मेरी सब्ज़ी जल गई है।"

दोनों ने बात स्वीकार की और हँस दीं। उस हँसी ने पल को उनके मुख से प्रौढ़ता हटाकर यौवन बिखरा दिया।

छवि बाबू नानी के पास पहुँचे और अपना परिचित कार्यक्रम शुरू कर दिया, बोले "नानी,

तेरा नाम क्या है ?"

नानी ने पोपले मुँह से हँसकर कहा, "सुरती !"

"नानी, सुरती सुपारी ?"

नानी ने चिलम उठाकर मारने का अभिनय किया। चेहरे पर क्रोध ले आई, चेहरे की झुर्रिया पल को साफ-सी हुई दीखी और तनकर बोली, "मारूँगी।"

छवि खिलखिल करके हँस दिया। हँसते-हँसते बोला, "सुरती सुपारी।"

और नानी और भी क्रोध से बोली, "मारूँगी, मार डालूँगी।"

छवि हँसा, नानी ने क्रोध का तापमान और जरा ऊँचा किया। छवि और जोर से हँसा और नानी और जोर से क्रोध करने लगी। और, बहाव उस सीमा तक पहुँचा कि नानी का घड़ा फूट गया। झपटकर उन्होंने छवि को अपनी गोद में घसीट लिया औ मुँह से हुचक-हुचककर हँसते हुए दो-चार बार छवि को चूमकर बोली, "पूरे साल भर बाद तो याद करता है मुझे और अब लाड़ दिखाता है।" कहते-कहते नानी की आँखों में आँसू भर आए। छवि अब तक जमकर नानी की गोद में बैठ चुका था और और इधर-उधर टटोला-टटोली करने लगा था। तभी उसे एक छोटी-सी लड़की नानी की चारपाई के पाँयते खड़ी दीखी। वह खड़ी-खड़ी अपनी छोटी-सी धोती का पल्ला चबा रही थी। बाल बिखरे थे। वैसे पीछे चुटिया में गाँठ बँधी थी पर छोटे-छोटे, उच्छृंखल बालों को बाँध रखने की सामर्थ्य शायद उस चुटिया के धागे में नहीं थी।

छवि ने पूछा, "नानी, यह कौन है ?"

नानी ने कहा, "जसोदा, वह जो उधर खाना बना रही है ना, वह इसकी माँ है और सुन, तेरी यह रिश्ते में बहिन होती है।"

"कुछ खेलना-वेलना जानती है ?"

नानी हँस दी, "जानती क्यों नहीं ! बड़ी तेज भागती है। बाग से आम बीनकर लाती है और काम पड़ने पर उस छोटी-सी बाल्टी में कुएं से पानी भी भर लाती है।"

"अच्छा, तो कह न नानी इससे कि चलकर मेरे साथ खेले।"

नानी ने इजाज़त दे दी और छवि तेजी से और जसोदा संकोच से बाहर निकल गए।

जीवन की दौड़धूप में कौन कहाँ अटक कर रह जाता है और कौन पार उतर जाता है, इसका कुछ पता नहीं चलता। छवि होनहार बालक था। उसके माता-पिता की तो बात ही क्या है पास-पड़ोस तक के लोग उसे चाहते थे, उसके खूब गुण गाया करते थे। यह तब की बात है जब वह दस साल का था। उसमे कई गुण असाधारण थे। दूसरों के लिये अपनी चीजों को दे डालने की उसकी प्रवृत्ति विशेष रूप से सराहनीय थी। पढ़ाई में वह खूब तेज था। दस साल की उमर में पाँचवीं पार कर गया था और खूब साहसी भी था। बड़ी-से बडी चोट उसे रुलाने में असमर्थ थी, घुप-से घुप अँधेरे उसके हदय को कँपा नहीं पाते थे। जिस काम को वह करना चाहता था, चाहे वह कितना ही दुष्कर क्यों न हो, कोई रोक नहीं सकता था। एक बार घर के सामने वाले नाले में एक बिल्ली का बच्चा कहीं से आकर किनारे पड़े एक झाड़ में अटक गया। उसकी उमर से बड़े लड़के किनारे की रेलिंग को पकड़े खड़े देखते रहे। सर्दी के दिन थे और नाले का पानी खूब ठंडा था। उस छोटेपन में भी उस बिल्ली के बच्चे की म्याऊँ-म्याऊँ का दर्द छविनाथ चीन्ह सका ओर नाले में कूद कर उस बच्चे को उठा लाया। फिर कहीं से एक टोकरी, कुछ रद्दी कागज और दियासलाई सजोकर उस अचेतप्राय बच्चे को उसने गर्मी दी। खूब देर

तक उसे सेंका गया। अपने दिन के पैसों से दूध लाकर पिलाया गया ओर जब तक वह भागकर उसकी आँखों से ओझल नहीं हो गया, वह उसको देखता खड़ा रहा। पाप-पुण्य समझने की छवि की वह उमर नहीं थी, वह बड़ा भारी सत्कर्म कर रहा है ऐसा भी उसको भान नहीं था। उसे तो डर ही लगा था कि कहीं माँ ने सुन लिया तो उसे खूब मारेंगी। इसी से सब काम छिप-छिपकर हुआ था और जब उसे पता चला कि माँ को खबर मिल गई है तो घंटों वह घर में नहीं घुसा था। फिर यह सब उसने क्यों किया इसका ठीक विश्लेषण कैसे किया जा सकता है। ऊपरी दृष्टि से देखने पर काम भले होने में कोई संदेह नहीं है। भीतर क्या था राम जाने। हो सकता है मात्र सनक रही हो, या अपने को दोस्तों के सामने बड़ा कर दिखाने की अभिलाषा ने ही वैसा कराया हो। या दोस्तों की आंखों में चुनौती का भाव देकर ही वह कूद पड़ा हो। पर यह तय था कि था वह खूब साहसी।

अब उसी दिन शाम को जिस दिन छवि का परिचय जसोदा से कराया गया, जसोदा खूब रोती-धोती घर में घुसी। उसकी कोहनी में खुरेंच आ गई थी और उसके सब कपड़े धूल में सने थे। बालों को ऐसा कर दिया गया था जैसे किसी ने गिनने के लिए अलग-अलग किया हो। ममतामयी ने उसे ऐसे विरह-वेश में आते देखा तो धक्-से रह गई। सावित्री भी बाहर निकल आई। पूछताछ शुरू हुई तो पता चला कि छवि ने ही जसोदा रानी की यह गति बनाई है।

ममतामयी ने पूछा, "क्यों मारा, कह तो।"

जसोदा ने कहा, "वह मुदे निंबौलियाँ तुनने को कहता था, मैंने मना तल दिया।"

"फिर ?"

"उसने मुदे एक मुक्का माला और मैंने तह दिया—तेली मां मोती।"

सावित्री पास खड़ी थी और सबसे कुछ ही दूर पर खड़ा था छवि। सावित्री तो कहकर कि, 'अच्छा ही तो हुआ' और कह, तेरी माँ मोटी, अन्दर को चल दी। पर ममतामयी को छवि पर इतना क्रोध आया कि वह अपने को बस में न रख सकी। जल्दी से उठी और छवि को पकड ऐसे धुनने लगी जैसे कपड़े को धोबी। और इतने सावित्री आकर दोनों के बीच पड़े कि छवि बाबू को भले से सौभाग्य का सामना करना पड़ गया। सावित्री तिलमिला उठी। और तो उसे कुछ सूझा नहीं, छवि को छुड़ा उसने अपने पीछे किया और दो खूब जोरों की चपत जसोदा को जड़ दीं। कहकर कि पिटना किसको चाहिए था और पिट कौन गया। तत्काल ही ममतामयी ने जसोदा को अपने पीछे कर लिया और अब स्थिति यों हो गई कि छवि और जसोदा तो आड़ में आ गए और ममतामयी और सावित्री में वाग्-युद्ध प्रारम्भ हो गया।

सावित्री बोली, "बच्चों को इस तरह मारा जाता है ?"

ममतामयी ने अपने काम का समर्थन किया, "वह इसी क़ाबिल है!"

"क़ाबिल है, उसने क्या किया है, वह तो निर्दोष पिट गया, पिटना तो उसे चाहिए था जो तेरे पीछे खड़ी है और जाने क्या-क्या ऊल-जलूल बकती फिरती है।"

"अरे तो उसने छवि को क्या कहा था। कहा था मुझे और फिर उसे मारने का क्या हक है। तू जरा हट सामने से, देख तो, मैं इसे कैसा मजा चखाती हूँ।"

"हाँ-हाँ, चखाती है। उस अपनी निठल्ली से कहला तो सही जो उसने पहले कहा था, फिर देख छवि से ही उसे कैसा पिटवाती हूँ।"

"अच्छा ?"

"हूँ।"

"जसोदा, कह तो बेटी इस छवि से—तेरी माँ मोटी।"

पर जैसे ही ममतामयी ने पीछे मुड़कर देखा तो जसोदा को नदारद पाया। दुश्मन के मुद्दई को नदारद पा सावित्री ने भी अपने पीछे मुड़कर देखा—छवि भी गायब। दोनों माँओं ने अपने शंकित नेत्र चारों दिशाओं में फैला दिए और दोनों के मुँह से एक ही स्वर में निकल पड़ा, "अरे, पकड़ो तो इन चोरों को।"

दोनों ने देखा कि आमों वाली कोठरी में से दोनों एक-एक आम अपने-अपने हाथ में दबाए धीरे-धीरे बाहर खिसके जा रहे हैं।

सावित्री ने कहा, "पकड़ो।"

और स्वर के साथ ही छवि छलांग मार कर चौखट पार और पी-पीछे ही जसोदा की धोती का पल्ला भी अन्तर्धान! सावित्री और ममतामयी दोनों खिल-खिलाकर हँस पड़ीं। पोपले मुँह वाली नानी भी पल को उसने भी मुँह से चिलम हटा ली। शायद इस घटना का स्वाद उस चिलम से अधिक स्वादिष्ट था।

4

तीन-चार दिन बाद तो एक भारी-सा उपद्रव मच उठा। छवि के नाना बाहर से सीधे रसोई के पास पहुँचे और दोनों हाथ फेंककर बोले, "ममता, तू अपने सामान-सपूतों को सँभाल और आज ही यहाँ से चली जा।"

ममतामयी अपने पिता को पहचानती थी। हँस कर बोली, "क्या हुआ ?"

"हुआ कुछ नहीं, बस चली जा।"

नानी दूर बैठी चिलम पी रही थी, वहीं से बोली, "क्या त्यौहार के दिन 'चली जा, चली जा' लगा रखी है। कुछ बात भी हुई।"

"करम फूट गए, आँखों की पुतलियाँ खोपड़ी में चढ़ गई।"

नानी बोली, "ममता, तू अपना काम किए जा। कुछ न सुना। करम फूट गए, आँखें आसमान पर चढ़ गई, सितारे उलट गए। न जाने क्या-क्या होगा अभी तो। यही सुनते-सुनते मुई कमर टूट गई।"

ममता ने हँसकर हाथ काम पर लगा दिए।

नाना तिलमिला उठे। झल्लाकर बोले, "हाँ-हाँ, मैं तो श्वान हूँ ना, जो भौंकता रहूँगा और तुम ठहरीं रानी महारानी, बैठी काम किया करोगी।"

ममता बोली, "जब तक बात नहीं बताते, तब तक यही सही।"

"अरे बताऊँ क्या, बात बताने की हो तो बताऊँ भी। मैं तो धक् रह गया। छाती में अब तक घुड़दौड़-सी हो रही है। वह जो तेरा सपूत है ना छवि, उसके काले करतब हमारा मुँह भी काला करके रहेंगे। वह प्रेस वाला हमें खा जाएगा।"

"क्या किया है छवि ने ?" नानी ने पूछा।

"अरी क्या बताऊँ, डौल-डौल बड़े बाग जा रहा था तो वह जो खचेड़ वाला आम है ना, उस पर निगाह मारी तो देखा कि उसकी सबसे ऊँची चोटी पर दिखा छवि। वह जो आसमान

को छूती खड़ी है। अच्छे बड़े बालदी के लड़के उस चोटी तक पहुँचने की हिम्मत नहीं रखते और वह उस पर ऐसे बैठा था जैसे चौकी पर नरसी भगत। मैं तो वहीं से दौड़ा चला आ रहा हूँ और रास्ते भर यही कहता चला आ रहा हूँ कि आज ममता को शहर भेज कर ही दम लूँगा। पर आज तो त्योहार है, तू अपना सामान तैयार कर ले, मैं कल तुझे भेज दूँगा। मैं अब तुझे नहीं रख सकता।"

उत्तर ममता ने नहीं, नानी ने दिया, "लाज शरम तो कुछ है नहीं और ज़बान है गज भर की। बड़ा आया है भेजने वाला। लड़के को देखा और भागकर यहाँ कहने चला आया। यह नहीं हुआ कि ऊपर से उतारकर उसे साथ लेता आता। अच्छा, अब दिमाग़ न चाट, बाहर हुक्का पी जाकर। जिससे कुछ होता-जाता नहीं, उसकी बस ज़बान चलती है।"

नाना चुपचाप फटकार खाकर बाहर चले गए और सब लोग अपने-अपने काम में लग गए।

कोई घंटे बाद छवि, जसोदा और रवि घर में घुसे। ममतामयी गुस्से में तो थी ही, उठकर छवि के पास आ, उसे कान से पकड़ बोली, "क्यों रे, कहाँ से आया है ?"

छवि को समझ न पड़ा। घूमकर भाई की तरफ़ देखा। रवि भी कुछ न समझा। उसने माँ की तरफ़ देखा। दोनों को दिखा कि माँ खूब गुस्से में हैं, पर क्यों गुस्से में हैं, कुछ समझ नहीं आया। छवि ने माँ के कान पर के हाथ पर अपना हाथ जमाया और बोला, "बाग में गया था।"

"आम तोड़े थे ?"

"हाँ।"

"नीचे से ही आम तोड़ लिए थे ?"

छवि को अपनी पेड पर फुर्ती से चढ़ने की कला पर बड़ा गर्व था, तपाक से बोला. "नहीं माँ, ऊपर चढ़कर।"

"और मैंने जो ऊपर चढ़ने को मना किया था ?"

छवि चुप।

"सुना नहीं क्या, क्यों चढ़ा ऊपर ?"

छवि फिर भी चुप।

ममता लाल हो आई, "बस, अब ऐसे चुप हो जाएगा जैसे मुँह में ज़बान ही नहीं है। मैं पूछती हूँ, किसने कहा था तुझसे ऊपर चढ़ने को।"

छवि अब भी चुप था, रवि भी चुप था। पर जसोदा तपाक से बोल उठी, "मैंने कहा था, मैंने कहा था कि मुझे वह आम तोड़ दे।"

सावित्री अब तक चुप थी, अब उसकी बारी आई। उसने जसोदा का कान जा पकड़ा, "क्यों री, आप खाए बिना तुझे सरता ही नहीं और अगर लड़के को कुछ हो जाता तो तेरा क्या अचार पड़ता।"

ममतामयी ने छविनाथ को पीटना शुरू किया और सावित्री ने जसोदा को। दोनों को खूब मार पड़ी। बूढ़ी नानी खाट पर से उतरकर चीखती-चिल्लाती पास आई और दोनों माताओं से संघर्ष करने लगी। पर बेचारी बुढ़िया क्या कर पाती। बच्चों को अपने पीछे करती तो एक को बचाते तो दूसरा क़ाबू में आ जाता। वह जितना-जितना उन दोनों को रोकती उनकी मारते रहने की ज़िद बढ़ती चली जाती। बच्चों का रोते-रोते बुरा हाल हो चला था। बुढ़िया को जब

और कुछ नहीं सूझा तो जोर से सिर पीट उठी। दोनों हाथों से सिर पीटते हुए जोर-जोर से बोली, "लो, डायनो, उन बच्चों को छोड़ो, मुझे मारो, मुझे भी मारो। तुम पर जबानी चढ़ी है, आज उतार लो इसे और जब घर खाली हो जाए तो दीवालों से सिर फोड़ लेना। समझीं।"

कौशल काम आ गया। बुढ़िया के थर-थर काँपते शरीर को देखकर दोनों वीर माताओं का चंडीत्व पल में काफूर हो गया। सकपकाई-सी वे दोनों एक दूसरे को देखती रह गईं। बच्चों को छोड़ दोनों ने बुढ़िया के दोनों हाथ थाम लिए। फिर लगभग गोद में उठा उसे खाट की ओर ले चलीं। दोनों हतबुद्धि थीं और बुढ़िया मन-ही-मन मुस्करा रही थी। खाट पर पहुँचकर उसने दोनों को काम में लगने का हुक्म अता फरमाया और दोनों बच्चों को पास बुलाकर बैठा लिया। दोनों रो रहे थे। रवि तो पहले ही खिसक चुका था। नानी ने दोनों को पुचकारकर चुप किया और पास की किवाड़ी खोल, दो-दो पेड़े निकाल दोनों के हाथ में थमा दिए। फिर एक-एक बार दोनों को चूमा और धीमे से कहा, "जाओ, खेलो दोनों जाकर। थोड़ी देर में आ जाना, ऐं।"

बाहर पहुँचकर जसोदा ने कहा, "छवि, तेली माँ बहुत बुली है।"

छवि बोला, "और तेरी भी तो बुरी है।"

फिर पेड़ों का विचार शुरू हुआ। छवि का मत था कि मेरे पेड़े बड़े-बडे और जसोदा का मत था कि छवि के पेड़े उससे कुछ छोटे हैं। छवि चाहता था कि पेड़ों का अदला-बदला कर लिया जाए पर जसोदा का मत कुछ भिन्न था। छवि का एक पेड़ा वह लेना चाहती थी और अपना एक उसे देना चाहती थी। आखिर जसोदा की ही जीत हुई। एक-एक पेड़े का अदला-बदला हो गया और भोज प्रारम्भ हुआ। छवि तो पल में ही निवृत्त हो गया, पर जसोदा ने एक पेड़ा घंटों में ख़त्म किया और बाकी का एक न जाने कहाँ छिपा दिया। छवि को इसका तब तो कुछ पता न चला, पर अगले दिन जब फिर वे बाग में गए और छवि ने इच्छा प्रकट की कि वह जसोदा के लिए आम तोड़ने ऊपर जाए और जसोदा ने उसके कमीज का पल्ला पकड़ रोकना चाहा और वह नहीं रुका तो जसोदा बोली, "तू ऊपर नहीं जाएगा तो तुझे खाने को एक पेला मिलेगा।"

"पेड़ा? कहाँ से आया?"

"कल दो मिले थे, एक खाया, एक है।"

"झूठ बोलती है।"

पर जब जसोदा ने अपनी कुरती की जेब में से कल का एक पेड़ा निकालकर दिखा दिया तो छवि चकित रह गया। फिर बोला, "पर मैंने तो कल दो लिए थे, यह तो तेरा है।"

"फिर क्या हुआ, खा ले। पर ऊपर न चढ़, नहीं तो तेली माँ फिल तुझे मालेगी।"

"तू नहीं खाएगी।"

"तू दे देगा तो खा लूँगी।"

छवि उछलकर बोला, "तो आधा-आधा खाएँ।"

तुरन्त सहर्ष अनुमति मिली, "हाँ।"

और उस दिन छवि न तो पेड़ पर चढ़ा, न मार खाई।

5

गर्मियों की सुबह गाँव में बहुत भली लगती है। चौखट के बाहर खड़े नीम के पेड़ से छनती हवा पर चढ़ी गुलाबी धूप की किरणों का मोहक जाल मन को मोह लेता है। दिन भर की गर्मी याद आते ही मन करता है कि इस सुबह को किसी तरह छाती से लगाकर रोक लिया जाए। यह कहीं दूर न जा सके। दिनभर मन को इसी तरह प्रसन्न रखे।

ऐसी ही एक सुबह थी। नानी, माँ और मौसी खाटों पर बैठी गप्पें मार रही थीं। बच्चों में से कुछ उठ गए थे और कुछ सोए थे। छवि उठा बैठा था। माँ की कमर का सहारा लेकर आराम से शायद दिनभर का प्रोग्राम बना रहा था कि एक अत्यन्त दीन-हीन, गन्दी और काली बुढ़िया लचर-पचर चाल से आकर घर में बैठी त्रिमूर्ति के पास ही ज़मीन पर बैठ गई। छवि ने उसे और ध्यान से देखा। सारे शरीर पर आधी सूत मैल चढ़ा था। कहीं-कहीं बड़े-बड़े फोड़े भी निकले हुए थे। इतनी गन्दी औरत छवि ने पहले कभी नहीं देखी थी। वह उसे देखता-का-देखता रह गया। वह नानी की तरफ मुँह किए हथेली पर ठुड्डी रखे उत्सुक सजल नेत्रों से देखती बैठी थी, पर थी चुप।

आखिर नानी ने पूछ ही लिया, "क्या चाहिए रेशमी ?"

और रेशमी ने अत्यन्त बारीक पर रूखे स्वर में उत्तर दिया, "कुछ नहीं।" फिर पल को चुप रहकर बोली, "यह तुम्हारी बेटी है ना माँ जी ?"

"हाँ।"

"और यह ?"

"भतीजी।"

"और यह कौन बैठा है ?"

नानी ने ममता की ओर इशारा करके बताया, "इसका लड़का है।"

अपने भद्दे चेहरे में एक अजीब तरह का चांचल्य भर बुढ़िया बोली, "नाम क्या है माँ जी ?"

नानी को यह सब बुरा लग रहा था, बोली, "तुझे उस सबसे क्या, तू अपना मतलब कह। आ गई पुलिस की तरह सवाल-जवाब करने।"

नानी तो यह कहकर चुप हो गई पर छवि चुप न रह सका, बोला, "मेरा नाम है छविनाथ।"

रेशमी नानी की बात से शायद गुस्से हो गई थी। उठकर खड़ी हो गई, जाते-जाते बोली, "मैं जाती हूँ।"

नानी बोली, "अरी फिर जा न, तुझे कोई बुलाने तेरे घर गया था।"

पर ममतामयी ने रोककर कहा, "रेशमी।"

"हॉं।" रेशमी मुड़ी।

"सुन।"

"हाँ।"

"तेरा परदेसी साँवरिया कब आएगा ?"

"धत्! कैसी बात करती है। कहीं ऐसे भी कहा जाता है।" और उस अत्यन्त भदेस रेशमी

के मन की गति, चेहरे के भाव और चाल की लड़खड़ाहट के कारणों का वर्णन करना कठिन है। उसके काले स्याह चेहरे का मैल तक पल को लाल हो गया। आँखों में हल्की-सी नमी चमकी और लाज की लाली आई और वह एकदम ऐसे चलकर जैसे संग्राम में मौत के नजदीक पहुँचा योद्धा पाँच-सात डगमगाते कदम चलकर धराशायी हो जाता है, चौखट पार कर गई। पीठ की तरफ़ से भी देखा जा सकता था कि ज़रूर यह मैली-कुचैली बुढ़िया अपने भीतर कुछ रहस्य छिपाए फिरती है। पर कौन था उससे पूछने वाला।

छवि ने माँ से कहा, "माँ, कौन है यह बुढ़िया ?"

"पगली है बेटा।"

"और यह साँवरिया कौन है माँ ?"

माँ ने हँसकर कहा, "कोई नहीं रे, यह तो हम ऐसे ही चिढ़ाते हैं, कोई है थोड़े ही।"

"रहती कहाँ है ?"

"वह जो बाबाजी का शिवाला है ना, उसके पिछवाड़े की तरफ पड़ी रहती है। कभी इसका वह घर कहते हैं अच्छा भला था। पर अब तो खंडहर हो चुका है। कुछ देखभाल नहीं कराती।"

"ग़रीब है माँ ?"

"अरे नहीं बेटा, कहते हैं कि इसके पास बहुत पैसा है।"

"तो फिर ऐसे क्यों रहती है ?"

"राम जाने !"

दोपहर को जब बुजुर्गों का अंकुश नींद ने कुछ ढीला कर दिया तो छवि ने चुपचाप जसोदा के कान में कहा, "चल, बाहर।"

कहना न होगा कि अब तक जसोदा छवि की आज्ञाकारिणी हो चुकी थी। चुपचाप बाहर निकल आई। बाहर आकर छवि ने कहा, "चल जसोदा, शिवाले के कुएँ का पानी पीकर आएँगे, यहाँ का पानी तो ठंडा नहीं है।"

जसोदा बोली, "हाँ, चल।"

छवि और जसोदा की जोड़ी घर से बाहर निकली। घर से बाहर निकलना और निकलकर घर की नजरों से दूर पहुँचना कितना कठिन काम है, इसका अन्दाजा वही कर सकता है, जिसने बचपन में कभी ठीक दुपहरी में, वह भी गाँव की दुपहरी में, घर से बाहर निकलने का साहस किया हो, और तब जब कि उसके दो-चार अभिभावक पहरे के लिए कुछ-न-कुछ हाथ में लिए बैठे हों। पर छवि के कुशल निर्देशन में असफल होना असम्भव बात थी। वह जानता था, नाना इस समय कहाँ होंगे और कुत्तों के भौंकने से अपने भविष्य को बचाने के लिए क्या करना होगा। धूप में पड़ती परछाई को किस तरह दुनिया की नजरों से दूर रखना होगा और यदि कहीं कुछ हो भी गया तो किस तरह अपनी सेना (जसोदा) को लेकर पीछे हटना होगा। इस मामले में वह तात्या टोपे से किसी तरह भी कम नहीं था। और इन्हीं कारणों से हमेशा हर काम में उसे सफलता ही प्राप्त होती थी। अपनी इसी बुद्धि के विश्वास पर वह घर से जसोदा का हाथ पकड़कर निकल पड़ा, शिवालय पर पानी पीने। जानता था कि पकड़ा गया तो माँ मारे बिना न छोड़ेगी, पर छोड़ो इन बातों को, पकड़ा जाएगा कौन !

शिवालय पर कुएँ से दोनों ने मिलकर ताज़ा पानी निकाला, फिर डटकर पिया। छवि ने जसोदा को पानी पीने का सही तरीका बताया, फिर एक चपत मारकर कुएँ की मुँडेरी से दूर

रहने की हिदायत दी।

जसोदा ने कहा, "मालता क्यों है, मैं फिल तेले साथ न आऊँगी।"

छवि ने उसकी चुटिया पकड़कर कहा, "कुएँ में गिर पड़ेगी तो मर जाएगी।"

"फिल तुझे क्या।"

झटका देकर उसे अपने से दूर फेंक कर छवि बोला, "तो मर।"

छवि आगे बढ़ा तो जसोदा भी पीछे-पीछे हो ली। थोड़ी देर तक दोनों में दूरी रही। धीरे-धीरे जसोदा पास आ गई और साथ-साथ चलने लगी, फिर छवि का हाथ पकड़ बोली, "कुएँ में क्या-क्या होता है ?"

छवि ने आश्चर्य से पूछा, "तुझे नहीं पता ?"

"ना।"

छवि रुक गया। ननिक गम्भीर हो गया। फिर बोला, "सुन, मैं बताता हूँ, कुएँ में एक देवता रहते हैं। उनका सारा शरो पानी से बना होता है। वे बहुत दानी देवता हैं। किसी से कुछ नहीं कहते, सब उनको कष्ट देते हैं! उनके शरीर में से नोच-नोचकर बाल्टी, घड़े और बड़े-बड़े मटके भर ले जाते हैं। उन्हें इससे दुःख तो बहुत होता है पर वे कभी कुछ नहीं कहते। पर एक बात है। जो आदमी उनके शरीर को मैला करता है उससे गुस्से हो जाते हैं। अब अगर तू इसमें गिर पड़े तो उनका साफ-सुथरा शरीर मैला हो जाएगा ना ? देख, तेरे यहाँ मैल लगी है फिर वे तुझे माफ नहीं करेंगे। मार डालेंगे। समझी ? तभी तो कहता था कि मत जा कुएँ के पास, पर तू गुस्से हो गई।"

"अब कहाँ हूँ गुस्से ?"

"नहीं है ना ?"

"नहीं।"

छवि बोला "जसोदा, तू मुझे बहुत अच्छी लगती है, वह जो तेरी बहिन है न रामरती, वह मुझसे कल कहती थी कि तू जसोदा के साथ न रहा कर मेरे साथ रहा कर, मैंने मना कर दिया।"

जसोदा इतनी-सी देर में रोने लगी, बोली, "तू मुझे अच्छा नहीं लगता क्या ?"

"लगता हूँ ?"

"हाँ।"

"तो ठीक है।"

"तू रामरती के पास तो नहीं जाएगा ?"

"नहीं री नहीं, मुझे वह अच्छी नहीं लगती ?"

अच्छे बुरे का यह निर्णय जब हो गया तो छवि को वह बात याद आई जिसे सोचकर वह घर से निकला था। उसके मन में आज सुबह की उस बुढ़िया का चित्र इतना गहरा खुदा था कि तभी से उसकी इच्छा थी कि इसके घर चला जाये। मौके की तलाश थी और मौक़ा पाते ही वह भाग आया। पर घर उसे मालूम नहीं था। वह उसे ढूँढ़ना था। पर यह शुभ कार्य किया कैसे जाए ? किसी से पूछे तो खबर घर पहुँचेगी और न पूछे तो पता कैसे चलेगा। माँ ने कहा था कि शिवालय के पिछवाड़े रहती है पर शिवालय के पिछवाड़े तो कोई घर नहीं है, चौपाल है। उसमें रेशमी क्या रहेगी, चलो, उस तरफ देखा जाए पर उस तरफ तो सब गूजरों के घर हैं और उस तरफ चमारों की झोंपड़ियाँ। तो फिर किधर ? बाप रे! जरूर माँ ने बहका दिया है। छवि

ने शिवालय के चारों तरफ कई चक्कर काट डाले, पर रेशमी का घर नहीं मिला। छवि कठोर चाहे जितना भी हो पर गर्मियों की उन लुओं से वह परेशान हो उठा। जसोदा तो बिलकुल रूआँसी हो आई, पर दोनों ने हिम्मत न हारी और जब खुद ढूँढ़ने से नहीं ही मिला तो एक बालदी के लड़के को बुलाकर पूछ ही लिया, "क्यों डौलू, तूझे रेशमी का घर पता है ?"

"कौन रेशमी, वह पगली !"

"हाँ, पगली।"

"पता है।"

"मुझे...हमें भी बता दे।"

"क्या करेगा जानकर ?"

"कुछ नहीं, ऐसे ही।"

"तो देख, वह है।"

ऊँची चौपाल के पिछवाड़े की तरफ एक छोटी-सी टूटी-फूटी मिट्टी की चहारदीवारी थी। और उसके भीतर बहुत से टूटे कमरों के बीच एक साबित कोठरी दीख रही थी। जिसके किवाड़ तो लगभग टूट ही चुके थे, छत में भी दो-चार बड़े-बड़े सूराख हो गये थे और कड़ियों में दीमक का राज्य था। वह अपने राज्य के विकास में लगी थी। शायद चाणक्य-नीति पढ़ डाली हो, जिसमें लिखा है कि संतोषी राजा को मरा ही समझो।

डौलू ने कहा, "दीखा ?"

छवि ने सहमति प्रकट की, "दीख गया।"

डौलू जाने लगा तो छवि ने प्यार से उसका हाथ पकड़ कर कहा, "डौलू, घर मत कहियो कि मैं रेशमी के घर गया था। मैं तुझे एक पैसा दूँगा। ला तो री जसोदा, वह कल वाला पैसा !"

जसोदा और छवि रेशमी के घर में घुसे तो रेशमी अपनी चटाई पर चुपचाप गुड़ी-मुड़ी हुई लेटी थी जैसे मुर्दा हो और मरने के बाद भी उसे डर लग रहा हो। घर के किवाड़ खुलते ही वह चौंककर उठ बैठी। पल को निस्पन्द-सी बैठी दोनो बच्चों की तरफ देखती रही। उसकी आँखों में एक चमक-सी चमकी पर तत्काल ही बुझ गई। फिर जोर से उँगली फेंककर बोली, "क्यों आया है ?"

डरावनी शक्ल की रेशमी ने जिस भाव से पूछा तो दोनों बच्चे डर गए। डरकर एकदम भाग ही जाने को थे कि रेशमी का भाव अनायास बदल गया। देखते-देखते ही उसकी आँखों से आँसू बहने लगे। वह अनोखी तरह की हिचकियाँ लेकर रोने लगी। रोते-ही-रोते बोली, "आ जाओ, अन्दर आ जाओ, यहाँ आ जाओ।"

रेल में बैठा छवि आज दृश्य से इतनी दूर था कि साफ-साफ कुछ भी दीखना असम्भव था। पर इस दृश्य, इस घटना में न जाने क्या था कि ऐसी अवस्था में हृदय पर खिंचने पर भी जिसमें कुछ भी समझने की समझ नहीं होती, वह साफ-साफ देखा जा सकता था। रेशमी की वह विह्वलता जिससे उसने उन दोनों को अपनी उस गली सड़ी चटाई पर बैठाया था। फिर उसका वह बिना बात ही फूट-फूटकर रो उठना और फिर चुप होकर इनके लिये इधर-उधर से टटोल कर दो मिठाई की डलियाँ मुट्ठी में दबाकर लाना। लाख मना करने पर भी जबरदस्ती उनको खिलाना, फिर एक टूटे से गिलास में पानी लाकर दोनों को अपने हाथों से कुल्ली कराना,

अपनी उस गन्दी धोती से मुँह पोंछना और फिर सामने ही बैठकर आँखों में आँसू भरकर कहना, "छवि बेटा, आज बरसों के बाद इस घर के द्वार किसी और ने खोले हैं। मेरे यहाँ कोई नहीं आता, सब मुझे पागल समझते हैं, आज पहली बार तूने मेरी सुध ली है। कह तो, फिर भी आयेगा ना ? इस घर के द्वार बड़े मनहूस हैं बेटा, जो इनमें एक बार घुसकर बाहर निकल जाता है वह फिर कभी नहीं लौटता, पर तू ऐसा नहीं है। तू रोज मुझसे मिलने आया करेगा ना ? देख छवि, तू ही कह, कहीं मैं पगली हूँ ? फिर लोग मुझे क्यों दुत्कारते हैं ? मुझे प्यार क्यों नहीं करते ? सब मुझसे नफ़रत करते हैं। कोई प्यार नहीं करता। ये मुझसे प्यार क्यों नहीं करते छवि बेटा !"

पर इतने बड़े सवाल का जवाब देने की सामर्थ्य भला उस दस साल के छवि में कहाँ थी। वह चुप बना रहा। फिर मिनट बाद ही खड़ा होकर बोला, "चल जसोदा, चलें।"

रेशमी ने छवि के दोनों हाथों को कसकर पकड़ लिया और घुटनों के बल उसके ठीक सामने बैठ ऊँचा मुँह करके पूछा, "जाओगे !"

"और नहीं तो क्या, छिपकर आया हूँ। माँ सोती थीं। जाग गई होंगी और मेरा और जसोदा का ध्यान आ गया होगा तो पहुँचते ही खूब पिटना होगा।"

रेशमी ने कहा, "छिपकर आए थे ?"

"हाँ, और नहीं तो क्या माँ आने देतीं।"

"फिर आओगे ?"

"हाँ, कल आऊँगा।"

रेशमी को न जाने क्या सूझी, छवि को गाल पर से चूम लिया और दरवाज़े तक पहुँचाती हुई बोली, "ज़रूर आना साँवरिया, ज़रूर आना। आँ ? आना, ज़रूर आना। मैं अब रोज़ तुम्हारी इन्तज़ार किया करूँगी।"

छविनाथ फिर किसी दिन रेशमी के पास न जा सका। उस दिन घर लौटने पर उसे खूब पिटना पड़ा। डौलू पैसा लेकर भी बात को पेट में न रख पाया। किसी और से कह दिया और उस 'किसी और' ने समाचार घर पहुँचा दिया। रेशमी के घर जाना कोई साधारण बात नहीं थी। गाँव भर में क्या, गाँव-गाँवांड में मशहूर था कि वह खाली पागल नहीं है; वरन् उसके शरीर में किसी भूत-प्रेत का वास भी है। वह जिसे चाहे पल में मार सकती है। वहीं बैठे-बैठे बिना दियासलाई से मृत व्यक्ति को फूँककर राख कर सकती है। गाँव भर के मरे हुए लोगों की आत्माएँ उसके घर में एकत्रित होती हैं और भविष्य का पैशाचिक कार्यक्रम निर्धारित करती हैं। करने को वह कर और भी बहुत कुछ सकती है पर गाँव के पटवारी के डर के कारण नहीं करती। उससे वह डरती है—क्योंकि पटवारी जी भी कोई साधारण सिद्धपुरुष नहीं हैं ! उनके हाथ में आस-पास के सब भूत-प्रेतों की नकेल है और उनके रहते रेशमी की कुछ नहीं चल सकती। देखा भी गया है कि बुरे-से-बुरा काम वह करती हो और पटवारी रोके तो वह रुक जाया करती थी और घर में घुस जाती थी। पर फिर भी, कुछ भी हो, पटवारी न हो किसी समय घर में और रेशमी का दाव चल जाए, तो ? फिर क्या उसके हाथ से कोई जिन्दा बच सकता है ? नहीं बच सकता, बिलकुल नहीं बच सकता।

घर में घुसते ही छवि को जोर से एक चपत लगी और फिर चपतों और घूँसों की बौछार होने

लगी। जसोदा ने बहुतेरी कोशिश की कि छवि को ममतामयी के हाथों से बचा ले, पर नहीं बचा पाई। उसके छोटे-छोटे कोमल हाथ भला कर ही क्या सकते थे। आखिर जोर-जोर से रोकर ही वह अपना क्रोध बहाने लगी। आज सावित्री और नानी ने भी छवि को नहीं बचाया। सावित्री कह रही थी, "हाय रे लड़के को डर भी नहीं लगा, डायन लगती है डायन ! पर कैसा निचतू होकर उसके घर में घुस गया।"

नानी बोली, "हद हो गई, अरे बता तो, उसने तुझ पर कुछ जादू-टोना तो नहीं किया।"

ममतामयी ने दो धौल और जमाकर कहा, "मैं अभी पूछे लेती हूँ।"

और जसोदा बोली, "मैं बताती हूँ, पर उसे मत मालो।"

जसोदा ने हिचकियाँ लेते-लेते सब बताया। सावित्री, नानी और ममतामयी हक्की-बक्की रह गई। फौरन नाना को बुलाकर सब बताया गया। नाना क्रोध से लाल हो गए जादू-टोना उतारने वालों को बुलाने के लिए नौकर दौड़ाये और जब बहुत से जादूगरों ने बताया कि चिन्ता की कोई बात नहीं है तो सीधे पटवारी को साथ ले रेशमी के घर पहुँचे।

पटवारी के पुण्य-प्रताप से वहाँ क्या हुआ, यह तो राम जाने पर इसके बाद फिर कभी रेशमी उस गाँव में नजर नहीं आई और अगले दिन जब जसोदा और छवि रेशमी के घर पहुँचे और वहाँ सूना सन्नाटा पाया तो दोनों चकित रह गए। छवि को जाने कैसा सूना-सूना सा महसूस हुआ कि वह रोने लगा और जब जसोदा ने पुचकार कर उसे चुप करा लिया तो छवि बोला, "चल जसोदा, नदी की तरफ घूम कर आएं।"

6

छवि और जसोदा का प्यार दोनों माँओं के लिए समस्या ही बन गया। खाएँगे तो साथ, बाहर निकलेंगे तो साथ-साथ और वापस घर में घुसेंगे तो साथ-साथ। सोयेंगे तो साथ-साथ और जागेंगे तो साथ-साथ। इस साथ-साथ की धुन से कभी तो ममतामयी को और कभी सावित्री को घंटों-घंटों चूल्हे पर बैठे रहना पड़ता। कभी-कभी रात के दूध के लिए एक का मन न होता तो दूसरे का मन भी ऊब जाता और फिर तब तक मन न होता जब तक दोनों में से एक पिट न लेता। गाँव वालों तक में उनके इस 'साथ-साथ' की कहानी मशहूर हो गई। सावित्री यदि कभी किसी के यहाँ चली जाती और जसोदा को साथ ले जाती तो कुछ ही मिनटों बाद छवि भी जा पहुँचता और कहता, "माँ बुलाती हैं।"

माँ के लाख मना करने पर भी जसोदा छवि के साथ उठकर चली आती और सावित्री होंठों पर उँगली रखे देखती-की-देखती रह जाती। एक दिन ममतामयी से बोली, "अब क्या होगा ?"

"होगा क्या ?"

"अरी, ये छवि और जसोदा अलग होते ही रोहाँ-रुआट मचाएँगे।"

"नहीं री, साथ रहने तक का लगाव होता है। फिर सब भूल जाते हैं।"

"सुना है कि बचपन के मन पर खिंची लकीरें मिटा नहीं करतीं।"

ममतामयी ने हँसकर कहा, "कैसी बातें करती हो बहिन, बचपन का मन तो पानी की तरह होता है। पानी पर भी कहीं लकीर जमती है।"

उस दिन तो ममतामयी ने बात को टाल दिया पर मन में उनके भी यह बात जम गई थी कि छवि और जसोदा का प्यार साधारण नहीं है। एक दिन फिर जसोदा की माँ बोली, "छवि की माँ, एक बात कहूँ।"

"कहो।"

"जसोदा की और छवि की शादी कर दो।"

"क्या कहती हो बहिन, रिश्ता तो भाई बहिन का है।"

"कायदे से हो सकता है, रिश्ता भी तो दूर का है। फिर जोड़ी तो गुन, कैसी भली लगेगी।"

"सो तो है ममता, पर छवि के बाप मान जाएँगे।"

"सो मैं मना लूँगी, और तू कहेगी तो जसोदा के बाप भी ज़रूर मान जाएँगे।"

जसोदा की माँ ने पूरी कोशिश करने की हामी भर ली। दोनों ने थोड़ी देर सम्भावित रिश्ते के बाद की दुर्घटनाओं का एक नक्शा खींचा और हास्य-विनोद के साथ विषय का पटाक्षेप किया। तभी छवि और जसोदा कहीं बाहर से खेलकर घर में घुसे तो सावित्री ने छवि को गोद में घसीटकर कहा, "छवि बेटा, जसोदा से ब्याह करेगा ?"

छवि ब्याह नाम की चीज़ को भली-भाँति नहीं जानता था पर इतना उसे जरूर मालूम था कि यह कुछ ऐसा विषय है जिस पर बड़ों के सामने अपना कोई मत प्रकट नहीं करना चाहिए और चुप रहना चाहिए। बल्कि और शरमा जाना चाहिए इसलिए वह तो शरमाकर चुप रह गया पर जसोदा चुप न रह सकी, बोली, "माँ, मैं करूँगी ब्याह छवि के साथ।"

सब हँस पड़े। सावित्री ने पूछा, "और अगर छवि न करे तो ?"

छुट्टियाँ खत्म हुई। छवि घर जाने लगा तो जसोदा ने साथ चलने का वह रोना मचाया कि ममतामयी को उसे साथ ले जाना ही पड़ा। चलते-चलते सावित्री से कहती गई, तू कर-न-कर ब्याह, मैं तो बहू ले चली, ब्याह की तैयारियाँ कर लीजियो।"

सावित्री हँसकर बोली, "वही मुझ पर क्यों छोड़ती है, वह भी तू ही कर लेना।"

•

शहर आकर छवि और जसोदा का प्रेम और गाढ़ा होने लगा। छवि ने जसोदा की उंगली पकड़ कर अपने घर का कोना-कोना दिखाया। बिजली को जला-बुझाकर दिखाया, बिजली के पंखे की कम-ज्यादा रफ्तार दिखाई और टेलीफ़ोन पर बात करके दिखाया। अपने कारखाने की विशाल मशीनों से छपकर निकलते कागज़ दिखाये और उन कागज़ों पर लिखे अक्षरों को पढ़कर सुनाया। वह नन्ही भोली-भाली बालिका उस तिलिस्मी दुनिया को देखकर चकित रह गई। मशीन में पुर्जों के पास जा-जाकर वह दौड़-दौड़ आती और जब कभी वे उसकी तरफ जोर से झुकते तो वह भी झुककर छवि से चिपट जाती। कहती, "चल छवि, बाहर चल, डर लगता है।"

और छवि बुजुर्ग मुस्कराहट से मुस्करा कर कहता, "डर मत, ये तुझे कुछ नहीं कहेंगे। तू मेरी कमीज पकड़ ले और खड़ी रह ! फिर देख कि इनमें से कोई तुझे छू भी नहीं सकता।"

छवि जसोदा को सच्ची-झूठी बहुत-सी कहानियाँ सुनाता और जसोदा मूक कौतूहल से सुनती रहती पर एक दिन जब छवि बोला, "जसोदा, एक दिन मैं इस नाले के किनारे-किनारे

मीलों-मील चला गया था और मैंने वहाँ बहुत ऊँचे-ऊँचे पहाड़ और तरह-तरह के पेड़ देखे थे।" तो जसोदा चुप न रह सकी, बोली, "झूठ।"

"झूठ कैसे, सच कहता हूँ।"

"सच कैसे, नाले के पास पहाड़ कहाँ से आए ?"

"अरी थे, तुझे नहीं पता।"

"वाह, पता कैसे नहीं, नाले के पास घास होगी कि पहाड़ ?" फिर हँसकर बोली, "मुझे बहकाता है।"

"बहकाता नहीं, सच कहता हूँ", छवि ने जोर देकर कहा।

"नहीं, झूठ बोलता है।" ओर जसोदा और भी जोर से हँस दी, पर उसकी हँसी क्षण पश्चात् ही भयंकर रोने में बदल गई जब छवि का जोर का तमाचा उसके गाल पर पड़ा। उसने भी छवि को काट खाना चाहा पर छवि बच निकला, लेकिन जब ममतामयी के सामने जसोदा ने शिकायत की और साफ शब्दों में कह डाला कि 'मैं इससे ब्याह नहीं करूँगी, यह मुझे मारता है।' तो छवि का कलेजा धक्-से रह गया। उसे इसका तनिक भी अनुमान न था कि बात इतना तूल पकड़ जायेगी। माँ के हट जाने पर उसने अत्यन्त स्नेह से जसोदा को पुकारकर कहा—

"जसोदा।"

जसोदा नहीं बोली।

छवि फिर बाला, "जसोदा, क्या सच तू मुझसे ब्याह नहीं करेगी ?"

"नहीं।"

"क्यों नहीं।"

"कब्भी नहीं।"

"और अगर मैं तुझे न मारूँ ?"

"तो भी नहीं।"

"तो भी नहीं ?"

जसोदा हँस पड़ी, बोली, "तो भी 'हाँ', पर तू मारना छोड़ देगा ?"

विह्वल होकर छवि बोला, "मैं अब तुझे कभी नहीं मारूँगा।"

"कभी नहीं।"

"कब्भी नहीं।"

"तो फिर···?"

"तो फिर क्या ?"

जसोदा ने प्यार से छवि के गले में बाँह डाल दी और कान में उँगलियों के बल खड़ी हो बोली, "तो फिर ठीक!"

और दोनों बच्चे खिल-खिल, गिल-गिल, हँसते, खेलते-कूदते आँखों से ओझल हो गए।

पर भाग्य को यह हँसी मंजूर न थी। ब्याह के फैसले पर जब बच्चों ने मुहर लगा दी थी तो भाग्य धीरे से हँस दिया था। कुछ ही दिनों बाद कारखाना सरकार ने ज़ब्त कर लिया और उसके सात दिन बाद ही जसोदा के पिता उसे लेने आ पहुँचे। जसोदा का उस दिन कहीं पता न था। खोज़-बीनकर दूर के एक बंगाली के घर से उसे बुलाया गया। बुलाकर ममतामयी ने उसका हाथ उसके पिता को थमा दिया। ममता जसोदा को कितना चाहने लगी थी पर भाग्य

के आगे कब किस की चली है। रोकर बोली, "मरने से पहले इसकी सूरत एक बार फिर दिखा देना, मेरा छवि इसे बहुत चाहता है! न जाने इसके जाने के बाद उसकी क्या गति होगी।"

जसोदा के बाप भी रो दिये, बोले, "मैं कब चाहता था कि इसे यहाँ से ले जाऊँ! पर तेरे इतने दुख के दिनों में अपना भी बोझ तेरे सिर डाले रहूँ। मैं इतना निर्दय भी तो नहीं हो सकता।"

ममतामयी ने आँसू पोंछते-पोंछते कहा, "वही तो मैं खुद नहीं चाहती कि अब···सुख के दिनों में साथ रही है, भला था सो भला ही खिलाया-पिलाया, पर अब न जाने अपने को भी दो जून जुड़ेगा कि नहीं, दूसरे की जनी को भूखों मारने को कैसे पास रख लूँ।"

जसोदा चली गई। छवि न जाने कहाँ गया था। जसोदा के पिता के आने तक तो था फिर जो अन्तर्धान हुआ, शाम को ही दीखा। ममतामयी ने झपटकर उसका हाथ अपने हाथ में लिया और रुँधे-से कण्ठ से बोली, "छवि, तेरी जसोदा गई।"

छवि निश्चिन्त भाव से चलता-चलता चलकर अपने पलंग के पास पहुँचा। उसके चेहरे पर दुख या सुख के कोई भाव नहीं थे। चुपचाप आराम से बैठकर बोला, "जाने दो, अच्छा हुआ चली गई, हमारी लगती भी क्या थी, कितनी-कितनी दूर का तो रिश्ता था, नानी के भाई के बेटे की···और न जाने क्या क्या।"

और चारपाई पर पड़े लिहाफ को मुँह तक ढँक वह लेट गया। लिहाफ़ के भीतर ही से ज़ोर से बोला, "आज मैं खाना नहीं खाऊँगा माँ, मुझे भूख नहीं है।"

और तब से आज वह उसकी शादी में जा रहा है। पहले भी दो-चार बार उसके गाँव गया है पर या तो वह मिली नहीं और या होते हुए भी सामने नहीं आई। पर इतना उसे याद है कि जब भी वह उसके गाँव नानी के पास गया है जसोदा हुई है तो ऐसा लगा है जैसे आना सफल हुआ और वह अगर नहीं हुई है तो सब फीका-फीका लग आया है, वहाँ ठहर नहीं पाया है, झट चला आया है।

7

छवि जब उस चहल-पहल भरे घर में घुसा तो एक हलचल-सी मच गई। 'छवि भैया आए हैं', 'छवि भैया आए हैं' की आवाज़ें एक साथ ही कई तरफ से आईं और बराबर के किसी घर से सावित्री ने निकल, झट उसका हाथ थाम लिया। छवि ने नमस्ते की तो बिना उसका उत्तर दिए ही सावित्री भीगे से स्वर में बोली, "कैसा है रे छवि, बड़ी देर से आया।"

छवि ने हँसकर कहा, "देर से कहाँ, चिट्ठी मिलते ही तो आ गया हूँ।"

सावित्री बोली, "चल, तुझे जसोदा से मिलाऊँ। तुझे याद करती थी।"

अन्दर के घर में जसोदा बैठी थी। कोई विशेष शृंगार में नहीं थी। साफ-सुथरी एक सफेद साड़ी पहने थी। हाँ, कुछ जेवर जो पहले कभी उसके बदन पर छवि ने नहीं देखे थे, आज अतिरिक्त थे। उनके बीच से उसका साँवला, गोल, बड़ी-बड़ी आँखों और नोकीली नाक वाला चेहरा बड़ा भला मालूम पड़ रहा था। कमरे में अँधेरा था। इसी कारण शायद एक दीया जलाकर

रख दिया गया था। उस दीये का पीला प्रकाश कुछ टेढ़ा होकर जसोदा के ऊपर कुछ इस तरह पड़ रहा था जैसे कोई आदमी विशेष तौर से किसी को देखने के लिए प्रकाश डाल रहा हो। उस प्रकाश के ही कारण ज़मीन पर एक और जसोदा बनी हुई थी। वह छाया काली थी और जसोदा और वह छाया मिलकर एक अनोखा प्रभाव उत्पन्न कर रहे थे। ऐसा लगता था जैसे लाल सिन्दूर से किसी ने एक उन्नत मस्तक वाली सुन्दर षोड्शी की मूर्ति गढ़ी हो, पर न जाने कहाँ से कुछ पानी उस पर आ गिरा हो और कुछ रंग तो नीचे ज़मीन पर बिखरकर काला पड़ गया हो और कुछ एक भद्दे आकार की एक डली बन कर रह गया हो। वह घुटनों में सिर दिए बैठी, विचारों में लीन, न जाने कहाँ विचरती जसोदा छवि को कुछ ऐसी ही लगी। छवि भाव-विभोर-सा हो गया और आश्चर्य नहीं था कि लड़खड़ा भी जाता यदि सावित्री की आवाज़ उसे चेतन न कर देती।

सावित्री कह रही थी, "जसोदा, देख, छवि आया है।"

एकबारगी ही जसोदा जाग उठी, एक ही साथ न जाने कितने भाव उसके चेहरे पर आ गए। उसके मन की अवस्था इस समय अवर्णनीय थी। कुछ क्षण वह कुछ न बोल सकी। मौन मूक भाव से छवि की ओर देखती रही। फिर जैसे सचेत-सी होकर बोली, "बैठो न।"

सावित्री ने फटकार कर कहा, "बैठे कहाँ, तेरे सिर पर, कितनी देर से खड़ा है और आप पीढ़े पर लदी बैठी हैं, न जाने तुझे कभी सऊर भी आएगा।"

अब तक जसोदा काफी स्वस्थ हो चुकी थी, हँसकर बोली, "देखो न माँ, इतने दिन इनके पास रही पर सऊर तक नहीं सिखा पाये।"

फिर कुछ शिष्टाचार शास्त्र में वर्णित कार्य किये गए। और जब स्वस्थ होकर दोनों बैठे तो हँसी-खुशी बातें शुरू हुईं।

जसोदा ने पूछा, "घर में सब ठीक हैं ?"

"हाँ, सब…।"

"कोई मुझे भी याद करता था ?"

छवि ने हँसकर कहा, "करते थे नहीं, करते हैं।"

"कौन-कौन ?"

"सब।"

"तुम भी ?"

छवि ने कहा, "हाँ, मैं भी, जो लड़की अपने से पिटना पसन्द करे, उसे कौन याद न करेगा। क्यों मौसी, ठीक है ना ?"

सावित्री को शायद किसी ने किसी काम से पुकारा था, वह चली गई तो जसोदा ने पूछा, "बचपन की सब बातें याद हैं ?"

छवि ने कहा, "हाँ, हैं।"

"ब्याह की बात ?"

"वह भी याद है।"

जसोदा ने स्वर को कुछ अधिक मीठा बना कर कहा, "अच्छा, छवि भैया, बचपन की सब बातें तो खेल ही होती है ना।"

"हाँ, लगता तो ऐसा ही है।"

"तुम्हें भी लगता है, तुम तो कहा करते थे कि जो मैं सोचता हूँ वही कर सकता हूँ, कोई मुझे रोक नहीं सकता।"

छवि अन्यमनस्क हो आया, बोला, "खेल में ही तो कहता था।"

"अब वह धारणा टूट गई.?"

"यही लगता है, जसोदा, पर छोड़ो बीती बातों को बघारना बुद्धिमानी नहीं है। माँ की एक इच्छा थी। तुम्हें वे बहुत प्यार करती हैं। उनके मरने से पहले एक बार उनसे मिल आना।"

"कैसी बातें करते हो, मिल आने का वायदा कैसे कर सकती हूँ। अब मैं किसी की बहू हूँ और स्वतन्त्र नहीं हूँ। रही बात प्रेम की, वह तुम्हारी माँ यदि मुझसे करतीं तो उस समय धक्का देकर घर से बाहर न कर देतीं। यों न कहतीं कि मुझमें अब जसोदा को रखने की सामर्थ्य नहीं है। मैं तुमसे ठीक कहती हूँ छवि, अगर तुम्हारी माँ चाहतीं तो सब हो सकता था। उन्होंने मुझे नहीं चाहा, बिलकुल नहीं चाहा।"

कहने को इस पर छवि ने जसोदा को बुरी तरह फटकारा था। उसे विश्वास दिलाया था कि माँ उसे बहुत चाहती रही हैं और आज भी चाहती हैं पर उसे लगा, जैसे यही बात उसका मन भी बरसों से कहता आया है जिसे वह आज तक समझ नहीं पाया। उसका भी शायद यही मत है कि माँ यदि चाहतीं तो जसोदा उसके पास रुक सकती थी। माँ ने उसे धकेल कर बाहर कर दिया। उसे आज यह भी समझ में आया कि शायद यही कारण रहा है कि वह एक बरस से माँ के सामने खुलकर रो नहीं पाया है। जिस गोद में सिर दुबकाने से उसे स्वर्ग-प्राप्ति का-सा सुख मिला करता था उसी गोद से वह बचता रहा है, दूर भागता रहा है और माँ को दोनों हाथों में उठाकर झूला झुलाने की मीठी अभिलाषा उसके भीतरी कोनों में आँख मिचावन ही खेलती रही है। उसी माँ को वह दुतकारता रहा है, खिजाता रहा है, जलाता रहा है। आज उस अनजानी गाँठ के खुलते ही छवि का मन करुणा से भीग आया। उसकी आँखों में आँसू भर आए धीमे से उसने जसोदा के हाथ को थपथपाया और रुँधे कण्ठ से बोला, "माँ से अधिक दुनिया में कोई मुझसे प्यार नहीं कर सकता पगली, पर भाग्य बड़ी चीज़ है।"

जसोदा को न जाने क्या होता जा रहा था। लगता था जैसे उसके समूचे शरीर में सनसनी-सी दौड़ रही है। स्वर भी भड़भड़ाया हुआ था। कह रही थी, "भाग्य समर्थ का असमर्थों को दिया एक तोहफ़ा है छवि भैया। खुद कुएँ में किसी को ढकेलकर यह कहना कि भाग्य से गिर गया है। यह बात मेरी समझ में अब खूब आ गई है, सब ऐसा ही करते हैं। तुम ही अपनी बात लो ना। तुम क्या मेरी मज़ाक उड़ाने नहीं आए! क्या रवि भैया नहीं आ सकते थे! नहीं, उनको आना भी नहीं चाहिए था, वे मुझ पर ऐसी कुशलता से हँस न पाते। पूछती हूँ, बता सकते हो, वे क्यों नहीं आए और तुम ही क्यों आए हो?"

छवि ने कहा, "माँ की मर्जी थी और कुछ नहीं बता सकता।"

जसोदा और भी उत्तेजित हो आई, बोली, "ज़रूर उन्हीं की मर्जी होगी, वे मेरे जले पर नमक छिड़के बिना शान्त नहीं हो सकती थीं। जिसको उन्होंने खुद जलाया है। मैं पूछती हूँ ये बीज क्या उन्होंने खुद ही नहीं बोये? मैं नहीं जानती थी, तुम भी नहीं जानते थे कि भाग्य, कितना प्रबल होता है तो क्या वे भी नहीं जानती थीं। सब जानती थीं, पर जैसे खिलौने से खेलकर, उसे तोड़कर बच्चे खुश होते हैं, चूहों को मार कर बच्चों को एक आनन्द-सा मिलता·

है, वही हाल हर बड़े का है। अपने से छोटों से खिलवाड़ करने में उन्हें मज़ा आता है। हर बड़ा अपने को छोटे का भाग्यनियन्ता समझता है और अपनी ओछी-तिरछी भावनाओं के बस हो छोटों के भविष्य को मिट्टी में मिला देता है। हर बड़ा चाहता है कि छोटे उसके सामने सिर झुकाये खड़े रहें और वह उनकी गंजी खोपड़ी पर जिसके कि बाल वही पहले उड़ा चुका है जब मन आए एक चपत जमा दे और खिल-खिलाकर हँसे। रेशमी की बात भूल गये ? क्या बिगाड़ा था उसने दुनिया का। तुम्हारे नाना ने उसे गाँव से बाहर निकाल दिया। जानते हो वह कैसी मरी ? अन्दाजा लगा सकते हो ? नहीं लगा सकते, मैं बताती हूँ। गाँव से निकल कर वह नदी के किनारे उस विशाल बरगद के तले जा बैठी। शायद थक गई थी और प्यासी थी। पानी तो नहीं पी सकी पर बरगद की गाढ़ी छाँव ने उसे नींद की गोद में ढकेल दिया। जाने कब-कब की उनींदी थी ! रात तक वहीं पड़ी रही और रात को कुछ भेड़ियों ने मिलकर उसे लाश समझ या ज़मीदार और पटवारी की भेजी सौगात समझ चबा डाला। तुम्हें उस दर्द का अन्दाज़ है जो मांस के नुचने पर एक आदमी को होता है, और उस आदमी को जिसको घाव पर से नोचा गया हो। तुम्हें अन्दाज़ हो सकता है उस विवश व्यथा का जो रेशमी ने झेली होगी, जब वह भेड़ियों से बचने के लिए इधर-उधर भागी होगी और बच न पाई होगी और चुपचाप भेड़ियों के सामने यह कहकर कि 'लो, नोचो, खाओ ! मैं अपने को तुम्हे भेंट करती हूँ।' गिर पड़ी होगी, और अन्तिम सांस तक चुपचाप बिना कराहे पड़ी रही होगी। याद कर सकते हो यह सब किसके कारण हुआ। मेरे और तुम्हारे ! अपनी जिस बुद्धिमत्ता के कारण उस दिन तुम मुझे लेकर उसके यहाँ पहुँचे थे, उसी बुद्धिमत्ता के सहारे अन्त तक अपने किये के परिणामों से उसे बचा क्यों न सके ? पर नहीं, वह सब कोई नहीं करता। हर आदमी दूसरे को एक सोने का संसार दिखाता है, और जब दूसरे के मन में उसे पाने का लालच पैदा हो जाता है, तो उसे हटा कर एक तरफ ले जाता है। फिर वह आदमी होता है और उसकी अतृप्त आकांक्षाएं ! फिर भटकन होती है और बालू से धुंधले बड़े-बड़े रेगिस्तान ! और फिर लोग उस पर हँसते हैं, उसे पागल कहते हैं, उस पर पत्थर मारते हैं और दिन आता है जब उसकी एकमात्र झोंपड़ी छीनकर उसे गीदड़ों से नुचवा देते हैं। आज की दुनिया के दो तिहाई आदमी इसी मौत मरते हैं, और एक तिहाई हँसकर खबर सुनाते हैं, "अरे, जसोदा, वह जो रेशमी थी न जिसको लाला ने तुझे और छवि को मिठाई खिलाने पर गाँव से निकाल दिया था, मर गई…"

"हाँ, नदी के पास पड़ी थी, गीदड़ों ने चबा डाला !"

कहकर हँस देते हैं। या कोई-कोई दया से कह देता है—"बेचारी ! या—हाय !"

"मैं कहती हूँ भैया, तुम कहो, क्या यह सब ठीक है, क्या यह सब न्याय है !"

छवि चकित था, हँसकर बोला, "जसोदा, तू तो बहुत होशियार हो गई है। ये सब बातें किससे सीखीं ?"

जसोदा का गुबार निकल चुका था। वह भी हँसकर बोली, "तुम्हारे उसी भाग्य से, और फिर होशियार न होने से तो काम न चलेगा अब ! मैं अब एक गृहस्थ की मालकिन होने जा रही हूँ। जिसके मालिक लाखों की सम्पत्ति के भी मालिक हैं और जिनकी तीन धर्मपत्नियाँ पहले उनके हृदय में भरे अथाह प्रेमसागर में से घूँट-घूँट प्रेमामृत पी काल के गाल में समा गई हैं, और भेंट स्वरूप अपने पति को एक-एक सुपुत्र दे गई हैं। मेरी सास अभी जीवित है, उनकी सेवा का भार मेरे कन्धों पर होगा और एक विधवा ननद और उनके तीन बच्चों की खबरदारी

भी मुझे ही करनी होगी। फिर उस अथाह सम्पत्ति को कौरव उठा न ले जायें, ऐसे सतर्क भाव से मुझे जीना होगा। और विधवा होने के बाद सम्पत्ति हेतु होने वाले महाभारत का पटाक्षेप भी मुझे ही तो करना होगा। फिर होशियार न होने से कैसे चलेगा, तुम्हीं कहो ?"

छवि आश्चर्य से सब सुन रहा था, तिलमिलाकर बोला, "यह सब है क्या ?"

"हाँ तो।"

छवि बोला, "यह नहीं हो सकता, मैं अभी—"

"क्या करोगे ?"

"जो बन पड़ेगा।"

"किस अधिकार से ?"

छवि के बहाव को ठेस लगी, बोला, "जसोदा, क्या मेरा तुम पर कोई अधिकार नहीं ?"

"कहाँ है, जिस दिन तुम्हारे घर से आई थी, उस दिन जिस तरह मुँह छिपाकर भागे थे, उससे तो यही पता चला है, वाक़ई तुम्हारा मुझ पर कोई अधिकार नहीं है।"

"जसोदा ?"

"जी, मैं तुमसे और कुछ नहीं चाहती, या तो यहाँ से चले जाओ, या चुप-चुप बैठो, दावतें खाओ और जब जश्न समाप्त हो ले तब शान्ति से घर की राह लो। पहले तो आए हो यही कुछ कम बुरा नहीं हुआ, जिस पर उत्पात मचाना चाहते हो ?"

छवि ने पूछा, "क्यों जसोदा, मेरा आना क्या तुम्हें वास्तव में बिलकुल अच्छा नहीं लगा।"

"तुम ही कहो न, किसे अपने टूटे खिलौनों को देखना अच्छा लगता है ?"

"जसोदा, तुम उस घर में सुखी रह सकोगी ?"

न जाने यह कैसा प्रश्न था, कुछ पलों तक तो जसोदा चुप रही। फिर उसके चेहरे पर भिन्न-भिन्न प्रकार के हाव-भाव आये गए। फिर अनायास ही एकदम प्रसन्न मुद्रा बनाकर बोली, "दिल्ली से आए हो, मेरे लिए कुछ लाए नहीं ?"

प्रश्न चाहे कितना भी असंगत क्यों न रहा हो, था मीठा। छवि तत्काल बोला, "लाया क्यों नहीं, एक खूबसूरत-सा विलायती ढंग का बटुआ लाया हूँ। बाज़ार जब यही सोचकर निकला तो एक दिन की तुम्हारी बात याद आ गई। तुम्हें याद है, वह बात ?"

"कौन-सी बात ?" जसोदा ने सहज भाव से पूछा।

"वही, बुआ जी के बटुए वाली।"

जसोदा बच्चों की तरह खिल-खिल करके हँस पड़ी, बोली, "ओह, वह जो तुम्हारी बुआ जी का बटुआ ले भागी थी और घंटों तक वापिस नहीं लौटाया था, यह कहकर कि इसे मैं रखूँगी, वापिस नहीं दूँगी, अच्छा लगता है।"

"मैंने सोचा तुम्हें बटुआ ही क्यों न भेंट करूँ! बचपन की एक ज़िद भी पूरी हो जाएगी। और तब मैंने वायदा भी तो किया था कि जब तू बड़ी हो जाएगी तो बटुआ लाकर दूँगा।"

छवि ने थैले में से निकालकर बटुआ जसोदा को दिया। जसोदा ने उलट-पलटकर देखा, कीमती चीज़ थी। फिर खोलकर देखा। दीखा कि अन्दर कुछ और भी है। उसे निकाला तो पता लगा कि छवि की एक तस्वीर है। थोड़ा-सा उसमें करतब भी है। एक ही तस्वीर में दो तस्वीरें हैं, एक बहुत बचपन की और एक हाल की। बचपन की तस्वीर को हाल की तस्वीर के साथ ऐसे जोड़ा गया है जैसे कोई किशोर एक बालक को बहुत ध्यान से देख रहा है और

देखकर कुछ सोच रहा है। जसोदा को तस्वीर बहुत भली लगी। कुछ मिनटों तक वह मन्त्रमुग्ध उसे देखती रही। फिर उसे उलट-पलटकर देखने लगी। तस्वीर की उलटी तरफ कुछ लिखा भी था। एक चार लाइनों की कविता—

"यदि तुझे मैं भूल पाता
तो न क्या सुख शान्ति पाता ?
तो तुझे मैं भूल जाऊँ ?
खो तुझे यह शान्ति पाऊँ ?"—छवि

इन सीधी सादी चार पंक्तियों में कुछ ऐसा दर्द था कि जसोदा की आँखें भीग उठीं। छवि की तरफ बिना देखे ही बोली, "किसे नहीं भूल पाते, और कौन है वह जिसे खोकर तुम शान्ति भी पाना नहीं चाहते ? पूछ सकती हूँ, क्या बचपन ?"

छवि ने कहा, "हाँ, बचपन और बचपन की जसोदा।"

जसोदा बोली, "छवि !"

"हूँ !"

"सुनते हो।"

"कहो।"

"मैं यह तस्वीर नहीं रख सकूँगी।"

छवि को जैसे किसी ने उड़न-खटोले से नीचे ढकेल दिया हो, बोला "अच्छा ?"

"हाँ छवि, तुम्हीं सोचो, मेरे नये घर में इसके लिए कौन-सा स्थान सुरक्षित हो सकता है। फिर चिनगारी को घर में रखना कौन-सी बुद्धिमत्ता है छवि, नहीं, मैं वह न कर सकूँगी।"

"इतना अविश्वास है तुम्हें अपने पर।"

जसोदा न जाने किस धुन में बोली, "जो अपने पर विश्वास करते हैं छवि, और वह भी इस मामले में, वह अपने को धोखा देते हैं। या तो उन्हें वास्तव में सच्चा प्यार होता ही नहीं, कुछ देर को बूँद-दो-बूँद वासना छलछलाती है, नहीं तो शर्तिया बात है कि वे बहते हैं, किसी-न-किसी राह से बहते ज़रूर हैं। कोई अपने को मार लेता है। कोई अपने कुटुम्ब के जीवन से खेलता है और कोई संसार भर का जीना दूभर कर देता है। पर छोड़ो, हाँ, यह तस्वीर तुम्हारी अब न रख सकूँगी, मेरी मति ठीक नहीं है, मैं स्पष्ट देख रही हूँ। आगे क्या होगा इसका पता भी नहीं है। सो···और सुनो, आज ही वापस नहीं चले जा सकोगे ?"

छवि ने पूछा, "यह बटुआ ?"

"यह काम की चीज़ है, इसमें पैसा रखूँगी। पैसे को इसमें बन्द करके रखूँगी।"

"अच्छा तो चलता हूँ।"

जसोदा की आँखों में फिर आँसू भर आए, बोली, "ब्याह पर बुलाओगे ?"

"माँ की मर्ज़ी है।"

छवि चलने लगा तो पीछे से जसोदा ने फिर कहा, "यह तस्वीर ?"

छवि ने तस्वीर हाथ में ले ली और चिन्दी-चिन्दी करके फेंक दी। जसोदा ने रोका नहीं

हँस दी। छवि जसोदा से पीठ फेर बाहर चला आया। उसे न जाने कैसा महसूस हो रहा था। आते हुए उसने अपनी बचपन की उस साथिन से हमेशा के लिए बिछुड़ने का एक बहुत ही सुन्दर चित्र बनाया था। उसमें भावनाओं की सरल अभिव्यक्ति आँसुओं को बहुत ऊँचा स्थान मिला था और ज़बान के लिए कोई विशेष महत्व का स्थान नहीं था पर न जाने कैसे और किसने उसके उस चित्र पर पानी बिखेर दिया और ऐसा भौंडा आकार दे डाला। जसोदा का चरित्र एक रहस्य की तरह उसकी आँखों में खुलकर फैल गया। वेदना का स्वरूप तीखा होता है पर उसको कुचलने की चेष्टा में वह कैसा भौंडा हो आता है यह उसे आज ही पता चला। वह कमरे से बाहर निकल आया था पर उसे लग रहा था जैसे जसोदा अब फूट-फूटकर रोना शुरू कर देगी और इतना रोएगी, इतना रोएगी कि धरती का कलेजा भी फटने लगेगा।

और सच ही विदा होते हुए जसोदा छवि से चिमटकर खूब रोई, खूब रोई। सत्रह अठारह साल का कच्ची उम्र का छवि हतबुद्धि-सा रह गया। वह अब क्या करे। इतने जनों के सामने यह उसे निर्लज्जता लग रही थी। पर रोना उसका भी रोके न रुक रहा था। वह भी खूब हिचकियाँ भरकर रो रहा था। सब रोते-रोते ही साश्चर्य कह रहे थे, "इतने दूर के रिश्ते के भाई-बहनों का ऐसा प्रेम तो कहीं देखा न सुना।"

और जसोदा फूट-फूटकर कह रही थी, "एक बार, बस एक बार ज़रूर फिर मिलना छवि, तुम्हें मेरी सौगन्ध है।"

8

गाँव से लौटकर आने के बहुत दिनों बाद की बात है कि एक दिन छलनामयी ने छवि को घेर कर कहा, "तुमने हमारी सत्या देखी है?"

"कौन सत्या?"

"अरे वही, मेरी छोटी बहिन सत्या।"

"देखी है।"

"तुम्हें पसन्द है?"

"क्या मतलब?"

"अच्छी लगती है?"

छवि की चिढ़ाने की प्रवृत्ति जाग उठी बोला, "कुछ सवालों का जवाब दो तो भई फ़ैसला हो।"

"पूछो।"

छवि बोला, "हाँ, तो बात है सत्या लड़की की। भई देखा है मैंने उसे, गोरा चिट्टा रंग है, ऊँचा माथा है, नाक भी नुकीली है, दाँत ज़रा बड़े हैं सो कोई बात नहीं, सब चलेगा, पर घर का काम-काज कुछ जानती है?"

"अरे, सब वही तो करती है।"

"और, सीना-पिरोना ?"

"घर के कोट तक उसके हाथ के सिले मिलेंगे। पैन्ट नहीं जानती पर सीख लेगी।"

"कुछ संगीत-वंगीत।"

"भाभी ने सोल्लास बताया कि हारमोनियम, बाँसुरी और सितार तक खूब बजा लेती है। फर्स्ट प्राइज़ लिया है सारे जिले में।"

"ऊँह", छवि नाक चढ़ाकर बोला, "कुछ गले से भी गाती है ?"

"बहुत अच्छा गाती है।"

"पढ़ी कहाँ तक है ?"

"इंगलिश में इन्टर और हिन्दी में साहित्यल प्रथम खण्ड कर चुकी है, द्वितीय इस साल —"

बात काटकर छवि बोला, "तो भाभी हमें तुम्हारी बहिन पसन्द नहीं है।"

"पसन्द नहीं है ?"

"नहीं, तुम जानती हो हमें कैसी लड़की पसन्द है ?"

भाभी गुस्से से बोली, "नहीं, नहीं जानती।"

"तो सुनो, मैं बताता हूँ। लड़की हमें पसन्द है कि लाखों में एक हो। यानी रंग साँवला और चेहरा गोल। मैली धोती पहनने की आदी और शरीर पर जगह-जगह मैल की पर्त जमाए रखने वाली। ठेठ गाँव की। लम्बे भद्दे पैर हों और उन पर भी तक़रीबन आधी सूत मोटी मैल की पर्त हो। बाल हों तो लम्बे-लम्बे पर हों खूब रूखे और छोटे भी हों तो चल जाएगा। छोटे-छोटे बाल हों, सारे चेहरे पर बिखरे हों और वह दोनों हाथ, उठाकर उन्हें हर क्षण संभालती रहा करे। नाक लम्बी और नुकीली और आँखें; हाँ यहाँ का वर्णन जरा सँभल कर करना होगा। बस यहीं उसका समूचा सौन्दर्य छिपा हो। दो बड़ी-बड़ी गहरी काली आँखें हों, जो पारे की तरह हमेशा तैरती रहा करें और जब भी कोई उनमें देखे तो वे अनायास ही भर आया करें, भोला-भाला मुँह और भी भोला हो उठा करे और —"

भाभी ने झल्लाकर कहा, "अच्छा-अच्छा, बन्द करो यह बकवास, कब से टर्र-टर्र लगा रखी है। सीधे बताओ, तुम्हें सत्या पसन्द है ?"

"नहीं।"

"नहीं ?"

"नहीं, नहीं, नहीं। एक बार नहीं, सौ बार नहीं।"

छलनामयी को बहुत गुस्सा आया। तर्जनी उँगली खड़ी कर जोर से और विश्वास से कह गई, "तो सुन लो देवर जी, तुम्हारा ब्याह मैं उस ही से करूँगी। रुके तो रोक लेना।"

पैर पटकती वह वहाँ से चली गई और उस समय तो छविनाथ भी जोर से खिलखिलाकर हँस दिया पर सारी रात उसे नींद नहीं आई। रह-रहकर बहुत-सी खट्टी-मीठी बातें याद आने लगीं। भाभी की बात याद आई। वह उससे कितना प्यार करती है। उस पर कितना अधिकार मानती है। और वह खुद भी उससे कितना डरता है। उसकी बात को टालने का उसमें कितना कम साहस है। छविनाथ को याद आया कैसे दो सज्जन शादी का संदेश लेकर आए। फिर बहू को देखने जाने का कार्यक्रम निर्धारित हुआ। बड़ी बहिन सरिता को घर से बुलाया गया। बहू देखने जाने वालों का ताँगा ठुमक-ठुमक चाल से चल पड़ा। रवि साथ नहीं था। उसके प्रतिनिधि के रूप में छवि को साथ लिया गया था। छवि बहुत खुश था। नये कपड़े पहने थे। उस समय

उसकी अवस्था ही क्या थी, पर अपने को कितना बुद्धिमान समझता था, और तब जबकि बड़े भाई ने यह कहकर कि—छवि में मुझे विश्वास है, मेरी ज़रूरत नहीं, उसे ही ले जाओ—उसे आगे कर दिया था, तो वह फूला नहीं समाया था। ताँगे में बैठा-बैठा सोच रहा था कि भाभी यदि चाँद से तनिक भी कम सुन्दर हुई तो वह उसे नामंजूर कर देगा। भाई से वह बहुत प्यार करता था। उसके लिए पत्नी भी प्यारी ही होनी चाहिए। दिन भी अच्छा था। हल्के-हल्के बादल घिरे थे। नन्हीं-नन्हीं बूँदें गिरने लगी थीं। घोड़ा एक सुर में चल रहा था। उसकी टापों से एक मीठा संगीत पैदा हो रहा था जो सबके हृदयों को छू रहा था, भीतर एक हिलोर-सी भर देता था।

ममतामयी बहुत खुश दिखाई देती थीं। छवि के पिता भी उल्लसित थे। वैसे वे अक्सर गम्भीर रहा करते थे। सरिता तो फूली नहीं समाती थी, बोली, "चाँद-सी बहू आनी चाहिए रवि की।"

ममतामयी के मुँह की बात छिन गई थी। तनिक खिन्न स्वर में बोली, "सूरत को लेकर क्या चाटना है। स्वभाव में भली हो, लक्ष्मी-सी, तो बात है।"

सरिता ने प्रतिवाद किया, "सूरत पर तो कुछ लिखा होता नहीं माँ, और दिल में किसी के घुसकर देखा नहीं जा सकता।"

छवि अब तक चुप साँस रोके बैठा था। अब उससे चुप न रहा गया, झट से बोल उठा, "क्यों नहीं देखा जा सकता, अँग्रेज़ी की एक कहावत है कि **face is the index of mind.**"

सरिता कुछ कहना ही चाहती थी कि पिता ने दपट दिया, "अरे सब बुद्धि यहीं खर्च डालोगे, थोड़ी वहाँ के लिए भी रख छोड़ो।" फिर हँस दिए वे आज बहुत खुश थे।

पर बहू के दर्शन कर सब की खुशी ढुलक गई। सामने जो थी उसे बहू बिलकुल नहीं कहा जा सकता था। एक स्थूलकाय षोड्शी दोनों घुटनों को ज़मीन पर टिकाए और सिर को नीचे झुकाए बैठी थी। चेहरे पर चेचक के दाग थे और सारा चेहरा एक स्थूल मांस के काले लोथड़े के समान लग रहा था। आँखों के पट लगभग बन्द थे। शेष शरीर कपड़ों से ढँका था पर दो छोटे-छोटे, गोल-गोल और गोरे-गोरे हाथ बाहर थे। उन दोनों हाथों की कोमलता और चेहरे के रंग का कोई मेल नहीं बैठ रहा था। इस भेद से ही उस लड़की का पूरा परिचय मिलता था। स्पष्ट था कि भाग्य की और भगवान की लड़ाई का परिणाम यह लड़की है। जिस पर भाग्य के चिन्ह जितने स्पष्ट हैं भगवान की देन के चिन्ह भी उतने ही स्पष्ट हैं। छवि का हृदय करुणा से भर आया। उसे लगने लगा कि बुरा हुआ जो वह यहाँ आया। अब पल में ही माँ, बहिन और पिताजी इस बेचारी को, जो न मालूम कितने अरमान, कितने स्वप्न और कितने भय इन आँखों में बन्द किये बैठी है, नामंजूर कर देंगे। इसके वे सब स्वप्न रेत की दीवार की तरह ढह जाएँगे और भय सब सच्चे हो जाएँगे। यह रात-भर न जाने कितना-कितना चुप-चुप घुटकर रोयेगी, किसी को पता भी नहीं चलने देगी। दोष इसका सिर्फ इतना है कि इसको चेचक निकली थी, जिस पर इसका कोई बस नहीं था। छवि की छोटी-सी अक्ल ने यह भी समझा कि ज़रूर और भी बहुत से लोग इसे देखकर नामंजूर करके जा चुके हैं।

छवि की आँखों में आँसू भर आने को हुए। वह उसने रोक लिये। वह अपने भाई को पहचानता है। वह खूब सहन कर सकता है। तो ठीक है, देखा जायेगा।

उसने एक दृढ़ संकल्प किया और चुप होकर बैठ गया।

उधर माँ ने देखा तो बोली, "ना।"

सरिता ने कहा, "हाँ, 'ना' ही ठीक है।"

पर पिता ने कहा, "छवि से पूछ लो, रवि का नुमाइन्दा वही है, उसका फ़ैसला ही आखिरी फ़ैसला है।"

छवि को अपने पिता पर गर्व हो आया। उसने एक बार फिर उस लड़की की तरफ दृष्टि घुमाकर देखा। इस बार उसकी दशा में थोड़ा अन्तर था। आँखें खुली थीं, और छवि पर टिकी थीं। उन बड़ी-बड़ी काली-काली आँखों में क्या नहीं था। करुणा थी, लज्जा थी और वह पानी था जो कम ही को नसीब होता है। छवि और चाह क्या सकता था। उसने कभी भी और चाहा क्या था। भिक्षा माँगती-सी अपने पर टिकी उन आँखों को झट उसने वह दे डाला जो वे चाहती थीं। गाढ़े विश्वास से बोला, "मेरी हाँ।"

"हाँ!"

छवि ने और भी जोर देकर कहा, "हाँ, मेरी 'हाँ'।"

और उन तीन बुजुर्गों ने साश्चर्य रिश्ते की मंजूरी दे दी।

शादी हो गई और छलनामयी घर आ गई। पास-पड़ोस वालों ने नुक़्ताचीनी की तो ममतामयी ने एक कान न दिया, और सरिता ने तो खूब डटकर मुकाबला किया। भाभी को कोई मोटी कह देता तो वह उसे खरी-खरी सुनाती कि बेचारी को पिण्ड छुड़ाना मुश्किल हो जाता। छवि के पिता ने तर्जनी उँगली खड़ी कर जता दिया कि यदि कोई भी उनकी बहू को कुछ कहेगा तो भला नहीं होगा। रवि बाबू ने भी उसे सहर्ष स्वीकार किया। उस घर में उसे इतना मान मिला जितना शायद वह खूबसूरत होती तो भी न मिलता। छवि की अनोखी पसन्द अनोखी ही निकली। उसने अपने सरल, भोले स्वभाव से सबका मन मोह लिया, छवि से उसकी खूब पटती।

छवि कहता, "माँ, भाभी को यह मुँह पर क्या हुआ था तुम्हें मालूम है ?"

माँ कहती, "नहीं, नहीं मालूम। बस ज्ञानी-ध्यानी तो घर में एक तुही है।"

"अरे सच माँ, तुम्हें नहीं मालूम ?"

माँ समझ जाती, हँसकर कहती, "अच्छा, तू ही बता।"

"बताऊँ ?"

"बता।"

"तो सुनो एक दिन की बात है,—बात बचपन की है और सुनाई आज जा रही है—हाँ, तो एक अर्से की बात है, जब भाभी कोई छः साल की रही होंगी। एक नीला फ्रॉक पहने एक बगीचे में टहल रही थीं। इनके पिता जी दूर एक बेंच पर बैठे थे। तभी-तभी इन्होंने खूब चटपटी चाट खाई थी और उस समय इनका मन किसी मीठी चीज को बन रहा था। पर उस सुनसान बगीचे में न तो कोई फल था, न फूल, सो कोई मीठी चीज़ नहीं मिल रही थी। मुँह इन का जला हुआ था कि सारा बदन पानी-पानी हुआ जा रहा था। ऐसी विपता में कौन इनका सहाई होता। पर सुना है भगवान सबकी सहायता करते हैं। उन्होंने इनकी पुकार सुन ली और तत्काल ही शहद से भरी एक बड़ी-सी मटकी अपने वाहन गरुड़ के हाथ पृथ्वी पर भिजवा दी। इनको जो वह हांडी दीखी तो बस फिर क्या था, आव देखा न ताव, पूरा-का-पूरा मुँह उस हँडी में डाल

बैठ गईं और समूचा शहद हड़प कर गईं।"

"फिर क्या हुआ ?" रवि ने पूछा।

"भई, आगे की बात बताने की नहीं है।"

"अरे बता भी।"

"भाभी मारेंगी।"

"मैं बचा लूँगा, बता।"

छवि उछलकर साभिनय कहता, "होना क्या था, अनर्थ हो गया। भगवान तो ठहरे अव्वल नम्बर के चोर। उनके पास अपना तो कुछ है नहीं। इस-उसका माल चुरा कर अपने भक्तों को दे देते हैं और चोरी का माल पकड़ा जाता है भक्तों के यहाँ से।"

"यानी ?"

"अरे यानी क्या, जिन मक्खियों का वह शहद था न, उन्होंने खोज-बीन शुरू की और चोरी पकड़ी गई। हमारी भाभी जी का मुँह मटके से बाहर आया नहीं कि वे सब मिलकर इनके मुख से चिपट गई और—"

"और क्या ?" रवि हँसता-हँसता पूछता।

सानुनासिक स्वर में छवि महाराज उत्तर देते, "भैया, लाचार मक्खियाँ बेचारी पेट में गया शहद तो निकाल न सकीं पर मुँह पर जितना चिपटा था सब उतार ले गईं और साथ में···साथ में भाभी की थोड़ी-सी चमड़ी भी, तुम समझ गए न भैया!"

भैया कहते, "पर यह तो कहती है कि चेचक निकली थी।"

"झूठ भैया, सफ़ेद झूठ! यह तो वही हुआ, जो मैंने बताया।"

छवि कुछ ऐसे अभिनय और हाव-भाव से यह सब सुनाता कि छलना चिढ़ने के बदले और भी मन्त्रमुग्ध हो, उसे देखती-की-देखती रह जाती। कुछ बात भी बनाये न बनती उससे।

ऐसे ही न जाने कैसे-कैसे वह उसे चिढ़ाता। एक दिन रसोई के सामने खड़े हो माँ से बोला, "माँ, जरा भीतर से रवि भैया को बुला दो।"

"अब क्या है, क्यों बुलाऊँ ?"

"एक बात बताऊँगा माँ।"

रवि भैया भीतर बैठे सुन रहे थे। छवि की दिलचस्प बातों में सभी रस लेते थे। दौड़े बाहर चले आए। बोले, "क्या है, बोल ?"

छवि बोला, "एक बात कहनी थी भैया, बुरा न मानो तो।"

"अरे कह ना।"

"रसोई में देखा ?"

"हाँ।"

"क्या देखा ?"

"कुछ भी तो नहीं।"

"नहीं समझे, अच्छा, देखो मैं समझाता हूँ। भाभी पहले काली थीं अब गोरी होती जा रही हैं। चेहरे पर के दाग भी न जाने क्या हो गये हैं और बदन भी कैसा सुँतता जाता है। अब देखो न, आग की लौ से लाल तपा चेहरा कितना बदला हुआ लग रहा है। सच बताऊँ भैया, अपने मन की बात, मुझे तो ऐसा लगता है जैसे ये चूल्हे पर बैठकर कुछ अन्याय करती हैं।"

इससे पहले कि छलनामयी या रवि भैया कुछ बोलें, माँ जोर से दपटकर कहतीं, "क्यों रे, बहुत जुबान निकल गई है तेरी, करती है अन्याय वह बेचारी, सब ताज़ी रोटियाँ सबके पेट में ठूँसती है और बासी बची अपने पेट में डालती है। पता चला तुझे क्या अन्याय करती है वह चूल्हे पर बैठकर।"

छवि कहता, "पता चल गया माँ, शास्त्रों में लिखा है कि बासी रोटी खाने से सेहत बढ़ती है।"

"तो आज से तुझे दिलवा दिया करूँ सब बासी रोटियाँ।"

"उफ् माँ ! मर्दों की नहीं स्त्रियों की।"

छलनामयी को कभी किसी ने तीखी बात कहते न सुना था पर उस दिन न जाने क्यों कह बैठी, "देवर जी, इतना घमंड ठीक नहीं। मैं क्या सदा ऐसी ही थी। मैं भी कभी—"

छवि ने बात की पूँछ पकड़कर कहा, "लाखों में एक थी।"

"और नहीं तो क्या, मंगाकर देखो मेरा बचपन का फोटो, मेरे घर से। पता चल जायेगा। फोटोग्राफर ने भी कहा था कि ऐसी खूबसूरत बच्ची उसने आज तक नहीं देखी।"

बात छवि को लग गई। छलनामयी के घर से उसका वह बचपन का फोटो मंगाया गया। और सबको एक स्वर से मानना पड़ा कि वास्तव में छलनामयी का गर्व मिथ्या नहीं था। उस छोटी-सी बालिका का सौन्दर्य अवर्णनीय था। उस बाल मुख पर अलौकिक आभा थी। वही आभा जो राधा के चेहरे पर वर्णित है और जिसे देखकर मन अनायास ही मुग्ध हो जाता है।

छवि तो उस छटा पर मुग्ध रह गया। सबसे छिपकर घंटों-घंटों उस तस्वीर को लिए बैठा रहता और ताकता रहा। न जाने उसे उसमे कौन नज़र आता कि वह तस्वीर ही उसे सबसे प्रिय हो उठी। कभी-कभी मन के भीतरी कोन से सुन भी पड़ता कि जसोदा भी कभी ऐसी ही सुन्दर दीखा करती थी, पर उस आवाज़ को वह दबा देता। न जाने क्यों उसकी याद आते ही उसका मन कैसा हो आता कि सब फीका लगने लगता और तब यदि कुछ उसे शान्ति दे पाती तो वह तस्वीर ही होती। एक दिन जाकर वह उसे बडी करवा लाया और कमरे के बीचोंबीच लटका दिया। जब पूछा कि यह क्या है, तो बोला, "देखो, अब कमरा कितना अच्छा लग रहा है।"

यही सब सोचते-सोचते उसने वह रात बिता दी। मन-ही-मन यह निश्चय किया कि भाभी की किसी भी इच्छा का वह प्रतिरोध नहीं करेगा। उन्हें उससे दु:ख होगा और फिर सत्या उन्हीं की बहिन तो है। वे जब ऐसी हैं तो क्या वह वैसी न होगी। उसे पाकर वह कृतार्थ हो जाएगा। और उसका वह मन जो न जाने क्यों रात-दिन रोऊँ-रोऊँ करता है, शान्त हो जाएगा। उसका जीवन भी क्या धार नहीं पकड़ लेगा। वह भी क्या आदमी नहीं बन जाएगा ?

9

दो साल बाद छलनामयी को ईश्वर ने एक नव-शिशु प्रदान किया। चाँद-सा लड़का पाकर सारा घर नाच उठा। ममतामयी दौड़कर टोने-टोटके करने लगीं। सरिता ने आने-जाने वालियों को सँभाला। रवि बाबू बाज़ार के काम पर लगे हुए थे और जब रवि के पिता ने देखा कि घर का

काम करने को कोई खाली नहीं है तो खुद ही लग गए। बादाम फोड़े, साथ में अपनी उँगलियाँ भी नरम कीं। आग सिलगाई तो आँसुओं से सारी धोती भीग गई और पानी भरकर लाने में तो वह मज़ा रहा कि क्या कहने, पर वे हिम्मत नहीं हारे, कुछ-न-कुछ करते रहे। साथ ही नव-शिशु को थोड़ी-बहुत ऊँची-नीची गालियाँ भी सुनाते रहे, कहते, "धत्त तेरे की, जो काम कभी नहीं किए थे आज करने पड़ रहे हैं।" फिर अपनी मूँछों-ही-मूँछों में मुस्कराकर जरा आहिस्ता से कहते जिससे कोई सुन न ले, "पोता हुआ है बाबू, पोता; कोई खेल नहीं है। चक्की भी पिसवा ले तो भी कोई बात नहीं।"

फिर चीखते, "सरिता, ओ सरिता!"

और जब सरिता दौड़कर पास आती तो कहते, "ले, पानी गरम हो गया।"

सरिता कहती, "कहाँ पिताजी, अभी तो भाप भी नहीं निकली।"

"अच्छा, पर इतनी देर से तो रखा है।"

"जरा और रखा रहने दो।"

और वे फिर हँस-हँसकर अँगीठी झपकने लगते। लगता था जैसे खुशी उस दिन घर के हर कोने में किसी ने छिड़क दी है। छलना की छोटी बहिन सत्या भी आई हुई थी। छलना का छोटा भाई भी था। बहिन के घर में होने के कारण उन्हें हमेशा जो संकोच हुआ करता था आज उसके लिए कोई स्थान नहीं था। वे भी दौड़-दौड़कर काम कर रहे थे और अपनी बहिन की खुशी में हिस्सा बंटा रहे थे। पर एक व्यक्ति जो उस दिन घर में नहीं था, वह था छवि। ऐसे ठीक मौके पर वह ग़ायब हुआ था कि एक-एक मिनट बाद उसका नाम उच्चारित हो रहा था। माँ कहती, "कहाँ मर गया?" पिता कहते, "गाली क्यों देती है, आता ही होगा।" रवि कहता, "आता होगा, उड़ाता फिरता होगा गुलछर्रे!" और सरिता हँसकर कहती, "तो रवि बाबू अकड़ते क्यों हो, काम तुम्हारा, तुम करो।"

छवि रात को देर से लौटा तो खबर पाते ही उछल पड़ा। पर इतना सबको लगा कि मुँह उसका भारी है। पर इस बात पर अधिक ध्यान किसी ने नहीं दिया। छवि ने अपनी वही आकाश-वृत्ति की बातें शुरू कर दीं और सबको हँसी से लोट-पोट करने लगा। सत्या को देखते ही बोला, "ओ-हो-हो, तो संगीतज्ञा, गायिका, महापंडिता और घर काम-काज-निपुणा, दर्जिनी देवी जी भी विराजमान हैं।"

ममतामयी ने दपटकर कहा, "बकवास बन्द कर, पहले यह बता कि आ कहाँ से रहा है?"

"सीधा ब्रह्मा के पास से।"

ममतामयी बोली, "तेरा ब्रह्मा-ब्रह्मा मैं सब निकाल दूँगी। सच-सच बता।"

छवि बोला, "सच कह रहा हूँ माँ, सीधा ब्रह्मा के पास गया था।"

"यह रात के बारह बजे तक तेरे ब्रह्मा जागते रहते हैं।"

"हिश माँ, क्या कहती हो, ब्रह्मा भी कहीं सोते हैं। नींद विकार है और वह देवताओं के तो पास भी नहीं फटकती।"

ममतामयी झींक कर बोली, "बातों में तुझ से कोई जीत सका है? क्यों गया था ब्रह्मा के पास?"

छवि अपने चिर परिचित अभिनय के साथ बोला, "वह बात तुम्हें बताने की नहीं है।"

"क्यों बताने की नहीं है?"

"बूढ़ी हड्डियाँ हैं, ज्यादा खुशी बरदाश्त नहीं कर सकेंगी।"

"हाँ-हाँ, तू बता, मैं कर लूँगी बरदाश्त।"

"तो सुनो, मैं तुम्हारे पोते का भविष्य पूछने गया था।"

"क्या कहा तेरे ब्रह्मा ने ?" ममतामयी ने जाल में फँसते हुए कहा। छवि ने मुँह फेरकर कहा, "दस रुपये फीस लगती है।"

"काहे की, बताने की।"

"हां, और नहीं तो क्या ?"

छवि की बातों की यही खूबी थीं। सब जानते थे कि सफ़ेद झूठ बोल रहा है। पर मन की उत्सुकता को उसकी बातों के बाद दबा सकना असम्भव था। ममतामयी की उत्सुकता तो कलेजा फोड़े दे रही थी। पोते के भविष्य को जानने की बात थी। मन कहता था छवि गप्पी है, पर उत्सुकता कहती, हो सकता है कि किसी साधु-संगी से मिल आया हो और कुछ पूछ आया हो। फिर सोचती, दस रुपये बहुत होते हैं, पर तभी उत्सुकता समाधान कर देती, इस समय तो यह धूर्त्त रुपये लिए बिना कुछ बताएगा नहीं, दे दूँ, फिर इस-उस बहाने से ले लूंगी, कह दूँगी, भाभी की दवाओं में पैसों की कमी पड़ रही है, दे देगा, मना नहीं करेगा। कुछ देर तो वे इसी खींचातानी में रहीं पर अन्त में उनसे नहीं रुका गया। और जेब से दस रुपये देती हुई बोलीं "अब बता।"

रवि जोर से हँसकर बोला, "मान गए छवि, उस्ताद हो, कल सिनेमा रहेगा।"

छवि भी हँसकर ही बोला, "माफ़ करना भैया ! ब्रह्मा से अपना उधार खाता चलता है, आज भविष्य उधार ही लाया था। ये तो उसे देने हैं, फिर सही।"

ममतामयी बोली, "अब बता न रे !"

छवि अत्यन्त गम्भीर मुद्रा बनाकर बोला, "जगत के स्रष्टा, श्री ब्रह्मा ने यह भी कहा था माँ कि बेटा, जिस किसी को यह भविष्य बताना, ब्राह्म मुहूर्त्त में बताना। अर्द्ध-रात्रि को भविष्य बाँचने से ग्रहों पर बुरा असर पड़ता है।" फिर स्वर को एकदम गिराकर उसमें ढेर-सी विनती भरकर बोला, "तो माँ, मैं जाऊँ ?"

"जाऊँ ? जाऊँ कहाँ रे ?"

"माँ, मुझे एक काम है, सुबह आऊँगा।"

"सुबह आएगा ?"

"हाँ माँ।"

"ऐसा कौन-सा काम है, रात के बारह बजे।"

"कब लौटेगा ?"

"सुबह।"

छवि चला गया। लौटकर सुबह न आया, दोपहर बाद आया। पर वह कहाँ गया था और क्यों गया था कुछ पता न चला। वह बात रहस्य ही बनी रही। घर का बहुत-सा पैसा उस रहस्य के गर्त में जाने लगा। महीनों के अर्से में हज़ारों रुपया इस-उस तरीके से अन्तर्धान हो गया। पर न रहस्य खुला और न छवि का मन। लगता जैसे वह कुछ अच्छा काम कर रहा है, पर अच्छा काम करने के बाद मन में जिस स्फूर्ति, जिस प्रकाश का प्रादुर्भाव हुआ करता है वह उसमें नहीं हो रहा था। उल्टे एक ऐसा परिवर्तन आता लगता था जिसके परिणाम निश्चय ही भयानक

आ करते हैं। उस किशोर वय में ही उसके शरीर में आलस घर करने लगा। देर से उठना और बिना नहाये-धोये ही कॉलेज चले जाना उसकी आदत बन गई। खाने-पीने में इतना अनियमित हो उठा कि घर वाले परेशान हो उठे। पढ़ने से मन चुराने लगा, अपने सुख-दुःख को हर एक से छिपाने लगा। वह हँसाकर लोट-पोट कर देने वाली उसकी बातें न जाने कहाँ लोप हो गईं और एक चिड़चिड़ा और बात-बात पर नाराज़ हो उठने वाला छविनाथ शेष रह गया। अब छलनामयी की भी हर बात वह आसानी से न मानता और कभी-कभी तो नहीं ही मानता। छलनामयी के रूठने का अब उस पर कोई असर न होता और माँ से तो जैसे उसे नफ़रत ही हो उठी। रवि भैया से और पिता से डरने लगा। उनके सामने होने से कतराता। दिन का अधिकतर समय बाहर ही बिताता। घर पर तो बस खाना खाने या सोने ही वह आता। ऐसे धीरे-धीरे उसके मन की गाँठ और उलझती गई। सुलझाने की कोई राह उसे सूझ न पड़ती और वह सुन्न-चुप न जाने क्या-क्या सोचा करता। जीवन उसका ही दूभर हो चला हो ऐसी बात नहीं थी, घर वाले भी उससे परेशान हो चले थे और दोनों पक्षों के बीच एक गहरी खाई खुदती चली जा रही थी। छलनामयी अब कभी उससे कोई आग्रह न करती, माँ कभी-कभी उस अपने बिखरे बाल और सूखे-मुँह बेटे को देख रो लेतीं और रवि भैया अपने दुनिया-भर के कामों से छुट्टी पा उसे समझा लेते और समझाने की कोशिश कर लेते। पर कोई उसे समझ न सका और आखिर सारा घर एकबारगी ही उस पर झुँझला उठा। वह सब की आँखों में खटकने लगा। पास-पडोस तक के लोग उससे नफ़रत करने लगे और उसे ऐसी निगाह से देखने लगे जो किसी के लिए भी शर्म की बात हो सकती है। पर छवि उन सबसे ऊपर न जाने कहाँ, कौन-सी दुनिया में चक्कर काटता हुआ जीता रहा। दिन-पर-दिन और रहस्यमय होता चला गया। और-और अकेला होता चला गया।

कोई महीनों बाद वह घर मे भरी आँखों से घुसा गर्मियों का मौसम था। सीधा ऊपर छत पर गया और एक खाट पर धम् से गिरकर फूट-फूटकर रोने लगा। खूब रोया, खूब रोया और जब हल्का हो चुका तो सोचने लगा कि वह जो इन पिछले कुछ महीनों में उसने खोया है क्या वापस पा सकता है ? क्या भाभी से वह फिर कभी वैसी ही हँसी-ठिठोली कर सकता है ? या मा से ही क्या अब वह बहका कर दस रुपया ऐंठ सकता है या रवि भैया—नहीं, अब कुछ नहीं हो सकता, उसने सब खो दिया। उसका सब लुट गया। चादर उसके पास ही पड़ी थी। उसे उठा कर उसने पाँव से सिर तक खुद को ढँक लिया और सोने की चेष्टा करने लगा। पर जिसका इतना सब खो गया हो उसे सोना नसीब कहाँ होता है। तो ?...'खो गया' इसी प्रश्न के साथ-साथ उसे यह भी बार-बार याद आता कि वह सब गया कहाँ है, क्यों गया है और किसके कारण गया है। अपने पिछले कुछ महीनों का इतिहास उसकी आँखों में घूम-घूम जाता और वह ऐसे तिलमिला उठता जैसे बिच्छू के काट खाने पर कोई बच्चा। काश ! कोई उस समय उसके पास होता तो वह उसे सब सुनाता पर न हो कोई, वह खुद तो है। वह सब याद करने लगा। सब खुद को ही सुनाने लगा। याद करते-करते उसकी आँखों में फिर से आँसू भर आये, शरीर थर-थर काँपने लगा और वह पल जो कभी उसे बहुत मीठे लगे थे, भूत बनकर उसे डराने लगे।

10

1947 के सितम्बर या अक्टूबर का महीना रहा होगा। भारतवर्ष स्वतन्त्र हुआ-हुआ था। पर स्वतन्त्रता के उल्लास को साम्प्रदायिकता के विष ने नीला कर दिया था। उधर पाकिस्तान में हिन्दुओं का खून बहाया जा रहा था और इधर हिन्दुस्तान में मुसलमानों की जिन्दगियों से गेंदों की तरह खेला जा रहा था। छवि भी जोश में था और वह भी वही कुछ करना चाहता था जो और कर रहे थे। आग लगाने वालों के गुट में वह उत्साह से शामिल होता। जहाँ दल के सब लोग घुसने में हिचक जाते वहाँ छवि अकेला आगे बढ़ जाता और काम पूरा करके ही लौटता। दल के लोगों का उस पर पूरा विश्वास था। वह नहीं जानता था कि क्या हो रहा है पर इतना उसे समझा दिया गया था कि इन्हीं मुसलमानों के कारण भारत के दो टुकड़े हुए हैं और इन्होंने ही पाकिस्तान में लाखों हिन्दुओं को बकरों की तरह हलाल कर दिया है; उनकी स्त्रियों को सरेबाज़ार नंगा किया है और बच्चों को गंडासों से चरी की तरह काटा है। छविनाथ की आँखों में यह सुन-सुन आँसू भर आते। उसका जवान होता हुआ खून खौल उठता और वही सब दोहराने को ऐसे उबल-उबल उठता कि जैसे दूध आग बुझाने को उबलता है। उसने अनुभव किया कि उसके शरीर में बहुत शक्ति है, और निश्चय ही वह हज़ारों आदमियों से अकेला ही मुक़ाबला कर सकता है। अपनी शक्ति को उसने खूब विस्तार दिया। इधर-उधर से हथगोले बनाने की तरकीबें सीखीं और अपना एक अलग दल बना डाला। उसके मन में था कि उन अत्याचारियों को जो कि सिर्फ़ अत्याचार के बलबूते जीते हैं, वह नेस्तनाबूद कर देगा। उसकी वीरता के सामने नेपोलियन और सिकन्दर की वीरता भी सिर झुका जाएगी। कितनी ही मस्जिदें उसकी चपेट में आईं और कितने ही मुसलमान उसके छोटे-छोटे पटाखों से मौत के घाट उतरे। रात-रात भर वह अगले दिन की स्कीम बनाता और अगले दिन पूरी सफलता के साथ कर डालता। उसके साहस को देखकर उसके दोस्तों ने उसे अपना नेता स्वीकार किया और वाकई छाती तानकर जब छविनाथ घर से निकलता तो कई लोग उसकी प्रतीक्षा में खड़े होते। उसके दोस्त उसके दिमाग का इसलिए भी लोहा मानते थे कि रोज पैसा इकट्ठा करने की एक नई स्कीम वह उन्हें देता था और तब तो उसकी धाक और भी जम गई जब उन ही दिनों वह जामा मस्जिद के कई चक्कर काट आया, जिन दिनों कि हिन्दू जात का पंछी भी उधर से निकलने का साहस न करता और बिना भेष बदले और अपनी दस इंची चोटी को लहराता। लगभग दिल्ली भर के मुसलमानी मुहल्लों में वह हाथ में एक 'गुप्ती' लिये घूम आया और मौत उससे कन्नी काटती रही। कहने को उसके एक-आध दोस्त ने यह भी कह दिया कि उसे तो देवी इष्ट है या कि वह साधारण आदमी नहीं है।

उसी साल की जन्माष्टमी के दिन शहर भर में भयानक विस्फोट हुआ। दिन भर लोग घर से बाहर नहीं निकले। दोनों तरफ से गोलियाँ चालू रहीं और शहर भर में कर्फ़्यू लगा रहा। पर छवि के प्रोग्राम में कोई अन्तर न आया। एक घंटे के लिए ही जब कि कर्फ़्यू खुलता तो वह अपनी गुप्ती ले घर से निकल पड़ता। हिंसा उसके चेहरे पर नाचने लगती और कुछ-न-कुछ करके ही वह गर्व से झूमता वापस घर लौटता। जन्माष्टमी की रात दिल्ली को हमेशा याद रहेगी। छत पर खड़े होने से लगता था कि जैसे चारों तरफ श्मशान फैला हुआ है। हर दस

क़दम पर आकाश को छूती हुई आग की लपटें उछल-उछलकर रौरव नृत्य कर रही थीं। 'हर-हर महादेव' और 'अल्लाहो अकबर' के नारों से पूरी दिल्ली गूँज रही थी। उस दिन हिन्दू मुसलमानों का अंतिम संघर्ष था और संघर्ष अत्यन्त भयंकर हो उठा था। मौत को मनुष्य की दानवी वृत्ति भोजन परस रही थी। उस रात वह दृश्य था जो मनुष्य को अपनी आँखों से देखना कम ही नसीब होता है। सबेर हुई, सब शान्त हुआ और चारों तरफ मिलिट्री का कड़ा पहरा छा गया। छवि ने अपने गुप्ती सँभाली और मैदान के निरक्षण को चल पड़ा।

पर आज छवि हँस न सका। बाजार में निकलते ही जो पहला दृश्य उसने देखा वह था कि पास के गाँव का एक ग्रामीण हाथ में एक मुसलमान बच्चे को लिये खड़ा है। बच्चा कोई दो साल का रहा होगा। दोनों हाथों को एक हाथ में थाम उसने उसे अधर में लटका रखा है और हाथ के गंडासे को तान-तानकर उस पर मार रहा है। बच्चा रो नहीं रहा था। या तो मर चुका था या अधमरा था। एक-एक झटके से उसका एक-एक अंग कटकर गिर पड़ता और वार के साथ उस ग्रामीण और उसके साथियों का कहकहा वातावरण में गूंज उठता। छवि सिहर उठा, पर कुछ बोला नहीं, आगे बढ़ा। जो और दीखा वह हृदय चीथड़े-चीथड़े कर देने को काफी था। कोई बारह चौदह नग्न-युवतियों को एक छत पर लोगों ने घेर रखा था। उनके चारों तरफ घेरा था। निकलने की कोई राह नहीं थी। उनके साथ जो कुछ हो चुका था उसका तो छवि अन्दाज़ ही लगा सका पर जो हो रहा था उसको देखकर उसकी आँखें भर आईं। हर लड़की को उस तिमंजिली छत से धकेला जाता। वह नीचे 'अल्लाह' को पुकारती गिरती। आशा कम ही होती कि उसमें सांस-दो-सांस प्राण होंगे पर विश्वास करने को या परीक्षा करने को वहाँ वक़्त किसके पास था। नीचे खड़ा एक लाठीबन्द दल तत्काल ही दो-चार करारे प्रहारों से उसे समाप्त कर देता। छवि और आगे बढ़ा, और कई दिनों से जो उसके शरीर में एक कठिनता उभर आई थी वह घुलती चली गई। उसकी आँखों से फूट-फूटकर खारे पानी का झरना झरने लगा। छवि ने और भी बहुत कुछ देखा। ट्रंकों से दूध पीते शिशुओं को निकलते देखा और खुली आँच में ठहाकों के तेल पर भुनते देखा। उसने बुड्ढी हड्डियों को पत्थरों की चोट से टूटते और चेतना खोते देखा; उसने स्त्रियों को बीच बाज़ार उस दशा में देखा जिसमें वे घर में भी अँधेरा होने पर ही होती हैं। अधजली लाशों में लोगों को ठोकरें लगाते देखा। उसने यह भी सुना कि यही हाल पंजाब में हमारा हुआ था और उसने यह भी कहते सुना कि बदला लेंगे, लेकर रहेंगे। पर उसने जिस नृशंसता को कभी सपने में भी नहीं सोचा था उसे जब होते देखा तो लगभग दिमाग अपने हाथ से खो बैठा।

...और इससे पहले कि वह नृशंस उस सुन्दर बालिका की छाती पर घातक प्रहार करता छवि की गुप्ती उसके शरीर को चीरती हुई उसकी छाती के पार हो गई। उस समय छवि का समूचा शरीर क्रोध से जल रहा था। उसकी आँखों में चिनगारियाँ थीं। बल भी न जाने उसके शरीर में उस समय कहाँ से सिमट आया था कि पलक झपकते ही उसने उस अचेत बालिका को अपनी दोनों बाहों में उठा लिया और अस्पताल की ओर ऐसे भागा जैसे कोहेनूर हीरा पाकर कोई निर्धन मनुष्य भागे।

अस्पताल में तीन दिन तक छवि उसके पास बैठा रहा। वार्डर्स की लाख कोशिशों पर भी वह नहीं हिला। उसकी आँखों ने पलक तक न झपकी। बैठा वह उस भोले-भाले मुँह को निहारता रहता। चेहरे पर बेहोशी में भय की कालिख पुती थी। छवि बार-बार चाहता कि वह

उससे कहे 'पगली, अब न डर। अब तुझे कोई डर नहीं है। मैं तुझे बचा लाया हूँ। तू जाग तो सही। मैं तुझसे बात करूँगा। तेरे दुख-दर्द में हिस्सा बटाऊँगा।' पर यह समझकर कि वह तो अभी अचेत है, वह चुप रह जाता और उसके होश में आने की प्रतीक्षा करता रहता। उसकी आँखों की नींद न जाने कहाँ गायब हो गई थी और तीन रात लगातार जागने पर भी उसमें कोई थकान नहीं थी।

डॉक्टरों से पूछता, "डॉक्टर साहब ?"

डॉक्टर कहता, "घबराओ नहीं। ठीक हो जाएगी। तुम्हारी कौन लगती है। तुम तो हिन्दू लगते हो।"

छवि कहता, "जी।"

तो डॉक्टर हँसकर कहता, "ओह ! लूट का माल है ?"

और जब तक छवि प्रतिवाद के लिए और सच बात बताने के लिये अपने में शक्ति पैदा करता, डॉक्टर यह कहता और हँसता हुआ चला भी जाता कि "बहादुर लड़के हो, पर घर वालों से भी पूछ लिया है !"

एक नर्स बोली, "ब्याह करोगे ?"

छवि इस बार हँसकर बोला, "आप क्या कहती हैं, कर लूँ ?"

नर्स बोली, "ज़रूर कर लो। खूबसूरत है ! पर उतना साहस है ?"

छवि ने कहा, "सिस्टर, साहस तो है। पिता भी मेरे आर्यसमाजी हैं। उदार विचारों के हैं माँ की बात है, पर उनको मैं अपनी भाभी से राजी करा लूँगा। पर वह सब तो इसकी मर्जी पर निर्भर करता है ना, इसे तुम जल्दी से होश में लाओ सिस्टर, मैं इससे पूछूँ होगा तो वही जो इसकी मर्जी होगी।"

नर्स ने पल को छवि को स्नेह से देखा, फिर बोली, "अच्छे लड़के हो, औरत की इज्जत करना जानते हो। सुखी रहोगे, बड़ी बहिन के नाते मैं तुम्हें आशीर्वाद देती हूँ।"

छवि ने आशीर्वाद तो सहर्ष स्वीकार कर ताक पर रख दिया, फिर कातर कण्ठ से बोला, "क्यों सिस्टर, बच तो जाएगी !"

"हाँ, बच जाएगी।"

"होश में कब तक आएगी ?"

नर्स एक उसाँस भरकर बोली, "बहुत अत्याचार हुआ है इस नन्हीं कली के शरीर पर, लेकिन तुम चिन्ता न करो, जल्दी ही होश में आ जाएगी।"

और नर्स की बात सच निकली। उसी दिन रात के ग्यारह बजे वह होश में आने लगी। छवि खुशी से फूल उठा। लगभग आधे घंटे की कशमकश के बाद बालिका बिलकुल होश में आ गई। डॉक्टर तेजी से दौड़े आये और परीक्षण करने लगे। लड़की जागी तो, पर उसकी आँखों में एक भयजनक विक्षिप्तता थी। शायद बेहोश होने से पहले का दृश्य उसकी आँखों में अब भी घूम रहा था। वह कभी 'अम्मी' कहती कभी 'अब्बा' और कभी 'खालाजान, हिन्दु' कहकर फिर लुढ़कने लगती। डॉक्टर फिर उपचर्या करने और वह फिर चेत में आने लगती। फिर अपने चारों तरफ के लोगों को देखती और एकबारगी ही चीख मार उठती। डॉक्टर ने अपने और छवि के सिवाय वहाँ से सबको हटा दिया। किन्तु लड़की का डर शीघ्र ही समाप्त नहीं हुआ, लगभग दो घंटे तक होश और बेहोशी की लड़ाई चलती रही। जब भी होश में आती,

डॉक्टर कहता "डरो नहीं बेटी, इन्हें देखो, इनसे बात करो, इन्होंने अपनी जान पर खेलकर तुम्हारी जान बचाई है।"

वह एक पल को छवि को देखती और बेहोश हो जाती। पर कोई एक बजे पहली बार वह पाँच मिनट तक मुँह-फेरे लेटी रही। फिर मुड़कर छवि की तरफ देखा और धीमे स्वर में बोली, "इन्होंने ?"

डॉक्टर ने कहा, "हाँ, इन्होंने।"

"हिन्दू ! ?"

डॉक्टर ने अत्यन्त स्नेह से उसके बालों में उँगली घुमाते हुए कहा, "हिन्दू हुआ तो क्या हुआ बेटी, सब हिन्दू एक से नहीं होते और अब तुम डरो नहीं, अब तुम्हें कोई खतरा नहीं है।"

लड़की बोली, "अब मुझे कोई नहीं मारेगा ?"

"नहीं, अब कोई नहीं मारेगा।"

लड़की कुछ आश्वस्त हुई तो पूरी तरह सचेत हो गई। पर पूरी तरह होश में आते ही उसका रोना फूट निकला। अचेतावस्था के कारण जो वह भूल चुकी थी, उसे याद आने लगा। अपनी अम्मा, अब्बा और सगे-सम्बन्धियों की मौत के दृश्य याद हो आये और याद हो आया अपने शरीर पर हुआ वह अत्याचार, जो वीभत्स था और जिसे स्मरण करते ही उसकी पिंडलियाँ तक काँप-काँप उठती थीं। वह खूब रोई, हिचकियाँ भरकर, फफक-फफककर, यह कह-कह कर कि "अब मेरा क्या होगा, अब मैं कहाँ जाऊँगी 'मेरे अब्बा', अम्मी, खाला मुझे कहाँ मिलेंगी कैसे मिलेंगी ? क्या कभी नहीं मिलेगी ?"

डॉक्टर को किसी और मरीज़ के पास जाना था शायद। वह तो चला गया। पर छवि को वहीं छोड़ गया। पीछे से नर्स को भेज गया। जाते-जाते छवि से अंग्रेजी में कहता गया, "अब ठीक है। मेरी शुभकामना लो ! तुम जैसे लड़के मुझे पसन्द हैं। तुम साहसी हो, उदार हो, तुम वास्तव में अच्छे लड़के हो।"

छवि ने धन्यवाद दिया। उसका वह सोलह-सत्रह वर्ष का शरीर अपनी इस प्रशंसा से पुलकित हो उठा। उसे लगने लगा जैसे वह वास्तव में बहुत अच्छा है, उदार है और साहसी है। खुद भी प्रशंसा करने को मन किया, पर सामने लेटी उस अपने से दो-तीन साल छोटी बालिका को रोती देखकर वह निश्चिन्तता से वैसा न कर सका। चुपचाप उसे देखने लगा। सूझ न पड़ रहा था कि क्या करे, उस रोती हुई बालिका को कैसे सांत्वना दे और कैसे कहे कि मुझ पर विश्वास करे, मैं तुम्हारा कोई नुकसान नहीं करूँगा। जब वह बेहोश थी तो न जाने कितने प्रकार के छोटे-बड़े वाक्य उसने उसके जागने पर कहने के लिये तैयार किये थे, पर इस समय वे सब न जाने कहाँ बिला गये। अपनी इस विवशता पर उसे रह-रहकर क्रोध आने लगा। पर जब वह भी न करते बना तो वह भी रोने लगा। उस बालिका की व्यथा में हिस्सा बँटाने का उसे यह सबसे भला तरीका दीखा शायद। उसकी आँखों से आँसुओं का अजस्र स्रोत बहने लगा। उन आँसुओं में उसके हृदय का सारा काठिन्य और सारा कलुष जो पिछले कुछ दिनों में उसने कमाया था, बह गया। छविनाथ के चेहरे पर उस समय ऐसी सुन्दर आभा चमक उठी कि तभी कमरे में घुसी नर्स पल को मुग्ध खड़ी रह गई। उस अलौकिक दृश्य की एकमात्र साक्षी, वह नर्स भी पल को भीग आई, उसकी आँखों में भी ममता भर आयी।

पर तत्काल ही अपने को सँभालकर उसने उस बालिका की आँखों से बहते आँसू पोंछे,

फिर छवि से बोली, "रोते हो, मैं तो तुम्हें खूब बहादुर समझती थी।"

छवि और भी फूटकर रो उठा, बोला, "फिर यह चुप क्यों नहीं होती ?"

बालिका ने भी इस बार घूमकर छवि की तरफ देखा। पहले तो उसकी आँखों में एक आश्चर्य-सा चमका। पर फिर जैसे उसके अन्तर में छवि के लिये एक प्रेमधारा फूटी और वह तत्काल ही चुप हो गई। पर बोली फिर भी कुछ नहीं। शायद बोलने लायक शक्ति उसमें बची ही नहीं थी। चुप-चुप लेटी वह छवि के आँसुओं से भीगे चेहरे को देखती रही, छवि उसकी ओर देखता रहा और उन दोनों के उस देखने को वह नर्स देखती रही, भीगी पलकों से और ममता भरी आँखों से।

इसी तरह बैठे-बैठे वह रात बीत गई। किसी की आँखों में नींद नहीं आई। नर्स भी अब तक कुर्सी खींचकर पास ही बैठ गई थी, और उसे साफ दीख रहा था कि इन दो ही तीन घन्टों में बालिका की हालत पहले से बहुत स्वस्थ है। उसके चेहरे पर से भय की कालिमा हट गई है और सहज स्वाभाविक आभा आने लगी है। छवि भी अब स्वस्थ था और मन-ही-मन मुस्करा रहा था।

11

सुबह छवि उठकर जाने लगा तो लड़की बोली, "जाते हो ?"

"हाँ।"

"फिर नहीं आओगे ?"

छवि झट बोला, "वाह ! आऊँगा क्यों नहीं, अभी आता हूँ। जरा घर तक जाऊँगा। तीन दिन से आया हूँ। सब परेशान होंगे।"

"जाओगे ज़रूर ?"

"हाँ, जाना तो होगा ही।"

लड़की बोली, "अच्छा !"

उसने, 'अच्छा' कह तो दिया पर इस बात का छवि को भी विश्वास हो गया कि उसे उसकी वापिस लौट आने की बात पर विश्वास नहीं है। वह फिर बैठ गया, कुछ देर चुप रह कर बोला, "तुम्हें मेरी बात का विश्वास नहीं होता ?"

गर्दन हिला कर बालिका ने इस बात का समर्थन किया।

"क्यों ?"

लड़की बहुत ही सरल और सीधी सिद्ध हुई। भोलेपन से कह उठी, "हिन्दू !"

छवि को ठेस लगी। वह भी हिन्दू था और हिन्दू होने का स्वाभिमान भी रखता था। उसे यह भी विश्वास था कि हिन्दुओं के समान विश्वसनीय जाति संसारभर में दूसरी नहीं है। उसने बहुत नहीं-पढ़ा था, पर जितना पढ़ा था उससे यही निष्कर्ष निकाला था कि और चाहे जो भी दोष हिन्दुओं पर लगाया जा सकता है पर विश्वासघाती होने का दोष उन पर दुश्मन भी नहीं लगा सकता। इस बालिका के बार-बार इसी बात को दुहराने से उसे क्रोध भी आया पर उसे दबा सहज गम्भीरता से बोला, "तुम्हें किसने कहा कि हिन्दू बे-ऐतबार होते हैं और उनका

विश्वास नहीं करना चाहिये।"

लड़की बोली, "अब्बा हुजूर ने। वे कहते थे हिन्दू काफ़िर होते हैं और उन पर कभी यकीन नहीं करना चाहिए और मेरे उस्ताद भी यही कहते थे।"

छवि का सारा क्रोध पल में काफूर हो गया। लड़की के भोलेपन पर वह मुग्ध रह गया। समझ गया कि अभी इसे अच्छे बुरे की कोई अपनी बुद्धि नहीं है। हँसकर बोला, "मैं भी हिन्दू हूँ और मैंने तुम्हें मौत के मुँह से बचाया है ?"

वह आश्चर्य की मुद्रा बनाकर बोली, "क्या जाने ?" फिर अत्यन्त स्नेह से छवि का हाथ पकड़ कर बोली, "सुनो, रात तुम रोते क्यों थे ?"

छवि को खुद भी अपनी रात की बात पर हँसी आ रही थी। झेंपकर हँस दिया और अपना हाथ छुड़ा लिया। फिर कुछ देर चुप बैठकर बोला, "तुम्हारा नाम क्या है ?"

लड़की ने कहा, "माँ मुझे बानो कहती थीं, अब्बा हुस्ना और बाहर के लोग कनकटी।"

छवि हँस पड़ा, पूछा, "कनकटी क्यों ?"

"बचपन में मेरा एक कान थोड़ा-सा कुतरा गया था। दर्द के कारण कुछ दिनों तो मैं उसे यों ही सबको दिखाती फिरती, कहती फिरती रही कि देखो मेरा कान। पर फिर बाद में भी मेरी वह आदत छूटी नहीं और सबने मुझे कनकटी कहना शुरू कर दिया।"

बानो बड़े शान्त और निस्संकोच भाव से बोल रही थी। छवि को बहुत अच्छा लग रहा था। वह इससे खुश हो रहा था। तभी नर्स ने कमरे में पदार्पण किया, जो सुबह होते ही सुबह के कामों से निवृत्त होने चली गई थी। आते ही बोली, "कहो जी, मेल हो गया ?"

छवि बोला, "देखो न सिस्टर, मैं घर जाना चाहता हूँ और यह जाने नहीं देती।"

सिस्टर ने बानो से हँसकर कहा, "हिन्दू से इतना लगाव ठीक नहीं।"

छवि ने कहा, "कहती है मुझे हिन्दू की जात पर विश्वास नहीं है, तुम फिर लौटकर नहीं आओगे, इससे मत जाओ।"

सिस्टर और भी हँस पड़ी, "ओह ! हिन्दू की जात पर विश्वास नहीं है, और फिर पास से हिलने भी देना नहीं चाहती।"

छवि खुश था, बोला, "सिस्टर, इसका नाम बानो है।"

इस बार सिस्टर बानो के पलंग के पास बैठ गई, फिर अत्यन्त स्नेह से बोली, "बानो, तुम्हें मालूम है इनका नाम क्या है ?"

बानो ने गर्दन इनकार में हिला दी।

"इनका नाम है छविनाथ और सुनो, इन्होंने तुम्हारी बहुत सेवा की है। तुम्हें इनका एहसानमन्द होना चाहिए।"

बानो ने चुपचाप गर्दन हिला दी, जिसका मतलब था कि वह एहसानमन्द है।

"तो फिर तुम्हें इनकी बात का विश्वास करना चाहिए। यह जिन्दगी इन्होंने ही तुम्हें बख्शी है, अब इसके मालिक भी यही हैं।

बानो ने फिर दोनों की तरफ से मुँह घुमा लिया, बोली, "अकेले डर लगेगा, मन नहीं लगेगा।"

"ये जल्दी ही आ जाएँगे।"

बानो ने चुप होकर सहमति दे दी और छवि चला गया। जाकर वायदे के मुताबिक जल्दी

ही लौट आया। फिर तो छवि के दिन बानो के पास ही गुजरने लगे। डॉक्टर का कहना था कि सब जख़्म ठीक होने में लगभग चार हफ़्ते लग जाएँगे। खर्चा भी छवि को जतला दिया। छवि ने न जाने किस आन्तरिक शक्ति के आधार पर स्वीकार कर लिया और जो स्वीकार किया उसे निबाहा भी। छवि ने घर अब तक कुछ नहीं बताया था। वह तब तक कुछ भी कहना व्यर्थ समझता था जब तक बानो उसके घर पर चलने को राजी न हो जाए। सोचता था जब बानो 'हाँ' कर लेगी तो सिस्टर से सब बात कहेगा। वह सब घर कह देगी और सब काम सुविधा से हो जाएगा। बानो से अभी तक असने कुछ न कहा था; पर उसके बर्ताव से कम-से-कम उसे यह विश्वास ज़रूर हो गया था कि अब वह अपने उन संस्कारों को कि हिन्दू काफ़िर हैं और उनसे नफ़रत करनी चाहिए, भूल चुकी है। वह शायद हिन्दू बनने को भी तैयार हो जाए। वह रोज़ बानो के पास आता और रात के बारह-बारह बजे तक वहीं रहता, कभी-कभी रात को भी घर न जाता। बानो भी उसके बहुत निकट आ चुकी थी। अब वह उससे संकोच न करती और तरह-तरह की फ़रमाइशें पेश किया करती। जैसे भी होता, छवि सब पूरी करता। बानो जब खूब खुश होती तो कहती, "लगता है छवि, तुम हिन्दू नहीं हो ?"

छवि कहता, "और मुझे लगता है कि तुम मुसलमान नहीं हो !"

"कैसे ?"

"तुम न 'सलाम' करती हो, न बात-बात पर 'हाय अल्ला' और 'तोबा' ही कहती हो।"

बानो शरारत से कह उठती, "हाय अल्ला, सलाम करना न जाने क्यों मुझे याद ही नहीं रहता। तोबा-तोबा अब से ऐसा नहीं होगा छवि बाबू !"

इस पर छवि भी जोर से हँस पड़ता और बानो के घुँघराले बालों को दोनों हाथों से खूब झिंझोड़कर कहता, "शरारत और वह भी हुजूर से, माफ़ी माँगो।"

बानो रूठती, कहती, "धत्, मुसलमान बच्ची एक काफ़िर से माफ़ी माँगे, तोबा-तोबा।"

छवि कहता, "यह काफ़िर तुम्हें भी काफ़िर बनाकर छोड़ेगा।"

"नामुमकिन।"

"अच्छा जी ?"

"और नहीं तो क्या !"

"अच्छा, देखा जाएगा।"

"देख लेना।"

पर बानो ज्यों-ज्यों स्वस्थ होती गई, उसमें एक अजीब परिवर्तन आता गया। वह बार-बार न जाने क्या देखकर डर जाती। पल को भी छवि को पास से न उठने देती। रह-रहकर चीख उठती। उसके चेहरे पर कभी-कभी तो इतने विक्षिप्त भाव टहलते दिखाई देते कि छवि भी डर जाता और चीखकर सिस्टर को पुकार बैठता। पर सिस्टर के आते ही बानो फिर ठीक दिखाई देने लगती। सिस्टर के आने पर बानो हँसकर कह देती कि तुम जाओ सिस्टर, इन्हें डर लगने लगा था पर अब ठीक हैं। छवि कुछ कहना चाहता तो वह उसे रोक देती और फिर जब सिस्टर हँसती हुई चली जाती तो उलाहने से कहती, "सिस्टर को क्यों बुलाया था ?"

"तुम न जाने कैसे मुझे देखने लगी थीं।"

"कैसे देखने लगी थी ?"

"जैसे, कोई पागल हो।"

बानो ज़ोर से हँस पड़ती, फिर तत्काल गम्भीर होकर कहती, "मैं खुद भी नहीं समझ पाती छवि कि मुझे क्या हो जाता है। कभी-कभी ऐसा मन करता है कि अपने को नोच डालूँ, तुम्हें नोच डालूँ और हर उसको नोच डालूँ जो मेरे पास से गुज़रे।"

छवि आश्चर्य में डूबा सब सुनता रहता। बानो फिर कुछ देर चुप रहकर कहती, "छवि, मेरी अम्मा को तुम लोगों ने मिलकर मार डाला... छवि, तुम्हारे माँ है ?"

"हाँ।"

"कैसी है ?"

"बहुत अच्छी।"

कहती, "सभी की माँ शायद बहुत अच्छी होती हैं, मेरी माँ भी बहुत अच्छी थीं। चौदह साल की हो गई थी मैं, पर हाथ से भरकर गिलास तक न पीने देती थीं। कहती थीं, नई उमर है—लाज-शरम से घर बैठ, इस सबके लिए चाकर बाँदी जो हैं।"

छवि चुप रहता। सुनता रहता। वही फिर कहती, "उस दिन पाँव फिसल कर गिर पड़ी तो अब्बा ने जमीन-आसमान एक कर दिया। सारे घर में तोबा-तोबा मच गई। अम्मा भी नाराज़ होकर बोलीं कि तुम्हारे ही अकेली लड़की नहीं है, औरों के भी हैं। क्यों धरती-आसमान एक कर रखा है ? न उसकी हड्डी टूटी है और न पेट में ही चला है। जाओ, बाहर जाकर बैठो, तो तपाक से बोले, 'डॉक्टर को आने दो, तुम नहीं जानतीं, नई उमर है।' मैं उन सबके सामने खूब भली और भोली बनी रहती और उनसे खूब-खूब नाज़-नखरे उठवाती। माँ-बाप की इकलौती होने के कारण मुझे कोई कुछ न कहता। कोई जरा कुछ कह भी देता तो अब्बा उसकी ऐसी खबर लेते कि अब सोचती हूँ—वे सब तो चले गए, अब मेरा न जाने क्या होगा ? जब तक अस्पताल में हूँ, तुम हो और मेरी देखभाल कर रहे हो। पर आगे ? बस, यही सोचकर मुझे डर लग आता है और मैं डर जाती हूँ। छवि, तुम जानते हो मुझे हिन्दुओं ने··· "

कहते-कहते बानो रो उठती और फिर घंटों-घंटों रोती रहती। उसकी वहवेदना जब छवि को असह्य हो उठती तो वह पास से उठकर चला जाता। कभी उसे दपट देता और कभी स्वयं भी साथ रोकर उसके दर्द में हिस्सा बँटाता। अब तक छवि बानो के साथ कुछ इतना हिल-मिल गया था कि उसे महसूस ही नहीं होता था कि वह उसके धर्म की नहीं है; और उसका यह मिलना-जुलना किसी को पता चल जाये तो घर में एक तहलका मच सकता है। पर वह तो बानो के उस भोले-से मुँह से निकली मीठी-मीठी बातें सुनता और स्वाद लेता। कभी-कभी तो उसकी बातों में ऐसा डूब जाता कि उसे अपनी भी सुध न रहती और तभी जागता जब सिस्टर आकर जगाती।

सिस्टर भी बानो और छवि से बहुत प्यार करने लगीं। उनकी आँखों में भी बानो की बातें सुन-सुनकर पानी भर आता और वे अनायास ही कह उठतीं, "बानो, दु:ख को बाँट ले, छवि को हिस्सा दे दे। उसकी हो जा, वह बहुत अच्छा है। ऐसा अच्छा लड़का मैंने पहले कभी अपनी जिन्दगी में नहीं देखा। तुझे वह कभी दु:ख न देगा।"

बानो कहती, "मैं जानती हूँ सिस्टर वह अच्छा है पर— —पर" और वह फिर रोने लगती। कभी-कभी सिस्टर की बाँहों में गिर कर सुबकती। सिस्टर कहती कि 'हिन्दू होना कोई पाप नहीं है पगली', तो वह और भी सिर पटक-पटककर रोती कहती, "नहीं सिस्टर, वह बात नहीं है, वह बात नहीं है !"

"तो —"

पर इस 'तो' का वह कभी उत्तर न देती और हमेशा चुप-चुप आँसू बहाती रहती। सिस्टर भी इस रहस्य को न पा सकी कि आखिर बानो कहना क्या चाहती है। वह छवि को सांत्वना तो देती पर धीरे-धीरे उन्हें विश्वास होने लगा कि वह एक झूठी सांत्वना से छवि को खुश किया करती है। उसे लगता कि बानो छवि को चाहती ही नहीं और कभी भी उसके साथ घर नहीं जाएगी।

पर बानो छवि से कभी भी दुर्व्यवहार न करती। बेहद प्यार से बोलती। अब यदि कभी वह पलंग के पास कुर्सी पर बैठता तो झट उसका हाथ पकड़ लेती, कहती, "नाराज हो ?"

छवि को लाचार होकर पलंग पर ही बैठना पड़ता। उसके ज़ख्मों की पट्टियाँ अब खुलने लगी थीं और उसे बैठने-उठने की इजाज़त मिल गई थी। वह उठ कर बैठ जाती। छवि का हाथ अपने दोनों हाथों में ले लेती और धीमे-धीमे सहलाने लगती। छवि की काठी मजबूत थी पर खाल अभी पूरी तरह रूखी नहीं हुई थी। उस पर अभी किशोरों-जैसा मखमलीपन था और उसी मखमलीपन को सहलाती बानो कहती, "छवि बाबू, देखो, मैं तुमसे ज्यादा गोरी हूँ।"

छवि हँस पड़ता तो आप ही आप फिर बोल उठती, "पर तुम-जैसी मीठी हँसी मेरे पास नहीं है, मैं उतना मीठा हँस नहीं पाती।"

छवि कहता "नहीं तो, हँसती तो तुम मुझसे भी मीठा हो।"

बानो कहती, "बनाते हो ?"

"नहीं, सच कहता हूँ।"

बानो कुछ देर चुप बैठी रहती और छवि को पुचकारती रहती, फिर छवि के रेशमी बालों से खेलने लगती। खेलती रहती। खेलते-खेलते कहती, "क्या डालते हो इन बालों में, कितने रेशमी हैं, काले-काले।" छवि कुछ जवाब देने को ही होता कि खुद ही कह उठती, "काश! मेरे बाल भी इतने मुलायम होते।"

छवि अक़्सर चुप रहता, या यों कहिये कि बानो उसे कभी बोलने का मौक़ा ही नहीं देती। उसे अपने बचने की घटना का विवरण सुनने का बड़ा शौक था। जाने कितनी बार वह छवि के मुँह से उसे सुनती। तभी सुनाकर चुकता कि फिर शुरू करा देती। बार-बार सुनती और जितनी देर छवि सुनाता रहता वह छवि के मुँह को टक लगाकर देखती रहती। कभी छवि ऊबकर या झेंपकर सुनाने को मना कर देता तो रूठ जाती और तब तक न मानती जब तक छवि ब्यौरेवार सुना न देता। सुना चुकता तो पूछती, "इन्हीं उँगलियों से उसको मारा था तुमने ?"

"हाँ,"

"झूठ ?"

"अरे झूठ नहीं, सच ?"

"नहीं, बिलकुल झूठ, मैं नहीं मानती।"

"न मानो, तुम्हारी मर्जी है।"

इस बार मान जाती। कहती, "चलो मान लिया, पर यह बताओ, तुमने मारा क्यों उसे ?"

"यह मैं खुद भी नहीं जानता।"

"उँह, फिर झूठ!"

छवि झींककर चुप हो रहता। फिर खुद ही बोलती, "तुम्हें तो वह गुप्ती मेरी छाती में

भोंकनी चाहिए थी।"

छवि इस बात का कभी कुछ जवाब न देता तो और भी उत्तेजित होकर कहती, "छवि बाबू, तुमने अपने मज़हब से धोखा किया है। तुमने मुझे बचाने के लिए अपने धर्म के एक आदमी को मारकर अच्छा नहीं किया। तुम अच्छे आदमी नहीं हो। तुम मेरे पास न आया करो। यह ग़लत है, सब ग़लत है।"

क्षण-भर वह फिर चुप रहती। पर चुप रहना उसे अच्छा न लगता। लगता जैसे उसके भीतर कुछ ऐंठ रहा है। विह्वल वेदना-भरे स्वर में पूछती, "छवि बाबू, सुना है तुम्हारे धर्म में तो सख़्ती बहुत है।"

"कैसी सख़्ती ?"

कहती, "सुना है राम ने सीता को सिर्फ़ इसलिए कि वह रावण के यहाँ न चाहने पर भी रही थी, आग में कूदने पर मज़बूर किया था और तब तक मंजूर नहीं किया था जब तक वह पाक साबित न हो गई थी।"

"सच तो है।" छवि कहता तो फिर कुछ देर तक चुप रहती और फिर अनायास ही छवि के बालों को मुट्ठी में पकड़कर कह उठती, "मैं पूछती हूँ छवि, अब मैं अच्छी हो चुकी हूँ, तुम यहाँ क्यों आते हो ?"

"तुम्हें मेरा आना अच्छा नहीं लगता बानो।"

"नहीं, बिलकुल नहीं।"

"तो अच्छी हो लो, मैं नहीं आया करूँगा।"

"हाँ, मत आया करना।"

छविनाथ चुप हो जाता।

पल-भर चुप रह कर कहती, "मुझे घर ले जाना चाहते हो ?"

छविनाथ चुप ही बना रहता।

इस बार एक दम विक्षिप्त-भाव से कह उठती, "तुम पागल हो छवि, मैं तुम्हें ऐसी ग़लती नहीं करने दे सकती। तुम बुद्धू हो, कुछ नहीं समझते हो।"

ठहर कर साँस लेती, कहती, "मैं पूछती हूँ, तुम मेरे माथे पर से वह कलंक मिटा सकते हो जो तुम्हारे हिन्दू भाइयों ने मेरे माथे पर लगाया है, बोलो ? तुम मुझे हिन्दू बना सकते हो ? और हिन्दू बनना कोई मायने नहीं रखता, मैं पूछती हूँ कि तुम मुझे अपने समाज में वही दरजा दिला सकते हो जो और औरतों को हासिल है। बोलो ? पर तुम क्या बोलोगे, मैं जानती हूँ तुम नहीं कर सकते। और जब वह नहीं कर सकते तो मेरे पीछे क्यों पड़े हो, जाओ, अब यहाँ फिर न आना। मैं यह भी जानती हूँ, तुम्हारा जीवन मेरे कारण बरबाद हो जायेगा। तुमने मेरा जीवन बचाया, माना, मुझे एहसानमन्द होना चाहिये, यह भी माना, पर इसका यह मतलब तो नहीं कि तमाम जिन्दगी मैं तुम्हारी गुलाम बन कर रहूँ। नहीं, तुम्हें मेरा ख़याल छोड़ना होगा। हमेशा-हमेशा के लिए छोड़ना होगा। मैं तुम्हारे हिन्दू धर्म को जानती हूँ। उसमें जो एक बार गिर जाता है उसके लिए खड़े होने की कोई राह नहीं रहती। वहाँ आदमी का साहसी होना, जवान होना पाप है...मैं तुम्हारे गले में पत्थर बन कर लटक जाऊँ, यही करने को तुम और तुम्हारी सिस्टर मुझसे कहते हो, मुझे एहसानफ़रामोश बनाना चाहते हो। तो सुन लो छवि बाबू, तुम्हारे लाख चाहने पर भी मैं वैसी नहीं बन सकती। मैं तुम्हारे साथ तुम्हारे घर नहीं जा सकती,

नहीं जाऊँगी, कोई जबर्दस्ती है तुम्हारी ? तुमने मेरी जान बचाई है ना, उसकी जो क़ीमत चाहो मुझसे ले लो, चाहो तो जान ही ले लो पर मैं तुम्हारे साथ नहीं जाऊँगी, नहीं जाऊँगी, समझे ।"

कहते-कहते बानो की साँस फूल जाती । छवि बैठा सुनता रहता । उसके दिल पर यह सब कितनी गहरी चोट लगाता इसका अन्दाजा या तो वह स्वयं कर सकता या थोड़ा-बहुत सिस्टर । बानो की बातें तो उसकी समझ में नहीं आतीं, पर इतना वह ज़रूर समझता चला गया कि वह एक माया-मृग के पीछे दौड़ रहा है और वह उसे हाथ आने वाली नहीं है । इस दौड़ का अन्त न जाने क्या होगा । परिणाम कुछ-कुछ नजर आने लगा था । एक अजब किस्म की विक्षिप्तता उसमें व्यापती जा रही थी । बानो के पास भी उसका मन न लगता । सिस्टर के सामने कभी-कभी रो उठता और सिस्टर सब जान-बूझकर भी पूछती, "क्या है, क्या बात है छवि ?"

"कुछ नहीं ।"

सिस्टर कहती, " धत् ! हिम्मत नहीं हारते, तुम तो बहादुर लड़के हो ।"

"सिस्टर, वह क्या कहती है ?"

"सच कहती है, "मुझे आश्चर्य है छवि कि उस तेरह-चौदह साल की बालिका में इतनी बुद्धि कहाँ से आ गई । तुम बुद्धू हो और वह तुमसे कहीं ज्यादा बुद्धिमान है । मैंने उसकी सब बातें सुनी हैं और मैं मानती हूँ कि जो भी वह कहती है उसका अक्षर-अक्षर सत्य है ।"

छवि तिलमिला उठता, उत्तेजित स्वर में कहता, "क्या सच है, यह कि मैंने उसे मौत के मुँह से नहीं बचाया, यह सच है ?"

"नहीं ।"

"यह सच है कि मैंने आज तीन महीने से उसकी सेवा-सुश्रूषा नहीं की ?"

"नहीं ।"

"तो यह सच है कि मैं उससे प्यार नहीं करता ?"

"नहीं, यह भी सच नहीं है ।"

"तो फिर क्या सच है, यह कि वह मुझसे प्यार नहीं करती ?"

"नहीं छवि, नहीं, यह भी सच नहीं है ।"

छवि चीख उठता, "तुम भी झूठी हो सिस्टर ! जब इनमें से कुछ भी सच नहीं, तो क्या सच है, कहती क्यों नहीं ?"

सिस्टर कहती, "मेरे छवि भैया, हिन्दू और मुसलमान यदि दो सच्चे शब्द हैं तो उनके बीच की दूरी भी सच है । तुम हिन्दू हो और वह मुस्लिम है, यह सच है ना, तो फिर समझो कि तुम दोनों की दूरी ही सच है, मिलन सच नहीं है ।"

"मैं इस दूरी को कुचल कर फेंक दूँगा सिस्टर, यदि बानो मेरा साथ दे तो ।"

"तो सुन रखो छवि, वह तुम्हारा साथ नहीं देगी ।"

"सच कहती हो सिस्टर ?"

"हाँ, सच ।"

छवि की विक्षिप्तता बाँध तोड़ गई । दोनों हाथों से सिस्टर को कन्धों से पकड़ झकझोर कर बोला, "तुम्हें शर्म नहीं आती इसे सच कहते हुए सिस्टर ! इतने बड़े झूठ को सच कहती हो । बार-बार कहती हो और मेरे उस सपने पर ठेस लगाती हो जिसे फलने-फूलने में तुमने माली का काम किया है । तुम मेरे साम्ने खड़ी हो और मेरे ही जीवन की बरबादी की खबर

सुना रही हो। तुम्हें अपनी जान की भी फिक्र नहीं है। नहीं जानती कि मैं एक को बचाने के लिये जब एक का खून कर सकता हूँ तो ऐसी मनहूस खबर सुनाने वाले को—मैं तुम्हें—मैं—"

छवि लड़खड़ा गया। पागल हो उठा। उसकी आँखों ने उसे बचा लिया। उन आँखों ने देखा कि उसके दोनों हाथ उसकी अपनी सिस्टर के गले को दबाने के लिये धीमे-धीमे बढ़ रहे हैं तो वे अनायास ही बरस उठीं। पलक झपकते ही उन्हीं सिस्टर की छाती से लग कर फूट-फूटकर रोने लगा। उसकी आँखों से बह-बह कर उसकी कठिनता उस ही सिस्टर के आँचल में गिरने लगी, जिसे पल पहले वह मारने को उद्यत था। सिस्टर ने भी जोर से उसे अपनी छाती से चिपका लिया। उसकी भी आँखों में आँसू भर आए। वह भी रो उठी। होठों-ही-होठों में बुदबुदाई, "रो न छवि, न रो भाग्य पर और भगवान् पर विश्वास कर और बानो को भूलने की कोशिश कर। मैं जानती हूँ कि आरे से चिरने में कितना दर्द होता है, पर भैया, मजबूरी की दुनिया में कोई दवा नहीं। और सुन, अपने नाम को कलंक न लगा, तू मेरा बहादुर भाई है। सब पी जा जैसे शिव विष पी गये थे। समझ कि आदमी के बस में कुछ नहीं है, सब का करता-धरता भगवान् है और आ, मिल कर, दोनों एक दफ़ा जोर से कहें कि बुरा हो लाख-लाख बार बुरा हो उन लोगों का, जिन्होंने दुनिया की सफेद चादर पर ये काली रेखायें खींचकर इसको मटमैला किया है! आ, हम अपने आँसूओं से यथासाध्य उन्हें धोने की कोशिश करें। बस, और कुछ भी आदमी के बस में नहीं है। आदमी लाचार है, हाँ, बिलकुल लाचार!

और जो आशंका थी वही हुआ। बानो ने छवि के घर चलने से साफ इनकार कर दिया। बम्बई में दूर रिश्ते के एक भाई के पास जाना तय किया। वहाँ वह क्या करेगी छवि को मालूम नहीं था। बानो ने पूछने पर कह दिया कि "जो भी भाई करायेंगे, कर लेगी।" जाने से पहले आज छवि बहुत देर बाद बानो के पास बैठा रहा और यहाँ-वहाँ की हँसी मज़ाक की बातें करता रहा। पर मन उसका रो रहा था। वह रह-रहकर बानो का हाथ पकड़ लेता और अचानक ही छोड़ देता, जैसे कोई गिलगिला जानवर उसके हाथ में आ गया हो।

और जब बानो ने कहा, "छवि, यह न समझना कि मैं एहसानफ़रामोश हूँ। जिन्दगी-भर तुम्हारा एहसान मैं याद रखूँगीं, तुम्हें याद रखूँगी, तुम्हारी यह मोहनी मूरत..." छवि ने हँसकर 'अच्छा-अच्छा' फिर अनायास ही उठकर चला आया। न दुआ की न सलाम किया। रास्ते-भर उसका चेहरा उदास रहा, पर घर की चौखट में घुसते ही घुटा हुआ रोना फूट-फूटकर बह निकला। उसे यही दुख हो रहा था कि बानो के लिए उसने घर का विश्वास खोया और बानो उसे छोड़कर ऐसे चली गयी जैसे न जान थी न पहचान! अब जो खो चुका है क्या वह वापिस पाएगा और जिन्दगी क्या कभी भी धार पकड़ पाएगी? मन की इस व्यथा को जो बानो उसे भेट में दे गयी है क्या वह कभी हल्का कर पायेगा? क्या कभी भी उसे अब मानसिक शान्ति मिल सकेगी? उसे लगा कि सब लुट गया, सब छिन गया, सब चला गया! उसकी भाभी और माँ अब उसे कितना कम चाहती हैं। बात भी ठीक है, जो घर का पैसा घर से छीनकर बाहर फेंक आये, दिनों-दिन और रातों-रात गायब रहे, ऐसे घूमे जैसे सड़क के कुत्ते घूमते रहते हैं, उससे कौन प्यार करेगा?

छवि ने छत को अकेली देख फिर जोर-जोर से चारपाई पर सिर पटक दिया, फिर जोर-जोर से

हिचक-हिचक कर रोने लगा। रोता रहा, जब तक कि उसकी रोने की समूची शक्ति समाप्त नहीं हो गई। शक्ति-हीन छवि को नींद ने अपनी गोद में छिपा लिया। वेदना के लिये अन्तिम पलायन वही है। वही मनुष्य को मौत के मुँह से बचाती है। नींद न हो तो मनुष्य जी नहीं सकता, चार दिन नहीं जी सकता।

रात का न जाने कौन-सा पहर था कि किसी ने छवि को जगाया। जागकर देखा कि माँ है। न जाने उसे क्या सूझी, माँ से लिपट गया, फिर रो उठा और रोते-रोते ही पूछा, "माँ, तू मुझ से नाराज़ तो नहीं है ?"

ममतामयी ने हँसकर और उसके माथे पर चूमकर कहा, "बस यही काम माँ को नहीं आता बेटा, पर तू आया कब रे ?"

"मैं तो कब से, शायद शाम से यहीं हूँ माँ !"

"पर खाने की सुध क्यों नहीं ली, कब से तो राह देखती बैठी हूँ। बहू भी अभी सोई है।"

छवि अचम्भे में रह गया, बोला, "तूने नहीं खाया माँ...और भाभी ?"

"भूखी ही सोई है बेचारी, जानता तो है कि जब तक घर में एक भी जना भूखा रहे उसके गले में दाना नहीं उतरता।"

छवि फिर रो उठा, हिचकियाँ भरकर बोला, "तो चल माँ, भाभी को जगाएँ, आज मैं भाभी के साथ ही खाना खाऊँगा। एक ही थाली में, एक ही जगह बैठकर।"

ममतामयी ने फिर बेटे का माथा चूम लिया, फिर गद्‌गद् कण्ठ से बोली, "धन्य री तेरी सुमति, महीनों बाद ऐसी बात तेरे मुँह से सुनी है। चल उसे जगा लें। तुम दोनों साथ बैठकर खाना और मैं परसूंगी, बड़े भाग मेरे। चल जल्दी चल ? अब चल ना !"

उस रात छवि बहुत दिनों बाद शान्ति से सो सका।

12

छविनाथ दंग रह गया। कैसे घरवाले हैं ये उसके। उफ् ! इतनी क्षमाशक्ति ! उसकी इतनी उद्दण्डवृत्ति पर भी कोई यह तक प्रकट नहीं होने दे रहा कि नाराज़गी की कोई बात है। उसका मन अपने व्यवहार को याद कर-करके रो-रो उठता। आत्म-ग्लानि से कलेजा फटा जाता। सब से मुँह छिपाता फिरता या फिर छत पर लेटकर रोता। मन-ही-मन कहता कि सब मुझ पर नाराज़ हैं पर उस नाराज़गी को छिपाते हैं, मुझसे दुराव रखते हैं। मुझे डाँटते नहीं, मुझ पर, मेरे हाल पर दया करते हैं। एक बार भी किसी ने नहीं पूछा कि इतना पैसा कहाँ गया और भाभी के ज़ेवरों का उसने क्या किया। वह जो माँ की चूड़ियाँ थीं उनका क्या हुआ। पूछते भी हैं तो भैया पूछते हैं, पर माँ या भाभी कभी नहीं पूछतीं। ज़रूर मुझ से नफ़रत करने लगी हैं। नहीं तो क्या अपनी इतनी चीज़ों के खोने पर भी कोई चुप रहता है। ऊपर से प्यार दरशाती हैं। यह वैसा ही प्यार है जैसा कुत्ते के प्रति उसके मालिक का होता है। कुत्ता कोई भी नुकसान कर दे मालिक कम-से-कम खाने के समय तो उसके लिये टुकड़ा फेंक ही देता है। ये भी मुझे अपना नहीं समझते, बस ढोंग रचते हैं। दिन-दिन छवि के मन में ये भावनाएँ जड़ जमाने लगीं। जड़ ज्यों-ज्यों पक्की होतीं, कलुष ज्यों-ज्यों गहरा होता ऊपर की सतह ठहरती जाती। छवि व्यवहारिक दीखने लगा। मन में द्वेष रखकर भी उसने मुस्कराना सीख लिया। भाभी के प्रति

मन-ही-मन रोष पालने लगा। मेरे ही कारण यहां आई और अब दुनिया-भर का प्यार अपने पास समेटकर मुझे ही भिखारी बनाये दे रही हैं। मैंने ठीक ही किया जो इनके सब ज़ेवर बेचकर बानो को दे डाले। ये कोई मेरी अपनी नहीं हैं। बानो से मैं प्यार करता था। वह भी मुझ से प्यार करती थीं। उसने मेरे भले के लिए अपने जीवन को बरबाद कर लिया। वह ज़रूर अपनी बुद्धि से मेरे इन घर वालों की संकीर्णताओं को समझ गई थी। पूछते हैं कि वह पैसा कहाँ गया ? भाई तो ऐसे पूछते हैं जैसे सारा घर इन्हीं का है। माँ और पिता जी भी हमेशा भैया के ही गुण गाया करते हैं। सिर्फ इसीलिये न कि वह कमाते हैं और मैं नहीं कमाता। मैं और नहीं पढ़ूँगा। मैं भी कमाऊँगा। अब मैं दूसरों की भीख पर नहीं पलूँगा। अपने पैरों पर खड़ा हूँगा। मैं इन्हें दिखा दूँगा कि छवि कोई साधारण लड़का नहीं है, वह जहाँ क़दम रखता है सफलता उसके पाँव चूमती है। वह खूब कमायेगा, खूब कमायेगा ! अपना अलग घर बनायेगा और फिर उसमें लाकर बसायेगा बानो को। कहेगा, "सुनो, बानो ! मैं न किसी समाज को जानता हूँ और न परंपरा को, इतना जानता हूँ कि इस घर की ऊँचाईयाँ हमें दुनिया की सारी गर्दिशों से अलग कर देती हैं। अब मैं हूँ और तुम हो। न कोई हिन्दू है, न कोई मुसलमान। तुम स्त्री हो और मैं पुरुष ! बस, तुम हो तो सब-कुछ है, समझी !"

और घर के लाख मना करने पर भी छवि ने पढ़ना छोड़ दिया। सारे घर ने सिर पटक लिया पर छवि पर उसका कोई असर नहीं हुआ। अपनी ही बुद्धि से वह इस-उस धन्धे में घुसा। पर अपनी कच्ची बुद्धि से उसने जिस पैसे को हाथ लगाया, मिट्टी हो गया। वह चकित भाव से हाथ से निकल कर जाते पैसे को देखता रह जाता। कभी-कभी खुद भी वह पैसे को झनझना कर फेंकता, फेंककर पछताता। पर बाद में कभी कुछ हुआ है, जो यहाँ होता।

धीरे-धीरे स्थिति बिगड़ती चली गयी। घर की आर्थिक स्थिति केवल उसके ही कारण डॉवाडोल हो उठी। पिता रात दिन चिन्ता में घुलने लगे। जीवन-भर भी वे घुले ही थे। उस खून निचोड़ने वाली चिन्ता को कब तक सह पाते एक दिन लुढ़क गये और कुल सात दिन बीमार रहकर सदा के लिए चुप हो गये। छवि ने उनकी खूब सेवा की पर शिकायत के, गुस्से के या आशीर्वाद के दो शब्द भी जब पिता के मुँह से न सुन पाया तो सिर पटक लिया। समझ गया कि उसके प्रति कितना गहरा असन्तोष लेकर मरे हैं उसके पिता। पिता की मौत उसके लिये बिच्छू बन गई। वह पागल हो उठा। उसका मस्तिष्क उसके हाथों से खिसकने लगा। कुछ शान्ति पाने के लिये कभी सिनेमा में घुसता तो आधे से ही भाग आता। रेस्टोरेन्ट में बैठकर दस-दस कप चाय पीता। पर शान्ति इन सब कामों से किसी को मिली है जो उसे मिलती। वह और भी विक्षिप्त होता गया तो एक दिन भैया ने खूब फटकारा और फटकार खाकर जो उसका रोना फूटा तो फिर सारी रात वह पिता का नाम ले-लेकर रोता रहा। शायद सुबह हुए कुछ सोया पर जब उठा तो रोज़ से उसका मस्तिष्क शांत था। उस दिन वह ठीक से खा-पी पाया और दिन-भर ठीक रहा।

छलनामयी रसोई में अकेली थी। छवि जाकर चूल्हे के सामने बैठ गया। सर्दियों का मौसम था। आग अच्छी लगती थी। छवि अभी-अभी सोकर उठा था। धीरे-धीरे कुछ देर तो वह सेंकता रहा, फिर अनायास ही बोला, "भाभी !"

छलनामयी से बहुत दिनों से उसने ढंग से बात नहीं की थी। आज इस तरह अपने को पुकारी जाती सुन पहले तो छलनामयी को जरा संकोच हुआ पर तत्काल संकोच छोड़ उत्सुक

प्रसन्नता से बोली, "हाँ, देवर जी!"

"मैं एक बात पूछता हूँ तुम लोगों से?"

"पूछो ना, पर यहाँ पर तो सिर्फ मैं हूँ, और किसे देख रहे हो? सपने में तो नहीं हो?"

छवि ने रोष का भाव दिखाकर कहा, "मजाक नहीं भाभी, मैं पूछता हूँ कि तुम लोग जो रात-दिन छुप-छुपकर मेरी बुराई किया करती हो, क्या ठीक बात है, वही बात क्या मेरे सामने नहीं हो सकती।"

"कौन-सी बुराई देवर जी?"

"कौन-सी मैं क्या जानूँ। पर रोज़ ही देखता हूँ, कोई मुझसे बोलता तक नहीं, बात तक नहीं करता। सब मुझसे बचते फिरते हैं। बोलो, यह सब क्या है। बुरा हूँ तो क्या तुम मुझे घर से निकलवा देना चाहती हो?"

छलनामयी क्षण भर तो सकते में रह गई। पर फौरन ही उसके मस्तिष्क में एक प्रकाश-सा जल उठा। उसे लगा कि छवि की इस बात में एक बहुत बड़ा उलाहना है। यह आदमी शायद भीतर-ही-भीतर कुछ रहस्य लिए फिरता है। वह रहस्य दर्द-भरा हो सकता है, पर हम लोगों का भी कैसा अन्याय है कि किसी दिन प्यार से बैठाकर यह नहीं पूछा कि बात क्या है। उसके हृदय में गहरी सहानुभूति और करुणा भर आई। पहले का अपना और उसका प्रेम-वार्तालाप याद हो आया। ध्यान से उसने छवि के झुके हुए चेहरे की तरफ देखा। वह बैठा लकड़ी में से छोटी-छोटी खपच्चियाँ तोड़कर आग में फेंक रहा था और आग की तरफ ताके जा रहा था। इन कुछ ही दिनों में उसका फूल-सा चेहरा कुम्हला गया था। वह चेहरा जिस पर कभी आभा फूटी पड़ती थी और जिसे देखकर छलनामयी कभी वात्सल्य से भीग उठा करती थी, आज एक रूखा, खुरदरा और श्री-हीन मुँह बना हुआ था। जिसे देखकर एक तरस तो पैदा होता था, प्यार क़तई पैदा नहीं होता था। उसकी आँखें भीग आईं। अपने पति पर क्रोध आने लगा। उनका दिल इतना कठोर क्यों है? यों ही धमका दिया। यह ज्यादती है। मैं रात को उनसे कहूँगी। यह भी कोई बात है। अपने कण्ठ को यथासाध्य स्वाभाविक कर उसने पुकारा, "देवर जी।"

उसकी ओर बिना देखे ही छवि बोला, "हूँ।"

"सुनो।"

"हूँ।"

"इधर देखो, मेरी तरफ।"

छवि की भीगी पलकों के ऊपर उठने के साथ ही छलनामयी ने तत्काल ही पूछा, "बता सकते हो कितने दिनों बाद आज बात करने बैठे हो?"

न जाने उस एक वाक्य में ऐसा क्या था कि झटक कर छवि की आँखों से आँसू टपक पड़े। उसने अपना मुँह घुमा लिया और पल को चुप रहकर रुँधे कण्ठ से बोला, "भाभी, मैं माफ़ी चाहता हूँ। तुम सब लोग मुझे माफ़ नहीं कर सकोगे? मैं माफ़ी चाहता हूँ भाभी, माफ़ी चाहता हूँ। बोलो, दोगी?"

छलनामयी आँसुओं में से हँसकर और भाव विभोर-सी होकर बोली, "किस कसूर की माफ़ी चाहते हो देवर जी, ऐसा कौन-सा कसूर किया है तुमने?"

"मैंने कोई कसूर नहीं किया, तुम्हारे जेवर तक—?"

"धत्! भेद डालते हो, वह तो तुम्हारे भी अपने ही थे, जो तुमने ठीक समझा किया। हमें

तो दु:ख है बस इतना है कि अपनी होने वाली देवरानी का हम पता न पा सके।"

छवि ने गौर से भाभी की तरफ देखा। भाभी का चेहरा अब पहले से बहुत अधिक उज्ज्वल हो गया था। अब वह काला नहीं था। चेचक के दाग अब भद्दे नहीं लगते थे। सर्दी की इस सुबह से मुलायम हुआ वह मुँह इस समय आग की तपिश से गुलाबी होकर और भी सुन्दर लग रहा था। उस सुन्दर, सरस, भोले मुख को देखकर छवि के मन का सब काठिन्य पल में ही जाने कहाँ काफूर हो गया। सुबह जिस आग से वह जल रहा था वह बुझ गई। उसके बुझने से मन में ज्योति-सी जल उठी। हँसने की सफल चेष्टा कर वह बोला, "तुम भी यही समझती हो भाभी कि कोई थी ?"

छलनामयी ने झुके चेहरे से छवि की तरफ देखा, बोली, "न समझें ?"

"हाँ, मत समझो, तुम्हें समझने का कोई अधिकार नहीं है।"

"अच्छा ?"

"और नहीं तो क्या, तुमने वायदा तोड़ा है।"

"कैसा वायदा ?"

"उस दिन तुमने नहीं कहा था कि सत्या से तेरा ब्याह करा दूँगी, उस दिन के बाद फिर कोई बात की ?"

छलनामयी ने झुका चेहरा उठा लिया, फिर ध्यान से छवि की तरफ देखा। जैसे पल में ही सब समझ गई। झटपट कर बोली, "मुझसे पहले क्यों नहीं कहा देवर जी।"

"तुम क्या बच्ची थीं ?"

"ओह, तुमने क्या उसी बैराग में सब किया।"

"हाँ तो।"

"पागल कहीं के!" छलना के मुँह से यह निकला तो, पर खुद ही झेंप-सी गई, अपने इस वाक्य पर। अपने से उम्र में छः महीने बड़े देवर को कभी उसने ऐसे नहीं कहा था। ऐसे बोलने की उसकी आदत भी नहीं थी। अपनी ही बात को जल्दी से काट कर बोल उठी, "पर अगर यही है तो अब तुम चिन्ता न करो देवर जी, जल्दी ही सब ठीक हो जायेगा।"

"सच ना ?"

"सच, सौ फी सदी सच।"

"वायदा।"

"वायदा।"

न जाने क्या सोचकर छवि ने ये सब बातें भाभी से की थीं। या तो उसके मन में हो कि सत्या यदि घर में आ जाए तो वह संतुलित हो सकेगा या इसलिए कि बानो को भूलने का यही एकमात्र तरीका है। या सिर्फ भाभी से मेलजोल बढ़ाने के लिए। पर छलनामयी ने बात को उतने हल्के ढंग से नहीं लिया। खूब जमकर प्रयास शुरू कर दिये। जल्दी ही सफलता के चिन्ह साफ नज़र आने लगे। उधर छवि महोदय भी कुछ जँच-सँवर कर रहने लगे। उनके कार्य-कलापों में अब पहले की-सी अस्तव्यस्तता न थी। एक छोटे से स्कूल में मास्टरी की नौकरी भी मिल गई। कुछ ट्यूशंस पकड़ लीं और घर के खर्च में भाई की मदद करने लगा। रवि भैया खूब खुश हुए और भाई की तारीफों के पुल इधर-उधर मारते घूमने लगा। जिस-तिस से कहते। वह कोई साधारण आदमी नहीं है। बड़े आदमी बनने के सब गुण उसमें हैं। भाभी तो बहुत ही खुश

थी। उसे यह सब अपना ही किया-धरा लगता। वह खुश होकर सबसे कहती, "मेरे देवर लाखों में एक हैं। पर उन्हें समझना जरा मुश्किल है।" ममतामयी भी खुश थीं। बेटे की खूब तारीफ करतीं। कुछ तो इस समय वह चल भी ढंग से रहा था कुछ इसलिए बढ़ा-चढ़ाकर कहतीं कि वातावरण पर से और छवि के मन पर से पहली घटनाओं से बिखरी कालिमा पुंछ जाए। वैसे तो पिछली बातें सब भूल ही चुके थे। घर-गिरिस्ती सुचारू रूप से चल निकली थी। पर कभी-कभी माँ के मुँह से ये शब्द जरूर सुनायी देते, "उन्हें बड़ी चाह थी कि छवि भी ढंग से चलकर कमाये-धमाये, बस वे ही यह दिन न देख सके।"

पल को वातावरण क्षोभ में डूब जाता पर तत्काल वे ही यह कहकर कि 'पर दुःखी क्यों होते हो, बीमारी में छवि ने जैसी उनकी सेवा की है वैसी कौन कलजुगी बेटा अपने बाप की करेगा, उन्हें ज़रूर उससे बहुत शांति मिली होगी।' वातावरण के गाढ़ेपन को सरस बना देतीं और सब फिर हँसी-खुशी बीतने लगता। छवि के स्कूल की छुट्टी कोई बारह बजे हुआ करती थी पर उस दिन वह दो बजे आया और बाहर से ही चीख़ता हुआ, "भाभी, ओ भाभी!"

पर कोई जवाब नहीं आया।

छवि और भी जोर से चिल्लाया, "ओ भाभी, ओ भैया!"

तब भी कोई जवाब नहीं आया तो उसने इस-उस कमरे में ढूँढ-तालाश शुरू की। भाभी के कमरे के बाहर 'सरपट' खेलता पाया गया। सरपट यानी रवि भैया का बेटा। वह अब दो साल का होने को आया था और खूब सरपट दौड़ता था इसीलिए प्यार से सब उसे सरपट कहते। वैसे असली नाम उसका चन्द्रकिरण था। चाचा से वह बहुत प्यार करता था। देखते ही झट उसकी टाँगों से चिपट जाता। दौड़ता-दौड़ता वह चाचा से चिपटने आ ही रहा था कि छवि ने झट उसे गोद में उठाकर पूछा, "सरपट बेटा, अम्मा कहाँ है?"

"अन्दल!" सरपट ने कमरे की ओर इशारा कर दिया।"

"स्कूल से 'बाजी' आ चुके हैं!"

"हूँ।"

"कहाँ हैं?"

"अन्दल!" सरपट ने फिर कमरे की ओर उँगली उठा दीं।

छवि जोर से ठहाका मारकर हँस पड़ा। हँसने का उसका अपना तरीका है। पत्थरों से छल-छलकर बहते झरने की-सी आवाज़ आती है। हँसकर बोला, "तभी तो घंटों आवाज़ देते हो गये। भाभी जी, ओ भाभी जी, भूख से पेट आहत है। कितनी देर इन्तजार करना होगा। और भैया, रवि तुम्हारे लिये भी एक खुशख़बरी है।"

लगभग साथ-ही-साथ भाभी और भैया, कमरे से निकले। दोनों हँसे, हँसी साफ थी, कोई धोखा नहीं था पर छवि को लगा जैसे उनके चेहरे ही हँस रहे हैं। दोनों के मुँह भारी थे और गीले होने के बाद जो सिकुड़न होती है यह भी वहाँ थी। पर कस कर बाँध डाले गये थे और हँसी को तत्परता से उसे पर फैला दिया गया था। साधारण आँखें कुछ भी पकड़ नहीं सकती थीं लेकिन छवि की आँखें पैनी थीं, सब समझ गया पर बोला कुछ नहीं। भाभी सीधी चलकर रसोई में पहुँची और छवि के लिये खाना परसने लगी तो छवि ने भाई से कहा, "भैया!"

"क्या है?"

"सिनेमा के पास हैं!"

रवि सिनेमा के खूब शौक़ीन थे। बोल, "सच, कौन-सी के हैं, किस शो के ?"

"इसी शो के, जल्दी तैयार हो लो। मैं खाना खा लूँ और तुम दोनों इतने··· समझे ना।"

रवि हँसकर बोला, "मैं तो भाई 'ऐवर-रेडी' हूँ। पर अपनी भाभी को तैयार करना और माँ से इजाज़त लेना तेरा काम है।"

छवि उछलकर बोला, "उसकी तुम चिन्ता न करो। सब चुटकी बजाते हो जायेगा। बस, तुम तैयार हो लो।"

रवि ने हामी भर ली तो छवि झपटकर रसोईघर में पहुँचा। थाली परसी जा चुकी थी। छवि ने उसे अपनी तरफ घसीट कर जल्दी-जल्दी दोनों हाथों से खाना मुँह में ठूँसना शुरू कर दिया। और दिन होता तो छलनामयी छवि के इस करतब पर जोर-जोर से हँसना शुरू कर देती पर उस दिन न जाने क्या हुआ था उसे कि दपटकर जोर से बोली, "हुई! यह भी कोई खाने का तरीका है, ढंग से खाओ ना!"

छवि ने उसकी बात पर ध्यान दे अपनी ही धुन में कहा, "भली हुई इन पति-पत्नियों की प्रेम-प्यार की बातें, बेचारा गरीब छवि बेमौत मारा गया।"

छलनामयी फिर भी कुछ नहीं बोली तो छवि ने जरा अपनी स्पीड कम करके कहा, "तुम समझती हो मैं जँगली हूँ, दो बजे तक भी मुझे भूख नहीं सताती, इतनी आवाज़ें देने पर भी अन्दर घुसी बातें करती रहीं, बाहर नहीं निकलीं।"

भाभी बोली, "रोटी दूँ या बस!"

छवि ने कहा, रोटी नहीं चाहिए।" फिर बोला, तुम्हे पता है भाभी, मैं इस वक्त कहाँ से आया हूँ ?"

"पता नहीं है और न करने की जरूरत है। मुझे बताओ, रोटी और लेनी हो तो बैठूँ नहीं तो जाऊँ।"

छवि को ठीक से कुछ समझ नहीं आया। वह यह तो समझ चुका था कि दोनों मे कुछ झगड़ा हुआ है। पर उस झगड़े के बदले वह छवि से भी ऐसे बोलेगी इसका उसे विश्वास नहीं हो पाता था। उसके मन में कोई कह रहा था कि इस झगड़े में कही-न-कही वह भी है और पति के साथ-साथ थोड़ी बहुत नाराज़गी उससे भी है। वह बात क्या हो सकती है, यह छवि को समझ नहीं आ रही थी। शायद पिछली बातो को लेकर कुछ हुआ हो। यह ध्यान कर एक विद्रोह और क्षोभ उसके भीतर से उमड़ना चाहता था पर उस समय उसने चुप रहना ही उचित समझा। टाइम बीता जा रहा था। वह सीधे ही भाभी से बोला, "देखो जी, नाराज़ होना अपने पति से, समझी। कई दिनों की झिक-झिक से आज सिनेमा के पास लाने में सफल हुआ हूँ, कृपा करके जल्दी तैयार हो लो।"

"मुझे नहीं जाना।"

"ओहो, वैसे तो रोज़ कान खाया करती थीं कि खुद सिनेमा देख आते हैं और कभी हमें नहीं पूछते और हम कोशिश करके पास लाये हैं तो आप नख़रे दिखाने लगीं।"

छलनामयी को शायद यह बात उतनी अच्छी नहीं लगी, बोली, "तुम पर क्यों नखरे करूँगी देवर जी, वह उठाने को मेरे पति नहीं हैं क्या ?"

छवि धक् से रह गया। यह आज उसकी सीधी-साधी भाभी को हुआ क्या है। उसे समझ न आया कि वह क्या कहे और कुछ न सूझा तो तुनककर पूछ बैठा "तो तुम नहीं जाओगी!"

"कह दिया न।"

"मैं माँ से कह दूँगा।"

"कह दो।"

यह कहकर छलनामयी तो जाकर अपने कमरे में घुस कर बैठ गयी। छवि खड़ा-का-खड़ा सोचता रह गया। रवि ने पास आकर पूछा, "नहीं मानी ?"

"नहीं, बात क्या है ?"

हँसकर रवि ने कहा, "तेरे समझने की नहीं है। जा, माँ को लपेट और उससे कहला दे। फिर काम चल जाएगा।"

छवि सोचता-सा, पर झपट कर माँ को ढूँढ़ने निकला। पता चला कि एक पड़ोसी के यहाँ स्थापित हैं। वहाँ से तो यह कहकर बुला लाया कि चलो, भाभी बुलाती हैं। पर घर की दहलीज़ में घुसते यही बोला, "माँ, वह तुम्हारी बहू रूठी पड़ी है।"

"क्यों ?"

"मुझ से नाराज़ हैं।"

"पर क्यों ?" ममतामयी ने पूछा।

"क्या बताऊँ माँ ? बात यह है कि आज एक दोस्त से सिनेमा के पास मिले हैं। कुल चार आदमियों के हैं और भाभी कहती हैं कि मुझे भी ले चलो। उधर में अपने दोस्तों को कह आया हूँ।"

ममतायमी तत्काल क्रोध से भर आई, बोली, "क्यों रे, फिर ये सिनेमा देखने लगा है। शर्म नहीं आती ?"

छवि बोला, "आती तो है माँ, पर क्या करूँ आज इजाज़त दे दो, वे बेचारे इन्तज़ार करते होंगे।"

"नहीं, तू नहीं जा सकता !"

"माँ !"

"तुझे मेरी कसम जो तू गया। मैं तुझे नहीं जाने दूँगी और अगर जाना ही है तो भाभी को और रवि को साथ ले जा। सरपट को मैं रख लूँगी।"

"यह भला कैसे हो सकता है माँ, वे बेचारे इन्तज़ार करते रह जायेंगे। मैं उन्ह वायदा दे आया हूँ।" छवि बोला।

ममतामयी बोलीं, "अरे तो क्या होगा, इतने दिनों तक हमने इन्तज़ार किया, एक रोज़ वे इन्तज़ार कर लेंगे। शर्म नहीं आती तुझे, जिस भाभी ने तेरे लिए इतना किया वह कहे और तू उसे छोड़कर दोस्तों को लिये फिरे।"

छवि ने कहा, "पर माँ, मैं तो कहता हूँ, वे चलें तब ना ?"

"अभी तो कहता था कि वे जाने के लिए नाराज़ हुई पड़ी हैं ?"

"हाँ माँ, खूब जोर से रो रही हैं।"

"क्या बक रहा है, कुछ पता भी चले"

"अरे माँ, नहीं समझी ? एक बार मैंने कह दिया कि दोस्तों के साथ जा रहा हूँ तो नाराज़ हो गईं। अब कितनी देर से कह रहा हूँ, मना ही करती जाती हैं, रवि भैया भी कह-कहकर हार गये !"

"कहाँ है ?"

"अपने कमरे में।"

"बुला तो।"

छलनामयी को बुलाया गया। इस बार उसके चेहरे पर पहले जैसा अँधेरा नहीं था। हँसती-हँसती बाहर आई। ममतामयी ने जरा अपने सास होने के अधिकार को काम में लाकर कहा, "क्यों बहू, जब यह कह रहा है तो चली क्यों नहीं जाती सिनेमा। सरपट को मैं रख लूँगी।"

छलनामयी ने आग्नेय नेत्रों से छवि की तरफ देखा, फिर पलक झपकते आँखों में वही सहज स्वाभाविक शांति ला बोली, "मैंने मना कब किया है माँजी, तैयार होने को ही तो अन्दर घुसी थी।"

"पर यह तो कहता था—"

"सब झूठ है।"

छवि बोला, "माँ, सच बात है कि तुम्हारी इस बहू का नाम छलनामयी किसी ने ठीक ही रखा है। अभी-अभी अँगारे-सी आँखों से मेरी तरफ देखा और अभी कैसी मीठी बनकर कहती है—मैंने मना कब किया है माँ जी !"

ममतामयी भी मन-ही-मन अपने इस बाग के पौदों की चंचलता देख मुस्करा उठीं, फिर बोलीं, "अच्छा-अच्छा, कान न खा। जाओ, तैयार होकर जल्दी जाओ। देर हो जायेगी।"

सास के पास से हटकर छलनामयी फिर अपने कमरे के भीतर समा गई। रवि और छवि बाहर इन्तज़ार करते खडे हो गये। तीन बजने में बीस मिनट थे। सिनेमा तक पहुँचने का रास्ता भी तकरीबन दस मिनट का था। पॉच मिनट पहले चलना आवश्यक था। इस हिसाब से देर-से-देर सवा तीन बजे उन लोगों को चल देना चाहिये था। वैसे टाइम काफी था। भाभी को तैयार होने के लिए बीस मिनट काफी थे। पर जब बीस मिनट बीत गये और भाभी नहीं निकली तो दोनों भाइयों की बेचैनी कुछ बढ़ चली। दोनों से चुप खड़ा रहना सम्भव न हुआ तो बातें शुरू कीं। रवि ही पहले बोला, पूछा, "क्योंजी, कौन-सी पिक्चर है ?"

छवि बोला, "बात न पूछो भैया, किशोर साहू का 'मयूरपंख', गेवाकलर, मास्टर हिट !"

"तारीफ तो मैंने भी सुनी है, अख़बारों ने भी खूब अच्छी बताया है। कितने बजे शुरू होती है ?"

"साढ़े तीन।"

"तब तो चलना चाहिए ! सरपट साहब भी माँ को विदा करने में पाँच-सात मिनट ले ही लेंगे। अरे पूछ तो भाभी से, हुआ क्या है ?"

छवि कमरे के बाहर से ही वक्त की नज़ाकत को ध्यान में रखकर बोला, "भाभी, ओ भाभी !"

"हाँ," अन्दर से रुँधा-सा कण्ठ सुन पड़ा।

"क्या देर है, तैयार हो रही हो न ?"

"हाँ, हो रही हूँ।"

"बताओ तो कितनी देर और लगेगी ?"

"कोई आध घंटा।"

छवि ने पलट कर भैया की तरफ देखा। उनकी आँखों में उभरता रोष देख उनको बोलने

का मौक़ा न दे वही झटपट बोल उठा, "प्लीज़ भाभी, सच-सच बताओ, कितनी देर है। आपको तैयार होने के लिए दस मिनट और मिलते हैं, समझीं।"

"पर मुझे तो देवर जी, आध घंटे से कम न लगेगा। इन्तज़ार कर सको तो भला, नहीं तो दोनों भाई चले जाओ।"

रवि गुस्से से बोला, "चल छवि चलें, मरने दे इसे। उंह, नख़रों के ही ठीक नहीं। इस घर में है जो यह चलता है, किसी और घर में होती तो पता चल जाता। चल, चलता है ?"

छवि को कुछ सूझ नहीं पड़ रहा था। भैया को साथ ले चला जाए या भाभी की नाजायज़ दीखती-सी ज़िद का समर्थन करे। उसे भाभी की जिद अच्छी तो नहीं लग रही थी। पर उन्हें छोड़कर जाना भी शायद उसके बस की बात नहीं थी। जेब से पास निकाल कर भाई की तरफ बढ़ाकर बोला, "भैया !"

रवि और भी क्रुद्ध हो उठा। गुस्से से छवि के हाथ को झटक कर बोला, "रख अपने पास, अपने पास, मेरे पास पेसे हैं और तू भी भीतर चला जा। दोनों मिलकर एक सुर में रोओ।"

छवि ने कातर नेत्रों से भाई की तरफ देखा, कुछ कहना ही चाहता था कि भीतर के स्वर ने उसे रोक दिया। छलनामयी ने कड़ुए स्वर में कहा, "चले क्यों नहीं जाते देवर जी, मुझे तुम्हारे भैया ले जाना कब चाहते हैं, उन्हें मेरे साथ चलने में शर्म आती है।"

रवि भैया बाहर की तरफ चल चुके थे, पर इन शब्दों को सुनते ही रुक गए। फिर तेजी से मुड़े और कमर में घुस गए। अन्दर घुसते-घुसते ही उनके मुँह से निकला, "पर मैं पूछता हूँ अन्दर क्या हो रहा है ?"

छवि भी साथ-ही-साथ अन्दर घुसा। अन्दर का दृश्य अनपेक्षित था। भाभी पलंग पर चुप सिर झुकाए बैठी थीं। जो कपड़े पहनने के लिए निकाले गए थे वे पास ही मुँह ताकते, उपेक्षित पड़े थे। उनकी तह खुली हुई थी। लगता था जैसे एक बार उन्हें पहना जा चुका है और फिर उतार कर फेंक दिया गया है। भाभी के चेहरे पर रूठने के भाव से अधिक विषाद की काली रेखाएँ अधिक स्पष्ट थीं।

रवि ने छलनामयी को इस तरह बैठे देखा तो क्रोध से तिलमिला उठा। बोला, "गांधारी भी पुत्रों के शोक में ऐसे न बैठी होगी जैसे आप बैठी हैं, वाह-वाह, क्या छवि है, क्या पोज़ है !"

छवि के मुँह से फिर 'भैया' निकल गया। पर छलनामयी तनिक भी हिली-डुली नहीं। वैसे ही बैठी रही। रवि ही फिर बोला, "सवा तीन बज चुके हैं, चलना नहीं है ?"

इस बार उसी तरह बैठे-बैठे छलनामयी बोली, "मुझे नहीं जाना।"

बात पूरी तरह छलना के मुँह से निकली भी न थी कि रवि का हाथ घूमा और एक जोर का तमाचा छलना के झुके चेहरे पर चिपक कर रह गया। पाँचों उंगलियो के निशान गाल पर उभर आए। छलना को शायद इसकी तनिक भी आशा नहीं थी। दाम्पत्य जीवन के इन इतने सालों में ऐसी घटना का यह पहला ही मौका था और वह भी बराबर की उम्र के देवर के सामने। उसने अपनी दोनों आँखों को, अपने पति के चेहरे पर टिका दिया। चेहरा क्रोध से तिलमिला रहा था। छलनामयी की आँखों ने अधिक देर तक उस चेहरे की तरफ नहीं देखा। पलकें झुक गईं। उस झुकने में एक उपेक्षा का भाव भी था, वही भाव जो एक सहनशील निर्दोष मनुष्य की आँखों में होता है और एक ऐसा भाव भी था कि जो दो, वही मंजूर है, तुम भी क्या याद

करोगे कि कोई भिखारिन पल्ले पड़ी थी। जिसकी झोली हमेशा फैली ही रहती है, बन्द ही नहीं होती। भाभी के आँसू तो पलकों में झुककर रह गए पर छवि अपने उमड़ते आँसुओं को न रोक सका। न वह कुछ बोल सका और न कुछ कर सका। और कुछ न बना तो भाई के पीछे हो गया। पर तभी उसने भाभी को अचेत हो पलंग से ज़मीन पर लुढ़कते देखा तो पीछे न रह सका। झपट कर अधर में ही भाभी को रोक लिया और ठीक से उन्हें पलंग पर लेटा दिया। रवि यह सब देख चुप-चाप बाहर जाकर, बाहर पड़ी एक चारपाई पर लेट गया था। छलना को दौरों का रोग था। शोरगुल सुना तो ममतामयी दौड़ी आई। आकर देखा कि भाभी बेहोश पड़ी है और छवि पास बैठा है।

"क्या है रे ?"

"कुछ नहीं", छवि बोला।

"कुछ नहीं, पर यह सब क्या है ?"

छवि से नहीं रहा गया, बोल ही पड़ा, "माँ, भाभी को भैया ने मारा।"

ममतामयी सकते में आ गई, "मारा ?"

"हाँ।"

ममतामयी सुन्न रह गई। बहुत देर तक उनकी गर्दन नहीं उठ सकी। छवि उन्हें सामने खड़ा दिखाई न दिया। देर बाद उनमें चेतना लौटी। छवि से एकदम कुम्हलाये-से स्वर में बोलीं, "छवि, डॉक्टर।"

डॉक्टर जब तक आया छलनामयी को होश आ चुका था। अपने चारों तरफ सास, पति और देवर को खड़े देख वह संकोच से मुँह छिपाने लगी। उन सब की तरफ से उसने वाकई ही मुँह फेर लिया तो ममतामयी कुछ दूसरा ही समझ अत्यन्त स्नेह से बोली, "नाराज़ हो बेटी ? ठीक भी है, नाराज़ होने की बात भी है, तुम्हारे ससुर आज न हुए। शायद तुम्हारी नाराज़गी दूर कर सकते, पर मै···।"

डॉक्टर यह कहकर कि 'अब यह ठीक है' चला गया। छलनामयी अब तक पानी-पानी हो चुकी थी। उसे अपने पति की ओर देखने तक का साहस नहीं हो रहा था। अनायास उसके हाथ सास के पैरों पर पड़े। सास उसके पास ही पलंग पर बैठी थी और धीरे-धीरे उसके शरीर को सहला रही थी। कभी-कभी उसके गालों पर और बालों में भी हाथ फेर देती। छलनामयी को यह स्पर्श बहुत ही सुखद प्रतीत हो रहा था और यदि उसमें संकोच न होता तो वह जन्म-जन्मान्तर तक इसी तरह पड़े रहना था और सहलाए जाना पसन्द करती। इससे उसकी वह भूख मिट रही थी जो उसकी माँ के बचपन में ही मर जाने के कारण कुंठित-की-कुंठित रह गई थी। पर देवर और पति के सामने खड़े होने पर लेटे रह सकना उसे अब सहन न हो रहा था। वह उठने के लिए छीना-झपटी करने लगी। पर ममता ने उसे नहीं उठने दिया। वे उसके अपने मुँह से सुनना चाहती थीं कि वह अब नाराज़ नहीं है, दुखी नहीं है। उसी तरह सहलाते हुए पूछा, "तुझे रवि ने मारा है ना ?"

छलनामयी झेंप गई, बोली, "नहीं।" फिर प्रयास करके सिर को सास की गोद में रख ऐसे दुबक गई जैसे घोंसले में पंछी।

ममतामयी बोली, "सच-सच बता छलना, क्या हुआ था, सब सुनकर ही रवि को सजा मिलेगी।"

पर छलनामयी कुछ न बोली, चुपचाप उसी तरह दुबकी रही।

ममतामयी समझ गई कि पति के खिलाफ वह कुछ न कहेगी तो छवि से पूछा, "रवि ने बहू को मारा था न ?"

छवि बोला, "हाँ माँ, मुझे तो पता ही नहीं था कि ये दोनों यह सब भी करते हैं। मैं तो दुनिया-भर से कहता फिरता हूँ कि इस कलियुग में एक मेरे ही भाई-भाभी ऐसे हैं जिनमें कभी झगड़ा नहीं होता, पर अब —"

"रवि!"

रवि हँस रहा था।

ममतामयी ने कहा, "शर्म की बात है और हँस रहा है, माफी माँग बहू से।"

रवि तो फिर भी हँसता रहा पर छलना कुलबुला गई। शायद बोली भी, कुछ तो समझ में नहीं आया पर अन्तिम शब्द 'माँ जी' ज़रूर सुन पड़ा। ममतामयी ने उसके बालों में फिर उँगलियाँ पिरो लीं और बोली, "तू चिन्ता न कर पगली, उससे कोई पाप नहीं चढ़ेगा तेरे ऊपर, मैं तो कहती हूँ और पाप धुलेगा ही। तुम और यह और नज़दीक आ जाओगे, समझी!"

माँ को अपनी तरफ देखता देख रवि छवि से हँस कर बोला, "भैया छवि तू, सुना है, यह माफी-वाफ़ी माँगने का काम अच्छा निपटा लेता है, सो जरा मेरी तरफ से—हाँ!"

छवि भी हँसकर ही बोला, "ना भैया, माँ से, तुम से, पिता जी से, माफी माँगने का मौक़ा तो पड़ा है पर पत्नी से माफी माँगने का अब तक कोई मौक़ा नहीं मिला। यह काम तुम ही करो। मैं नहीं करूँगा।"

ममतामयी भी अब तक हँस आई थी पर गम्भीर मुद्रा बनाये बोली, "भला, भई भला, कोई न माँगो माफ़ी। मैं माँग लेती हूँ अपनी बहू से माफ़ी, सबसे बड़ी हूँ न इस घर की। जो छोटे न कर सकें, वह मुझे तो करना ही होगा। फिर बहू तो बड़ी होकर यही कहेगी कि सास के होते मुझ पर अन्याय हुआ। यह कह बहू को उन्होंने और भी कलेजे से चिपका लिया पर बहू का कलेजा शायद अब और सह नहीं पा रहा था, वह सास के पंजे से अपने को छुड़ा अलग हो गई। क्षण-भर सास की तरफ भीगी आँखों से देखती रही। फिर न जाने क्या सूझा कि झुककर सब के पाँव चूमने लगी। सास के चूमे, पति के चूमे और छवि को भी नहीं बख्शा। और न जाने चूमना कब तक चलता रहता यदि सास उसे फिर अपनी गोद में न समेट लेती और छवि और रवि शर्म से उस कमरे से भाग न जाते।

ममतामयी की गोद में पड़ कर छलना फूट-फूट कर रोने लगी। रोते-ही-रोते कहती जाती, "मैं वाकई इस घर के काबिल नहीं हूँ यह स्वर्ग है और मैं —"

ममतामयी ने बात पकड़कर कहा, "देवी! अच्छा खैर, और मेरी धोती न भिगो, कल तो धुली धोती पहनी थी। चल, उठकर मुँह-हाथ धोकर तैयार हो ले, सिनेमा जाना होगा। जायेगी ना ?"

बहू की सहमति पा ममतामयी ने छवि को पुकारा, "क्यों रे, वक्त है ?"

"पाँच बज रहे हैं, टाइम रखा है अब।"

"शाम को भी तो होता है ना ?"

"होता है।"

"तो ?"

"पर पास तो इस ही शो के थे ना!"

"पैसे ले जाना। बहू, तैयार हो ले। और कह रे छवि अपने उस भैया को भी, तैयार हो

ले। सिनेमा आज जाना ही होगा।"

फिल्म देखी, बहुत अच्छी लगी। कहानी सीधी थी, पर हृदय को छूती थी। एक दम्पति के बीच एक विदेशी स्त्री आ जाती है। पत्नी को पता चल जाता है। पर अपनी सहज शिष्टता, गम्भीरता और सहनशीलता से अन्त में पति के हृदय को जीत लेती है। पति के मस्तिष्क में भीषण ऊहापोह मचती तो है पर पत्नी के शील-स्वभाव से सब ठीक हो जाता है। आखिर मन्दिर की छाँव में दोनों का पुनर्मिलन होता है और विदेशी स्त्री अपने देश लौट जाती है। अन्तिम दृश्य अत्यन्त मार्मिक बन पड़ा था। और मन को आनन्द की हिलोर से भरे देता था। पिक्चर लगभग सबको अच्छी ही लगी थी। पर छलनामयी अजीब लहजे में पति से पूछ बैठी, "तुम्हें तो तस्वीर बहुत अच्छी लगी होगी ?"

"हाँ, लगी तो है।"

"क्यों न हो, तुम्हारी अपनी ही कहानी तो है।"

छवि चौंका, पर चुप रहा। उसकी समझ में आज दिन-भर का कुछ भी नहीं आया था। इतना ज़रूर लगा था कि जो शान्ति इन दोनों के बीच दीखती है उसकी सतह और तली के दृश्य में भेद है। वह भेद क्यों है, यह उसे समझ न आया पर कुछ-न-कुछ है ज़रूर जो उसे खोज निकालना होगा। पर ऊपर से विरक्त भाव दर्शाता वह उन दोनों की बातें सुनने लगा। दोनों बातों में ऐसे लीन थे कि छवि को बिलकुल भूल ही गये थे। रवि कह रहा था, "अन्त तो ठीक ही हुआ।"

"उँह, क्या ठीक हुआ, घर आये पर घायल, अधमरे ! सकुशल तो लौट न सके। इस लौटने से तो न लौटना भला !"

"सच ?"

"और नहीं तो क्या।"

"पगली, घाव भर जाते हैं, आदमी घर लौट आना चाहिए।"

"हाँ जी, घाव तो भर ही जाते हैं, पर जो निशान छोड़ जाते हैं वे कभी नहीं भरते। हमेशा के लिए चमड़ी काली कर देते हैं।"

छवि से अब न रहा गया। बोल उठा, "वाह-वाह, पति-पत्नी में क्या गुप-चुप हो रही है, जैसे हम तो कहीं हैं ही नहीं। भई, अब थोड़ा हमसे भी वार्तालाप कर लो या हमें बिलकुल ही विदेशी समझ लिया है और हवाई जहाज पर चढ़ाकर विदा करने की सोची है ?"

रवि और छलना दोनों झेंप कर हँस दिये। फिर रवि ने हँसकर कहा, "देखो न छवि, तस्वीर की बात करता था, अन्त उसका ठीक नहीं हुआ।"

"ठीक तो हुआ। सुबह का भटका शाम को घर आ गया। बस ख़त्म !"

"तो क्या उसके बाद भी घर को कोई शिकायत होनी चाहिये ?"

छवि ने कहा, "मेरे ख़याल से तो नहीं होनी चाहिये।"

रवि कुछ कहना ही चाहता था कि छलनामयी बात काट कर बोली, "और क्या यह दावे से कहा जा सकता है देवर जी, कि एक बार आकाश में उड़ा पंछी पिंजरे में बन्द होने पर भी प्यासा का प्यासा नहीं रह जायेगा और पिंजरा उसके मन नहीं चढ़ेगा। वह बार-बार उड़ना चाहेगा, उड़ न सकेगा तो धीरे-धीरे मुर्दा हो जायेगा। पंछी न रह कर वह मात्र नक्शा रह

जायेगा। फिर क्या उसे पिंजरे में रखना न्याय-संगत होगा ? मैं कहती हूँ—नहीं होगा, नहीं होगा, बिलकुल नहीं होगा।"

छवि बोला, "पर भाभी जन्म से सभी पंछी होते हैं। उड़ना सभी चाहते हैं, आकाश की ऊँची-से-ऊँची चोटी उनका लक्ष्य होता है और लगभग सभी उड़ते भी हैं, पर कितने हैं जो अपनी मंजिल पाते हैं। आखिर एक दिन सभी को पिंजरे में बन्द होना पड़ता है, तो क्या''' ।"

"हाँ देवर जी, मैं और कुछ नहीं जानती, यही जानती हूँ कि वे सब मुर्दों की तरह बीतते हैं। वे उस पिंजरे में रहना नहीं चाहते, उससे उड़ जाना चाहते हैं। उड़ नहीं सकते, इसके अनेक कारण हो सकते हैं। परिस्थितियाँ हो सकती हैं। उनकी खुद की कमजोरियाँ हो सकती हैं। असमर्थता हो सकती है। कुछ के थोथे आदर्श उन्हें रोक सकते हैं, पर यह सच है कि उनका एक मुर्दे की तरह जीवन बिताना उनके लिये भयंकर होता है और देवर जी, मैं तो यहाँ तक कहूँगी कि पिंजरा चाहे जन्म-जन्मातर तक खाली पड़ा रहे, उन्हें आज़ाद छोड़ देना चाहिए, सदा-सदा के लिये।"

छवि हँस पड़ा। इस गर्ज से कि भाभी की उत्तेजना को और भड़काना ठीक नहीं होगा, बोला, "भैया, माँ से भाभी की यह सब बातें बात देना, वे बहुत खुश होंगी। अपनी बहू के क्रांतिकारी विचार उन्हें खूब पसन्द आयेंगे।

रवि भी हँस पड़ा और छलनामयी की उत्तेजना भी माँ का नाम सुन पल में ही काफूर हो गई। विह्वल-स्वर में बोली, "क्या करते हो देवर जी, जल्दी से सवारी लो न, कितनी देर हो गई है। माँ इन्तज़ार करती होंगी। शायद सरपट ने उन्हें परेशान कर रखा हो।"

13

सरपट का दूसरा जन्म-दिन आया। पहले घर की आर्थिक अवस्था के कारण ममतामयी दिल खोलकर उसे मना न सकी थी। पर इस बार दशा कुछ ठीक थी। ममतामयी ने धूमधाम से जन्म-दिन मनाने का संकल्प किया। ममतामयी जो चाहती, सदा वही होता। जन्म-दिन मनाने की धूमधाम से ही तैयारियाँ हुई। छवि बहुत खुश था। प्रवृत्ति से रवि कुछ कमख़र्ची था। माँ के उस धूमधाम के कार्यक्रम पर कभी-कभी वह झिक पड़ता, पर कुल मिला कर खुश वह भी था। छलनामयी ने घर का सब काम अकेले ही सँभाल रखा था। सरिता भी आई थी पर उसे तो आने-जाने वालियों से बातें करने से ही फुरसत नहीं थीं, खूब उछली-उछली घूम रही थी। खुशी की तो जैसे होड़ लग रही थी। और-तो-और सरपट साहब भी रोज़ से अधिक खुश मालूम पड़ रहे थे। दौड़-दौड़ कर मेहमानों से हाथ जोड़कर माँ की सिखाये 'नमस्ते' करते और खिल-खिलकर कर हँस पड़ते। आज वह लग भी बहुत अच्छा रहा था। घुँघराले बाल उसके बाल-मुख पर बिखरे थे जैसे भाग्यवान् के हाथ पर भाग्य-रेखाएँ। उसका चेहरा आज ऐसा लग रहा था जैसे ब्रह्मा ने सहस्रदल फूल में जान डाल दी हो और वह घर भर में सुगन्ध फैलाता फिरता हो। ममतामयी से, जब वह कहीं टकरा जाता तो उन्हें काम से बचने का बहाना मिल जाता, कहती, "देख बहू, यह तेरा सपूत मुझे छोड़ता ही नहीं, अब तू ही बता काम करूँ तो कैसे ?"

छलना हँस कर कहती, "पर किसने कहा है तुमसे कि काम करो।"

"अरे तुम सबको मैं अच्छी तरह जानती हूँ। आज काम करोगी और कल मुझे ही कस-कस

कर ताने दोगी कि हमने तो अकेले ही अपने लड़के के जन्म-दिन पर काम किया था। सास का तो कहीं पता भी नहीं था।"

छलना तो इस पर चुप रह जाती पर सरिता चुप नहीं रहती। वह कुछ वैसे भी साफ-साफ कहने वाली मानी जाती थी। कहती, "माँ तू यों ही बातें न बना, काम करने दे। हमें पता है, काम करने की तेरी कितनी मर्जी है। चुप हो पोते को सँभाल और एक कोने में बैठ सब देख।"

ममतामयी नाटकीय रोष चेहरे पर लेप कर बहू को संबोधित कर कहती, "तूने देखा बहू, यह पेट की जाई है। मैं तो कल की बात कहती थी, यह तो अभी से ताने देने लगी। अरी, तू जब मेरे जितना काम करेगी तो शीरनी खिलाऊँगी तुझे। मेरी बूढ़ी हड्डियाँ हैं, जब तेरी उमर में थी तो अकेली धड़ी चना पीसकर साँस लेती थी।" कहते-कहते वह सरपट को गोदी में ले, छाती से चिपका यह कहती हुई वहाँ से चली जाती कि "तेरे ताने देने से मैं काम पर नहीं जुट जाऊँगी। अब मेरे काम करने के दिन नहीं हैं, हुक्म देने के दिन हैं। तुम सब काम करो, मैं और मेरा सरपट सब के काम-काज की देख-भाल करेंगे।"

सरिता और छलना एक दूसरे की तरफ देखकर हँस देतीं और काम में जुट जातीं पर नौ बजते-बजते काम करने वालों की एक खासी कुमुक उन्हें मिल गई। छलना की बहिन सत्या और भाभी भी आ पहुँची। सत्या काम करने में बहुत चुस्त थी। छलना की भाभी भी खूब काम कर लिया करती थीं पर जरा होड़ लगाने की और ईर्ष्या-द्वेष की उनकी आदत थी। इसी कारण काम से अधिक वे काम की नापतौल और जाँच-पड़ताल किया करतीं। पर कुछ भी हो ननद के घर अपनी उस प्रवृत्ति को संतुलित करने की उन्होंने यथासाध्य कोशिश की। छलना को उन्होंने खूब मदद दी। हाँ, सत्या के काम की आलोचना कर काम की गति को कुछ मन्दा अवश्य किया। पर कुछ ही देर उनकी वह आलोचना चली। दिन के तीसरे पहर काम निबटने भी लगा। लोग-बाग भोजन पा और ममतामयी की गोद में बैठे सरपट को आशीर्वाद दे लौट कर जाने लगे। ममतामयी से उन्होंने भोज की खूब प्रशंसा की। जिससे खुश होकर वे भी सब के बच्चों को आशीर्वाद देने लगी। आखिर शाम ढुलक आई। सूरज की तपिश कम हुई। छलना की भाभी ने चलने की बात उठाई तो छलना ने निर्द्वंद्व भाव से कहा, "भाभी, सत्या को आज नहीं जाने दूँगी।"

भाभी बोली, "मत जाने दो, मैं कब कहती हूँ भेजो। मुझसे पूछेगे —"

"तो कह देना छलना ने आने नहीं दिया।"

भाभी चली गई। सत्या रह गई। बत्तियाँ जल चुकी थी। सरिता वापस घर जा चुकी थी। उस एक बल्ब के नीचे जो बचे थे उनमें से छवि, रवि, छलना, सत्या और ममतामयी को ही अधिक महत्व दिया जा सकता है। सरपट महोदय भी थे जरूर पर उनको महत्व न वहाँ कोई दे रहा था और न हम देना चाहते हैं।

कमरे का बल्व मिल्क शेड का बल्व था। उसकी रोशनी बहुत मीठी होती है। कोई विशेष बात उसमें नहीं होती बस यही कि वह आँखों को चुभती नहीं, मीठी लगती है। उस ही रोशनी में छवि ने एक चीज़ देखी। सत्या का रंग उस रोशनी से उजला था। रोशनी में जैसे गर्मी की लाली थी, वैसी ही लाली सत्या के उस चेहरे पर भी थी। उसका शांत और स्निग्ध चेहरा छलनामयी के वास्तविक स्वरूप का परिचय दे रहा था। वैसे छलनामयी भी अब पहले जैसी काली नहीं दीखती थी, पर वक्त की लकीरें जो निशान छोड़ जाती हैं वह कभी नहीं मिटते।

छवि को सत्या का सामने बैठना बहुत भा रहा था। मन में एक कुहुक-सी उठ रही थी। जिसे घूँट-घूँट निगलकर वह नीचे को ढकेल रहा था। अब तक सब चुप थे, क्योंकि छलनामयी पूरी तरह काम से नहीं निपटी थी। पर जब वह भी आकर बैठ गई तो छवि से चुप नहीं रहा गया। रवि भैया से बोला, "भैया, आज कली खुल गई!"

रवि समझ गया, कुछ नए प्रपंच का सूत्रपात है। वह भी छवि को उकसाता हुआ बोला, "कैसी कली रे ?"

"बस, आज पता चल गया।"

छवि अपने चिर-परिचित मुग्ध कर देने वाले अभिनय के साथ बोला; "अरे वही, वह जो बचपन का फोटो था न, वह भाभी का नहीं था!"

"अच्छा ?"

"और क्या।"

"तो किसका था ?"

"सोलहों कलाओं में निपुण किसी स्त्री का रहा होगा।"

रवि बोला, "तू उस स्त्री को नहीं जानता ?"

"धत्! रवि भैया, इनसल्ट करते हो! साक्षात् विष्णु का मानस-वाहन, श्री श्री छविनाथ और उस मामूली-सी स्त्री को न जाने। पर न बताने में ही कुशल है। तुम भी सो रहो और मैं भी सो रहूँ। भाभी का मुँह आज भारी है। न तुम्हारी खैर है, न मेरी, समझे।"

अनायास ही सब का ध्यान छवि से उचट, छलना की तरफ चला गया। पहले चाहे वह चुप रही हो पर इस समय छवि की तरफ देखती हुई हँस रही थी। पर उस हँसी के नीचे से उसके अपने हृदय का फीकापन इतना स्पष्ट था कि छिपाए नहीं छिप रहा था। ममतामयी ने यह देखा तो आर्द्र-कण्ठ से बोली, "थकी-माँदी है सुबह की। काम क्या थोड़ा किया है। बहू, अब तू सो जा।"

छवि हँसकर बोला, "हाँ जी, बहू जी सो जाओ, तुम्हीं तो एक अपनी सास की बहू हो हम क्या अपनी माँ के बेटे हैं, और हमने काम थोड़े ही किया है। सोइए, हम भी सोते हैं।"

छलना अब तक स्वस्थ हो गई थी। हँसकर बात का रुख पलटकर बोली "हाँ तो देवर जी, बताओ न उस स्त्री का नाम ?"

छवि बोला, "उतर गई थकान ?"

"अरे, तुम्हारी बातों से तो गुस्सा उतर जाए, थकान की तो बात ही क्या है। तुम्हारे जैसा बातूनी तो भगवान एक युग में एक ही पैदा करता है।"

"तो मैं—"

"बहस न छेड़ो देवर जी, मैं तुमसे जीतना नहीं चाहती। तुम उस स्त्री का नाम अपने मुँह से बताओ, जिसका वह फोटो है और जो सोलहों कलाओं में निपुण है।"

"तुम उसका नाम पूछ कर क्या करोगी भाभी ?"

"एक-आध कला मैं भी सीख लूँगी।"

छवि पल-भर चुप रहकर बोला, "अच्छा, तुमने रामायण पढ़ी है ? पढ़ी होगी, जरूर पढ़ी होगी। उसमें अहिल्याबाई का एक प्रसंग आया है, उसे जरा मेरे कहने से तुम फिर दिमाग़ में लाओ। फिर ध्यान से सुनो अहिल्याबाई शाप के कारण पत्थर हो गई थी और मामूली पत्थर

की बनी थी। पर यह स्त्री संगमरमर की बनी है और इसका पत्थर होना किसी शाप के और रामचन्द्र जी के कारण नहीं है। वैसे वह अधिकतर चुप रहती है। चेहरे पर पथरीलापन जरा हल्का है पर मजबूत है। खूबसूरत है। थोड़ी नहीं, बहुत खूबसूरत है। लगभग अजन्ता टाईप कट्स हैं पर है मूर्ति, सो किसी काम की नहीं है। वैसे मानना पड़ेगा कि कुशल शिल्पकार के हाथों पत्थर पर उतरा सौन्दर्य भौतिक सौन्दर्य से भला जान पड़ता है क्योंकि इस सौन्दर्य के अधिक दिन जीने की आशा होती है। ऐसी ही एक पत्थर की पूर्ति मैंने अजमेर में देखी थी। क्या कहूँ भाभी, कितनी सुन्दर थी वह। शुद्ध स्वच्छ संगमरमर पर गढ़ी वह मूर्ति ऐसी लगती जैसे उस अमूर्त्त को किसी ने मूर्त्त रूप में पकड़ लिया हो। भाव भी उस मूर्ति के खूब थे। बस, एक बारीक सा कपड़ा उसके समूचे बदन की गोद में लपेटे था। जैसे उच्छृङ्खल ऊधमी बालक को कहीं जाने से रोकने वक्त माँ अपनी गोद में लपेट लेती है। पर बालक कहाँ थामे थमता है। नहीं, नहीं थमता। बल में वह माँ को जीत नहीं सकता, पर उसके अवयवों की ऐंठन हर दर्शक को बता देती है कि यह गोद अब उसके लिए असह्य है। उसका छलकता चांचल्य अब उसकी अपेक्षा नहीं रखता और उसे स्वतन्त्र कर ही देना होगा। पर माँ का प्रेम उसके बल को निचोड़ कर पी जाता है और आकुल बालक हार के शोक में लजा कर रह जाता है। बस, यह द्वन्द्व ही उस मूर्ति की जान थी। वह चुप-चुप···"

छलनामयी ने हँसकर छवि के प्रवाह को टोक दिया, बोली, "कवि महोदय, कुछ पंडाल का भी ध्यान रखो। जनता ऊब कर ऊँघना ही चाहती है।"

छवि जागा। जागकर उसने चारों तरफ देखा। फिर जोर से ठहाका लगाकर हँस पड़ा। वही झरने की झर-झर हँसी। सब उसकी ओर देखते-के-देखते रह गये। इतने जोर की हँसी शायद सबको असंगत लगी। हँसते-ही-हँसते छवि बोला, "समझी नहीं भाभी, उस मूर्ति का नाम तुम···और तुम भैया ?"

रवि शायद ऊँघ चले थे या वे भी किसी सपनों की दुनिया में पहुंच गये थे। सचेत होकर बोले, "क्या मुझ से कुछ कहा ?"

"जी हाँ।"

"क्या।"

"पहेली बूझी है।"

रवि बोला, "अरे क्यों परेशान करता है सत्या बेचारी को। कब से तो चुप-चुप बैठी तेरी बकवास सुन रही है। अब बन्द कर, सो जा या इन अपनी भाभी साहिबा को ले अपनी लपेट में। इन्हें तेरी बातों में, कहती हैं रस भी बहुत मिलता है।"

छलना बोली, "तुम्हें नहीं मिलता ?"

"उंह, मेंढक की टर्र-टर्र बस बरसात में ही भली मालूम होती है।"

"पर सुन तो ऐसे कान लगाकर रहे थे, जैसे विधवा अपने मृत पति की प्रशंसा सुनती है, और कहते हो रस नहीं मिलता।"

रवि उठकर भीतर कमरे में जाने लगा तो छलना बोली, "आज तुम्हें बड़ी नींद सता रही है। सत्या क्या रोज़-रोज़ आती है। दो घड़ी बैठकर हँसी मज़ाक कर लोगे तो नींद कुछ बड़ा अत्याचार तुम्हारे शरीर पर नहीं कर देगी।"

छवि भौंचक रह गया। यह भाभी को हुआ क्या है। ऐसे बोलना उसने कब से सीखा।

ममतामयी को भी आश्चर्य हुआ। उसकी बूढ़ी आँखों ने भी ध्यान से पुत्र और पुत्र-वधु के चेहरों को देखा। दोनों के चेहरों पर खिंचाव देख उनकी भृकुटी में भी बल पड़ गये। उन्होंने कुछ कहना भी चाहा पर सत्या को देख चुप रह गयी। हँसकर बोली, "दोनों थक गये हो, वह तो भई ठीक है, पर उसका गुस्सा तुम एक-दूसरे पर क्यों उतारते हो। और रवि, ठीक तो कह रही है बेचारी बहू, सत्या भला क्या रोज़-रोज़ आती है। अभी बैठ, थोड़ी देर में सो जाना।" फिर सत्या से बोली, "तू चुप क्यों बैठी है बेटी, तू भी बोल। कब से यह बन्दर तुझे चिढ़ा रहा है, तू भी इसका जवाब दे।"

सत्या हँसकर कुछ बोली। रवि भी वापस आकर बैठ गया और छलना ने भी हँस-हँसकर बात करना शुरू कर दिया। छवि ने यथाशक्ति चेष्टा की कि महफ़िल में फिर से चुस्ती आ जाये पर उसके सब प्रयत्न विफल हो गये। कुछ ही देर बैठक जम सकी। फिर सब अपने-अपने बिस्तरों में लुढ़क गये। छवि भी जा लेटा। उसका मन लेटते-लेटते फिर भारी हो उठा था। वह सोच रहा था, यह भाभी थकना कब से सीख गईं, भैया को तब अनायास ही क्या हो गया था और माँ के उस वाक्य में इतना ठोसपन क्यों था। उसने सत्या के गुणों और सौन्दर्य पर भी एक दृष्टि फेंकी ज़रूर, पर अधिक देर वह उस विषय पर न टिक सका। एक भय, एक आशंका का भाव उसके मन पर छाने लगा। सत्या वैसे उसके मन पर चढ़ गई थी। दूध-सा सफेद संग मूर्ति से कटे अवयव और मौन, शान्त, निर्द्वन्द्व चेहरा। भय और वह आशंका भी शांत नहीं हुए थे। उसे लगता था कि प्रकाश उसके जीवन में आए-न-आए पर अंधकार, भय और आशंका उसके जीवन पर ज़रूर छा जाएंगे। ऐसे ही आग-पानी का खेल खेलता वह जाने कब सो गया और सवेरे तभी उठा, जब भाभी ने खींच-तान करके उठाया।

14

भाभी बोली, "जल्दी से निपट लो देवर जी, आज जरा देर से स्कूल जाना। सत्या को घर पहुँचा आना होगा।"

छवि बोला, "पर आज तो मुझे जरूर पहुँचना था और जल्दी ही।"

बिना उसकी तरफ देखे ही छलना बोली, "अब नखरे भी दिखाओगे क्या। अपने वायदे को पूरा करने की बारी है, जैसा कहती हूँ वैसा करो। और सुनो, सत्या का मन लेना, समझे।"

छवि झेंप गया। वैसे बातें बनाना और बात है और ऐसी बात का अपने पर झेलना और बात है। बड़ा कलेजा चाहिये। बोला, "भाभी!"

"देर न करो, जैसा कहती हूँ वैसा ही करो।"

छवि चला गया। जल्दी से निपटने। छलना भी अपने काम में लग गई। छवि जब गुसलखाने से नहाकर गुनगुनाता हुआ बाहर निकला तो भाभी को माँ से कहते पाया, "उनकी तबीयत कुछ खराब है शायद, इसी से अब तक नहीं उठे।"

ममतामयी पूछ रही थी, "क्या तबीयत खराब है?"

"मुझे तो उन्होंने बताया नहीं माँ जी!"

ममतामयी बहू के और भी पास आकर बोली, "कैसी बात करती है, पति की तबीयत

खराब है और तू कहती है कि तुझे पता नहीं, यह कैसी बात है भला !"

छलना बोली, "अब माँ जी, हरेक के भीतर-बाहर की हरेक बात कोई थोड़े ही जान सकता है।"

"हरेक की बात नहीं करती री," ममतामयी ने कहा, "तेरे पति की बात करती हूँ उसकी हर बात का तुझे पता होना चाहिये।"

छलनामयी ने इस बार सास के चेहरे की तरफ देखा। उसकी आँखें उनकी आँखों से टकरा गईं और उन अनुभवी आँखों के सामने उसकी आँखें पल भी नहीं ठहर सकीं। झुक गईं। झुकी ही आँखों से बोली, "नहीं माँ जी, मुझसे यह दिल टटोलते फिरना नहीं आता। मुझे नहीं मालूम।"

सास बोली, "माँ से तू झूठ क्यों बोलती है बहू, तेरी आँखें कहती हैं कि बात कुछ जरूर है और तू जानती भी है, पर छुपा रही है।"

छलना ने एक बार फिर पलकें उठाई और फिर झुका लीं। फिर यह कह कर कि उसे कुछ नहीं मालूम, वह झटपट चली गई।

ममता ने छवि से पूछा, "तुझे मालूम है कुछ छवि ?"

"नहीं माँ, कुछ नहीं।"

"अच्छा, तू तो आज स्कूल नहीं जा रहा है ना, सत्या को छोड़ने जा रहा है। जल्दी से तैयार हो ले। मैं ज़रा रवि को देखूँ। क्या हुआ है उसे ?"

ममतामयी की यही विशेषता थी। जब तक देखती कि परिवार की मशीन ठीक चल रही है तब तक तो वे ऐसे विरक्त-भाव से किनारे बैठी रहतीं कि देखने वाला समझे कैसी माँ है, कैसी घर की बड़ी है कि न घर के फुँकने से मतलब न जलने से; बस पड़ौसियों के साथ गप्पें हाँकने से काम या पान खाने से। पर वह कहने वाला चुप रह जाता, जब वह ममतामयी की उस समय की तत्परता और सन्नद्धता देखता जब उन्हें जरा आभास हो जाता कि पुर्जों में कहीं कुछ कंकर किरकिरा उठा है। ऐसी ही संकटकाल की स्थिति ममतामयी ने रात भाँपी थी, और रात से उनके कान खड़े थे। वे चौकन्नी थीं। उतावलापन उनके स्वभाव में नहीं था। अपने साठ साल के जीवन में इतना संकट सहा था कि एक ऐसी चट्टान हो गई थीं कि वक्त की लहरें उनसे टकरा भँवर खा सकती थीं पर उन्हें डिगा नहीं सकती थीं। यह तो वैसे मानना ही पड़ेगा कि लहरों के थपेड़ों से बड़ी-बड़ी चट्टानें घिस-घिसकर मिट जाती हैं पर यह भी सच था कि ममतामयी उन छोटे-मोटे पत्थरों में से नहीं थीं, जो लहर की एक चपेट में ही जग छोड़ बह निकलते हैं और रेत बन जाते हैं। रात की घटना से जिस बात की आशंका उन्हें हुई थी, वह भी उनकी दृष्टि में कुछ कम भयंकर नहीं थी। आज उनकी सन्नद्धता भी कुछ अन्यथा थी। पर उन्होंने अपने सदा के साथी धीरज को नहीं छोड़ा था। यदि वह हुआ तो उन्हें क्या करना होगा, यही वे तत्परता से सोच रही थीं। उन्हें आज दुःख था, तो एक बात का कि आज यदि रवि के पिता होते तो क्या उसे चिन्ता करनी पड़ती। वह तो बस उनसे समझा कर कह देती और सब ठीक कर लेते, पर खैर ! उनके बड़े से दिमाग से जो उसने सीखा है वह उससे जरूर समस्या को हल कर लेगी, उन्हें विश्वास था ! यही सब सोचती-सोचती वह रवि के पास पहुँची। रवि अब तक मुँह ढँके लेटा था। कुछ मिनटों तक ममतामयी चारपाई के पास चुपचाप खड़ी रहीं। रवि बार-बार इधर-उधर करवटें लेता। कभी टाँगों को सिकोड़ लेता और कभी उन्हें

फैला लेता। स्पष्ट था कि रवि की मनोदशा ठीक नहीं है। अपने जलद गम्भीर पुत्र की ऐसी डगमगाई मनोदशा देख कर पहले तो ममतामयी भय से सिहर उठीं, पर तत्काल उनके हृदय से उठकर करुणा गले तक भर आई। वे चुपचाप जाकर पलंग पर बैठ गयीं। फिर लिहाफ़ के ऊपर से ही पुत्र के शरीर को सहलाती हुई बोलीं, "रवि बेटा!"

रवि ने कहा, "हाँ,"

"कुछ तबीयत खराब है, क्या बात है?"

"कुछ नहीं, ऐसे ही जरा··· "

"क्या बुखार है रे, कह न, देखूँ?"

लिहाफ़ में हाथ डाल, बिना रवि के शरीर को उघाड़े, इस डर से कि कहीं बुखार हो और हवा लग जाये, ममतामयी ने रवि का हाथ देखा। देखकर उनके मुँह पर निश्चिन्तता का भाव आया, पर बाहर से चिन्ता दर्शाती हुई बोली, "हाँ रे, तुझे तो बुखार है, हल्की-सी हरारत है। तू आज स्कूल मत जाना।"

रवि कुछ नहीं बोला तो बोलीं, "मन भी कुछ खराब है क्या?"

रवि ने कहा, "हूँ।"

"तो कहीं घूम आ।"

रवि फिर चुप ही रहा। एक मिनट ममतामयी कुछ सोचती रहीं। फिर कहा, "तू ऐसा क्यों नहीं करता, स्कूल में तेरी अर्जी भिजवाये देती हूँ और तू सत्या को उसके घर तक पहुँचा आ! घूमना हो जायेगा। छवि कहता भी था कि स्कूल जरूर ही जाना होगा। उसका हर्ज भी नहीं होगा।"

रवि ने लिहाफ के भीतर से ही कहा, "मैं कहीं नहीं जाऊँगा माँ, मुझे आज तुम आराम करने दो। हाँ, अर्जी जरूर भिजवा देना।"

पर ममतामयी हठ कर गयीं। लगभग आज्ञा के स्वर में बोलीं, "जाएगा क्यों नहीं, जाना होगा। पड़े-पड़े तो तबीयत और गिर जाएगी। बीमार पड़ने की सलाह है। तेरी बीमारी से मुझे बहुत डर लगता है। तब की याद है, पूरे छः महीने में खाट छोड़ी थी। छवि की काठी मजबूत है, पर तू तो बिलकुल पिलपिली है। अच्छा, तू उठ, मैं अभी सब ठीक किए देती हूँ।"

ममतामयी ने उत्तर की कोई प्रतीक्षा नहीं की। रवि को दो-तीन बार थपथपा कर वहाँ से उठकर चली गई। बाहर आकर छवि से बोलीं, "छवि, तैयार हो गया?"

"हाँ माँ।"

"तो ऐसा कर, रवि की अर्जी लिख ले और स्कूल जाता हुआ उसके स्कूल देते जाना। और तू स्कूल जा, तेरी अब जरूरत नहीं है। रवि की तबीयत ठीक नहीं है, वह सत्या को छोड़ आएगा। उसका जी भी बहल जाएगा।"

छवि बोला, "भाभी --"

ममतामयी ने दपट दिया, "क्या भाभी, जैसा कहा है वैसा कर, भाभी बड़ी है या मैं।"

छवि को ठगा-सा खड़ा छोड़ ममतामयी आगे बढ़ीं। छलना रसोई में रोज़ का काम कर रही थी। सत्या उसके सामने बैठी घर की बातें बता रही थी और सरपट महोदय चौखट में बैठे कल की मीठी पूरियों का स्वाद ले रहे थे। ममतामयी ने जाते ही सरपट को गोद में उठा लिया। फिर छलना की तरफ मुँह कर बोलीं, "यह सुबह-ही-सुबह इसे बासी पूरी दे दी, बीमार पड़ने

पर खबर भी नहीं लेगी, तब मुझे ही मरना पड़ेगा ना। न जाने तू क्यों इतनी लापरवाह हो गई है ? समझ ही नहीं पड़ता।"

छलना आश्चर्य से बोली, "जी ?"

"जी क्या, तुझे न जाने क्यों कुछ होश ही नहीं रहता। रवि को मन्दा-मन्दा बुखार है और तुझे पता तक नहीं।"

"बुखार है ?"

"और नहीं तो क्या, अभी तो देखकर आ रही हूँ। ऐसे में सोचती हूँ, उसका स्कूल जाना ठीक नहीं है। पढ़ाने में कुछ कम चीखना पड़ता है। बुखार बढ़ जाएगा। और यहाँ रहेगा तो दिन-भर खाट पर लेटा रहेगा और बुखार बढ़े बिना न रहेगा... बहू, सत्या क्या अभी जाएगी ?"

छलना बोली, "हाँ, इसे भी तो कॉलिज जाना है।"

"एक दिन कॉलिज नहीं जाएगी तो क्या हो जाएगा। अरे, बड़ी बहनों के घर तो छोटी बहनें महीनों-महीनों रहती हैं। पर इसके बाप तो न जाने कैसे हैं, कितनी बार कहा, छोड़ते ही नहीं। क्यों सत्या, आज न जाने से नहीं चलेगा ?"

सत्या बोली, "मैंने जीजी को वायदा दे दिया है मौसी जी, गर्मियों की छुट्टियों में आकर रहूँगी, पर आज भिजवा दो। पढ़ाई का जोर है, एक दिन से भी काफी नुकसान पड़ता है, फिर बड़ा मुश्किल हो जाता है और लड़कियों के पास पहुँचना।" एक लम्बी साँस भरकर ममतामयी बोलीं, "हाँ भई, गरीब लोग हैं हम हमारे यहाँ कौन रहता है, तुम लोगों के घर-जैसी सुख-सुविधा हमारे यहाँ कहाँ हैं। अच्छा, तो यही ठीक है, रवि छोड आएगा तुझे, उसका घूमना हो जाएगा। तबीयत कुछ और-सी हो जाएगी, क्यों बहू, ठीक है ना ?"

छलना ने हँसकर कहा, "ठीक ही तो है माँ जी, उनकी तबियत ठीक हो जाए तो क्या कहना, पर मैंने देवर जी को कह दिया था।"

"उसे मैंने मना कर दिया है।"

"तो फिर तो ठीक ही है।"

रात को ममतामयी ने छलना को फिर घेर लिया। वह अभी-अभी रसोई में से आई थी और सीधे अपने कमरे में घुसने को तैयार थी कि सास के पुकारने पर आकर पास बैठ गयी। कुछ इधर-उधर की बातों के बाद ममता बोली, "क्यों बहू, अब तो हमारा छवि खूब मेहनत कर रहा है, अच्छा लड़का बन गया है।"

छलना हँसकर बोली, "वे अच्छे थे कब नहीं, माँ जी।"

"हाँ जी, तू तो हमेशा से उसके दोष छिपाती आई है। एक दिन तो मैंने समझा था कि मेरे एक ही बेटा रह गया है, एक पराया हो गया है। बहू, सुन तो ?"

"जी।"

"एक दिन तूने सत्या की बात चलाई थी। छवि के साथ यदि उसका ब्याह हो जाए तो तुम दोनों बहनें खूब सुखी हो सको। पास-ही-पास रहो और जिन्दगी बन जाए।"

छलना ने सिर झुका दिया। बोली, "ठीक तो है माँ जी, आपकी आज्ञा की देर है। उन्हें क्या इनकार हो सकता है ?"

ममता बोलीं, "हाँ-हाँ, वह सब तो ठीक है, पर तेरी मर्जी पर ही सब निर्भर करता है बेटी।

आखिर मेरे बाद इस घर को तुझे ही तो सँभालना होगा। तू ही तो पालेगी मेरे इन दोनों बेटों को। तू क्या अब तक नहीं समझ पाई कि ये दोनों अपने में कितने निर्बल हैं। रवि को तो मैं पहचानती हूँ वह कोई भी ऐसा काम नहीं कर सकता जो इस घर के मान-सम्मान के योग्य न हो। मैं विश्वास दिलाती हूँ छलना, आज मेरे सामने वह जो चाहे कर ले पर मेरे बाद वह कभी किसी को दुःख नहीं देगा। वह बहुत पक्की आत्मा का आदमी है, शरीर उसका जरूर ढिलमिल है पर अन्दर से वह मजबूत है। पर छवि पर मेरा तनिक भरोसा नहीं है। उसका शरीर जितना सबल है मन उतना ही कमजोर है। वह हर वह काम कर सकता है जो करने में उसे शर्म आनी चाहिए। वह पाप-पुण्य में भेद नहीं कर सकता, उसमें उतनी शक्ति ही नहीं है छलना। मैं जानती हूँ वह बहुत कमजोर है। कमजोरी बुराई है, पर उसी कमजोरी से हम फायदा भी उठा सकते हैं। सत्या में वह अनुरक्त जान पड़ता है। इसमें भी उसका दोष नहीं है, यह न समझना कि कितना छिछला है तेरा देवर कि एक-दो बार ही जिस लड़की को उसने देखा है उसी से प्यार करने लगा है, पर वह बेचारा क्या करे। बचपन की पैदा हुई उसके भीतर एक रिक्तता है और खाली जगह में कोई भी बड़ी तेजी से जल्दी ही स्थान पा सकता है और फिर सत्या तो लाखों में एक है। इसीलिए वह उसकी तरफ ऐसे झुक गया है। सो यह हमारे लिए सुनहरा मौका है। छवि की डोर यदि सत्या सँभाले और सत्या की डोर तुम, तो यह घर, ये दोनों भाई हमेशा-हमेशा के लिए एक हो सकते हैं। फिर दुनिया की कोई ताकत इन्हें अलग नही कर सकती। तू तो जानती ही है बहू, और तू नहीं जानेगी तो और कौन जानेगा, तेरे ससुर का यही सपना था और मेरा भी यही है कि ये दो भाई, हमारे इस छोटे से बाग के ये दो फूल हमेशा-हमेशा खिले रहें। एक ही बाग में खिले रहें और हिल-मिल कर खिले रहें। बहू, तू ही मेरे और उस स्वर्गीय आत्मा के इस सपने को पूरा कर सकती है, बोल। करेगी ना ?"

छलना का भारी सिर कुछ इस तरह जमीन पर झुका था कि उसका चेहरा दिखाई नहीं दे रहा था। उस पर क्या भाव थे, इसका भी कुछ पता न था। पर जब उसने कहा, "माँजी, इस घर की खुशी के लिए मैं अपनी जान भी दे सकती हूँ।" तो ममतामयी खुश हो गई। पर उनके चेहरे पर खुशी बहुत देर तक नहीं छाई रही। न जाने क्या सोच अनायास ही पूछ बैठीं, "छलना बेटी, तुझे कुछ दुःख है ?"

इस बेटी शब्द में कुछ ऐसा जादू था कि तत्काल ही 'दुःख है' की स्वीकृति में दो बड़े-बड़े आँसू छलना की दोनों आँखों से टपककर जमीन पर गिर कर फैल गए। छलना अब अपने को नहीं सँभाल सकी। फूट कर रो उठी और सामने बैठी सास के दोनों पैरों को जोर से पकड़ रुँधे कण्ठ से कह बैठी, "माँ जी, वे मुझे नहीं चाहते।"

सब समझी बैठी ममतामयी की आँखें भी भर आई, पर आश्चर्य का भाव प्रकट कर बोलीं, "तुझे नहीं चाहता तो किसे चाहता है। तू पागल तो नहीं हुई।"

"मैं पागल नहीं हुई माँ जी, सच कहती हूँ, वे मुझे नहीं चाहते।"

"फिर किसे चाहता है ?"

पर छलना से अपने मुँह से वह नहीं कहा गया, बोली, "वह सब मुझे नहीं मालूम पर मुझे नहीं चाहते।"

ममता 'अ' से लेकर 'ह' तक सब समझ गई। छलना से जो कुछ वह कहलाना चाहती थीं कहला चुकी थीं। यह वह जानती थीं कि उस लड़की का नाम छलना अपने मुँह से मर कर भी

नहीं बताएगी। उन्होंने रोती हुई छलना को खूब पुचकारा। उनका कलेजा उस बिना माँ की लड़की के दर्द से भरा आ रहा था जिसका केवल इतना ही दोष था कि वह भाग्य से लड़कर अपंग हो गई थी। जब उसे पता भी नहीं था कि सौन्दर्य किसे कहते हैं तब भाग्य ने अपनी खिलवाड़ में उसका सौन्दर्य उससे छीन लिया था। सोते व्यक्ति के पास से कोई उसकी सब धन-सम्पत्ति छीन कर ले गया था। वह जब जागा तो उसके पास कुछ न था। उसी धन के भरोसे उसे अपने जीवन की घड़ियाँ बितानी थीं। भगवान ने उसे सुन्दर बनाया था, सद्बुद्धि दी थी, महत्त्वाकांक्षाएँ दी थीं, पर भाग्य के एक ही झटके में सब लुट गए। पल में ही एक लखपति भिखारी बन गया और उसके हाथ इतना संतोष भी न रहा कि यह इतना धन उसने अपने हाथों से लुटाया है। वह लुट गया और एक याद, एक तिलमिलाहट बच रही। ममतामयी सोचने लगीं, 'भला इस बेचारी का क्या दोष है। ऐसी सुशीला, सहृदया, कोमल और सेवापरायणा लड़की की जिन्दगी आखिर किस पाप की सजा में नष्ट हो गई। इस कली ने कब क्या दोष किया होगा जो आज इसे इस तरह फूट-फूटकर रोना पड़ा। इतना बड़ा दु:ख अपने फूल से हृदय पर झेलना पड़ा। तो क्या शास्त्रों, पुराणों की जन्मान्तर की बातें सत्य हैं ? वास्तव में यह सत्य है कि भाग्य और भगवान सब से बली हैं और आदमी उनके हाथ की कठपुतली है। अब मैं इस अभागिनी को कैसे सांत्वना दूँ ? इसे कैसे समझाऊँ ? और क्यों समझाऊँ उसे कि जिस हतभागिनी के पास वही नहीं है जो स्त्री एक मात्र धन है, अभीष्ट है। ऐसी को रोने से, यदि वह रोती है, तो क्यों चुप करूँ ? उसे रोना ही चाहिए, जरूर रोना चाहिए।

पर यह सोचते-सोचते उनकी आँखों में भी आँसू भर आए। गद्‌गद कण्ठ से बोलीं, "उठ, छलना बेटी, उठ। मैं तेरा सब दुख जान गई और अब तुझे उस लड़की का नाम बताने की भी जरूरत नहीं है, वह भी मैं जान गई। पर तू उठ, मैं तुझे तेरी पीर की दवा बताती हूँ। उठ, छवि और सत्या की शादी की बात पक्की कर और मुझ पर विश्वास कर कि यही तेरी पीर की दवा है।"

छलना से अब चुप न रहा गया, बोली, "कैसे ?"

"रवि अपने छोटे भाई की पत्नी से कभी सम्बन्ध नहीं रख सकेगा।"

"हो सकता है, पर यदि सत्या—?"

"पागल हुई है, छवि से एक बार को पत्थर भी प्यार कर सकता है, उसमें चुम्बक पत्थर है, वह बहुत मनोहर है।"

छलना चुप हो रही, कुछ नहीं बोली। ममतामयी ने पूछा, "क्यों बहू, चुप क्यों हो रही ?"

छलना एक थके-से स्वर में बोली, "मैं तो जो आपकी आज्ञा होगी वही करूँगी माँ जी। आप में ही अब मेरे अंतिम साँस टिके हैं।"

"तो ठीक है, जो मैं कहती हूँ वही कर। देखना, बात बन जाएगी।"

छलनामयी आँसू पोंछ, उठकर खड़ी हो गई। भावावेश में आज फिर उसने सास के पैर उसी तरह चूमे और चलने लगी। पर तभी सरपट महोदय कहीं से झट से दादी की गोद में आकर बैठ गए और अपनी तोतली भाषा में बोले, "दादी, अम्माँ लोती है ?"

छलना और ममता दोनों उसकी तरफ देखती रह गईं, वह फिर बोला, "मैं लोता तू मुदे दोदी में ले थिलाती है, अम्माँ लोती तो उसे नहीं थिलाती।"

छलना अधिकतर बेटे से लापरवाह रहा करती। वह हमेशा दादी के पास रहता पर आज

उस नन्हें से मुँह से अपने प्रति इतनी गाढ़ी सहानुभूति की बात सुन वह अपने को रोक नहीं पाई। दादी की गोद से उसे छीन, गोद में ले झटपट अपने कमरे में घुस गई। छाती से चिपका फिर से एक बार फूट-फूटकर रोने लगी। ममतामयी भी पीछे-ही-पीछे चली आई थी। उन्होंने उसे शांत करने की भरसक चेष्टा की पर वह शांत नहीं हुई, नहीं हुई। न जाने कितने दिनों का बँधा बाँध आज टूट गया था और पानी रोके न रुक रहा था।

15

छवि सत्या की तरफ खिंच गया था यह बात सच थी और ममतामयी का यह तर्क तो और भी सच था कि खाली जगह में कोई भी तत्परता से समा सकता है। जसोदा का छूट जाना छवि के मन में एक गहरी रिक्तता, एक खाली जगह-सी पैदा कर गया था। उसी गढ़े में अनायास बानो आ पड़ी। बानो छवि के मन में और भी गहरी पहुँची और उठकर चुपचाप चली गई। पहली रिक्तता और भी गहरी हो गई। छवि और भी सूना हो गया, पर तत्काल सत्या ने वह जगह भर दी और वह सन्तुष्ट-सा प्रतीत होने लगा। प्रसन्न रहने लगा। भाभी से उसी तरह हँसी-मजाक करने लगा। रवि भैया की गम्भीर मुद्रा पर चोट करने में तो उसे खास तरह का मजा आता। कभी कहता, "हमारे रवि भैया, बहुत पुराने आदमी हैं सत्ययुग में यही सत्यवादी हरिचन्द्र थे, त्रेता में ये ही राम थे, और द्रापर में यही कृष्ण बने, कलियुग में कलि महाराज के अवतार भी ये ही हैं। अभी अपना भेद छिपाये फिरते हैं, कुछ ही दिनों में खोलने वाले हैं। मुझ से सलाह चल रही है।" माँ को तो बहुत तंग करता। कभी कहता, "ये मेरी केकैयी माँ हैं और भैया की कौशल्या माँ।" फिर झट से कहता, "दूध में जहर मिला है। बाबा रे बाबा, बड़ी कड़ुई हैं हमारी ममतामयी माँ। और भाभी ? बस, छल और कपट की जीती-जागती मूति ! मुझ से कहा, 'देसर जी, हमें सिनेमा दिखाओ ना ! उधर भैया से शिकायत कर दी कि बहुत सिनेमा देखते हैं, इन्हें रोको। अब तुम ही बताओ माँ ऐसे भिन्न-भिन्न प्रकार के पाणियों में फँसकर यह बेचारा भोला-भाला पंछी क्या करे।"

छलना कहती, "रुके रहो देवर जी, अभी तो एक और आ रही है तुम्हारी रग ठीक करने को। तुम बहुत बिगड़ गए हो।"

"कौन आ रही है भाभी ?"

"पत्थर की मूर्ति कहते हो जिसे तुम। सच भी है, तुम जैसे जंगली आदमी के लिए चाहिए भी पत्थर की मूर्ति ही।"

"यानी मैं जंगली हूँ।"

"नहीं तो क्या तुम आदमी हो। शीशे में देखा है अपना यह लम्बा चौड़ा शरीर। आदमियों का शरीर ऐसा होता है ?"

छवि हँसकर कहता, "तो तुम्हारे पति जैसा होता है ! गन्ने की पोरी !"

ममतामयी हँसकर कहतीं, "बड़ा घमंड है तुझे अपने शरीर का।"

"क्यों न हो, जो कुछ पास है उसका घमंड क्यों न हो, अब देखो न हमारी भाभी को, अपने सौन्दर्य का कितना मान है। रोज़ आते-जाते बचपन की तस्वीर टक लगाकर देखा करती

है ।"

छवि ने बिना सोचे-समझे यह बात कह दी थी। उसे नहीं पता था कि छलना क्यों रोज़ अपना फोटो देखती है और न इस बात का अन्दाजा था कि बात छलना को इस कदर चुभ जायेगी। पर छलना आज कल पहले जैसी सहनशील नहीं रही थी। इतनी छोटी-सी बात पर ही तिलमिला उठी, बोली, "देवर जी, यदि सुन्दर ही रही होती तो यों तुम मुझे न चिढ़ा पाते।"

छवि कहता, "भाभी, तुम्हें अपनी तारीफ सुनने की बड़ी आदत पड़ गई है, अब यह तुमने यही सोचकर नहीं कहा कि मैं तुम्हारी तारीफ करूँ, कहूँ, 'क्या कहती हो भाभी जी, तुम तो बचपन में लाखों में एक रही हो और आज भी कम-से-कम हजारों में एक तो हो ही'। क्यों भाभी, यही बात है ना ?"

बस, भाभी रो पड़ती। छवि रोने का मजा लेता पर ममतामयी छवि को दपट देतीं और कम-से-कम पाँच मिनट के लिए भाभी की आँखों से ओझल कर देतीं। फिर प्यार से छलना से कहतीं, "बहू, ऐसी तुम कब से हो गयी हो ?"

"फिर क्यों वे मुझे तंग करते हैं ?"

"वह तो पागल है। पर तुम क्यों बड़ी और समझदार होकर जी हल्का करती हो ?"

छलना शरमा जाती, कहती, "माफ कर दो माँ जी, अब फिर कभी ऐसा नहीं होगा।"

पर होता वही। देवर भाभी की हफ्ते में दो-एक बार झड़प जरूर होती। न जाने क्यों छवि को यह समझ नहीं आ रहा था कि भाभी क्यों इस बात पर रो पड़ती है। पहले तो नहीं रोती थी। वह अनजाने में ऐसा करता था, जान पाता तो कभी ऐसा न करता। उसे भाभी से बहुत प्यार था। वाकई यदि किसी दिन भाभी को उसकी जान की जरूरत पड़ जाती तो वह कभी न चूकता। भाभी भी उससे कम प्यार नहीं करती थी। वह उसे इतना चिढ़ाता, वह इतनी दु:खी हाती पर एक पल के लिए भी उसका बुरा उसके मन में न आता। सत्या वाली बात भी वह नहीं भूली थी। अपने पिता से उसने कह दिया था। माँ तो थी नहीं। पिता भी उसका बहुत मान करते थे, झट से बोले थे, "तू जो चाहेगी वही होगा छलना। तेरी कोई भी इच्छा टालने की सामर्थ्य मुझ मे नहीं है। तूने वायदा कर दिया है ?"

"हाँ।"

"तो ठीक है, मुझे तुझ पर विश्वास है। अपनी छोटी बहिन का जितना भला तू सोच सकती है कोई नहीं सोच सकता। तू विश्वास रख, मैं तेरी कोई भी बात झूठी नहीं पड़ने दूँगा।"

छलना ने यह खबर सास को सुना दी थी और सास ने उसका मुँह भी मीठा करवा दिया था। जिस चिन्ता ने एक दिन उनके हृदय में हलचल मचा दी थी, उससे वे लगभग निश्चिन्त हो गई थीं। बहू पर उनका प्यार और भी बढ़ गया था।

धीरे-धीरे दिन खिसकने लगे। आखिर एक दिन वातावरण बहुत गाढ़ा हो आया। सबके हृदय खूब भारी थे। छवि के पिता की बरसी कल मनाई जाने वाली थी। रवि तैयारी में लगा था। ममतामयी एक कोने में बैठी पति के साथ बीते अपने अच्छे-बुरे दिनों को उलट-पलट रही थीं। उनके चेहरे पर भिन्न-भिन्न भाव आ-जा रहे थे। कभी वे मुस्करातीं। एक थकी-सी मुस्कराहट उनके चेहरे पर खेल जाती। उनका बूढ़ा चेहरा पल को सुन्दर हो उठता। फिर अनायास एक गहरी काली विषादमय कालिख उनके चेहरे पर पुत जाती और देखने में भी उनकी शक्ल डरावनी लगने लगती। एक तरल विह्वलता और कातरता उनके मुख पर तैर उठती

कि जैसे अब वे पल को भी जीना नहीं चाहतीं। जिसके लिए वह जिन्दा रहीं वही जब नहीं है तो जीकर क्या करना है। इस घर का मोह अब छलना के भरोसे उन्हें जरा नहीं रहा था। छलना पर उन्हें पूरा विश्वास था। वह इस गृहस्थी को सुखी रख सकेगी; फिर अब यहाँ कौन काम शेष है ? पर फिर ममतामयी सोचती कि यह घर छवि की शादी के बाद ही खूब सुखी हो सकेगा। फिर वह पति के पास जा पहुँचेगी। दोनों ऊपर से इसे देखेंगे और देख-देखकर खुश होंगे। वह उन्हें उनके बाद की सब घटनाओं को सिलसिलेवार सुनायेगी। अपनी बुद्धिमत्ता का वर्णन वह मन-ही-मन एक बार दुहरा भी लेतीं। कैसे उन्होंने घर की कठिन-से-कठिन समस्याओं को बिना उनकी मदद के सुलझा लिया है। सुनाकर वह कहेगी, "देखो, तुम तो मुझे हमेशा बेवकूफ़ ही बताया करते थे, पर मैं —"

वह कहेंगे, 'नहीं जी नहीं, भला तुम्हें बेवकूफ़ समझना तो बेवकूफी है।'

'फिर मज़ाक उड़ाने लगे।'

'अरे नहीं, मज़ाक नहीं, सच!'

'सच ?'

'हाँ, बिलकुल सच!'

'मुझमें भी बुद्धि है ?'

'बहुत है मुझसे भी अधिक!'

'तुमसे भी अधिक ?'

'हाँ।'

'कैसे ?'

'देखो ना, जो मैं नहीं कर पाया, वह तुम कर आईं।'

वह उनके पाँव छूकर कहेगी, 'नहीं जी, वह तो सब तुम्हारी ही कृपा का फल है। तुम ऊपर बैठे-बैठे सब मुझसे करा रहे थे, नहीं तो मुझमें भला इतनी बुद्धि कहाँ से आई ?'

वे भी उसकी चिबुक छू उसे प्यार कर लेंगे, वैसे ही जैसे कभी पहले जवानी में किया करते थे। उफ्, वे दिन भी क्या होते हैं, जैसे दो उद्दाम पहाड़ी झरने आपस में टकरा गए हों और दोनों मिलकर साथ-साथ बहने लगे हों। पानी दोनों का अलग-अलग रंग का हो, पर मिलकर इकरंगा हो गया हो। कितना निजत्व होता है, उस उमर में ? लाख मिल जाने पर भी यह स्वीकार नहीं कर पाता कि सब मिलकर एक हो गया है। दोनों जानते हैं कि दोनों, दोनों के बिना जी नहीं सकते, पर लगता है जैसे दोनों का एक-दूसरे से कोई मतलब नहीं है। लड़ाई होती है, झगड़े होते हैं, रूठना होता है मनाना होता है, पर सब कितना मीठा होता है, कितना सरस होता है; कितना सुखद होता है! उस दिन—

पर तभी छलनामयी आकर कुछ पूछ बैठती और ममतामयी का सुन्दर सपना टूट जाता। पर वे नाराज नहीं होतीं। स्नेह से सब बतातीं और उसके चले जाने पर फिर सपनों में डूब जातीं।

छलनामयी भी अपने श्वसुर की बात सोचती। इतने उदार, इतने ऊँचे विचारों के श्वसुर कब किसको मिलते हैं। उन्हीं की कृपा थी कि कोई नाते-रिश्तेदार उसका तनिक भी अपमान नहीं कर पाया। नहीं तो वास्तव में लोगों का मुँह पकड़ना कितना मुश्किल हो जाता। उसके पास तो कुछ भी ऐसा नहीं था, जो लोगों का मुँह बन्द कर सकती, न सुन्दरता थी न धन था

और न बात करने का वह कौशल ही था, जिससे अकसर नई बहुओं की जीत हो जाती है। वह कितनी भाग्यवान है। कैसी सास मिली, कैसा देवर मिला और कैसे श्वसुर मिले। रह-रहकर उसे उस दिन की घटना याद हो आती, जिस दिन उसके हाथ के कड़े नकली सोने के निकल आये थे। सास को पता चला तो उनका भी मुँह फीका पड़ गया। डरते-डरते उन्होंने श्वसुर के सामने वे कड़े पेश किए। पल को तो वे भी फटी आँखों से देखते रह गए, पर फिर जोर से ठठाकर हँस दिए थे, बोले थे, "मुझे ज़रा भी चिन्ता नहीं सुरो की माँ, उन्होंने कड़े ही तो नकली दिए, बहू तो सच्ची दी। वह तो नकली नहीं दी। वह तो लाखों में एक है। इन कड़ों को वापिस भिजवा दो और कहलवा दो कि इनके बिना भी मेरी बहू की मेरे घर में कोई बेइज्जती नहीं कर सकता।"

छलनामयी की आँखों में उस दिन आँसू भर आए थे और आज भी वह गद्‌गद हो आई। उसे लगा जैसे वह सचमुच स्वर्ग मे है। एक अच्छे सुखी गृहस्थ से स्वर्ग भी क्या अधिक खूबसूरत रहा होगा। मन-ही-मन वह उस दिन के अपनी सास के शब्दों को दुहराया कि वह मर जायेगी पर श्वसुर के उस सपने को झूठा नहीं पड़ने देगी। उसे सच्चा करके दिखायेगी।

रवि तो शांत प्रकृति का कर्त्तव्यपरायण आदमी था। उस को तो यही सोचने के लिये पर्याप्त था कि कल क्या होगा और कैसे-कैसे होगा, पर छवि उस दिन उद्विग्न था। उसके मन में रह-रहकर यही भाव उठ रहा था कि उसके पिता उसी के कारण मरे हैं यदि वह उन्हें भाँति-भाँति के कष्ट न देता, तो वे इतनी जल्दी न मरते। उसे रह-रहकर एक बात याद हो आती, जिसका अर्थ वह आज तक समझ नही पाया था। पिता के मरने पर उसे लगा था, जैसे उसके सिर पर से एक बोझ उतर गया है। मरने पर औरों से कम वह नहीं रोया था, पर ऐसा भी उसे लगा था कि चलो एक वह आदमी कम हुआ जो उसकी स्वतन्त्रता में बाधा था। उसे जहाँ पिता का प्यार याद आता, वहाँ उनकी डाँट भी याद आती और जहाँ फूट कर रोना निकलता वहीं एक सतोष-सा भी अनुभव होता। सबके सामने दुःख प्रकट करता, वही अकेले में कहता, 'अब मैं स्वतन्त्र हूँ, अब मेरी राह का सबसे बड़ा पत्थर हट गया है। अब मै खूब स्वच्छन्दता से उड़ सकूँगा।' अपने इस भाव पर आत्म-ग्लानि भी कुछ कम महसूस न करता। पर यही भाव बार-बार उसके शरीर की सब दीवारो से फूटता कि 'अब यह स्वतन्त्र है, अब वह स्वतन्त्र है, अब वह उड़ सकेगा। खूब ऊँचा उड सकेगा।' वैसे यह कहना कि उसे पिता के मरने का दुःख नहीं हुआ, शायद उसके प्रति न्याय न होगा। पिता की बीमारी में सब सोये थे, पर उसने कमर खाट पर नहीं टिकाई थी। लगातार या तो काम करता या उनकी चारपाई को पकड़े बैठा रहता। घर में सबसे छोटा होने पर भी उसने सब को सांत्वना बँधाई थी और डॉक्टर से उसी ने अश्रुविगलित कण्ठ से कहा था कि, "डॉक्टर साहब, इस बदन का जितना मर्जी खून तुम ले लो पर मेरे पिता को बचा लो।" पर फिर भी यह बात सच ही थी कि उनके मरने पर एक बार नहीं कई बार उसने कहा था कि अच्छा ही हुआ। सब ठीक ही हुआ। पर मन की इस बात को उसने किसी से नहीं बताया था। पिता को मरे पूरा एक साल बीत चुका था। आज यह विचार उसको सैकड़ों बिच्छुओं जैसा दंश दे रहा था। उसका मन हो रहा था वह इसका प्रायश्चित करे। सुना था कि कोई शब्द है कुण्ठा, जिसके परिणामस्वरूप जंगल, मैदान; महल, श्मशान; और आदमी, हैवान; बन जाते हैं। तरल-स्वभाव के मनुष्यों को वह खूब नाच नचाती है। कभी उन्हें आसमान पर चढ़ा देती है और कभी नीचे गड्ढों में लुढ़का देती है, पर क्या यह मनुष्य

को इतना नीच भी बना देती है कि वह पिता की मृत्यु पर खुश हो। उस पर अपने को स्वतन्त्र अनुभव करे। यह उसकी नीच प्रवृत्तियों का परिणाम है। वह वाकई बहुत गिरा हुआ आदमी है। उसने क्या नहीं किया, पिता को धोखा दिया, अपनी माँ के कपड़े उतारे और दूसरों को दे आया, उसने अपने बड़े भाई को, जो सोलह साल की उमर में कमाने लगा था और अपने को मिने वाली इकन्नी उसे दे दिया करता था, धोखा दिया। और-तो-और उसने उस भाभी को कष्ट दिया जो इतनी पराई होने पर भी उस पर जान छिड़कती थी। वह निश्चय ही नीच प्रकृति का मनुष्य है। वह अच्छा नहीं है, उससे तो किसी को बात तक नहीं करनी चाहिए। उसे तो किसी ऊँची चट्टान से लुढ़का देना चाहिए। उसने पिता को खा लिया, और अपने पिता के मरने पर खुश हुआ, हँसा, खिल-खिलाकर हँसा, ऐसे''' ऐसे '''शिकारी की तरह'''

छवि विक्षिप्तों की तरह हँसने लगा। पर इतने लोगों के बीच सुविधा न पा वह वहाँ से भागा। भागकर छत पर पहुँचा। रात खूब अँधेरी थी। चाँद नहीं था पर तारे खिले थे। ऊपर आते-आते छवि हँसना भूल गया और पागलों की तह वह उन सितारों की तरफ देखने लगा। सोचने लगा, 'कैसा आश्चर्य है ? कितने सुन्दर छोटे-छोटे सितारे टँके हैं। आँखो के कितने भले लगते हैं। पर ये सबके-सब, इतने सुन्दर हीरे, सूर्य के प्रकाश में लुप्त हो जाते हैं। सुनते हैं हर अच्छी चीज़ प्रकाश में पहले से उज्ज्वल होती है, पर इन सितारों के साथ ऐसा नहीं है। इनका सम्बन्ध अँधेरे से ही जोड़ दिया गया है। चारों तरफ अंधकार है, बीच में सितारे है। तो क्या अँधेरे के बीच कहीं उजाला भी होता है ? तो क्या मेरी बुराइयों के बीच कहीं कोई अच्छाई भी है ? बाप के मरने पर हँसने वाले में अच्छाई ! मुझ में अच्छाई ! हुँह !

छवि का दिमाग़ थक गया था। अपने में अच्छाई ढूँढ़ने की कोशिश करके भी वह जब कोई अच्छाई न पा सका तो झल्ला उठा। 'मैं प्रेम कर सकता हूँ, प्रेम बुराई है ?' उसने अपने आपसे पूछा।

और स्वयं ही उत्तर भी दिया, 'प्रेम ! जसोदा, फिर बानो, फिर सत्या ! यह प्रेम है ?'

'तो क्या है ?'

'हविश !'

'पाग़ल हो, तुम बहुत अच्छे आदमी हो।'

'कैसे ?'

'पानी देखा है, उसे जिस भी बर्तन में डाल दो उसका स्वरूप वैसा ही हो जाता है। हर तरल स्वभाव के मनुष्य का भी यही हाल होता है। उसे हम छल नहीं कह सकते। यह कहते हैं तो भूल करते हैं।'

'और यदि बानो सत्या की बात सुने तो यह नहीं कहेगी कि छवि ने मुझे धोखा दिया।'

'वह भूलेगी, जो एक के लिए प्राण दे सकता है वह कभी किसी को धोखा नहीं दे सकता। यदि ऐसा लगता है तो स्पष्ट ही समझ लेना चाहिए कि आज समुद्र में से किसी और के पानी पीने की बारी है। इसमें बुरा मानना सच बोलना नहीं, ईर्ष्या में से बोलना है।'

'तो क्या एक ही जन्म में तीन-तीन लड़कियों को प्यार करना ठीक था ?'

'हाँ ठीक था, यदि साथ नहीं था तो ठीक था और फिर प्रेम में वासना तो नहीं थी।

'और पिता के मरने पर हँसना।'

'कभी-कभी भावावेश में मनुष्य बड़े-से-बड़ा पाप कर जाता है, दुनिया की नज़रों में वह

पाप होता है पर अपनी नजर जिस दिन उसे पाप स्वीकार कर लेती है, उस दिन वह पाप नहीं रहता। तुम्हारा पश्चाताप उस पाप को धो देगा और यदि इससे भी तुम्हें संतोष न हो तो सुनो, सब ईश्वर के आधीन है। जो भी सोचते हो उसे ध्यान में रखकर सोचो। एक ही मनुष्य में अनेक विपरीत प्रवृत्तियाँ पड़ी रहती हैं। वैसे किसी के मरने पर हँसना कोई बुरी बात नहीं। मरना ही तो मनुष्य की सच्ची गति है। मरने के बाद ही मनुष्य विकार रहित होता है। वही उसकी सद्‌गति पर प्रसन्न होना अच्छी बात है। तुमने कोई बुरा नहीं किया। मैं यह नहीं कहता कि हर आदमी को पिता की मृत्यु पर हँसना चाहिए और यह गर्व की बात है, पर क्यों इतना अहम रखते हो कि मैंने यह किया और वह किया। यह तुम्हारा मिथ्या गर्व है। सब भगवान पर छोड़ दो। जिसने तुम्हें अपने को समझने की शक्ति दी है, वही तुम्हें एक दिन सद्‌बुद्धि भी देगा। बस यदि सीखना हो तो एक बात सीख लो कि तुम कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं हो। सब वही करता है, सब वही कराता है और सब भूल जाओ, बस भगवान को याद रखो, वही तुम्हारा बेड़ा पार करेंगे।'

छवि को अपने भीतर के इस कथन से कुछ ऐसी शांति मिली कि कुछ ही मिनटों पहले का उसका सारा उद्वेग अंतर्धान हो गया। वह टक लगाकर उन सितारों को स्तब्ध-भाव से देखने लगा। मन एकाग्र हो गया और तारों पर टिकी दृष्टि घंटों तक टिकी रही। उसे ध्यान भी नहीं हुआ कि देखते-देखते कब उसकी आँखें भर आई हैं और कब आँसू गिर-गिरकर मिट्टी में मिलने लगे हैं।

धीरे-धीरे छवि की आँखों के सामने से तारों का दृश्य हटने लगा और पिता के चिता पर चढ़ने का दृश्य सामने आने लगा। कैसे पिता की अर्थी के साथ-साथ वह गया था। फिर शव को यमुना-स्नान कराया गया था। हवन-कुण्ड में रखकर उनकी छाती पर और सारे शरीर पर लकड़ियाँ चिन दी गई थीं। दियासलाई जली और घी-सामग्री और लकड़ियों की सहायता से पिता का शरीर धक्-धक् कर जल उठा था। और कुछ ही देर में सब जलकर राख हो गया। बस, कुछ अस्थियाँ और राख शेष रह गई थी।

हे ईश्वर! यह कैसा रहस्य है? यह सब क्या है? ये सितारे, यह चाँद, यह पृथ्वी और ये अनगिनत दौड़ते-भागते जीव किस बड़े रहस्य का अंश हैं? अब उनका क्या होगा? अब क्या फिर कभी भी वे मुझसे मिलेंगे, या सदा के लिये वह दीप बुझ गया? तो—तो—यह सब क्या है?

16

छवि नीचे उतरा तो विह्वल था। भीगी पलकों से चारों तरफ देखकर भाभी के पास पहुँचा। भाभी रसोई के संस्कार में लगी थी। उसके सामने चौखट पर छवि बैठ गया। कुछ देर चुपचाप बैठकर बोला, "भाभी, क्या कर रही हो?"

भाभी को बदला लेने की सूझी, बोली, "साक्षात् विष्णु के सचिव महोदय, आँखें इतनी कमजोर हो गईं क्या?"

छवि बोला, "भाभी, तुमसे एक बात बताऊँ ?"

"न बताओ तो भी कोई हर्ज नहीं है।"

छवि विह्वल हो उठा, "नहीं सुनोगी ?"

भाभी ने छवि का गद्‌गद कंठ पढ़ा, सकपका-सी गई, पछतावा होने लगा, बोली, "क्या बात है देवर जी ?"

"मैं सत्या से विवाह नहीं करूँगा। तुम अब कोशिश मत करना।"

छलना ने घूमकर देवर की तरफ ध्यान से देखा। पर रसोई की मद्धिम रोशनी में साफ कुछ नहीं दीखा, बोली "क्यों भला ?"

"मेरा ब्याह हो चुका है ! "

"हाँ।"

"किससे, देवरानी कहाँ है ?"

"वह यहाँ नहीं आई। एक मुसलमान लड़की है। यहाँ आना पसन्द नहीं किया।"

मिनट-भर छलना कुछ नहीं बोल सकी। फिर अपने स्वर को यथाशक्ति साफ कर बोली, "कहाँ है वह ? "

"बम्बई चली गई है।"

"बम्बई उसका कौन है ?"

"कोई नहीं।"

"तो ?"

"तो क्या ?"

"अरे पेट भी भरेगी किसी तरह ?"

"पेशा करके पेट भरने को कहती थी।"

इस बार भाभी अपने को नहीं सँभाल सकी। कष्ट-भरे स्वर में बोली, "बके जाते हो, शर्म नहीं आती।" फिर हँसकर बोली, "अच्छा-अच्छा, बहुत बना चुके, अब उठो यहाँ से, मुझे काम खत्म करना है। उफ् भगवान, तुम्हारी मजाक भी कितनी भयंकर होती है।"

छवि बोला, "मजाक नहीं भाभी, सच कहता हूँ।"

"सच कहते हो ?"

"हाँ।"

"तो सब उस ही की भेंट हुआ है ?"

"हाँ भाभी।"

"देवरजी, मैं तो तुम्हें देवता समझी थी पर तुम तो—"

"पिशाच निकला ?"

"और नहीं तो क्या, यह सब कहकर कितनों के सपनों को तुम मिट्टी में मिला रहे हो, जानते हो ?"

"और न बताता तो तुम्हारी बहिन की जिंदगी खराब न हो जाती ?"

"मुझे वह मंजूर होता। मैं इस सौदे को कहीं अच्छा समझती, देवरजी ! सत्या मरती नहीं, कोई भी मर नहीं जाती। अपने को एक परिवार के लिए मार लेना ही हमारी परम्परा है। तुम भी अपने को आदमी कहना चाहो तो भूल जाओ उसको और आओ, साहस करके इस नये

बन्धन को स्वीकार करो। तुम देखोगे तुम्हारा जीवन पहले से अच्छा और शांत बीतेगा, क्यों देवर जी, मानोगे अपनी इस भाभी की यह बात ?"

"भाभी, तुम यह सब सुनकर भी मुझ जैसे आदमी से अपनी बहिन की शादी कर दोगी ?"

"कर क्यों न दूँगी, देवरजी ! तुम पर मेरा अधिकार है और सत्या भी मेरी अपनी है। तुम दोनों की डोर अपनी मुट्ठी में रखकर मुझे किसी बात की चिंता नहीं है। अपनी मर्जी के अनुसार मैं तुम्हें हाँक सकती हूँ।" छलना की छाती यह कहते-कहते गर्व से ऊँची हो आई, भीगे स्वर से बोली, "क्यों देवरजी, दोगे मुझे यह अधिकार, लोगे मेरा विश्वास ?"

छवि भी भीग उठा, बोला, "भाभी !"

"कहो।"

"तुम मुझ पर विश्वास करती हो ?"

"वाह, क्यों नहीं !"

"यह जानकर भी कि मैं कितना मूर्ख, अल्हड़ और चरित्रहीन हूँ। तब भी ?"

"सब ठीक, पर चरित्रहीन क्यों ?"

"जो वेश्या से प्रेम कर सका, वह क्या —"

छलना जोर से हँस पड़ी, बोली, "वेश्या ! वेश्या को चरित्रहीन कहते हो, देवरजी, चरित्र मेरी, तुम्हारी या किसी की बपौती नहीं है। गन्दे कीचड़ में कमल खिलता है, कोयले से हीरा निकलता है और घनघोर अंधकार में चाँद होता है। यह बुरे-भले की दीवारें तो कुछ घमंडी लोगों ने अपने स्वार्थों को सुरक्षित रखने के लिए तैयार की हैं। तुम भी उन्हें मानते हो ? छिः ! सुनो देवरजी, आज मैं बहुत खुश हुई हूँ। जानते हो क्यों ?"

"क्यों ?"

"तुमने जो किसी को नहीं बताया मुझे बताया है। तुमने सबसे अधिक विश्वसनीय मुझे समझा है। अब यह विश्वास दिया है देवरजी तो सुनो, तुम्हारे भविष्य को मैं अपने हाथ में लेती हूँ, अब तुम्हें कुछ सोचने, कुछ समझने की जरूरत नहीं पड़ेगी। बस, जैसा मैं कहती हूँ वैसा किये जाओ। बोलो, मंजूर ?"

छवि ने सिर झुका लिया, बोला, "मंजूर किया।"

"तो सच-सच बताओ, सत्या तुम्हें अच्छी तो लगती है न ?"

वैसे ही बैठे-बैठे छवि बोला, "हाँ भाभी !"

"तो बस ठीक है, तुम्हारा मंजूर हमने भी मंजूर किया।"

छलना रसोई से बाहर निकलने लगी तो छवि बहुत ही आहिस्ते से बोला, "भाभी !"

"हाँ, कहो देवरजी, क्या है ?"

"एक बात है, मानोगी ?"

"बोलो, इच्छा होगी तो मानूँगी, नहीं तो तुम्हें मना लूँगी। बोलो।"

"यह सब माँ और भैया को मत बताना !"

"क्यों भला ?"

"अच्छा नहीं लगेगा। और फिर दोनों मुझे खाने को दौड़ेंगे।"

छलना हँसकर बोली, "एक शर्त है, सारा किस्सा खोलकर बताओगे ?"

"बता तो दिया, अब और क्या ?"

"नहीं, सब खोलकर, एक-एक शब्द।"
"उँह!"
"देख लो, शर्त मंजूर हो तो ?"
"अच्छा, पर तुम्हें उससे फायदा ?"
छलना धीरे से मुस्कराकर बोली, "कुछ नहीं, आनन्द लूँगी।"

17

रात को काम से निबटकर कोई नौ बजे छलनामयी ने एक स्वाँग रचा। माथे पर गहरी शिकन डालकर बोली, "माँ जी, बहुत जोर से माथे में दर्द हो रहा है।"

ममतामयी घबराकर बोली, "क्यों-क्यों, डॉक्टर बुलाऊँ ?"

"नहीं माँ जी, उस मुए की तो नली देखकर ही मुझे डर लगता है। तुम कहा तो जरा घूम आऊँ ?"

"घूम आऊँ, इस वक्त !"

"हाँ माँ जी, मन घुटा-सा हो रहा है।"

ममता ने झट इजाज़त दे दी, बोली, "जा, पर साथ कौन जाएगा, रवि तो है नहीं। छवि को ले जा।"

"तुम ही कह दो माँ जी, मेरे कहने से तो चलेगे नहीं।"

ममतामयी ने वह भी कर दिया। छवि और छलना दोनो साथ-साथ बाहर निकले। घर से थोड़ी दूर आने पर छवि बोला, "आज तो भाभी, नाम सार्थक कर गई। पड़ोसी भी कहते होंगे कि भली बहू है जो रात के नौ बजे देवर के साथ घूमने निकली है।"

छलना न जाने किस भीतरी दुनिया में विचर रही थी। छवि की बात सुन कर उत्तेजित स्वर में बोली, "मुझे किसी पड़ोसी का कुछ देना नहीं है। पर अब तुम वह बात सुनाओ।"

"उसे सुनने की इतनी उत्कण्ठा क्यों है ?"

"आज्ञा के स्वर में छलना ने कहा, "मर्जी मेरी, सुनाओ।"

छवि और आनाकानी न कर सका। सिलसिलेवार उसने सब बातें सुना दीं। बानो की, सिस्टर और डॉक्टर की। बानो के अन्तिम वाक्य भी उसने ज्यों-के-त्यों सुना दिए। छलनामयी चुपचाप सब सुनती रही। एक बार भी बीच में नहीं बोली, यहाँ तक कि 'हूँ-हाँ,' तक नहीं किया। जब कहानी समाप्त हो गई तो छवि से बोली, "चलो देवरजी, वापिस चलें।"

छवि न जाने क्यों आज भाभी को शंका की दृष्टि से देख रहा था। टटोलना चाहकर बोला, "कैसी लगी कहानी ?"

भाभी मुड़कर वापस हो लीं। कुछ देर कुछ नहीं बोली। फिर जैसे होंठों ही होठों में बुदबुदाई, "पागल थी।"

"कौन ?"

"तुम्हारी बानो।"

"क्यों ?"

"पाप किया उसने !'

आश्चर्य से छवि बोला, "कैसा पाप ?"

"आत्महत्या पाप नहीं तो क्या है ?"

"तुम्हारा मतलब उसे मुझ से शादी कर लेनी चाहिए थी ?"

"शायद यही मतलब है मेरा। प्यार जन्म में एक बार ही मिलता है। वह जीवन का सुनहरा दिन होता है, उसे खोना निरी मूर्खता, निरा पागलपन नहीं तो और क्या है ? मैं तो कहूँगी बस पाप है, कितना बड़ा दुस्साहस है !"

"भाभी, एक बात पूछूँ ?"

"हूँ, पूछो।"

"वह मेरे साथ घर आती तो तुम स्वीकार करतीं ?"

"क्यों न स्वीकार करती। तुम्हारी प्रिय कोई भी जनी घर आए, उसे मैं स्वीकार न करूँ, ऐसा तुमने सोचा ?"

"हाँ भाभी, सच, मैंने सोचा।"

"तो तुमने मुझे नहीं समझा। तुम्हारी बानो ने हिन्दू घराने की बड़ी बहू को नहीं समझा। थोड़े से गले-सड़े संस्कारों को बलिदान में देने की बात ही थी ना। मैं उसे सीने से लगाकर रखती। मत्या से भी अधिक चाहती। तुम शायद मेरा विश्वास न कर सको। पर देवर जी, मैं अपने पति की सौगन्ध खाकर कहती हूँ कि हृदय के हर उस भाव को जो जाने-अनजाने, संस्कारवश या भूल से उस अबोध बालिका के प्रति घृणा तो घृणा, कभी क्रोध भी पैदा करना चाहता, मैं जड़मूल से उखाड़ कर फेंक देती।"

"और माँ, भैया ?"

छलनामयी और उत्तेजित होकर बोली, "तुम्हें उनसे क्या था, वे मेरी सास है, वे मेरे पति हैं, मैंने उनका विश्वास पाया है। माँजी अब इस घर की कोई नहीं होतीं। उन्होंने सब मुझे सौंप दिया है। और मैं जब बानो को और तुम्हें लेकर घर की चौखट पर पहुँचती तो तुमसे सच कहती हूँ देवरजी, संसार की कोई शक्ति मुझे रोक नहीं सकती थी। तुम्हारी माँ और तुम्हारे भैया तो पहले ही अपने आपको मेरे सामने हार चुके हैं।"

"भाभी !"

"हाँ देवरजी, विश्वास न होता हो तो परीक्षा ले लो। मैं रुपया देती हूँ, जाओ बानो को ले आओ। घर की चौखट तक। बस फिर अपनी इस भाभी की और संसार की टक्कर अपनी आँखों से देख लेना।"

दोनों देवर भाभी धीमे-धीमे बढ़े चले आ रहे थे। घर की ओर। घर अभी दूर था। भाभी की बातें सुन-सुन कर छवि की आँखें छलछला आई थीं। उसका हृदय आह्लाद से छलक उठा था। भाभी उसे देवी प्रतीत हो रही थीं। बार-बार वह यही बात कहना चाहता था पर बार-बार कण्ठ के रुँध जाने से कह नहीं पा रहा था। अन्त में उसने अपने उस अवरोध के बीच से ही गड़गड़ाते शब्दों में कहा, "भाभी, तुम सचमुच देवी हो !"

पर भाभी को यह बात उतनी अच्छी नहीं लगी। एक बार कड़ी दृष्टि से देवर की तरफ देखा फिर सामने देखने लगी। उसका समूचा शरीर पहले कुछ फैला फिर सिकुड़कर छोटा हो गया। गले में आया काठिन्य पेट में उतर गया। एक तरल काँपते स्वर में बोली, "नहीं देवरजी, देवी नहीं हूँ, न होना चाहती हूँ। उसके होने में न कुछ लाभ ही है। देवियाँ वह नहीं देख सकतीं

जो मैंने देख लिया है। प्रेम की कीमत पहचानता है आदमी प्रेम खोकर। मैंने भी प्रेम खोया है और मैं —यह मेरा सौभाग्य है कि साधारण मनुष्य की तरह स्वभाव से डगमगा कर नीचे गिरने की प्रवृत्ति मेरी नहीं है। इसमें भी कारण हैं। कारण तुम्हीं हो, माँ हैं, कारण तुम्हारे पिता थे। तुम्हीं लोगों की कृपा है कि मैं तुम्हारे मुँह से अपने लिए 'देवी' शब्द सुन रही हूँ। मैं तुम सब की बहुत कृतज्ञ हूँ देवरजी ! बहुत कृतज्ञ हूँ।"

छवि धुँधला-सा कुछ समझा। समझते ही उसकी आँखों में दो-तीन बीते दृश्य घूम गए। वह तिलमिला उठा। आवेश में भाभी को बाजू से पकड़कर बोला, "भाभी, सच्चा विश्वास किया था। उसी दिन मैं समझ गई थी कि तुम दोनों में कितना विश्वास है एक दूसरे पर और विश्वास कभी झूठ नहीं हो सकता।"

छवि उत्तेजित हो उठा, बोला, "भाभी, तुम साफ कुछ नहीं बतलाओगी ?"

"क्या देवर जी ?"

"उसका नाम जो तुम्हारे और भैया के बीच में है।"

छवि बोला, "भाभी, तुम मुझे नहीं पहचान पाई। तुम्हें याद नहीं कि तुम्हारी आलोचना करने वालों को सबसे छोटा होने पर भी मैंने कितने खरे और करारे उत्तर दिए थे। मैंने अपने तीन बुजुर्गों की सम्मति का विरोध कर तुम्हें पसन्द किया था। मैं सहन नहीं कर सकता कि कोई भी मेरी पसन्द का अपमान करे। मुझे उसका नाम बताओ भाभी, जिसने तुम्हें दुःख दिया है, जो तुम्हें दुख दे रही है, मैं उसका खून कर दूँगा। तुम —तुम मुझे उसका नाम बताओ भाभी !"

इस बार छलना अपनी गम्भीर मुद्रा छोड़ हँसकर बोली, "और तुम कहते हो, मुझे दुःख है।"

छवि कुछ न समझा, सप्रश्न नेत्रों से भाभी की ओर देखता रह गया।

छलना अपने चेहरे पर और भी हास्य बिखराकर बोली, "देखो ना, अब कोई कह सकता है कि मुझे दुःख है। जिसका देवर उसके लिए इतना कर सकता हो उसे कोई दुःखी बतला सकता है। सच मानो देवरजी, आज मेरे सब दुःख दूर हो गए। अब मुझे कोई दुःख नहीं है। उफ्, कितनी खुश हूँ आज मैं ! कितनी पागल थी कि अपने को अकेला समझती थी। पर अब शांत हो जाओ, लक्ष्मण देवर ! तुम्हारे शिकार को मारने का मैंने पहले ही प्रबन्ध कर लिया है। तुम वृथा अपने इस शरीर को कष्ट न दो। उसे तो मैं ही कुचल दूँगी कि मुई कभी मुँह न उठा सके ! और देवर जी, अब जरा सिर झुकाओ, घर आ गया है। घर की चौखट में सिर झुकाकर ही घुसना चाहिए ! इस तरह सिर ऊँचा करके घुसने पर माँ न जाने क्या समझेंगी, कि न जाने कौन-सा तीर मार कर आए हो !"

कहते-कहते छलना एक मीठी स्वच्छ हँसी हँस दी। उसे मन-ही-मन बहुत अच्छा लग रहा था। वह अपने में एक गुदगुदी-सी महसूस कर रही थी। अपने उस छलकते आह्लाद को वह अकेले नहीं पी पाई। चुपके से देवर की बाँह पर एक चुटकी काट ली और जोर से हँस दी। छवि सिहर उठा, बदले में वह भाभी को कुछ कहने ही जा रहा था कि होंठों पर उँगली रखकर छलना ने उसे चुप कर दिया। घर की चौखट आ चुकी थी, दोनों के क़दम उसमें घुसने को बढ़ चुके थे। और सामने ही पलंग पर बैठी माँ दीख रही थीं। छवि सकपका गया। होंठों-ही-होंठों में बुदबुदाया, "भाभी ! यह भी कोई बात हुई भला !"

छलना फिर हँस दी और अच्छे तेज़ स्वर में बोली, "बस, गुस्सा काफूर ! वाह, देवर जी ! देखा तुम्हारा बल, और बल का उबाल।

18

रात को छलनामयी बहुत देर तक पति से बातें करती रही। कल कैसे-कैसे करना होगा। यह उसने पति को बताया। पति ने सुना और उसकी सराहना की। वह और भी खुश हुई, पति से बोली, "इस घर में सब अजीब हैं ?"

"क्या अजीब हैं ?"

"हर आदमी ?"

"यानी तुम्हारी समझ में इस घर के आदमी जू के जानवर हैं।" रवि ने हँसकर पूछा।

छलना बोली, "शब्दों का फर्क है, अगर जू में संसार के सब से विचित्र और श्रेष्ठ जानवर रखने का नियम हो, तो इसे आदमियों का जू कहा जा सकता है। भला ऐसे श्वसुर, ऐसी सास और ऐसे देवर किसी के होंगे ?"

"और पति की बात नहीं कही।"

छलना कपट भाव से बोली, "पति तो सब के ऐसे ही होते हैं।"

"ऐसे कैसे ?"

"ऐसे, यानी बुरे।"

कहकर छलना ने कनखियों से पति की तरफ देखा, फिर खिल-खिलाकर हँस पड़ी। बहुत देर हँसती रही। आज उसकी हँसी में से एक सुगन्धि खिलकर हवा में फैल रही थी। उसका मुँह भी आज रोज से अधिक सुन्दर लग रहा था। रवि ने शायद उस दिन ही इतनी देर तक अपनी पत्नी की ओर देखा। उसे वह बहुत सुन्दर दीखीं विशेष कर उस चेहरे का भोलापन और आँखों की स्निग्धता। सोचने लगा— कितनी सुन्दर है छलना और इसके चरित्र को मिलाकर इसे देखा जाए तो इस जैसी कोई दूसरी होगी ? उसे मन-ही-मन अपने पिछले दिनों के व्यवहार पर पछतावा होने लगा। अत्यन्त स्नेह से बोला, "आज तो कुछ बात है, बड़ी खुश नजर आती हो।"

छलना बोली, "देवर जी के साथ घूमने गई थी।"

"तो इसमें इतना खुश होने की कौन-सी बात है !"

"बात है ना, तुम नहीं समझोगे !" और यह कहकर फिर हँसने लगी। जब फिर उसका वह प्रवाह रुका तो रवि बोला, "कुछ हमें भी समझाओ तो समझ में आ जाये।"

"खूब बातें हुई, उन्होंने अपनी सब बातें आज खोलकर बता दीं।"

"हमें भी बताओ।"

"नहीं जी, किसी और को न बताने का वायदा दिया है मैंने, तुम्हारे कहने से कैसे तोड़

रवि हँसकर बोला, 'अच्छा-अच्छा' और फिर चुप हो गया तो छलना ही फिर बोली, "और सुनो, मैंने उनसे तुम्हारी खूब बुराई की।"

"क्या ?"

"हाँ, मैंने कहा कि जब तुम अपने भाई को पहचानते न थे तो क्यों तुमने उस दिन 'हाँ' कह दिया था और यहाँ मुझे जन्म-भर के लिए दु:ख भोगने को उठा लाये।"

रवि उत्सुक हो उठा, बोला, "फिर क्या बोला वह ?"

"गुस्से हो उठे, लाल हो गये, बोले—बताओ, वह कौन पिशाचिनी है जो तुम्हारे और भैया के बीच में है, मुझे बताओ, मैं उसका खून कर दूँगा। मैं तुम्हें और भैया को सारी उमर खुश देखना चाहता हूँ।"

"फिर ? "

"अजी मैं तो डर गई। बड़ी मुश्किल से शांत किया। जल्दी ही शांत भी हो गये। मुझे बड़ी हँसी आई। सच, तुम्हारे भाई बड़े भोले हैं।"

रवि हँसकर बोला, "हाँ जी, इस घर में हमारे सिवाय और सभी भोले है। कुटिल तो एक हमीं हैं ! तो फिर बता क्यों नहीं दिया उस पिशाचिनी का नाम, हमारा डंक ही टूट जाता। न रहता बाँस न बजती बाँसुरी ! "

छलना हँसकर बोली, "राम राम ! क्या कहते हो। वह आदमी बड़ा भयकर है। जो न कर बैठे सो थोड़ा ! मुझे तो 'कभी-कभी इन तुम्हारे भाई से डर लगता है।" फिर झटपट करके बोली, "अच्छा बाबा, अब सोओ, सबेरे जल्दी उठना भी है।"

कहकर छलना झट से मुँह फेर लेट रही। मुँह ढँककर फिर नहीं खोला। रवि को शायद अभी नींद नहीं आई थी। रह-रहकर वह पत्नी को छेड़ता, पर छलना ने फिर 'हूँ-हाँ' तक नहीं की। रवि का स्नेह उस दिन एक मुद्दत बाद पत्नी के लिए छलछलाया था, पर व्यक्त न हो सका। वह आज पत्नी से खूब प्रेम-प्यार की बातें करना चाहता था, पर उसके सब प्रयास निष्फल गए तो बेचारा मन मारकर लेट रहा। समझा, छलना सो गई है। पर छलना सोई नहीं थी। लेटी-लेटी छवि की बात सोच रही थी। उसे आज एक बात का बहुत दुःख हो रहा था कि व्यर्थ ही उसने छवि से अपनी व्यथा की बात कह दी। गुस्सैल आदमी है, आज नहीं तो दो दिन बाद उसे सत्या और उसके पति की बात का पता चल गया तो न जाने क्या कर गुजरे। उसे ऐसा नहीं करना चाहिए था और तब तो उसे कभी भी नही कहना चाहिए था, जब उसने छवि की और सत्या की शादी कराने का निश्चय कर लिया था। कहीं शादी के बाद छवि को इस सब का पता चल गया तो अनर्थ हो जाएगा। हो सकता है वह सत्या की जिन्दगी को हमेशा के लिए बोझ बना दे। हो सकता है वह उसका खून कर बैठे। कितनी मनहूस घड़ी थी वह, जब उसके मुँह से वह बात निकली वह क्यों इतनी कमजोर हुई कि इतनी छोटी-सी बात को जब्त न कर सकी। माँ जी सुनेंगी तो क्या कहेंगी। उनका मुझ पर से विश्वास ही टूट जाएगा। देवर भी मुझसे घृणा करने लगेंगे। न जाने इस में मेरी क्या चाल समझे। कम-से-कम यह तो समझेंगे ही कि मैंने उससे दुराव रखा। फिर क्या होगा ? मैं उन्हें कैसे विश्वास दिलाऊँगी कि मैं निर्दोष हूँ। हे ईश्वर, फिर क्या होगा ? कहीं कोई अनर्थ न हो जाये।

सोचते-सोचते छलनामयी उद्विग्न हो उठी। उसका मन हुआ कि पति से अपनी सब आशंका कह दे और चुपके से उनकी शरण में खिसक कर दृश्य से लुप्त हो जाए। मुड़कर पति की तरफ देखा। पलकें बन्द किए वे चुप लेटे थे। शायद सो चुके हैं। अभी तक तो छेड़खानी कर रहे थे ! पर सोते मनुष्य को कितनी देर लगती है। जीरो वाट्स के बल्ब की रोशनी में भी छलनामयी को पति का चेहरा साफ दीख रहा था। कोमलता उस चेहरे पर थी, पर दृढ़ता की चौखट भी थी। दोनों भाव साथ-साथ एक ही चेहरे पर देखकर छलना को अच्छा लगा। देवर के चेहरे से उसका मुकाबला करने लगी। उनका चेहरा इससे कहीं अधिक कोमल है। सारे चेहरे

पर कोमलता-ही-कोमलता लिसी पड़ी होती है। दो भाव इकट्ठे वहां नहीं होते। जब कठोरता आती है तो कोमलता न जाने कहाँ लुप्त हो जाती है। पर यहाँ सब एक साथ हैं। ये उतने डरावने नहीं हैं। देवर उस के भयंकर हैं। उसे फिर अपनी बात याद आ गई। तो वह क्या करे अब ? ठीक है, सास जागती हैं, जाकर उनसे सब कह दे। वह सँभाल लेंगी। उनकी फटकार के सामने छवि की एक न चलेगी। उठकर जाकर देखा, सास भी मुँह-सिर लपेटे सो रही थीं, पास ही सरपट शांत लेटा था। उसे देखकर छलनामयी और भी भाव-विभोर हो गई। इस ही सरपट के भविष्य का खयाल करके तो इसकी दादी कहती हैं कि तुम लोग घर में कलह मचाओगे तो बच्चे पर क्या असर पड़ेगा, सोचो तो। घर की हवा से बच्चा पलता है। उसने प्यार से एक बार फिर सरपट की तरफ देखा, चुपचाप वहाँ से खिसक आई। मन को सांत्वना दी कि माँ के होते कुछ नहीं हो सकता और डरने की बात क्या है, देवर उसके बड़े समझदार हैं। अपने मन को समझा-बुझाकर उसने शांत किया, फिर आप ही आप बोली, 'मैं भी बड़ी डरपोक हूँ। यों ही इतना डर गई।' और छवि की खाट के पास से गुजरते हुए कुछ ही घंटों पहले का अपना ही कहा एक वाक्य उसे याद आ गया, 'इतने मजबूत देवर जिसकी सुरक्षा में तत्पर हों उसे डर काहे का है।' याद करते ही उसका हृदय काफी शांत हो गया। बार-बार वही वाक्य दुहराती वह फिर अपनी चारपाई पर आ लेटी और थोड़ी ही देर में नींद ने उसे दबोच लिया।

19

भोजन समाप्त कर जिस समय ब्राह्मण लोग मृत आत्मा की शान्ति के लिए प्रार्थना करने लगे उस समय सबकी आँखें डबडबा उठीं। छवि तो हूक देकर रो उठा। सरिता ने उसे सँभाला। माँ ने भी झपटकर उसके सिर पर हाथ रखा। छलनामयी देवर के कोमल भावुक स्वभाव पर गद्‌गद हो उठी। पास बैठी सत्या से बोली, "हमारे देवर जी तो स्त्रियों से भी अधिक कोमल हैं।"

सत्या ने कहा, "लगता तो ऐसा ही है, देखो न कैसी हूक देकर रो रहे हैं।"

छलना और भी आर्द्र हो बोली, "पिता ही की मृत्यु याद कर रो उठे हों वह बात नहीं है, इनका स्वभाव ही ऐसा है, बचपन में भाई को पिटता देख रो उठते थे। सुना है कि बड़े भाई को खुद ही पीटकर फिर इन्हें मनाना होता था। थोड़े बड़े हुए तो स्कूल में जिस-तिस को किताबें बाँट आते और कसूर कोई करता पिटते ये। एक बार किसी अनजाने आदमी को, शरीर से पाव-भर खून भेंट कर आए, जिससे महीनों तक चक्कर खा-खा कर गिरते रहे। बदन के कपड़े तक उतारकर दे देना तो उनके लिये मामूली-सी बात है। सब जानते हैं कि बड़ा खाऊ-खिंड़ाऊ है पर यह तो मैं ही जानती हूँ सत्या कि इस आदमी में कितना देवत्व है।"

सत्या मुँह-बाये सब सुन रही थी, आश्चर्य से बोली, "किसी अनजाने आदमी को खून दे आये थे पाव-भर ?"

"हाँ, और किसी को पता नहीं। जब दिन में चक्कर खा-खाकर गिरने लगे तो एक दिन मैंने पूछा, 'यह सब क्या है देवर जी, क्यों है ! तो इस शर्त पर बताया कि मैं किसी को नहीं बताऊँगी। तुझे बताती हूँ, क्योंकि अब उनका कुछ भी तुझ से छिपा नहीं रहना चाहिये।"

सत्या कुछ अजब स्वभाव की लड़की थी। शरमाने की उसकी आदत नहीं थी। पढ़ी-लिखी थी। फिर जीजी से शरमाने का कोई कारण भी वह नहीं मानती थी। उत्सुकता के साथ बोली, "कौन था वह जीजी ?"

छलना हँस पड़ी, बोली, "डर मत री, लड़की नहीं थी। बारह-तेरह साल का लड़का था। उसे पढ़ाते-लिखाते भी थे और स्कूल की फीस भी देते थे। एक बुढ़िया माँ ही थी उसकी, और कोई नहीं था। एक दिन ताँगे के नीचे आ गया तो इन्होंने ही सब इलाज वगैरह कराया था।"

"फिर ?"

"फिर क्या, उस घटना के कुछ दिन बाद एक दिन पाँच आने माँगने आया। कहने लगा कोई किताब लेनी है। इन्होंने दे दिये पर तभी बाजार की तरफ निकले तो सिनेमा की लाइन में उसको खड़े पाया!"

"हूँ!"

"उसने इनको देख लिया और इन्होंने उसको। ये कुछ नहीं बोले, हँस कर आगे बढ़ गये। पर फिर वह लौटकर नहीं आया और एक दिन जब एक जगह मिल गया और इन्होंने पूछा कि कहो भाई क्या हाल-चाल है तो तपाक से बोला, 'कौन हैं जी आप, मैं तो आपको पहचानता भी नहीं।' देवर जी को उस बात का बहुत दुःख हुआ था।

सत्या बोली, "होना ही था, बात ही ऐसी है।"

छलना न और भी बहुत-सी बातें बताईं। खास उद्देश्य से ही वह यह सब कर रही थी। सत्या को प्रभावित पा पूछ बैठी, "क्यों सत्या तू हमारे देवर जी के साथ खुश तो रहेगी ना ?"

सत्या सकपका गई। कुछ ऐसी तेजी और तत्परता के साथ यह प्रश्न पूछा गया था कि उसे अनायास ही कुछ भी उत्तर सूझ न पड़ा। उसने देखा कि जीजी की पैनी दृष्टि उसके चेहरे पर जमी है। पढ़ी-लिखी लड़की थी, सँभलकर बोली, "तुम्हारे पास भी सुख से न रह सकूँगी तो किसके पास रह सकूँगी ?"

"सच बता सत्या, छिपाने की जरूरत नहीं है।"

सत्या बोली, "नहीं जीजी, सच ही बता रही हूँ और जैसी प्रशंसाएँ तुम्हारे मुँह से इस घर की सुनती हूँ, उस सबसे तो सच ही यहाँ रहने को मेरा भी मन हो आया है।"

छलना आश्वस्त भाव से बोली, "ठीक है। मुझे तुझ पर विश्वास है। और सुन, एक बात और पूछूँगी, सच-सच बतायेगी ना "

"पूछो जीजी ?"

छलना ने भी फिर सीधे अपनी बहिन की ओर देखते हुए पूछा, "अपने जीजा जी को भुला सकेगी ?"

इस बार सत्या लड़खड़ा गई। उसने सीधे बहिन की तरफ देखा। फिर अनायास ही आँखों में आँसू भर लाई, बोली, "वह सब क्या तुम जानती हो जीजी ?"

"हाँ, जानती हूँ।"

"किसने कहा ?"

"उनके मुँह से सुना है। इस घर की यह भी एक विशेषता है। कोई किसी से कुछ नहीं छिपाता।"

"तो क्या यह सब, मौसी जी, तुम्हारे देवर भी जानते हैं ?"

"हाँ, सब जानते हैं। पर उसमें चिन्ता की कोई बात नहीं है, तुम्हें उससे कोई डर नहीं है।" सत्या कुछ क्षण चुप रही, शायद कुछ अनोखी बात सोचती रही, फिर अनदीखते स्मित से बोली, "फिर भी मुझे इस घर में लाना चाहती हो जीजी ?"

छलना ने सत्या की तरफ कठोर भाव से देखा। उसे यह बात तीर की तरह चुभी। पल को जैसे उसकी सहन-शक्ति उसका साथ छोड़ने लगी। लगा हाथ में जो भी है वही वह उस सामने बैठी निर्बोध लड़की के सिर पर दे मारेगी। पर धीरे-धीरे अपने को काबू में कर शांत, गम्भीर स्वर में वह बोली, "याद है सत्या, माँ मरी तब तू कितने साल की थी ?"

प्रश्न असंगत था पर सत्या ने उसकी संगति समझ ली, उत्तर में बोली, "नहीं जीजी, नहीं याद। तुम्हारे मुँह से सुना कि तीन साल की थी।"

"फिर तो मेरे ही मुँह से यह भी सुना होगा कि मैं कितने साल की थी ?"

हँसकर सत्या ने कहा, सुना है कि तुम मुझ से चार साल ही तो बड़ी हो।"

छलना सत्या को ललकारती-सी बोली, "तो मेरे ही मुँह से यह भी सुन सत्या कि कितनी बार तू मेरे मुँह का कौर छीनकर खा गई और मैं खिलाकर खुद भूखी सोई हूँ। सत्या, तूने सूना है कभी किसी सात साल की बच्ची ने तीन साल की बच्ची को पाला है, पोसा है, पकाकर खिलाया है और पानी-दूध पिलाया है। नहीं सुना तो मेरे मुँह से सुन। मैंने तुझे पाला है, उस उमर में जिसमें कि मेरे गुड़िया खेलने के दिन थे। अहसान नहीं जता रही पर तेरा घमंड तोड़ने को आज कहती हूँ कि मैंने तुझे अपने खून से सींचकर बड़ा किया है। फिर भी तूने कह दिया—फिर भी तुझे अपने घर बुलाती हूँ।" कहते-कहते छलना की आँखों के आँसू जो अब तक गले में अटके थे, आँखों में भर आए। उसने सिर ऐसे झुका लिया जैसे वह स्वयं अपराधी हो।

पर सत्या पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वह पहले ही जैसी उद्धतता से बोली, "हाँ, कह दिया और कहो तो दुहराए देती हूँ।"

छलना को इसकी आशा नहीं थी अपनी सत्या से। आश्चर्य और आँसुओं से छलकती आँखों से उसने सत्या की ओर सप्रश्न देखा। सत्या उत्तर में और भी कठिन स्वर में बोली, "मेरा तुम पर से विश्वास उठ गया है जीजी।"

"सत्या!"

"हाँ जीजी, जब तुमने मुझ पर विश्वास नहीं किया तो मुझसे तुम अपने पर विश्वास करने को क्यों कहती हो ?"

"यानी ?"

"जीजा जी ने तुमसे यह कहा कि मैं उनसे प्रेम करती हूँ।"

"नहीं, पर—?"

"पर क्या, तुमने, मैं पूछती हूँ, कैसे आँखें मूँद कर समझ लिया कि तुम्हारी ही पाली-पोसी लड़की, तुम्हारी छोटी स्नेहमयी बहिन, जो तुमसे शायद सब से अधिक प्रेम करती है, जो माँ से वंचित रही है और बहिन को ही आज तक माँ की जगह देखती रही है, रोटी के टुकड़े की तरह और भी कुछ उससे छीन लेगी, छीनना चाह तक सकेगी ? मैं पूछती हूँ जीजी, तुमने मुझ पर इतना अविश्वास क्यों किया, बताओ ?" और सत्या कहकर निर्द्वन्द्व-भाव से रोने लगी।

छलना ने कहा, "पर वे तो तुझे प्यार करते हैं ?'

"उसका दोष भी क्या मेरे ही सिर पर रखोगी ?"

"नहीं रखूँ, तो यह समझूँ कि तू मृग-तृष्णा दिखाती रही अपनी जीजी के सिंदूर को और यह नहीं सोचा कि उसमें पड़कर लोग मर भी जाते हैं। कम-से-कम तुझ से मुझे ऐसी आशा नहीं थी!"

"जीजी!"

"मत कह मुझे जीजी, कोई छोटी बहिन, अपनी बहिन के सिंदूर से नहीं खेलती। आज तक मैंने बुरा नहीं माना। प्रेम बुरी चीज़ नहीं है। जानती हूँ, हर मर्द जिसे चाहता है वह मेरे पास नहीं है और इसके लिए पति को दोष नहीं देती, न तुझे ही कभी मन से अपराधी माना है। पर आज सोचती हूँ कि तेरी यह बात सुनकर उनकी जाने क्या गति होगी ? वे क्या कर बैठेंगे और यदि कुछ कर बैठ तो फिर मैं किसके सहारे जिऊँगी। मैं जल मरूँगी। सच कहती हूँ सत्या, मैं जल मरूँगी।"

"ओ जीजी, मैं माफी चाहती हूँ, मैं पाँव पड़ती हूँ तुम्हारे, ऐसी बात जुबान पर भी मत लाओ। तुमने जो निश्चय किया है वह कर डालो, मैं सब ठीक कर लूँगी।"

छलना ने कहा, "तो वायदा देती है कि कभी उनसे यह नहीं कहेगी कि तूने उनसे प्यार नहीं किया ?"

"जीजी, झूठ के बल पर—"

छलना छटपटा कर बोली, "बेशर्म लड़की! आज झूठ और सच की बात कहती है। सच तेरे भीतर होता तो पहले रोज जब उन्होंने कहा था कि मैं तुझ से प्रेम करता हूँ तो तू उन्हें मना कर देती और तभी खुद अपने मुँह से आकर मुझे बताती। अब सच न बखान। चुप-चुप जैसा मैं कहती हूँ वैसा करना स्वीकार कर, नहीं तो—"

सत्या ने सिर झुका लिया, बोली, "जीजी, माफ करने की बात अब कभी नहीं करूँगी और कहना करना तो मैं पहले ही स्वीकार कर चुकी हूँ।"

छलना चुप हो गई। आज फिर छलना का चेहरा अमित उद्वेग चिन्ता और भय से काला हो आया। वह मन-ही-मन भविष्य की चिन्ता का हल निश्चित करने लगी। हल उसने सोच निकाला तो चेहरे पर स्मित खिल आया। एक थकान के भाव को छोड़कर बाकी सब धुल गया। अब तक वह सिर झुकाए काम में लगी थी। काम पर से उसका ध्यान पल को नहीं उचटा था। पर अब हाथ थाम उसने सामने बैठी बहिन की ओर देखा। वह अब तक सामने अपराधिन-सी सिर झुकाए बैठी थी। छलना का हृदय तरल स्नेह से भर आया। अपने कहे गए कटु शब्द अपने को ही काटने लगे। धीरे से साफ और मीठे स्वर में पुकारा, "सत्या!"

"हाँ जीजी।"

"बुरा मान गई री ?"

"नहीं तो जीजी!"

"फिर क्या अब तक बहिन को माफ नहीं कर पाई।"

"जीजी!"

"या मेरे 'उन' की याद आ रही है!" हँसकर छलना बोली।

"जीजी!" कातर कण्ठ से सत्या ने पुकारा।

"तू शोक न क़र पगली। मैं तुझसे कुछ भी छीनने का षड्यन्त्र नहीं रच रही। अपना देवर

दूँगी। अपना पति दूँगी और अपने आपको भी तुझे ही दे डालूँगी। तू इस घर को सँभालना। मैं तो अब बूढ़ी हो चली हूँ।"

छलना की आँखें कहते-कहते न जाने कैसे भावों से भर आईं। वह ऊपर से नीचे तक गद्गद हो उठी। करूणा, प्रेम और शायद अत्यन्त तीखी पर अव्यक्त व्यथा से एक साथ ही उसका हृदय भर उठा। उसके भीतर-ही-भीतर आनन्द का एक समुद्र हिलोरें ले उठा। उसे लगा कि कितने लोग उससे कितना प्रेम करते हैं। उसमें कितना विश्वास रखते हैं और अब तो परिस्थिति को उसने खूब काबू में कर लिया है। अब कुछ खतरा नहीं है। अपनी विजय का स्मरण कर उसका हृदय और आँखें भर आईं। उसने सामने बैठी बहिन को देखा। कल्पना में ममतामयी सास को, सच्चे कपटरहित और उसकी हर बात मानने वाले पति को देखा और साहसी पर कोमल स्वभाव के और उसमें सबसे अधिक विश्वास रखने वाले देवर छवि को। सबको कल्पना में एक साथ हाथ-में-हाथ पिरोए खड़े देख वह खूब पुलकी और दोनों हाथ जोड़ ससुर को प्रणाम कर कहा, "मैंने आपका सपना सच्चा कर दिखाया है, मुझे आशीर्वाद दो। क्या दो, यह आप ही जानो, पर चाहो तो पति-प्रेम-प्राप्ति का दे डालो। जानती हूँ, आपका आशीर्वाद व्यर्थ नहीं जा सकता।"

"पर...!!"

रेल में बैठा छवि सिहर उठा। उसके मुँह से एक ठंडी साँस निकली। आँखें मूँद कर उसने 'उफ्!' किया। होंठों-ही-होंठों में बुदबुदा उठा। उसने सर्वनाश कर दिया। उस हरे-भरे बाग में आग लगा दी। सब के विश्वास को तोड़कर अपने मिथ्या दंभ में किसी की न सुन, उसी संध्या को उसने घर छोड़ दिया।...ननद से छलना ने सुना तो धक् से रह गई। दौड़ी-दौड़ी छवि के पास पहुँची। अटैची में लगते कपड़े देखकर वह बोली, "यह सब क्या है देवर जी?"

"मैं बाहर जा रहा हूँ।"

"पर कहाँ, क्यों!"

"यह अभी तो मैं भी नहीं जानता।"

"तो क्या आखिरी फैसला है यह तुम्हारा?"

"हाँ।"

"डिगेगा नहीं?"

"नहीं।"

"मेरे कहने से भी नहीं?" कहते-कहते अपमान के कारण छलना की आँखें भर आईं।

"नहीं।"

"देवर जी, मुझ पर से विश्वास उठ गया?"

अपने मन से पूछो।"

छलना चुप हो गई। कुछ देर अपने सामान को ठीक करते देवर की तरफ देखती रही। उसे लगा, कोई उसका कलेजा चीर रहा है। कुछ देर ही वह खड़ी रही होगी कि झर-झर कर उसकी आँखों से आँसू झरने लगे। झुककर उसने देवर के हाथों से अटैची छीन ली और कहा, "ऐसे ही क्या सबके सपने तोड़कर चले जाओगे।"

"झूठी बात न कहो भाभी। अपने पति की ही दूसरी शादी करना चाहती थी न! तुम

अपने पति के लिए मेरी जिन्दगी से खेलना चाहती थी न ? मुझे माफ करो भाभी। मैंने वह सपना तुम्हारा जरूर तोड़ा है पर अपनी जिन्दगी से प्यार करना पाप नहीं है।"

"देवर जी !"

"न झुको भाभी, मेरे सामने न झुको। छलनामयी को झुकना शोभा नहीं देता। मुझे अब इस घर में कोई नहीं रोक सकता। तुम भी नहीं और तुम्हारे आँसू भी नहीं !"

"फिर कब आओगे ?"

"शायद कभी नहीं।"

छलनामयी झटके से उस अटैची पर झुकी। लगा जैसे उसकी कमर की एक हड्डी चरमरा कर टूट गई। फिर अचेत होने से किसी कदर अपने को रोक कर बोली, "तुमने सब सुना है देवर जी ?"

"जितना सुना है उतना काफी है।"

"सत्या—" छलना ने कहना चाहा।

"तुम्हारी बहिन है, जानता हूँ, और यह भी जानता हूँ, कि कई लोग दोनों बहिनों को आश्रय में रखते हैं। रवि भैया भी वैसा करें इसमें बुरा क्या है। पर मेरी जिन्दगी से खेलना न हो सका, इसका अफसोस क्यों करती हो ?"

"देवर जी !" कठोर आघात से तिलमिला कर छलना ने धरती थाम ली।

छवि फिर बोला, उफ् ! शिकार के छुटने पर शिकारी को इतना अफसोस होता है या हो सकता है, इसका परिचय आज ही मिला। पर देवी जी, अब तो चिड़िया उड़ चुकी, अब पछताए कुछ न होगा। कोई जानकर टूटी डाली पर मरने को नहीं बैठता। मैं जाता हूँ, अब कृपया छल छोड़ो और मुझे जाने दो।"

छलनामयी ने छवि के बढ़ते हुए कदम पकड़ लिए, रोकर बोली, "देवर जी, पिता जी का सपना, माँ की ममता, भाई का आश्रय और मेरी विनती सब तोड़ जाओगे ?"

"कुछ मेरा नहीं है, सब मेरे दुश्मन हैं। तुम मेरी दुश्मन हो, तुमने मुझे धोखा दिया। मैं नहीं रुकूँगा, जाऊँगा ?"

"देवर जी, तुम्हारा सरपट तुम्हें याद करेगा, पूछा करेगा कि 'चाचा कहाँ हैं' तो क्या कहकर उसे बहलाऊँगी ?"

"कहना—मर गया तुम्हारा चाचा और मैंने अपने हाथों से उसे मारा है।"

छवि ने झटके से भाभी के हाथों से पैर छुड़ा लिए। भाभी ने फिर पकड़ना चाहा पर तभी ममतामयी का कठोर, निर्मम स्वर सुन पड़ा, "ओ बहू, मेरी बहू होकर तुझे इतना गिरना किसने सिखाया ? और उसके सामने जिसे पता नहीं कि प्रेम-प्यार और विश्वास-शराफत किसे कहते हैं। जो अंधा होकर भी अपने को आँखों वाला समझता है। उसे जाने दे। मैंने उसे जाने की आज्ञा दे दी है। और उठ, यहाँ आ मेरे पास।"

20

छवि चला गया। सुना है दिल के दो हिस्से होते हैं। गंदे और अच्छे खून के होने पर भी एक

दूसरे से जुड़े होते हैं और दोनों एक दूसरे को सींचते हैं। दोनों के अलग हो जाने पर कोई जिन्दा कैसे रह सकता है। ममतामयी ने जिस कठोरता के साथ उस दिन छवि को जाने की आज्ञा दे दी थी, उसको वह स्वयं भी सहन नहीं कर पाई। उसी दिन से चारपाई पकड़ ली। छलना और रवि ने सेवा में रात-दिन एक कर दिया पर उन्हें जरा आराम नहीं आया। दिन-दिन उनकी हालत गिरती ही चली गई और एक दिन उनके जाने की तिथि आ गई। उन्होंने खुद ही रवि से कहा, "बेटा, आज मुझे तेरे पिता साफ़ नजर आ रहे हैं, आज मैं जाती हूँ।"

छलना, सरिता और रवि रोने लगे, तो बोलीं, "रोओ नहीं। अब मैं क्या सारी उम्र बैठी रहती। अपनी घर-गिरस्थी सँभालो और मुझे छुट्टी दो।"

फिर कुछ देर चुप रह कर उन्होंने अपने बड़े बेटे को पुकारा, "रवि!"

"हाँ माँ," रोते-रोते रवि बोला।

"एक बात तुझे कहती हूँ बेटा। रो नहीं, बात सुन। तेरा छोटा भाई आज न जाने कहाँ होगा। देख लेती तो चैन से मर सकती। उस दिन मैं चाहती तो उसे रोक सकती थी पर खैर, भगवान जो करता है, भला ही है। पर एक बात तुम सब सुन लो, छवि मेरा, पागल जरूर है, बुरा नहीं है। वह एक दिन जरूर अपने किये पर पछतायेगा और वापस लौट कर आयेगा। उस दिन मेरी विनती है, उसे दुत्कार न देना। सँवार लेना। हो सकता है बाहर से वह कुछ कीड़े अपने में डालकर लाये पर तुम लोग चाहोगे तो वह जरूर आदमी बन सकेगा। बस, तुम ऐसे ही प्यार करना जैसे मेरे सामने करते थे। करोगे ना?"

चारपाई से लगे बैठे तीनों जने फूट-फूटकर रो उठे। बहुत देर तक रोते रहे। जब करुणा का बहता स्रोत रुका तो छलना बोली, "माँजी, हमसे वैसी आशंका है आपको?"

ममतामयी की आँखों में भी दो बूँद आँसू भर आये, बोली, "तेरा मुझे बड़ा सहारा है छलना, तेरा मुझे बड़ा भरोसा है। तू भी सुन, आज से सरिता को अपनी सास और ननद समझना! समझी।"

ममतामयी का थका गला चुप हो गया तो रोते-रोते सरिता बोली, "माँ, मुझ से कुछ नहीं कहा।"

ममतामयी ने उसका हाथ पकड़ लिया, फिर बोली, "सब कुछ तुझ से ही तो कहना है बेटी। इन सबको तुझे ही तो सौंपकर जा रही हूँ। अब तू ही इनकी बड़ी है, इन्हें सँभाल कर रखना। मेरी फुलवारी को कोई तकलीफ हुई और मैंने ऊपर से वह देखा तो तुझ से ही सब पूछताछ करूँगी।"

तीनों जने फिर जोर से रो उठे। ममतामयी ने सरपट के सिर पर हाथ फेरा। यह स्थल उनका अत्यन्त कोमल था। सरपट से वह बहुत प्यार करती थीं। उसे देखते-देखते उनकी आँखों से आँसुओं की अविरल धारा बह निकली। अबोध सरपट कुछ न समझ सका। सबको रोते देख वह भी रोने लगा। ममतामयी ने रोना बन्द कर छलना से उसे चुप करने को कहा। पर छलना का हृदय आज बीच से फटा जा रहा था; वह कुछ न सुन सकी। सब जनों को और भी रुलाती हुई सरपट से कह उठी, "सरपट बेटा, आज तेरी दादी जाती है, जा अन्तिम समय अपनी दादी को एक मिट्ठी तो दे आ?"

सरपट बोला, "नई, दादी ने ही तो कहा था कि जो लूठ कर जाये उसे मित्ती नहीं देते, ताता चाहते थे तो दादी ने मना तल दिया था।"

सारा घर जोर से रो उठा और ममतामयी के गले में तो इस बात की इतनी जोर से फाँसी लगी कि वे फिर उसको सँभाल न सकीं। एक जोर की हिचकी ली और दीप सदा-सर्वदा के लिए बुझ गया। टूटे सपनों को साथ लिये ममता-भरी ममतामयी हमेशा-हमेशा के लिए अपने बच्चों को रोता छोड़ चली गई। सारा घर एक बार फिर हृदय फाड़कर रो उठा। पर काश, बुझते दीप चाहने पर जले रह सकते और गये जन जोर से रोने से लौट आ सकते ! यह हो सकता होता तो निश्चय ही एक जन भी कभी मर न पाता, सब अमर हो जाते।

पराभव

सात साल बाद।

छविनाथ ने आँखें खोलकर देखा तो पाया कि वह परायों में है। अपना, उसकी जान में, कोई भी पास नहीं है। उसने फिर आँखें मूँद लीं। उसे ठीक से याद आ रहा था। घर छोड़कर वह अनेकानेक स्थानों में घूमा था। हृदय पर और अन्यान्य प्रकार की खुरेंचें खाई थीं। पर इस तरह कोई अनजाना व्यक्ति अपने घर में उसे आश्रय देगा, यह उसने किसी दिन नहीं सोचा था। उसे यह पूछने का साहस भी नहीं हुआ कि वे लोग कौन हैं और क्यों उसे इस तरह घेरे खड़े हैं। क्यों वे दर्शाना चाहते हैं कि उसके अपने हैं। जब कि वह जानता है कि कोई अपना नहीं है सब जाने कौन हैं, जाने कैसे हैं ···,

छविनाथ ने आँखें जोर से भींच लीं। पर उसे पता नहीं था कि उसकी आँखों की कोरों ने दो आँसू छिपा रखे हैं, जो इस तंरह का दबाव पाकर अनाझर भी सकते हैं। आँसुओं के झरते ही जैसे लज्जा ने उसे आच्छन्न कर लिया। रोना भला किसके लिए? रोना समेटने वाला जिसका कोई न हो, भला क्यों रोये, और फिर छविनाथ! तुम तो कोई हल्के-फुल्के हत्यारे हो नहीं। तुमने माता-पिता को मारा है, उनके उजले अरमानों का खून किया है। तुम्हें रोना नहीं फबता। रोना ही चाहते हो तो और प्रकार का रोना रोओ। उस सामने की दीवार से जोर-जोर से सिर टकराओ। जिससे तुम्हारा यह सड़े तेल से सुलगता दीया बुझ सके और हवा में फैलती दुर्गन्ध सिमटकर समाप्त हो सके। छविनाथ, तुम जीने योग्य नहीं हो···तमाम उम्र सड़ना··· ।

तभी किसी की कोमल उँगलियों ने छविनाथ के बहते आँसू पोंछ दिए। उस सुखद स्पर्श में न जाने क्या था कि उसकी मुँदी आँखों ने जोर छोड़ दिया और वह चुप रहकर सोना चाहने लगा। पर तभी किसी ने उसे चौंकाया। कहा, "छवि बाबू।"

छवि ने अपनी धुँधली आँखों को खोला, कहा, "हूँ।"

"तुमने मुझे पहचाना नहीं क्या?"

छवि पल को आश्चर्य से उसकी ओर देखता रहा, फिर बोला, "नया छल हो?"

वह हँसी। एक मनोहर पर विषादमय हँसी। पर पल बाद ही विषाद उसने अपने में लील लिया और हँसी मनोहरता पल को प्रकाश में रह कर अस्त हो गई। कई मिनट वह चुप रही। छवि उसकी ओर देखता रहा। आसपास के सब लोग चले गए थे। केवल वह स्त्री ही थी। आज

से नहीं, कोई तेईस दिन से वही उसके पास थी। उस मरीज़ के पास थी। पर आज उसे हार्दिक कष्ट हुआ। छवि उसे पहचान नहीं पाया है न पहचानने का ढोंग रच रहा है। पर तभी वह कुछ सोचकर आत्मग्लानि से भर उठी। कैसी पागल हूँ! तेईस दिन बाद जिसकी आँखें खुली हों वह दस साल पहले देखी बालिका को इस नारी-रूप में अचानक कैसे पहचान सकेगा? सोचकर उसने छवि की ओर पूरा मुँह घुमाया, फिर बोली, "छवि बाबू, पहचानो न, मेरी ओर देखो।"

छवि देखता रहा, चुप रहा और तरह-तरह के हाव-भाव उसके मुँह पर आ-आकर जाते रहे।

छवि को चुप ही देख उस स्त्री ने फिर कहा, "छवि, न हो तो थोड़ा सो लो। हाँ, आराम कर लो। और सुनो मैं··· ।"

कहने से पहले वह फिर रुकी। अपना परिचय स्वयं देते उसे लज्जा-सी आई। पर वह लज्जा पल में परास्त हो गई। वह हँस दी। वही मनोहर हँसी। फिर अत्यन्त स्नेह से बोली, "छल नहीं, मैं हूँ बानो! हुस्ना, कनकटी?"

छविनाथ ने बानो की तरफ से मुँह घुमा लिया। जाने कैसी एक शांति उसे मिली कि वह तत्काल नींद की लपेट में आ गया और सो रहा। बानो ने लाख चाहा कि उसे जगा ले, पर जगा न सकी एक बार घबराकर उसने डॉक्टर को भी बुला डाला और जब उसने बता दिया कि अब चिन्ता की कोई बात नहीं है, मरीज़ बेहोशी में नहीं है, नींद में है और अच्छा होने के आसार साफ हैं, तो बानो भी निश्चिंत हो पलंग पर लेट रही। पर उसे नींद नहीं आई। आँसू उसके गले में आ-आकर अटक रहे थे। छवि की यह दशा! छवि की ऐसी हार! ···इस सबका कारण वही तो नहीं है? यदि वह है तो फिर क्यों उसे जीना चाहिए? उसने ही क्या इस इतनी सुकोमल कली को मसल नहीं डाला है? सोचते-सोचते उसे वह दिन याद हो आया, जिस दिन वह रेलवे प्लेटफार्म पर इस दिसम्बर की सर्दी में, एक धोती में लिपटे पड़े बेहोश छविनाथ को उठाकर लाई थी। पुलिस का सिपाही बूट की ठोकर से उसे जगा रहा था। और छविनाथ···

बानो के हृदय से एक मौन चीख निकल पड़ी। पलंग पर वह फिर देर तक लेटी न रह सकी। उठकर फिर छविनाथ के पास गई। छविनाथ सो रहा था। बढ़े हुए बाल उसके माथे पर पड़े बिलबिला रहे थे। उसने उन्हें पीछे किया। छविनाथ का जीर्ण-शीर्ण मुँह उसने एक बार फिर देखा और चुप-चाप मन-ही-मन उसे पुचकारा। फिर वापस आकर पलंग पर लेट रही। पर नींद उसे फिर भी नहीं आई, नहीं ही आई। बानो ने स्नेह से छवि को जगाते हुए कहा, "छवि बाबू, यह मेरा घर है, यहाँ देर से कोई नहीं उठता।"

छवि जाग रहा था। मुँह फेरे लेटा था। वैसे ही लेटा रहा।

बानो ने धीमे से छवि की करवट बदली। इस बार छवि बोला, "बानो हो?"

"हाँ-हाँ, बानो ही हूँ। वही हूँ जिसे तुमने अपनी जान पर खेलकर बचाया था।"

छवि हँसा। विचित्र वह हँसी थी। जैसे जीवन के सब गिने-माने सत्यों को झुठलाती हो या अपने आपको झूठ साबित करती हो। हँसकर छवि ने गम्भीर दार्शनिक की मुद्रा में कहा, "तुम पागल हो बानो, भोली हो, मैंने तुम्हें बचाया था क्योंकि तुम मुझे सुन्दर लगी थीं और तुमने मुझे बचाया है कि अच्छा होकर मैं तुम्हारे काम आ सकूँ।

तुम्हें कमाकर पैसा दे सकूँ? या तुम्हारे सिर पर रखा कृतज्ञता का बोझ हल्का कर सकूँ! नहीं क्या? सुनो बानो, वही बात सच्ची बात नहीं है क्या?"

छवि कहकर बहुत हँसा, बहुत हँसा। और इतना हँसा कि उसकी आँखों में आँसू भर आए। बानो ने फिर उसी तरह वे आँसू पोंछ डाले और हुक्म दिया, "सो जाओ, बोलो नहीं, अक्लमन्द बहुत हो गए जान पड़ते हो। पर प्रश्न का उत्तर दो दिन बाद दूँगी। अभी शायद··· ।"

पर छविनाथ पागलों की तरह हँसता रहा, "देखो, सच्ची बात कैसी कड़वी लगती है। अब मुझे बोलने देना भी नहीं चाहती। मुझे बचाकर मुझसे अपना उल्लू सीधा करना चाहती है। पर मैं उतना उल्लू नहीं हूँ। अच्छा होते ही उड़ जाऊँगा और फिर बाई बानो ढूँढ़ा करेंगी वह नोटबुक, जिसमें उन्होने लिखा है, डॉक्टरों का और दवाइयों का हिसाब, मेरे नाम का खाता खोला है न··· बेचारी बानो··· बाई बानो···"

बानो गर्दन झुकाकर वहाँ से हट गई। फिर कई दिन उसकी छविनाथ से बात करने की हिम्मत नहीं हुई। वह चुपचाप उसकी सेवा में लीन रहती। महीनों से उसकी महफ़िल भी बन्द थी। सो शाम का समय या तो वह छवि के पास बैठकर चुपचाप काट देती, या मकान की छत पर बैठकर सितार बजाने में। संसार उसे कुछ सूना-सूना-सा लगने लगा कि जैसे सिवाय सितार के वहाँ कुछ है ही नहीं। दस वर्ष के सान्निध्य ने उसे सितार पर अधिकार प्रदान किया था या सितार का उस पर, यह तो वही जाने पर यह अवश्य था कि शांति उसे मिलती थी तो बस सूनी छत, सूने अंधकार और बिलखते सितार के संगीत में ही, अन्यथा तो ···

एक दिन छवि बोला, "नाराज हो बानो ?"

"हाँ, हूँ तो, पर तुमसे नहीं, अपने से।" सहज भाव से बानो ने कहा।

"बानो, तुमने आज तक ब्याह नहीं किया ?"

"किससे करती, तुमने तो मुझे अपने शहर में भी रखना पसन्द नहीं किया और ब्याह तो केवल इस जीवन में तुम से ही हो सकता था। फिर दुर्भाग्य मेरा कि तुम हिन्दू हो।"

छवि चुप रहा। उसके हृदय पर लगा, जैसे भयानक चोट लगी हो। उस आघात को सहने में उसे देर लगी। पर जब तक वह स्वस्थ हुआ, बानो चली गई थी और उस दिन, फिर बानो दिखाई नहीं पड़ी, जाने मकान के कौन-से कोने में बैठी बिसूरती रही।

बानो ने पूछा, "छवि बाबू, घर कब छोड़ा।"

तकिए के सहारे छवि बैठा था। आज वह काफी स्वस्थ था। बोला, "कोई सात साल हो गए।"

"सात साल ?"

छवि ने कहा, "आश्चर्य की भला इसमें कौन-सी बात है, सच ही तो है कि सात साल से मैं घर नहीं गया।"

"फिर कहाँ रहे ?"

"एक जगह तो नहीं रहा, बाई बानो।"

बानो ने उदास स्वर में कहा, "छवि बाबू, दूसरे के मन पर ठेस पहुँचाने की आदत तो तुम्हारी नहीं थी, सात साल में इतने बदल गए हो। सच है कि मैं बाई हूँ पर क्या तुम्हारे लिए भी।" बहुत देर दोनों चुप बैठे रहे। अनायास बानो ने कहा, "छवि, एक सौदा करोगे ?"

छवि ने 'हाँ' की।

बानो बोली, "मैं तुम्हें सितार सुनाया करूँगी और तुम मुझे अपनी सात साल की कहानी

सुनाया करो।"

छवि मीठी अपनी चिर-सहचरी मन्द हँसी में से बोला, "तुम्हें नुकसान रहेगा बानो। तुम अमृत उँडेलोगी और मैं जहर। कहीं ऐसा न हो कि इस आदान-प्रदान के खेल में तुम अपने को खो बैठो और मैं अपने को फिर पा लूँ।"

बानो ने छवि के बालों को स्नेह से सँवारते हुए कहा, "खुदा करे ऐसा ही हो, छवि। मुझे सौदा मंजूर है। फिर यह अमृत है भी तो तुम्हारा ही, और मैं जानती हूँ कि अभी भी तुम्हारे पास बहुत सा होगा। चुक गया तो फिर थोड़ा-सा देने में आनाकानी करोगे क्या ?"

छवि ने आज पहली ही बार शायद बानो का एक हाथ धीमे से अपनी हथेली में लिया, दबाया और छोड़ दिया।

2

छवि के शहर से बानो ने बम्बई जैसे शहर में आकर किस तरह अपने लिए स्थान बनाया था, इसकी कहानी बहुत छोटी है। यहीं उसे दूर रिश्ते के कोई भाई मिल गये और उन्होंने तब तक, जब तक कि वह अच्छी तरह गाना-बजाना न सीख ले अपने यहाँ रखना मंजूर कर लिया। शर्त थी कि जब कमाने लगे तो सब खर्चों के अलावा (जो कि ईमानदारी से नोट-बुक में दर्ज रहेंगे) बानो उन्हें दो हजार रुपया और भी देगी। बानो ने मंजूर किया। दो साल वह उनके यहाँ रही और अगले एक ही साल में उसने उन भाई साहब का तमाम कर्ज़ा अदा कर दिया। फिर कहा, "भाई जान, कर्ज़ा तो अदा हो गया, पर मैं जानती हूँ कि इस शहर में होने वाली हर दुर्गति से आपने मुझे बचा लिया है, उसका अहसान मैं उम्र भर में चुकता नहीं कर सकती। हमेशा आपकी लौंडी रहूँगी, जब भी मेरी खिदमत की आपको ज़रूरत होगी, आप मुझे याद करेंगे, यह मुझे यकीन है।"

भाई जान हँस दिये, बोले, "बानो, मैं व्यापारी आदमी हूँ और उसके भी कुछ उसूल होते हैं। मैंने तुमसे जो सौदा किया.था, वह सही हुआ; अब कभी मैं तुम्हे तंग नहीं करूँगा। यह बात खुदा की कसम खाकर कहता हूँ।"

और उन्होंने बात निबाही। सच ही, पूरे सात सालों में उन्होंने कभी बानो की चौखट पर क़दम नहीं रखा। बानो अकसर उनके घर जाती। दुआ-सलाम होती पर ज़रूरत की बात कभी बीच में न आती। आज बानो के पास कम पैसा नहीं था। वह मकान उसका अपना था जिसमें वह कभी किराये पर कमरा लेकर रही थी। बैंक में पाँच बिंदियों से ऊपर पैसा था और एक छोटी-सी कार भी थी। अब उसके पास, उसके अपने क्षेत्र में पर्याप्त यश था। वह हिन्दुस्तान के बड़े-से-बड़े शहर में जाती थी और अथाह दौलत घसीट कर लाती थी। इस दफा वह इलाहाबाद गई थी और सोने-चाँदी के सिक्कों के साथ-साथ प्लेटफार्म से छविनाथ को उठा लाई थी। पर उसी दिन से जैसे उसके हृदय का सूनापन उसे कुतर-कुतर कर खा रहा था। उसे लग रहा था जैसे वह भीतर-ही-भीतर इतनी खोखली हो चुकी है कि किसी भी दिन उड़कर वह शून्य में मिल जोयगी। कुछ भी ऐसा उसके भीतर नहीं है जो उसे धरातल पर टिकाये रख सके। उसे जीवित रख सके।

छविनाथ से उसने हृदय से प्यार किया है। व्यापार की इस भीड़-भाड़ में उसने उसे भूला भी है और याद भी किया है। भूलकर भारी हुई है, जमीन में गढ़ जाना चाहा है और याद करके रोई है, फूट-फूटकर रोई है। छविनाथ उसे मिल गया। उसे सुखी होना चाहिए था। पर सुख उसे नहीं मिल रहा। ऐसा लग रहा है कि वही छविनाथ की हत्यारिनी है। उसी ने छविनाथ की यह दुर्गति की है। इसीलिए छवि के सामने जाती वह सकुचाती है। सूने में बैठकर सितार बजाकर ही थोड़ी-बहुत शान्ति का अनुभव करती है।

छविनाथ बिलकुल अच्छा हो गया तो बानो बोली, "छवि बाबू मेरे पास एक छोटी-सी कार है। मैं खुद ही उसे ड्राइव भी कर लेती हूँ। न हो तो प्रोग्राम यही सही कि कार से घूमने निकला करें और कार में ही बैठकर तुम अपनी कहानी सुनाया करो।"

छवि बोला, "और मेरा सितार।"

"साथ रहेगा, जब जहाँ जिस समय तुम्हारी इच्छा होगी।"

और यही तय रहा। बम्बई शहर की अलौकिक सौन्दर्य-छटा तले बानो और छविनाथ ने अपनी-अपनी कहानी दोहरानी आरम्भ की।

छविनाथ ने कहा, "बानो, जिस दिन घर छोड़कर बाहर निकला उस दिन जैसे गली की पथरी ही और लगी। उसी पथरी पर खेलकर बड़ा हुआ था और याद था कि कभी वह मुझे चुभी भी नहीं थी पर उस दिन मोटी चप्पलों में से उसने दो ही मिनट में मेरे पैर छलनी कर दिए। नुक्कड़ पर चूरन वाले लाला मिले और मुझे देख, जाने क्यों बोले ही नहीं। शायद कार्य में व्यस्त थे या किसी धुन में। मेरी उपेक्षा उन्होंने पहले कभी नहीं की थी ''' उस दिन मुझे वह मुँह फेरना उपेक्षा ही लगा। उन पर क्रोध नहीं आया, साफ़-साफ़ गला रुँध गया। पर मैं रुका नहीं। फिर वह बाजार आया। जिसमें से रोज़ मैंने माँ के कहने से सब्जी खरीदी थीं उस सब्ज़ी वाले की मुझे इकन्नी देनी थी। जेब में इकन्नी के सिवाय कुछ था भी नहीं। सोचा उसे चुकता करूँ, पर इकन्नी ही तो थी। हिचक गया। इकन्नी की कीमत कभी जानी नहीं थी पर तीन दिन बाद अपने शहर से दो सौ मील दूर जब उसी इकन्नी से मैं ने चने लिए, नमकीन चने और उन पर पानी पिया तो पता लगा, इकन्नी बड़ी चीज़ होती है। वह आदमी को जिला सकती है और वह आदमी को मार भी सकती है।

बिना टिकट मैं वहाँ पहुँचा था। मेरे शहर से छोटा शहर था। कुछ काम मैं जानता नहीं था पर क्योंकि इच्छा थी कि कोई भी काम कर डालूँ, तीन दिन बाद काम मिल भी गया। सिनेमा के दरवाज़े पर खड़े होकर हाथ में गानों की किताबें लेकर आवाज़ लगानी होती—'एक-एक आना' हर''' ' मैंने वह किया बानो, और शाम को मिले सात आने, छः आनों में पूरे दिन का काम चलाया। एक मद्रासी होटल था। ऐडली-डोसा और मसाला-डोसा मैंने चखा तो जीवन का एक नया स्वाद आया। मुझे अच्छा लगा पर जल्दी ही मन ऊब गया और मैं किसी नए काम की तलाश में लग गया। नया काम भी जल्दी ही मिल गया। एक प्रेस में चालीस रुपए की नौकरी। क्लर्क का काम था। धर्म-ग्रन्थ छापता था वह प्रेस। खुश हुआ पर ऊपर से मैं एक क्लर्क ही बना रहा। छः महीने उनके यहाँ काम किया। पर उन छः महीनों की कथा रोचक है, घिनौनी है और आश्चर्य में डाल देनी वाली है। उस कथा को सुनाने से पहले''' ।"

बानो ने बात काटकर कहा, "सितार सुनोगे ?"

"नहीं बानो, सितार से खेलने योग्य मन नहीं रहा, खराब हो रहा है। आदमीयत शब्द

का जितना बड़ा उपहास मैंने उन छः महीनों में देखा है, याद करते-करते लगता है, जैसे हृदय की कालिख और गहरी हो उठी है। संज्ञाहीन मैं तुम्हारा सितार न सुन सकूँगा बानो। मुझे दम लेने दो। मैं तुम्हें कहानी ही सुनाऊँगा, जहर-भरी कहानी।"

बानो छविनाथ की मनःस्थिति समझ चुकी थी। कार आगे बढ़ी चली जा रही थी। बानो ने मन बहलाने को बम्बई की उस विशालता का परिचय देना आरम्भ किया पर छवि जाने कौन से गहरे गर्त्त में था कि वह कुछ भी सुन ही नहीं पाया। 'हूँ' करता रहा और चुप रहा। कार 'गेटवे ऑफ इण्डिया' पर जाकर रुक गई। उस सौन्दर्य में भी छवि जाग न सका। भयानक लहलहाते समुद्र को देखते ही उसे डर-सा लगने लगा। बानो ने उसकी उँगलियाँ अपनी मुट्ठी में दबा रखी थीं पर छविनाथ सिहरा जा रहा था। पत्थर से बना ऊँचा वह भारत-प्रवेश-द्वार और उसकी नींव से टकराती वे उत्ताल जलधि तरंगें, सामने खड़ा मुस्कराता वह ताज जैसे छविनाथ को कह रहे थे, 'ये मनुष्य की उसी महत्त्वाकांक्षा के परिणाम हैं, जिसने करोड़ों लोगों की मनुष्यता की बलि देकर इन मकबरों को बनाया है। इसी महत्त्वाकांक्षा ने शारदा को मौत के घाट उतार दिया। इसी महत्त्वाकांक्षा ने सुधाम पंडित से भाई की हत्या करा दी और भक्त ललित मोहन संन्यासी से शारदा की अर्थी में कंधा लगवा दिया। झूठे आँसू रुलवा दिया और···

"बानो, इस समुद्र में कितने लोग एक साथ डूब सकते हैं ?"

बानो हँसकर बोली, "जितने एक जहाज में बैठे हों।"

"पूरा देश एक साथ नहीं डूब सकता ?"

बानो सतर्क हुई। उसने छवि का हाथ और जोर से पकड़ लिया, बोली, "छवि बाबू, क्या हुआ है तुम्हें, यह सब क्या तुम्हें सुन्दर नहीं लगता ?"

"सुन्दर क्यों नहीं है। सामने तो दीख रहा है कि भगवान और मनुष्य, खड़े गले मिल रहे हैं। भगवान का बनाया वह अतीतदर्शी समन्दर और मनुष्य के बनाये ये भविष्यवक्ता ताज और गेट—सौन्दर्य की अति है बानो। पर इसीलिए मेरे मन में बैठा असुन्दर अनुपात में और भी असुन्दर हो उठे तो दोष क्या मेरा है, या···· बानो, वह ताजमहल होटल है, उसमें बड़े-बड़े कमरे हैं, बाहर से ही नहीं भीतर से भी वे सुन्दर होंगे पर उनके भीतर क्या सब कुछ सुन्दर ही है ?"

बानो सरल हँसी-हँस दी। बोली, "फ़िलासफर हो गये हो ?"

"जाने वह किसे कहते हैं। पर शायद मेरी ही तरह उसके हृदय में भी आग-सी भड़कती होगी।"

बानो बोली, "सच है, आग तो भड़कती है, पर वह आग व्यक्तिगत कुंठा या लाभ और हानि से नहीं सच जानने की इच्छा से सुलगती होगी। पिछले दिनों मेरे पास एक पागल ठहरा हुआ था। बिलकुल आधा पागल था, पर जैसे पंडित भी था। चुप रहता था पर मुझे लगता था जैसे उसका रोम-रोम बोल रहा हो। उसने मुझे थोड़ी-सी हिन्दी पढ़ाई थी। संगीत की शास्त्रीय शिक्षा भी उसी ने दी। वह शायद अब इस दुनिया में नहीं है पर मैं उसे··· ।"

"वह क्या अच्छा आदमी था बानो···?"

"नहीं, शायद नहीं था। कभी-कभी कहा करता था कि उसने अपने से प्रेम करने वाली एक औरत को सड़ा-गलाकर मार डाला और रैयत किसानों पर उसने अनेकानेक अत्याचार किये हैं। उसने सम्पत्ति पाने के लिए पाप किये और सम्पत्ति पाई भी पर सब पाकर उसने सब

छोड़ा है और अब··· ।"

छवि हँस पड़ा, बोला, "और अब संन्यासी हो गया है। बानो, सुना ही था पर पा लिया कि स्त्री मूर्ख होती है। वह धूर्त था।"

बानो भी हँस दी। बोली कुछ नहीं। अँधेरा शायद धरती से उठ-उठकर समुद्र में डूबने लगा था। पर फिर जाने कितना अंधेरा और उठा और सारी धरती पर छा गया। बानो ने कहा, "शाम हो गई।" छवि ने मान लिया और दोनों जने कार में बैठ घर की ओर चल दिये।

3

दो-चार दिन दोनों कहीं घूमने नहीं गये। छविनाथ की मनःस्थिति दिन-दिन बिगड़ती जा रही थी। विष खाकर जिस तरह शरीर पहले सुन्न होता है, फिर जलता है और फिर समाप्त हो जाता है, यही दशा छविनाथ के शरीर की थी। पर बानो की दिन-रात की परिचर्या ने और सितार के अनन्त सुरों ने सुलगती आग को थोड़ा शांत किया। उस दिन शायद मंगल था। बानो छवि को दवा देकर अपने किसी और काम से उठ रही थी कि हाथ थाम कर छवि ने कहा, "बैठो।"

बानो ने कहा, "मेरी महफ़िल का समय···"

"ओह, तो जाओ।"

"अच्छा।"

जाती बानो की पीठ पर छविनाथ फिर बोला, "सुनो बानो मैं कल यहाँ से चला जाऊँगा।"

बानो कह गई, "अच्छा, मैं सब इन्तजाम ठीक करा दूँगी।"

"हाँ, मैं इस अधर्म से कमाये पैसे पर और पड़ा नहीं रह सकता ।"

बानो ने शायद आधी ही बात सुनी। वह रुकी नहीं, सीधी चली गई, पर घंटा भी न बीता होगा कि फिर आ खड़ी हुई। आसपास से झाड़कर छवि का बिस्तर ठीक किया। वह आजकल छत पर ही सोता था। सुबह की ठंडी हवा उसे भाने लगी थी। बिस्तर ठीक कर बानो निर्देश के स्वर में बोली, "सो जाओ।"

"मैं कल जाऊँगा।"

"चले जाना, अब सो जाओ।"

छवि न जाने कैसी मुद्रा में बोला, "फिर तुम मुझे रात-दिन रुलाती क्यों हो?"

बानो ने इस बार भी गम्भीर स्वर में ही कहा, "रुलाती हूँ न, सही करती हूँ पर अब कान न खाओ, सो जाओ।"

छवि चुपचाप बच्चों की तरह उठकर बिस्तर में दुबक कर सो रहा। फिर कुछ नहीं बोला। बानो भी तब तक छत पर ही बैठी रही जब तक उसे विश्वास नहीं हो गया कि छवि सो गया है। फिर उठी, उसकी आँखें उस समय भरी गगरी की तरह भीतर-बाहर सब ओर से नम थीं। 'या खुदा, जहाँ भी कहीं हो, पर इतना रहम मुझ पर रखना कि ये मुझ से बिछुड़ न जाएँ, नहीं तो··· ।' बानो आगे सोच नहीं पाई। नीचे उतर गई और एक नौकर को ऊपर भेज वह अपने कमरे में फर्श पर लेट हिचकियें भर-भर कर रोने लगी।

पहले दिन असल में एक दुर्घटना घटी थी। छवि ने बानो को एक पत्र लिखा था। दो लाइनें थीं।

बानो,

मुझे अपनी जाति का बना लो और साथ-ही अपना भी। मैं तुम्हारे बिना अब जी नहीं सकता और हिन्दू धर्म से मेरा विश्वास उठ गया है।

बानो ने पत्र पढ़ा था और तभी से वह अस्त-व्यस्त थी। वह किसी से कुछ नहीं बोली थी। पर स्पष्ट था कि उसके मन पर बहुत वजन था। आज उस का छवि से बोलने का तरीका ही और था। उसे उस पत्र ने सैकड़ों बिच्छुओं के दंश-जैसी पीड़ा दी थी। प्रसन्नता तो लेशमात्र भी नहीं हुई थी। साधारण तौर पर उसे प्रसन्नता होनी चाहिए थी। पर बानो सामान्य नहीं थी। अगले दिन सुबह उठकर वह छवि के पास नहीं पहुँची, नौकर के हाथ ही दवा वगैरह पहुँचवाती रही और तब पहुँची जब छवि ने उसे बुला भेजा। छवि ने पूछा, "बानो, मेरे जाने के प्रबन्ध का क्या रहा ?"

"कहाँ जाओगे ?"

"कहीं भी, वैसे जहाँ तुम भेजो !"

बानो ने कहा, "छवि बाबू, मुझे काम है, जाना चाहती हूँ। पहले निश्चय कर लो कि कहाँ जाना है फिर प्रबन्ध भी कर दूँगी। मैं सोचती हूँ अब तुम्हारा जाना ही ठीक रहेगा।"

कुंठित वाणी से छवि के मुँह से निकल गया, "क्यों, क्यों ठीक है ?"

इस बार बानो रुकी। कई पल तक चुप खडी रही, फिर बोली, "सवाल जरा जानदार नहीं है छवि बाबू कोई यदि आपको घर में न रखना चाहे तो क्यों रहोगे भला, फिर यह पूछना क्या दुस्साहस नहीं है कि घर की मालकिन क्यों निकाल रही हैं। पर मैं तुम्हें निराश नहीं करूँगी। बताऊँगी कि क्यों निकाल रही हूँ। दो दिन हुए तुम्हारी एक पर्ची मिली थी। उससे पता चला कि तुम मुझ से अथाह प्रेम करते हो और मुझे जीवन-साथिन बनाना चाहते हो। उससे बड़ी प्रसन्नता की बात शायद मेरे लिए दूसरी न होती यदि खोलकर यह भी लिख देते कि यह अभिनय कितने दिनों का है। यानी कितने दिनों तक मुझे अपने साथी के रूप में ग्रहण किये रहना चाहते हो। बता दो तो सौदा करूँ छवि बाबू।"

"तुम बानो ···।"

"बाई बानो कहो छवि बाबू ? सोचती हूँ मैं तुम्हें क्या कहूँ, बाई बुरी इसलिए कि वह रोज़ एक नए को स्नेह से देखती है, पर उसके पीछे तो कुछ अर्थ है भी पर उसकी कौन कहे जो निरर्थक ही अपना धर्म छोड़ने को तैयार हो।"

"पर बानो, वह तो तुम्हारी ही खातिर···।"

बानो रो दी, "तो मैं ही हतभागिनी हुई छवि बाबू। तुम्हें जाने-अनजाने पाप की ओर मैंने ही प्रेरित किया। उस पाप का प्रायश्चित क्या तुम्हारे धर्म-शास्त्रों में कहीं नहीं लिखा। छवि बाबू, हिन्दू धर्म से तुम्हारा विश्वास उठ गया है न ? न जाने कितने हज़ार पुराना वह धर्म है, तुम्हारी पीढ़िएँ उसमें स्नान करती आई हैं। उस पर से विश्वास जब तुम्हारा पल दो पल में उठ सकता है तो फिर मुझ पर से उस विश्वास को उठते कितनी देर लगेगी ! छवि बाबू, सोचो कि तुम कहाँ जाओगे ? मैं प्रबन्ध···"

छवि उठ खड़ा हुआ। ऐसे, जैसे सोता बालक गहरी नींद के टूटने से उनींदी पलकों से

उठ खड़ा होता है। बानो की बातों का उसने कोई उत्तर नहीं दिया। बल्कि अपनी ही बात कहकर कि 'घूमने नहीं चलोगी' वह घूमने जाने की तैयारी में लग गया। बानो के मन पर से भी जैसे पत्थर हट गया और वह भी स्वस्थ भाव से कपड़े बदलने को अपने कमरे में घुस गई।

4

कार में घुसते ही छवि ने अपनी कथा प्रारम्भ की—तो मैं शारदा की बात कह रहा था। जिस प्रेस में मुझे नौकरी मिली थी उसके मालिक थे सुधाम पंडित और उनके बड़े बेटे की लड़की का नाम था शारदा। साँवला रंग, बड़ी-बड़ी उज्ज्वल आँखें। पत्थर जैसे खिंचाव वाला शरीर और तेज क़दम कि अब यहाँ तो तब जाने कहाँ। मैं नौकर था, मालिक की लड़की की ओर दृष्टिपात निषिद्ध। फिर भी मैंने चाहा कि ध्यान से देखूँ। पर मालिक के भय से नहीं उस लड़की के गौरवोन्नत मुख और ज्वलन्त रूप-राशि से चकमका कर पलकें अनायास ही झुक जातीं। शारदा की उम्र चौदह साल थी। याद पड़ता है कि वह गन्धर्व-कन्या से कम प्रतीत नहीं होती थी। मैं उससे डरा-डरा रहता। जब कभी वह मेरी मेज के पास आकर रुक जाती तो सुन्नप्राय मैं मेज़ में सिर गड़ा लेता। पर एक दिन वह आगे नहीं बढ़ी। मेज के पास रुककर खड़ी हो गई। मैंने गर्दन और झुका ली। बोली, "छवि जी, कोई ब्लाटिंग आपके पास नहीं है क्या ?"

मैं हकला गया, बोला, "जी···है क्यों नहीं, है तो।"

"तो दो।"

मैंने ब्लाटिंग दिया। उस दिन पहली बार ध्यान से उसे देखा। साहस कर मैंने कहा, "शारदा देवी, आप पढ़ती हैं।"

और कुछ पूछ नहीं पाया। शारदा चली गई। मैं चकित बैठा रहा। सोचता रहा कि कैसा सौन्दर्य है। यह तो प्रसन्नता नहीं देता, चमत्कृत करता है। शारदा फिर कई दिन मेरे पास नहीं आई। पर जिस दिन आई उस दिन फिर एक बार मुझे आश्चर्य-कुंड में डुबो, किनारे हुई। मैं ठगा-सा बैठा सोचता रहा, शारदा का यह कैसा मायावी रूप है। शारदा क्या आदर्श नहीं है ? स्त्री की जो तस्वीरें मन पर बचपन से खिंची थीं, शारदा क्या उनमें से···उनके माथे का कलंक है ? शारदा···!

वह एक सिगरेट-लाइटर लेकर मेरे पास आई थी। मुझ से बोली थी, "छविनाथ जी, यह···यह मुझ पर फालतू है। आप इसे कहीं बेच सकोगे ?"

मैंने सिगरेट-लाइटर अपने हाथ में लिया। उसे ध्यान से देखा। उस पर स्त्री की उघड़ी तस्वीर थी। मैं सकपका गया। लाइटर वापस उसके हाथ में देते हुए बोला, "मैं तो यहाँ क्लर्क हूँ। यह सब करना मेरा काम नहीं है।"

वह व्यंग्य नहीं समझी, फिर बोली, "बिकवा नहीं सकोगे ?"

"नहीं।"

"क्यों नहीं ?"

"इसलिए कि मैंने इस काम के लिए नौकरी नहीं की है।"

"आपको मालूम है ··· ?"

"जी हाँ, सब मालूम है। आपकी जो इच्छा हो कर लीजिए।"

"मैं आपको नौकरी से निकलवा सकती हूँ।"

मैंने हँसकर कहा, "और मैं निकलकर जा सकता हूँ।

उसका वह पहला प्रभाव मेरे मन पर से पल-भर में ही धुलकर साफ हो गया। अब वह मुझे साधारण से भी साधारण लड़की लगने लगी। मेरे इस जवाब के बाद भी वह मेरे सामने बहुत देर तक खड़ी रही। फिर चली गई। मैंने समझ लिया कि आज खैर नहीं। नौकरी तो छूटेगी ही, कहीं किसी और तरह से अपमानित न होना पड़े। पर कुछ नहीं हुआ। तीसरे दिन फिर शारदा डाक से आई मेरी चिट्ठी लेकर पधारी। पास ही प्रेस के मैंनेजर बैठे थे। मैं संकोच से गड़ गया, पर उसे जरा भी संकोच नहीं हुआ। तपाक से बोली, "छविनाथ बाबू, आपकी चिट्ठी है।"

मैंने कहा, "हूँ।"

बोली, "जी हाँ, डाक से आई है। मैंने रिसीव की है। एक्सप्रेस डिलीवरी है।"

इस बार मैं चौंका। मेरी चिट्ठी भला कहाँ से आएगी। घर वालों को तो मैंने किसी दिन यहाँ की सूचना दी नहीं थी। फिर एक्सप्रेस डिलीवरी। मैंने तत्परता से पत्र लिया और खोल डाला। पत्र किसी अनजान व्यक्ति का था। शारदा अभी तक खड़ी थी। मैंने उसकी ओर देखा तो वह धीमे-से मुस्कारा दी। मुझे लगा जैसे बिजली ने मुझे छू दिया हो। सोच रहा था कि मैंनेजर साहब क्या कहेंगे और...यह पत्र...पत्र में लिखा था, 'लाइटर मैंने बेच दिया है, उसके डेढ़ रुपए मिले। तुम्हारे लिए एक निहायत खूबसूरत रूमाल खरीद कर लाई हूँ। उस पर तुम्हारा नाम भी रेशमी धागे से काढ़ दिया है। मंजूर करो तो लाऊँ। पहले ही पूछ लेती हूँ। लाई, और तुमने नहीं लिया तो, या तो तुम नहीं बचोगे या मैं। समझे! उत्तर अभी दो।"

मुझे रोना आने को हुआ। शारदा अभी खड़ी थी। उस राक्षसी का वहाँ खड़े रहना मुझे कितना खल रहा था, यह तो मैं ही जानता हूँ पर किसी तरह उस समय यदि मैंनेजर ही उठकर चले जाते तो...

मैंने धीमे से कहा, "अच्छा।"

"लोगे ना?" मैंने कहा, "हूँ।" साथ ही मैंनेजर की तरफ देखा। वह सब ओर से निर्लिप्त कुछ लिखने में व्यस्त थे। शारदा चली गई। मैंने खुलकर साँस ली। चिट्ठी जेब में रख ली और फिर काम पर लग गया। पर शाम को फिर शारदा ने मुझे स्तम्भित कर दिया। प्रेस की परिधि में ही एक बड़ा-सा पक्का दालान था। घर के बच्चों ने वहीं एक बैडमिन्टन नैट लगा रखा था। शाम को छुट्टी होने पर उस दालान में से गुजरना पड़ता था। उस दिन शाम प्रेस से निकला तो सब खेल रहे थे। शारदा भी थी और उसके बड़े भाई भी। मैं कन्नी काटकर निकल जाना चाहता था। जानता था कि नौकर-मालिक और अस्त-व्यस्त कपड़ों वाले एक जन का अप-टू-डेट दूसरे जन से आँख मिलाकर देखना उचित नहीं है। गर्दन झुकी थी और मन वज़नी था कि तभी शारदा का तीक्ष्ण कंठ स्वर सुन पड़ा—

'गर्दन झुकाकर चलना तो सीख गये छविनाथ जी पर नजरों को सीधी रखना भी सीखिये। ये क्या टेढ़ी-टेढ़ी नजरों से झाँकते जा रहे हो। क्या है यहाँ?' फिर साथ ही बड़े भाई की तरफ मुँह करके बोली, 'इन्हें घूर-घूरकर देखने का रोग है भैया? किसी दिन इनका जरा इलाज कर देना।'

अब कैसे बताऊँ कि कैसे वहाँ से चलकर घर में घुसा। घुसा तो दो दिन तक निकला ही नहीं। सोचा जब नौकरी से निकलना ही है तो खुद ही क्यों न बैठ जाया जाये। पर वैसा संभव नहीं हो सका। तीसरे दिन प्रेस से बुलावा आया। प्रेस में पहुँचा तो सब शान्त था। कहीं किसी बात का कोई जिक्र नहीं था। दोपहर को शारदा आई और चलते-चलते ही कह गई, 'चाचा ने तुमसे माफी माँगने को कहा है, समझे!' और चली गई। मैं चुप बैठा सोचता रहा कि यह माँ से, भाभी से, जसोदा से, तुम से और सत्या से कितनी भिन्न है। उनके लिये कभी भी विश्वास से कहा जा सकता था कि वे इस बात के जवाब में यह कहेंगी, पर इसके बारे में···या, जरा भी तो विश्वसनीय नहीं है। पर सौन्दर्य! ईश्वर का विशेषण 'अनन्त' शायद इस ही सौन्दर्य को देख कर दिया गया है!

छविनाथ अत्यन्त समझदार आदमी की तरह बोल रहा था। बानो जाने क्यों यह देखकर हँस दी। बोली, "बारह को इक्कीस समझना इसे ही कहते हैं।"

"यानी?"

"यानी यह है कि लो, थक गये होगे, सितार सुनो। और वह देखो, नीच बम्बई है और जहाँ तुम खड़े हो वह मालाबार हिल है। यह पार्क नेहरू पार्क है। वह समुन्दर है और उस समुन्दर को अपनी लपेट में लिये हुए वह मैरीन ड्राइव लेटा है। उसे जगाना नहीं है। अजगर की तरह उसे सोते ही रहने देना है। सोते हुए देखते हो उसके माथे पर तैरते वे श्वेत-कण! कामिनियों की साड़ियों के सफेद पल्लू न समझो उन्हें, वे···"

छविनाथ ने बात काटकर हँसते हुए कहा, "तो तुम कवि भी हो?"

बानो ने कहा, "तुम्हारे भगवान के अनन्त सौन्दर्य को सीमा में बाँध रही थी।··· सुनो छवि बाबू, बिजली की इस नीली रोशनी में कैसी लगती हूँ, सबको नहीं, सिर्फ़ तुम्हें?···बोलो, बोलो ना!"

छविनाथ बानो को देखने लगा। वह उसे उस समय शारदा से भी सुन्दर लगी। पल को चुप रहकर बोला, "सच ही बानो, शायद तुम शारदा से भी सुन्दर हो, बहुत सुन्दर। आज तक सोचा ही नहीं था कि तुम इतनी सुन्दर भी लग सकती हो!"

बानो हँस दी, बहुत हँसी। उसके गम्भीर सौन्दर्य की पोट उस उजली हँसी की गर्मी पा जैसे अनायास खुल पड़ी और बिखर गई। छविनाथ चकित हो उसे देखता रहा। कई मिनट बाद बानो बोली, "तुम्हें सब सुन्दर लगता है छवि! तुम बहुत सुन्दर हो। तुम्हारी आँखें बड़ी सुन्दर हैं, तुम्हारा हृदय··· पर ठंड जब तक लड़ाई मोल न ले ले, तब तक घर पहुँच जाना भला है। चलो-चलो, जल्दी चलो। मुझसे अब और रातों को जागा नहीं जाता भई।"

5

दिन चलता रहा, कार चलती रही और कथा भी चलती रही, छविनाथ ने कहा—'ललित मोहन संन्यासी के दो लड़के थे। वानप्रस्थी होने से पहले उनके बड़े बेटे का देहांत हो गया। बड़े बेटे का नाम था। देवधाम पंडित। धर्मात्मा या आदमी था। पर जाने कैसे तीस साल की अवस्था

पार करते-न-करते उसे राजयक्ष्मा ने घेर लिया और बत्तीस पूरे हुए तो देवधाम पंडित अर्थी पर विराजमान हो गये। सुधाम पंडित ने उस दिन घर के किवाड़ नहीं खोले। बाहर निकले तो बताया कि आज उनसे यह सूना घर देखा नहीं जाता। पर उनकी सत्यवादिनी धर्मपत्नी ने सबसे साफ कहा, "क्यों झूठ बोलकर अपना और उनका परलोक बिगाड़ूँ, कई दिनों से उनका मन हलुए-पूरी को कर रहा था। मैंने उस दिन बना दिए। वे तो साधु-पुरुष हैं, मरने-जीने को कहते हैं, सब भगवान की माया है। उसमें भला मनुष्य का क्या बस है, तो सब बड़े चाव से खाया उन्होंने।" सास के मना करने पर कहते हैं उसने सबके सामने तपाक से कहा, "मैं झूठ का पाप अपने सिर नहीं ओढ़ सकती भाई। आखिर यही लोक तो नहीं है, परलोक भी तो है।" अपने पति को उसने क्या जवाब दिया यह तो राम जाने पर फूल चुगे जाने के बाद उसके बदन पर पड़े नीले निशानों ने बात को थोड़ा-बहुत साफ़ किया तो उसने कहानी कुछ और ही तरह बयान की। बोली, "ना सास जी, अपने मरद का इधर-उधर ताँकझाँक करना मुझसे बर्दाश्त नहीं होता।"

कुल मिलाकर यही कि साफ़ कुछ पता नहीं चला। देवधाम पंडित की सब क्रियाएँ समाप्त हुईं। ललितमोहन पंडित वानप्रस्थी बने। सुधाम पंडित ने कारोबार संभाला और तन्मय होकर लक्ष्मी-पूजा करने लगे।

देवधाम पंडित की इकलौती पुत्री का नाम था शारदा। हाँ बानो, वही शारदा जिसका जिक्र पहले कर चुका हूँ।

बानो ने कहा, "यह कथा क्या सच्ची है।"

"हाँ, सच्ची ही तो है। सच वैसे इससे आगे भी है, पर उसे जानने की शक्ति तब मुझमें नहीं थी और यही चोट दे गया। शारदा की और मेरी महीने-भर बाद ही घनिष्टता हो गई थी। उस घनिष्टता में से मैंने जो जाना उसे झुठला नहीं सकता। वह यदा-कदा रोने लगती, कहती, 'छविनाथ जी, तुम नहीं जानते मैं क्या हूँ। तुमने कभी घास का बना पिंजरा देखा है। उस पंछी की बात सोच सकते हो जो उसमें बन्द हो, भूखा हो, पर उसे मनाई हो कि नहीं इस घास को तुम्हें खाना नहीं है। पंछी पूछे—'मैं यह पिंजरे की घास खा लूँ ? कोई उत्तर में उसे दपट दे, 'नहीं' उसी में तो तू बन्द है, और उसे ही खा लेगा, उसे सींच।' पंछी कहे, 'भूखा रहकर भी भला कोई···!' 'हाँ, यही साधना है।' धर्म, कर्म, साधना आराधना मैं नहीं जानती पर जिस ओर ढकेली जा रही हूँ··· '

मैंने कहा, "किस तरफ ढकेली जा रही हो ?"

बोली, "वह कोई रास्ता है, वह··· वह तो···पर तुम क्या जासूस हो, जो मेरी खोज़-खबर लेते फिरते हो। तुम्हें क्या हक़ है मुझसे यह-वह पूछने का ? तुम कौन होते हो ? तुम नौकर होकर···आपनी औक़ात से उठकर···"

वह आगे नहीं बोल सकी, तो मैंने हँसकर कहा, "मैं औकात से उठ नहीं रहा हूँ, गिर रहा हूँ। तुम्हारे साथ बात करने में मेरी मानहानि ही है। क्यों घसीट कर लाया करती हो मुझे ? मैं क्या अपने मन से तुम्हें यहाँ लाता हूँ।"

तो कुंठित हो बोली, "अपने मन से ही क्या सब सभी काम करते हैं। पर तुम यदि मेरे साथ उठना-बैठना नहीं ही चाहते हो तो जाती हूँ। हाँ, जाने से पहले एक बात मुझे अवश्य बता देना कि मन मारने और आदमी मारने में कितना अन्तर है !"

मैं फिर दूर नहीं रह सका। अगली दफा स्वयं उसे बुलाया, क्षमा माँगी और पूछा, "शारदा, तुम इतनी बड़ी हो गई हो पर अभी बच्ची ही नहीं हो क्या ?"

"हाँ, चाचा कहते हैं, बच्ची नहीं रही, खूब बड़ी हो गई है !"

मैंने कहा, "चाचा तुम्हें खूब चाहते हैं न शारदा।"

उस स्वरूप का वर्णन न कर सकूँगा। शारदा बुझकर रह गई, बोली, "तुम कैसे जानते हो ?"

मैंने कहा, "उनकी वाणी का रस क्या मैंने नहीं महसूस किया ?"

"हाँ-हाँ, सच है कि वे मुझे बहुत चाहते हैं।"

उस दिन बात फिर अधूरी रह गई। मैंने फिर कुछ नहीं पूछा। जो पूछना चाहा था, पूछ नहीं पाया। पर अगले दिन पूछा, "शारदा तुम्हें क्या दुःख है बता सकती हो ?"

"नहीं, नहीं बता सकती।"

"खुद जानती हो ?"

शारदा चौंकी, "शायद नहीं।"

मैंने फिर पूछा, "तुम इतनी उम्र में इतनी समझदार कैसे हो गईं, बताओ तो !

इस बार शारदा हँसी, बोली, "समझदार हूँ ?"

"हो तो।"

"तो समझ क्या भगवान की देन नहीं।"

"नहीं, वह आदमी की देन है। वे एक-दूसरे से हिस्सा बाँटते हैं।"

शारदा बहुत हँसी, फिर बोली, "तो तुम भौंदू नहीं हो। मैंने आज तक वैसा ही समझा था। बात सच है छविनाथ जी, मुझे सब समझ मेरे चाचा ने दी है।"

उस दिन से शारदा को जानने-समझने की तीव्र अभिलाषा मन में जगी रहने लगी। प्रेस से दूर एक छोटा-सा कमरा लेकर रहता था। घर दूसरी मंजिल पर था। नीचे के घरों में एक कायस्थ परिवार रहता था। उस घर की एक स्त्री भी मेरे लिए एक खिंचाव बनकर रह गई थी। उसका और शारदा मैं अकसर मुकाबला किया करता। वह शादीशुदा थी, चुप रहती थी और हमेशा काम में लगी दीखती थी। उसकी सास थी जो उसे पीटती थी और उसका पति था जो उसे धुनता था। उसका एक देवर था जो उसे आते-जाते चूंटियाँ भरता था और अकेले में पैर-पर-पैर रखता था। पर वह सदा चुप ही देखी जाती। बोलते उसे कभी किसी ने नहीं देखा था। न रोते, न चिल्लाते। मैं सीढ़ी पर चढ़ते हुए अकसर शायद स्नेह की दृष्टि से उसे देखता और यह सच था कि उन दिनों उसमें एक परिवर्तन आ चला था। वह जाने कहाँ से एक किताब ले आई थी। अकसर उसे खाट पर लेटकर पढ़ती, मैं देखता कि उसका पढ़ना दिखावटी होता। मैं जब ऊपर चढ़ता या नीचे उतरता तो जाने कैसे वह खबर पाकर जीने के आस-पास बर्तन माँजने या पानी भरने आ जाती, मेरी ओर एक बार देखती और फिर काम में लग जाती। उसकी आँखों में न जाने क्या था कि मैं निरन्तर उसकी ओर खिंचता गया। वह वैसे मेरे साथ एक बार भी नहीं बोली। पर उसका विचार मेरे मन-मस्तिष्क में हर घड़ी इस तरह घुमड़ने लगा कि मैं घबरा उठा। घर में देर से आने लगा और शारदा का साथ मेरे लिए अनिवार्य हो उठा।

शारदा मेरी मालकिन थी। घूमने की शौकीन थी। मृत पिता की इकलौती कन्या थी। जब उसकी इच्छा होती चाचा से कहकर मुझे साथ ले चलने की आज्ञा ले लेती। मुझे लगने लगा,

कि प्रेस का अब मैं नौकर रहा ही नहीं हूँ। शारदा का व्यक्तिगत नौकर हूँ। पर मुझे वह नौकरी पसन्द थी और उस तीन-चार महीने के अरसे में जीवन का एक नया अध्याय शुरू हुआ, क्लाइमैक्स तक पहुँचा और अनायास गिरकर, चकनाचूर होकर धूल में मिल गया।

कमरे से उतरते हुए उस दिन नीचे के घर में सिवाय उसके और कोई नहीं था। सास नहीं थी और पति भी नहीं था। वह सामने पतीली रखे उसे चमकाने का प्रयत्न कर रही थी। मैंने उसकी ओर देखा तो धीमे से उसने राख सने हाथों से सिर का पल्लू आगे खिसकाकर कहा, "आज हम मरि जइहौं।"

वाक्य की कोई भी संगति मैं किसी भी ओर जोड़ नहीं पाया और रुककर उस अकेलेपन में उसका अर्थ उससे पूछूँ यह साहस भी अपने भीतर मुझे नहीं मिला। आगे को खिसका तो फिर वही स्वर सुन पड़ा, "अबहिं मरि जइहौं।"

मैं बाहर निकल गया। सोचा, अकेला घर है और औरत की सनक के सिवाय उस वाक्य की कीमत ही और क्या हो सकती है। पर दिन भर प्रेस में वही स्वर कानों में घूमता रहा। मरि जइहौं'। नहीं, वह सब कुछ नहीं। उसके बारे में सुनी और बहुत-सी बातें याद आने लगीं कि वह पागल है, कि वह गूँगी है और उसके बदन पर ज़ेवर तो ज़ेवर माथे पर बिंदिया भी अच्छी नहीं लगती। आज तक उसका सुहाग फला नहीं और सामने के मकान वाले शर्मा जी की तरफ़ देखते उसे शर्म नहीं आती। पहले उनकी तरफ़ ताक-झाँक करती है पर वह देख लेते हैं तो शरमाकर अन्दर भाग जाती है। यह सब उसकी सास मुझसे कहा करती थी और उससे जिक्र न करने का वायदा ले लिया करती थी। एक बार मैंने भी उसे शर्मा जी की ओर देखते देखा था। पर उस दृष्टि मे मुझे स्नेह जरा भी नहीं दीखा था। बल्कि लगा था कि ग्लानि और घृणा से उसका चेहरा काला हो गया है। शर्मा जी प्रौढ़ता को पार कर रहे थे। उनसे प्रेम की बात मुझे अच्छी नहीं लगी थी। पर उस दिन वे सब बातें बार-बार याद करते मेरा मन भी ग्लानि से भर उठा। वह क्या है यह जानने की इच्छा यद्यपि लज्जा का ही विषय है पर जीवन में जो स्त्रियाँ न होकर कहानियाँ हो उन्हें जानना मैं समझता हूँ कि···

बानो ने कहा, "दर्शन छोड़ो, वह मर गई?"

"हाँ, मर ही तो गई।"

"सच मर गई?"

"सबने यही कहा। मैं तो रात के बारह-एक बजे सिनेमा देखकर वापस पहुँचा था। सुना कि फुँक भी चुकी है। मुझे रोना आने को हुआ पर प्रगट में किसी को कुछ नहीं कह पाया। अगले दिन उसके देवर से बात हुई थी। अपनी भाभी की बहुत तारीफ़ कर रहा था। कहता था शर्मा जी की तो वह शक्ल भी नहीं देख पाती थी। उसे देखते ही चौके से उठ जाती थी। मैंने उससे उसके मरने का कारण पूछा तो बोला, "जानने से मन घिन से भर उठेगा। माँ और भैया मिट्टी के बर्तन से सबको पानी पिलाकर सोना पैदा करना चाहते थे और भाभी थी कि···" अगले दिन यही सब बातें शारदा से कहीं, तो पूछा, "कौन जात थे?"

"पुरबिया कायस्थ थे।"

तो हँस दी और बहुत देर तक हँसती रही, फिर कहा, "चलो छविनाथ जी, हम भी कहीं और चलें।"

मैंने मना किया तो बोली, "न चलो, पर मेरे मरने के दिन इसी तरह किवाड़ खोलकर बाहर न निकल जाना, कन्धा अवश्य लगा देना। सच मानो, मुझे भी एक दिन इसी तरह मरना है।"

बानो अब तक धैर्य से सुन रही थीं अब जैसे वह बाँध टूट गया। बोली, "बस करो, घर चलो।"

छविनाथ ने हँसकर कहा, "कहानी कैसी लग रही है ?"

"काश ! यह कहानी ही होती। पर तुम्हारी बात सोचती हूँ, अन्तिम समय उसने पल-दो-पल का स्नेह चाहा, वह भी तुम न दे पाए।"

"इसीलिए तो बदन आज फूल चला है···पर अब चलो, घर ही चलें।"

6

घर आते ही जिसके सामने बानो ने साष्टांग प्रणाम किया उसे पागल ही कहें तो उत्तम होगा। माथा ऊँचा था पर बिखरे बालों ने ढँककर अत्यन्त छोटा कर डाला था। कपड़े फटे-पुराने थे और पेरों की चप्पलों ने घिसकर अब पैरों को घिसना आरम्भ कर दिया था। शायद वह तभी-तभी आया था और दरवाज़े पर खड़ा दुविधा तोड़ने का प्रयत्न कर रहा था। छविनाथ ने उसे ध्यान से देखा। एक धीमा-सा स्मित उसके होठों पर खेल गया। पर बोल वह कुछ नहीं पाया। बानो गद्गद पलकों से उसकी ओर निहार रही थी। दो-चार पल बाद होश में आने पर उसने छविनाथ का हाथ पकड़कर कहा, "छवि बाबू, यही हैं वे, जिनका मैंने तुमसे जिक्र किया था।"

छवि ने मुस्करा कर कहा, "मैं उन्हें जानता हूँ।"

"जानते हो क्या मानी ?"

"मानी यह कि जिस गाँव में इन्होंने जन्म पाया उसी गाँव में मैं बढ़ा-पला और खेला-कूदा। ये ही हैं वे जिन्होंने मेरे विश्वास से बने हृदय में पहली बार अविश्वास और घृणा के बीज बोए और यही हैं जिन्होंने एक अनाथ पगली को भेड़ियों से नुचवाकर मार डाला। तुम्हारी श्रद्धा खरीदने से पहले इन्होंने तुम्हें वह सब नहीं बताया होगा, यानी सहानुभूति और श्रद्धा मोल लेने से पहले यह···"

बात काट कर वह वृद्ध बोले, "तुम···"

"हाँ, मैं आप ही के गाँव की ममतामयी का छोटा बेटा छवि हूँ। पहचाना नहीं आपने ?"

वृद्ध ने कहा, "पहचानता भी कैसे, तुम तब छोटे भी तो कम नहीं थे।"

"उससे भी छोटा होता तो अच्छा था। काश ! मैं रेशमी को जान सकने की बुद्धि न रखता। आपको पता है साधु जी कि रेशमी कैसे मरी ?"

वृद्ध चुप रहे, बोल नहीं पाए, गला रुँध आया। तभी झटके से बानो को याद आया कि सब दरवाज़े पर ही खड़े हैं। वह सब को धकेल कर भीतर ले गई। छविनाथ उस वृद्ध के पास और नहीं रुका। सीधे अपने कमरे में चला गया। वहाँ जाकर उसका रोना कुछ इस क़दर फूटा

कि वह रोक नहीं पाया। खूब रोया, खूब रोया। बानो आई, आकर, देखकर चुपचाप लौट गई। पर शाम को सब के साथ बैठने पर उससे चुप नहीं रहा गया, बोली, "छवि बाबू, रोए क्यों थे ?"

छवि ने कहा, "कब-कब कोई रो पाता है। रोना बड़े भाग्य की बात है बानो ! मुझे क्षमा करो तुम्हारे श्रद्धापात्र का अपमान करने की इच्छा मेरी जरा भी नहीं थी, पर तब भावावेश··· रेशमी को तुमने नहीं देखा बानो, रेशमी निश्चय ही समूर्त पीड़ा थी। उसे भेड़ियों ने चबा-चबाकर खा डाला था और इन्हीं के कारण। ये साक्षी हैं, पूछ सकती हो।"

बानो चुप रही, पर वृद्ध ने कहा, "मैं उसका प्रायश्चित···"

छवि भड़क उठा, "प्रायश्चित से किसी के गए प्राण वापस नहीं आते, पटवारी जी। रेशमी ने जो मरते समय भोगा है उसे आप लाख प्रायश्चित से भी अनहुआ नहीं कर सकते···बचपन का एक दोस्त याद आता है। नाम जितेन था। इतना मासूम कि सुबह की धूप की तरह ! इकलौती माँ का इकलौता बेटा। माँ ग़रीब थी। साबुन बनाकर अपना गुजर-बसर किया करती थी। उसके सभी सगे-सम्बन्धी लाखों के कारोबार के मालिक थे पर वह प्रौढ़ा स्वाभिमान में अकेली ही जी रही थी। बेटे को भी उन्होंने अपने ही जैसा स्वाभिमानी चाहा था। पर एक दिन उन्हें बेटे की जेब से इकन्नी मिली। समझा कि कहीं से माँगकर लाया है। उसे खूब मारा। इतना मारा कि लहूलुहान हो गया। खाना नहीं दिया और स्वयं खाकर सो रही। सुबह सबने सुना कि उसकी गोद में बेटे का मृत शरीर है। उसने कॉस्टिक सोडा खाकर प्राण दे डाले हैं। कॉस्टिक सोडा खाने की उसे मनाही थी। बताया गया था कि इसे खाने से आदमी मर जाता है। स्वाभिमानी होना उसके खून में था। माँ को मैंने प्रायश्चित करते देखा था। पलंग के पाए से सिर पटक-पटककर उसने अपने को लहूलुहान कर लिया था। कहती थी, 'मरना ही था तो मर जाता पर खाना खाकर तो मरता। तेरा खाना···मैंने रात भी खाया था।' बेटा उठ गया और माँ पड़ गई। इकन्नी का रहस्य पता चला कि किसी बदमाश लड़के ने उसे दही-बड़े खाने को दिये थे। दही-बड़े खाने का जितेन को बडा लालच था। अपने पूरे जीवन में वह कभी···पैसा रोज़ मिलता था और दही-बड़ा आता था एक आने का।···बानो फिर जानती हो क्या हुआ ? जितेन की माँ ने भयानक प्रायश्चित किया, पर जितेन नहीं आया। भूखों मरी, पर जितेन नहीं आया। बीमार रही, पर जितेन नहीं ही आया। मैं उसके पास अकसर जाया करता। एक दिन बुरी हालत देखी। बीमारी और भूख ने उसे पिंजर कर डाला था। किसी ने उसकी देखभाल नहीं की। मरने में कुछ ही दिन बाकी थे कि मुझ से बोली, "छवि, अपनी माँ से एक रुपया ला सकोगे ?"

मैंने पूछा, "क्यों ?"

बोली, "मरने ही वाली हूँ शायद। उससे पहले एक बार भरपेट भोजन करना चाहती हूँ।" मैं घर चल पड़ा। उसे कुछ जवाब नहीं दिया। रास्ते भर सोचता चलता था कि रुपये का क्या होगा। राह चलते में बाज़ार पडे। सराफा बाजार, कपड़े का बाज़ार और किराना बाज़ार। लाखों रुपये जैसे हवा में उड़ रहे हों। मुझे दीखा कि रुपया वैसे यहाँ से भी आ सकता है। एक रुपया, इतने रुपयों में से एक। पर बच्चा था। उतना साहस नहीं था, नहीं तो उसकी अन्तिम इच्छा पूरी करने के लिए मैं कुछ भी कर डालता। मॉं के पास पहुँचा। एक रुपया मांगा। माँ ने मुझे दपटा। मैंने कहा, 'रुपया अवश्य चाहिए।' तो पूछा, 'पर क्यों ?' मैंने सब बातें बताईं।

माँ तुरन्त डाक्टर के पास पहुँची। जितेन की माँ लम्बी साँसें ले रही थी। मैंने कहा, 'मेरी माँ हैं।' नमस्कार हुआ। डॉक्टर 'मौत ही आखिरी दवा है' कहकर चला गया। फीस ले गया। जितेन की माँ के घर को माँ ने एक बार फिर व्यवस्थित किया। उसे साबू खिलाया। वह भी वह हज़म न कर सकी। कोई दो घंटे बाद मर गई। मरने से कुछ ही देर पहले माँ से बोली, "तुम्हारे तो दो बेटे हैं ना?"

माँ ने सहमति में गर्दन हिला दी।

बोली, "एक मुझे दे दो।"

माँ ने हँसकर कहा, "ले लो। दोनों ही आपके हैं।"

"ना, दो नहीं एक। छवि।"

माँ ने सहमति दे दी। तो फिर जैसे हमसे नहीं किसी और से बोली, "जितेन नहीं आया, मैंने उसके लिए क्या-क्या नहीं किया पर वह नहीं आया। छवि की माँ, वह नहीं आया। मेरा स्वाभिमान, मेरा दर्प, मेरा अहंकार सब उसी से तो था। पर एक छोटी-सी गलती पर लड़के के स्वाभिमान की हद तो देखो कि प्रायश्चित के तौर पर जो भी हो सकता था मैंने किया पर वह नहीं आया···मुझे छवि को दे दो। यह मेरा हुआ। मेरा दाह-संस्कार वही करे। घर का यह सारा सामान उसके बाद बेच दे। उससे उसे इकन्नी मिलेगी। उससे वह एक दही-बड़ा, मेरी तरफ़ से खा ले···छवि की माँ, मेरी तरफ़ से। छविनाथ···दही-बड़ा···जितेन, मेरा जितेन!" और वह मर गई। मरने को कौन नहीं मर जाता। शारदा मर गई तभी किसी ने क्या कर लिया। जितेन की माँ का दाह-संस्कार मैंने किया था। उसकी चिता के पास खड़े होकर मुझे लगा था जैसे वह अब भी प्रायश्चित में जल रही है पर जितेन मुझे याद है फिर कभी नहीं दीखा। रेशमी भी नहीं दीखी। शारदा भी नहीं दीखी। हाँ, उनके मारने वाले दीखते हैं और प्रायश्चित में ही दीखते हैं।"

कहकर छविनाथ चुप हो गया। उसका अंग-अंग उस समय बेकाबू हुआ जा रहा था। वृद्ध की आँखों में आँसू थे। बानो निस्तब्ध थी कि छवि फिर बोला, "रोना किसे नहीं आता। पर रोना वही जो क्लेश में से निकले, ढोंगी मन से रोना भी क्या···?"

"रोने के सिवाय अब और कर भी तो कुछ नहीं सकता छवि!"

"रोना फ़ायदेमन्द चीज़ है इसीलिये रोते हो? क़सूर मानने से लोग सत्यवादी समझेंगे, इसीलिये मानते हो और कुभेष में रहते हो कि लोग साधु समझें, विरक्त समझें पर निश्चय ही तुम या तो ढोंगी हो या तुम्हारे पाप का भूत तुम्हारे सिर है और रेशमी के कोप से ऐसे हुए फिरते हो। पर छोड़ो, बानो तुम्हारी शिष्या है और मैं अनधिकृत हूँ, चलता हूँ, फिर मिलूँगा। मुझे बानो की समस्या तक पहुँचना है। बानो ने मेरी इतनी सेवा क्यों की, यह जानना चाहता हूँ। इसलिए अपनी पूरी कहानी उसके सामने दुहरा दूँ, शायद उसी में से हल मिल जाये।"

7

रात हो गई थी। सूनी छत पर अकेला छवि अपनी चारपाई पर लेटा था। आँखों में नींद नहीं थी। जाने क्या-क्या आमने-सामने छितरा पड़ा था कि तभी बानो ने किसी एक कोने में छिपकर

सितार के तारों को छेड़ दिया। चाँदनी ने बिखर कर रात के दामन को उजला कर दिया था। सितार के स्वरों ने उस उजाले को और भी माँजा, धोया और चमका दिया। छविनाथ ने करवट ली। पर उस पर सितार का प्रभाव उल्टा ही पड़ा। लगा जैसे वह जला जा रहा है। निराली अग्नि थी। छविनाथ का समूचा शरीर उस भयानक अग्नि की लपटों में जल रहा था। उसने घुटे गले से कहा, "कहाँ हो बानो, यह सब बन्द करा भाई।"

सितार बन्द हो गया। बानो पास आई। बोली, "यह कैसा स्वर है छवि, यह इतनी थकान क्यों ?"

"मरना चाहता हूँ।"

"पर मरने देगा कौन ?"

"कौन रोकेगा ?"

"मैं।"

"उस धूर्त्त की पुजारिन।"

"वे चले गए।"

"उसकी पुजारिन तो है।"

"हाँ, यह तो है और तुम्हारे पाँयते है। देखो न छवि, तुम उसे धूर्त्त इसीलिए तो कहते हो कि उसने रेशमी को कष्ट दिया। पर तुमने क्या किसी को कष्ट नहीं दिया ?"

"उसके लिए मैं पायश्चित का ढोंग रचना नहीं चाहता, दण्ड चाहता हूँ।"

"उससे किसी के गए प्राण वापस नहीं आ सकते हैं ?"

छविनाथ को चुप होना पड़ा।

बानो ही फिर बोली, "सबका अपना-अपना तरीका है छवि, गलती सुधारने का। तुम जानते हो जिस दिन मुझे छोड़कर तुम अस्पताल से चले आये थे, नमस्ते भी नहीं की थी, मैं जान गई थी कि कितने गहरे अपराध की यह प्रतिक्रिया है। वह काँटा आज तक गले में अटका है। उसे मैं किसी दिन निगल नहीं पाई, न ही निकाल पाई! उस अपराध का तुम जानते हो मैंने क्या रास्ता निकाला था। तुम्हारी तस्वीर मैंने बनवाई थी। उसके नीचे अपनी तस्वीर जोड़ दी थी। एक व्यक्ति मुड़कर जाता होता है, दूसरी कहती होती है कि, 'मैं अपराधिनी हूँ, मुझे क्षमा करो,' उसके नीचे यही वाक्य लिखवा दिया था। उसे अपने सोने के कमरे में मैंने लगवा रखा है। उससे मुझे शान्ति मिलती है। मेरा प्रायश्चित करने का अपना यह अलग ही तरीका है। तुम इसे कुछ भी कहो, मैं…"

बानो ने देखा कि छवि सो चुका है। जाने पूरी बात सूनी है कि नहीं पर बानो को शान्ति मिली। वह समझ गई कि मरहम सही रहा। वह खुले मन से नीचे उतरी। आज उसने विशेष दृष्टि से उस तस्वीर को देखा, उतारा और पल्लू से झाड़कर फिर से टाँग दिया। फिर सो गई। देर से उठी। उठते ही छवि के पास पहुँच कर कहा, "छवि बाबू, कथा ?"

"इतनी सुबह ?"

"हाँ।"

"क्यों भला ?"

"वह बताने की बात नहीं।"

"फिर मैं ही क्यों सुनाऊँ ?"

बानो हँसी, बोली, "एक हिरण को एक दिन एक मोर ने काट लिया। मोर बहुत जहरीला था। हिरण चक्कर खा गया। पर तभी कहीं से आकर एक गोली उसे लगी, उचटी-उचटी, पर खून काफ़ी बहा। हिरण मरा नहीं, बच गया। सारा जहर खून के जरिये बह गया। समझे!"

छवि हँस पड़ा, "मुझे मोर ने नहीं मोरनी ने काटा था। पर आज तुम बैठो। काफ़ी सुना होगा। खाना-पीना और सब कुछ यहीं आएगा। समझीं।"

और छवि ने फिर कहानी कहना शुरू कर दिया— तो शारदा की कहानी मैं थोड़े ही समाप्त करूँ। उस दिन शायद इतिवार था। छुट्टी थी। कि उसका नौकर मुझे बुलाने आया। मैंने कहा—"आज नहीं आ सकूँगा।"

नौकर ने कहा, "आज तो उन्हें आप से बहुत ज़रूरी काम है।"

"मानी?"

"मानी नहीं जानता बाबू। बाहर चौराहे पर खड़ी हैं। खुद ही समझ लीजिये। आपको आना है, यह उन्होंने कहा है।"

मैं पहुँचा। शारदा वहीं खड़ी थी। निराले शृंगार में थी। उतना सुन्दर मैंने उसे कभी नहीं देखा। कपड़ों की हर सिलवट झिलमिल-झिलमिल कर रही थी। चेहरे पर बारीक-सी पतरी क्रीम की थी और आँखों के काजल ने झुककर गालों के चिकनेपन को खुरदुरा बना रखा था। वह दिन यदि इतिवार न होता तो जाने कितनी नजरें शारदा पर गिरकर टूटतीं। वैसे उस समय भी लोग उसी की ओर देखे जा रहे थे। पर वह जाने कहाँ थी। मुझे देखा तो हँसी। हँसी का फीकापन चारों ओर फैल गया। मैंने कहा, "शारदा हो?"

"नहीं तो क्या, आँखें चुँधियाती हैं न? रूप-रंग क्या मेरा लौकिक है।"

मैंने कहा, "न सही, पर हुक्म?"

"मेरे साथ दरिया तक चलना होगा।"

"न चलने पर?"

"माफ़ी आज बिन माँगे ही मिल जाएगी।"

मैं चुप रह गया। कुछ उत्तर न बन पड़ा। फिर वही बोली, "सड़क पर कुछ कहना नहीं हो सकता छविनाथ। मैं जानती हूँ कि आज तक तुम्हें पल-भर के लिये प्रेम नहीं किया पर आज तुम्हारे बिना हृदय टूक-टूक हुआ जा रहा है। जीवन के प्रति जो विश्वास अपनी अन्तिम साँसें, कहीं भीतरी कोने में बैठा गिन रहा था आज टूटकर बिखर गया। पुनीत प्रेम की इस प्रथम शुभ घड़ी में तुम्हें मेरी यह प्रार्थना सुननी ही होगी। मेरे साथ चलो।"

मैंन चुप रहा।

तो आँखें भर लाई, रुँधे कण्ठ से बोली, "चलोगे नहीं?"

"चलूँगा। पर सुनो, खिलौने से यदि और भी खेलना हो तो आज ही शहर छोड़कर चला जाऊँ?"

"मैं रो दूँगी छवि तो तमाशा होगा। पहले चलो, फिर गालियाँ दे लेना। कोस लेना या चाहो तो मार भी लेना। पहले यहाँ से चलो।"

मैं चला। दरिया किनारे पहुँचे। तब तक वह एकदम शान्त हो गई थी। मन में जो उबाल था वह शान्त हो गया था। अब वह हँस-हँसकर बातें कर रही थी। उसका चांचल्य जैसे लौट आया था, बोली, "मैं आज बहुत खुश हूँ।"

मैं चुप बना रहा।

"मेरी खुशी में तुम खुश नहीं हो ?"

मैंने कहा, "हूँ।"

बोली, "नहीं हो, सुनो, आज चाचा ने मुझे बहुत प्यार किया, मुझे गले लगाया मुझे चूमा, मुझे···मैं आज बहुत खुश हूँ।"

बिजली के करेंट के साथ जैसे कुछ मेरे भीतर आया और तेजी से चला गया। मैंने एक लम्बी साँस ली। अपने मन की कालिख को हटाकर दूर किया.। मन-ही-मन कहा, 'नहीं वैसा नहीं हो सकता।' शारदा से कहा, "तो यह तो उनका अधिकार है, चाचा पिता समान होते हैं औरै तुम उनके सामने बच्ची ही तो हो।"

"पर उन्होंने आज मुझसे कहा, 'कितनी बड़ी हो गई हो तुम, कितनी सुन्दर कितनी आकर्षक, कितनी लावण्यमयी, कितनी मस्त, कितनी स्वस्थ, कितनी···"

मैंने चीखकर कहा, "चुप भी करो शारदा, यह क्या बकवास···"

वह शान्ति से बोली, "उन्होंने कहा, 'आ मैं आज तुझे सम्बल दूँ, सहारा दूँ" आज पहली बार मैंने जाना कि चाचा पिता के सामन नहीं होते और छवि बाबू, क्या पिता भी चाचा समान हो सकते हैं ? मैंने आज यह सुन्दर कपड़े इसलिए पहने थे कि कहीं जाकर आज खूब गाऊँगी और तुम साथ होगे। तुम मुझसे कुछ बड़े हो। मैं तुम्हारे साथ कितने दिनों कहाँ-कहाँ नहीं घूमी पर किसी दिन भी मुझे तुम से डर नहीं लगा। पर आज तक चाचा से जाने क्यों डरती आई थी। आज डर पूरा हुआ और छवि बाबू, तुम्हें मेरे इन सुन्दर कपड़ों की सिलवटें नजर नहीं आतीं ? इनमें कालिख भरी है। छवि, आज मैं बहुत खुश हूँ, बहुत खुश···मुझे चाचा ने कहाँ-कहाँ नहीं घुमाया, उन्होंने मुझ से कहा, 'छवि काम का लड़का है, उसे नाराज न करना।' मैंने कहा, 'वह मेरा नौकर है।' बोले, 'सब समान हैं दुनिया में, कोई छोटा-वड़ा नहीं।' मैंने तुम्हारा अपमान किया तो उन्होंने मुझे डाँटा, शायद मारते भी यदि बाबा बीच में न आ जाते। फिर मैंने तुमसे मॉफी मॉगी, तो सारा शरीर जैसे जल उठा। पर मुझे धीमे-धीमे शायद तुमसे स्नेह-सा कुछ हो गया···सुनो छवि बाबू, मैंने सुना है, तुम ड्रामे भी लिख लेते हो ?"

मैंने कहा, "कभी-कभी—शायद कोशिश करता हूँ।"

"छवि बाबू, तुम मुझ से प्रेम करते हो न ?"

"सोचकर कह सकता हूँ।"

"अच्छा छोड़ो, नहीं भी सही। चाचा से कहो कि उम्र-भर तुम्हें ड्रामे लिख कर दूँगा। तुम छपवाना और पैसा कमाना, मैं तुमसे एक पैसा नहीं लूँगा। बस चालीस रुपए महीने देते रहना। कह सकोगे एक अनजान अनाथ लड़की के लिए, इतना-सा त्याग कर सकोगे ?"

मैंने सहर्ष कहा, "कर सकूँगा।"

"मेरे लिए तमाम उम्र झूठ बोलोगे ?"

"मुझे उससे खुशी होगी।"

शारदा ने कहा, "डूबकर नहीं मर सकोगे ?"

मैंने उसकी ओर अभिभूत दृष्टि से देखा और देखता रहा।

तीव्र स्वर में वही फिर बोली, "छवि बाबू, तुमने छीना-झपटी नहीं की। इससे तुम्हारे प्रति शायद एक विश्वास लिए फिरती थी। पर लगता है कि मन में कुछ गहरा लिए फिरते हो। मुझे

ब्याहने का इरादा है क्या कि उम्र-भर पाप करोगे मेरे लिए। तुम्हारी इस बात से कितनी गहरी चोट मुझे लगी है, तुम्हें बता नहीं सकती पर सच है कि चाचा ने जो आज अंधेरे कमरे में किया तुमने धूप के उजाले में कर डाला। तो क्या दुनिया कोई भी विश्वसनीय नहीं ? क्या आदमी की जाति निश्चय ही भेड़ियों की जाति से मिलती-जुलती है, क्या···"

शारदा उठकर चली आई। फिर हफ़्तों उससे मुलाक़ात नहीं हुई। एक दिन एक पत्र मिला, लिखा था, "छवि बाबू, तुम यहाँ से चले जाओ तो अच्छा है। मैंने पेट में कुछ पाल लिया है। वह किसका है मुझे और तुम्हें मालूम है पर चाचा को पता लगते ही वह किसका साबित किया जाएगा वह तुम न समझो, मैं समझ सकती हूँ। तुम जाओ। यह मेरा अनुराध है।"

मैं न जा सका। चाचा को सब पता चला। पर शारदा का अनुमान ग़लत निकला। उन्होंने मुझे जरा भी दोष नहीं दिया। शारदा से जड़ी-बूटियाँ खाने का अनुरोध किया। उसने इनकार किया तो जाने कैसे छिपकली उसकी सब्ज़ी में गिर पड़ी और सबसे अधिक भूखी क्योंकि शारदा ही थी, खाने बैठते ही लुढ़क गई। शारदा मर गई। सारा घर शोक-सागर में डूबने-उतरने लगा। मृत पिता की इकलौती कन्या भी जाती रही। दु:ख किसे न होता। उधर पुलिस ने लाश का पोस्टमार्टम करना चाहा, तो घर में रोहारुहाट मच गया कि 'हाय रे, धर्म-पुत्रों (ब्राह्मणों) की कन्याएँ क्या अब कट-गल कर फुँका करेंगी'। फिर जाने कैसे सब शान्त हो गया। शारदा फुँक गई। उस दिन प्रेस में किसी ने काम नहीं किया। मैं भी प्रेस से निकल आया। सन्तोष था तो यही कि शारदा की अर्थी को कंधा दिया था। उस दिन बचकर भाग नहीं सका था। पर काश, भाग सकता और शारदा को जलते हुए न देखना पड़ता। काश ! ऐसा हो सकता।

8

"शारदा के मरने के बाद और भी बहुत-सी बातें पता लगीं, उनके यहाँ की सब किताबें उनकी लिखी हुई नहीं हैं, किसी 'पेड' नौकर की हैं और कि ललित मोहन पल्ले दरज़े के··पर नहीं, वह सब छोड़ो। वहाँ रहने का आकर्षण समाप्त हो गया था। पल छिन मन वहाँ से भागना चाहने लगा और एक दिन भाग आया। उनके कुछ रुपए भी मेरी तरफ थे पर मैं खुद को बेईमान समझ ही नहीं पाया। दूसरे शहर जाकर रहने लगा और शारदा को भूलने की चेष्टा करने लगा। पर बानो, शारदा को भूलना क्या आसान था ? मनुष्य के बस की बात थी ? बानो, मैं उसे आज तक भूल नहीं पाया हूँ।"

बानो ने फिर पूछा, "छवि, क्या सच ही यह सब सच है ?"

छवि ने बुरा नहीं माना। कहा, "बानो, सच है या नहीं यह तो नहीं जानता पर इतना जानता हूँ कि झूठ नहीं है। तुम्हारे इस पूछने का सही अर्थ नहीं समझ पाता। शायद तुम्हारा मतलब 'घटना का सत्य अन्तिम नहीं होता' इस वाक्य को दोहराने से है। पर क्या यह केवल घटना का सत्य है ? इससे आगे मैं सोच ही नहीं पाया हूँ। हो सकता है कि इसके नीचे भी कोई पर्त हो, पर क्या वास्तव में केवल उसके लिए मैं शारदा की मृत्यु भूल जाऊँ। भूल जाऊँ कि वह मरी नहीं, मारी गई है और भूल जाऊँ कि और भी अनेकों ऐसी हैं जिन्हें इसी मौत मरना होता है।"

"छवि बाबू, शारदा का दोष क्या जरा भी नहीं था।"

"था क्यों नहीं, यही था कि उसके पर कटे हुए नहीं थे, वह स्वच्छन्द थी और इसीलिए उस पर शिकारी की नजर पड़ी कि वह उन्मुक्त आकाश में उन्मुक्त भाव से उड़ सकती थी और उड़ती हुई सुन्दर लगती थी।"

"पर तुमने जो सुनाया है वह तो यह नहीं है। उसके पर शिकारी ने केवल इसलिए बाँध रखे थे कि उन्हें दिखा-दिखाकर वह पैसा ठगे और एक दिन जब उसके परों की चिकनाहट पर वह खुद फिसल गया, पिंजरे की चिड़िया दागी हुई, तो इस भय से कि कहीं चोरी पकड़ी न जाये उसने उस चिड़िया का गला दबा दिया। तुम कहते हो उसे शिकार का शौक़ था पर यह तो साबित नहीं होता तुम्हारी कहानी से।"

छवि की आँखें भीतर को धँस गईं। बोला, "बानो रानी ने अभी दुनिया नहीं देखी। अर्थ-पिपासा आदमी में छेद कर देती है। पिपासा फिर अर्थ के बन्धन से मुक्त हो जाती है। वह केवल पिपासा होकर सब दिशाओं में उन्मुक्त भाव से बहती है। सुधाम पंडित पैसे के प्रेमी थे। उन्होंने शारदा को आगे बढ़ाया और पैसे को समेट-समेटकर पीछे करने लगे। शारदा की उपयोगिता उन्होंने देखी। वह उन्हें अच्छी लगी। एक दिन वह साधारण रूप में अच्छी लगी और वह बह गये। पर परिणाम दीखा तो घबरा उठे। सारी सम्पदा उन्हें हाथ से जाती दीखी और उन्होंने उसे मार दिया। शिकारी वे मुर्गी के नहीं थे, सोने के अंडों के थे। शारदा तो एक दिन राह थी, उस पर वे चले; फिर पेड़ की छाँव बनी, वे उसके नीचे पल को बैठे; पर तत्काल ही वह उन्हें रास्ते का काँटा लगी तो उन्होंने उसे चूँट कर फेंक दिया। उनका सम्मान आज भी अक्षुण्ण है। सम्मान से उन्हें सम्पत्ति मिलती है, जो अपार है और उत्तरोत्तर वृद्धि कर रही है। सम्पत्ति से हर वस्तु मिलती है, यही उनका विश्वास है, जिसके आधार पर वह जीवित हैं। सुबह को वे धर्म की जय बोलते हैं, दोपहर को वे लक्ष्मी की जय बोलते हैं और रात को सुन्दरी की। क्यों बानो, इतना संतुलित जीवन तुमने कहीं देखा है ?"

बानो बोल नहीं सकी। सूरज चढ़ रहा था। शायद ग्यारह बज चुके थे। खाना दोनों ने खाया और फिर बातों में लग गये। बातें भी जाने कहाँ-कहाँ की थीं, कुछ यहाँ की, कुछ वहाँ की, पर एक प्रश्न पर बानो ने चौंककर छवि की तरफ़ देखा और तत्काल वह वहाँ सें उठकर चली गई। बानो का चेहरा पीला पड़ गया था। उससे नजर उठाकर छवि की ओर देखा भी नहीं गया। प्रश्न था, "बानो, क्या तुमने कभी अपने को पैसे की भेंट नहीं किया। क्या तुम कभी नहीं बिकीं ?"

बानो चली गई। छविनाथ ने करवट बदली और सोने की चेष्टा करने लगा। लगा कि अपनी इस धृष्टता का उसे जरा भी दुःख नहीं हुआ। वह तो सोच रहा था कि पैसे के लिए कौन नहीं बिकता। किसी-न-किसी रूप में सभी बिकते हैं। तब क्या पैसा ही सबसे बड़ा है, अन्तिम सत्य है और सब झूठ है। सब सिर्फ झूठ है।

तीन दिन बाद बानो के दर्शन हुए। छवि ने भी उसे नहीं बुलाया। न कहीं भागने की चेष्टा की और जिस दिन वह पहुँची उस दिन भी उसने उसे मुस्कराहट के साथ ही ग्रहण किया। शान्त, तरल मुस्कराहट के साथ, जिसमें स्नेह भी था और लालसा भी। कहा, "आ गई ?"

"हाँ, उत्तर देने आई हूँ।"

"दो।"

बानो ने अपनी बड़ी-बड़ी आँखें छवि पर टिका दीं, बोली, "एक बार प्रश्न फिर से दुहरा दो।"

छवि निरुद्विग्न था, निस्संकोच भाव से कहा, "बानो बाई कितनी बार बिकीं, यही तो पूछना चाहता था।"

बानो एक बार फिर सिहरी। फिर संयत हो कहा, "रोज़ ही तो बिकती हूँ।"

"यानी।"

"मैं न सही, मेरी छवि बिकती है। बिकना नहीं है क्या वह ?"

"बिकना है सही, पर···"

"पर क्या ? वेश्या ने कहा 'ले मुझे खरीद'; सफलता की आशा में खरीदार ने कुछ 'एडवान्स' दे डाला। इसे क्या बिकना नहीं कहते ?"

छवि सकुचा गया। जाने क्यों छवि को यह विश्वास था कि बानो एकदम गंगाजल की तरह पवित्र है। इसलिए उसे यह पूछते तनिक भी संकोच नहीं लग रहा था, पर इतने बड़े तर्क के सामने उससे बोलते न बना। वह तो चुप रहा, पर बानो ने फिर कहा, "और मैं बेईमान भी हूँ, सबके 'एडवान्स' खाकर बैठ जाती हूँ। उन्हें रसीद तक नहीं देती। पर सोचना है कि मुझे बेचने वाला कौन है, बिकवाने वाला कौन है, तुम ही नहीं हो क्या ? क्यों, नहीं हो ?"

छवि ने कहा, "बौखला गई हो !"

बानो हँस दी और हल्की हुई। बोली, "नहीं, बौखलाई नहीं हूँ।"

"तो यह सच है ?"

"सौ फीसदी सच है।"

"कैसे भला !"

बानो पल को चुप रही, फिर बोली, "बस, शायद यही बताना मुश्किल है। छवि बाबू, स्त्री पहली बार तब बिकती है जब किसी की स्नेहपूर्ण दृष्टि उसके तन मन को आच्छादित कर लेती है। तब वह कुछ लेती है, कुछ देती है; पर कम-से-कम वह पैसा नहीं होता। पर दूसरी बार जब वह बिकती है तब वह उस स्नेह-धूप से वंचित हो चुकी होती है, किन्हीं भी कारणों से। तब बस उसके पास देने को कुछ नहीं होता। केवल लेने-ही-लेने को होता है। उसको मान्यता होती है कि जो भी दे सकती थी दे चुकी। अब जितना ले सकते हो लो, लिये चलो। जो वह देती है वह भी उसका अपना नहीं होता, उस निर्मम पुरुष का ही समझ कर वह दिया करती है। वह स्वयं भी अपनी नहीं होती। इस नाते छवि बाबू, बेचने वाले भी तुम और खरीदने वाले भी तुम···पैसे को बीच में घसीटकर क्यों गंदा करते हो, वह बुरी चीज़ नहीं है।"

छवि उठ बैठा, बोला, "तुम्हें स्नेह से किसने वंचित किया था बानो ?"

"तुमने।"

"मन से यही सब साक्षियों के सामने कह सकोगी ?"

"नहीं क्यों। तुम स्वयं समझो। समझोगे ?"

छवि चुप हो रहा तो फिर बोली, "तुमने मुझे पहले-पहल खरीदा था, फिर गहनों के लिए छोड़ दिया। अब मैं नहीं बिकती, मेरी छवि नहीं बिकती, छवि की छवि बिकती है।"

छवि चुप बना रहा।

बानो ही फिर बोली, "और सुनो छवि बाबू, तुम कहोगे कि मैंने ज़िद की, पर तब मैं रही कहाँ थी। 'तुम्हारी बानो' थी, उसकी ज़िम्मेदारी सब, क्या तुम पर ही नहीं थी ?"

छवि फिर भी चुप ही बना रहा। वह चुप था, एकदम चुप!

बानो ने कहा, "मैंने राह गलत ली थी तो तुमने मेरी इच्छा को रोक दिया होता।"

छवि ने मुँह मोड़ लिया।

बानो ने दंश दिया, "छवि बाबू, वह मुझ पर बलात्कार नहीं होता। अपना प्राप्य पाना, जैसे भी हो, बलात्कार नहीं है। तुमने मुझे नष्ट-भ्रष्ट किया और आज स्वयं जीवन को ठोकरों से ठुकराते हुए चल रहे हो। तुम स्वयं इस सबके उत्तरदायी हो। दूसरा कोई नहीं।"

इस बार छवि चुप नहीं रह सका। दोनों नेत्रों को अस्वाभाविक रूप में विस्फारित कर स्वर को सप्तम पर ला वह गुर्राया, "तुम जाओ, यहाँ से चली जाओ, इसी दम चली जाओ।"

पर तभी जाने कहाँ से दो बूँद आँसू उसके गले में अटके। आग बुझ गई। वह अपने बिस्तर में गुड़ी-मुड़ी हो फूट-फूटकर रोने लगा। बानो कुछ देर देखती रही। फिर चुपचाप उठकर चली गई।

दो दिन फिर सूने बीते। पर तीसरे दिन फैसला घूमने जाने के पक्ष में हुआ और दोनों कार निकाल घूमने निकल पड़े।

9

कहानी ने एक और करवट ली।

"जहाँ जाकर रुका वह पुण्यतीर्थ था। नाम न ही कहा जाये तो भला है, क्योंकि भारत में जहाँ पुण्यतीर्थों का अभाव नहीं है वहीं आदमियों की श्रद्धा भी इतनी कम नहीं है, जिसे तोड़ा जा सके। उस पुण्यतीर्थ को निश्चय ही अन्य सब तीर्थों को पछाड़ने के लिए मैदान में निस्संकोच छोड़ा जा सकता है। वहाँ मैंने यात्रियों को सड़क की नालियों का पानी केवल इसलिए पीते देखा कि अमुक तीर्थ की नाली का पानी है। पीने से पुण्य-लाभ होगा। पर उस तीर्थ की कहानी..."

बानो ने टोक दिया, "छवि, इतना अविश्वास लेकर साँस कैसे ले पाते हो ?"

"ले पा रहा हूँ क्या ?"

"शायद नहीं ही ले पा रहे हो। पर जो प्रचार कर रहे हो उससे कितनी हानि होगी इसका अनुमान है ?"

"लगा सकती हो ? नहीं लगा सकती। वही तो मैं कहता हूँ बानो, जो वास्तव में घट रहा है उसे बताने में जब इतने नुकसान की आशंका है तो उस समाज-शरीर की हालत क्या होगी जिसके रोम-रोम में आज यही है और कुछ नहीं।"

"निश्चय से कहते हो कि और कुछ नहीं ?"

"हाँ, निश्चय से।"

"मैं भी नहीं।"

पल को छविनाथ चुप रहा। फिर बोला, "बानो, कहूँगा तो बुरा मानोगी पर यह सच है कि आज तक मुझे तुम पर विश्वास नहीं हो पाया है। यदि तब मैं तुम्हारी जान न बचाता तो अब तुम मेरी सेवा करतीं या नहीं इस बात को लेकर हर समय मन में मनमुटाव रहता है।"

बानो हँस दी, बोली, "लाख दुनिया देखी हो पर हो अभी भोले ही। देखो ना, यह बात सच ही है कि तुम्हारी मेरी जान-पहचान न होती तो कुछ न हुआ होता।"

"पर मेरी तुम्हारी तो जान-पहचान थी नहीं।"

बानो फिर हँस दी, "इसी पर तुम्हें गर्व है, और तुम्हारे दुःख का एकमात्र कारण यही है कि तुम 'मैं' से शुरू करते हो। छवि बाबू, तुम्हारे यहाँ तो अगले पिछले जन्मों को मानते हैं ना, हो सकता है मेरी तुम्हारी जान-पहचान रही हो।"

"फिर भी..."

"तुमने मेरी मदद की, प्राण-रक्षा की, मैं अहसानमन्द हूँ।"

छविनाथ सकुचा गया। वैसा उसका मतलब शायद नहीं था। बोला, "पर उसका बदला तो तुमने...।"

"ठीक है, हिसाब 'निल'। न मेरा तुम्हारी तरफ, न तुम्हारा मेरी तरफ। पर छवि बाबू, अपना मेरा सवाल छोड़ दो। मैं तो सिर्फ़ इतना ही कहूँगी कि नास्तिक होने के अनेकानेक कारण हो सकते हैं। उस सब की लम्बी-बाँकी पृष्टभूमि हो सकती है। नास्तिक होना बुरा नहीं है, नास्तिकता का प्रचार बुरा है। उसमें समझ कम होती है, लकीर की फ़कीरी अधिक! हम छोटे लोग हैं, नहीं जान सकते कि नास्तिकता क्या और कैसी होती है। फिर सोचो, नीमवाक़फियत से किसी भी चीज़ का प्रचार कितना नुक़सानदेह हो सकता है। मुझे तो आश्चर्य यह है कि तुम्हारी वह आस्तिक बुद्धि कहाँ लुप्त हो गई। क्या तुम्हारी माँ, भाभी, भाई कोई नहीं रहे?"

छवि तिलमिला गया। उन सब का नाम याद आते ही उसका रोम-रोम पिघल उठा। सारा शरीर शिथिल हो गया।

बानो उसी तरह बोली, "छवि बाबू, तुम्हें मालूम है, मेरा एक लड़का भी है।" छवि ने अपनी विक्षिप्त पलकें ऊपर उठाई।

सहज-भाव से बानो फिर बोली, "सच ही तो है। जिस कीच से तुमने मुझे निकाला था, उससे एक कमल निकला है। दो साल का है और बहुत सन्दर है!"

छविनाथ ने आँखें मूँद लीं।

बानो ने चोट दी, "क्या सोच रहे हो छवि बाबू, यही कि वह जिन्दा क्यों है। मैंने उसे मार क्यों नहीं दिया! पर सोचती हूँ, मार देने पर क्या मुझे पश्चाताप न होता?"

छविनाथ इस बार बोल उठा, "बानो, कुछ पूछना नहीं चाहता, सफ़ाई भी नहीं चाहता, पर क्या तुम्हें मालूम था कि तुम्हारे पास यह है, तुम्हारे अन्दर है।"

"मालूम था।"

"सिस्टर को?"

"उन्होंने ही बताया था।"

"मुझसे तब छिपाया क्यों?"

"मुझे नहीं मालूम। सिस्टर कहती थी जाने तुम उस बात का कैसे लो?"

छविनाथ चुप रहा और नीचे देखता रहा। बानो हँसकर बोली, "यह समझ लूँ कि जो थोड़ा-बहुत विश्वास तुम्हारा मेरे ऊपर था वह भी टूट गया।"

छविनाथ ने हामी भरी।

"अब तो तुम मेरे पास रहोगे नहीं।"

"नहीं।"

"कब जाओगे ?"

"आज ही। अभी।"

"कहाँ ?"

छवि ने कहा, "वह पूछने का अधिकार अब तुम्हारे पास नहीं है।"

छवि ने सच ही अपनी ज़िद पूरी की। बानो ने भी उसे नहीं रोका। कुछ भी न लेकर छवि सड़क पर आ गया। छवि का मन इतना खराब था कि मुड़कर उसने बानो की तरफ देखा भी नहीं। छवि को लग रहा था जैसे उसका कोई बना-बनाया सोने का महल पीतल का निकल आया हो। 'आदर्श' शब्द की उसके हृदय में बड़ी गहरी नींवें थीं। उन पर जरा भी ठेस लगने पर वह लड़खड़ा उठता था। उन नींवों की गहराई का अनुमान छवि को ही अधिक था। वह कहता था कि वे काफ़ी गहरी हैं, संस्कारजन्य और श्रेष्ठ हैं पर शायद वैसा था नहीं। वे गहरे में न होकर सतह पर थीं। पादप नये-नये थे, चोट सहने में असमर्थ। छवि ने बानो छोड़ दी। संस्कारजन्य उसके भीतर क्या था, क्या नहीं था यह बताना कठिन है। मुसलमान कन्या की उसने सेवा की, मुसलमान वेश्या की सेवा स्वीकार की। उसके यहाँ रहा पर उसका पुत्रवती होना वह सहन न कर सका। विश्वास टूटा और वह भाग निकला। उसके भीतर का आत्मविश्वास इतना कमज़ोर पड़ गया था कि उसे चारों ओर विश्वास की आवश्यकता पड़ती थी। अविश्वास का हल्का-सा झोंका भी उसे सह्य नहीं था। बानो का घर उसने यों ही छोड़ा था। अपने जीने-मरने के लिए कुछ भी नहीं सोचा था। शहर वह बम्बई था। सड़क नितान्त पक्की, ठोस और व्यावहारिक। समन्दर के तट पर सिर्फ रेत था, जिसका कुछ भी बन नहीं सकता था। छवि को अनमना लगा। घबराहट भी हुई। एक बार क़दम लड़खड़ाये भी, मुड़े भी पर बानो के अन्तिम वाक्य ने उसे मुड़ने से रोक दिया। उसने कहा था, "जाओगे नहीं तो तुम्हारा विश्वास कभी मुझ पर नहीं जम सकेगा, जानती हूँ। रोक न सकूँ ऐसी निर्बल नहीं हूँ पर जाने देने में लाभ है, फिर नये होकर लौटोगे। एक बात तुमसे स्पष्ट ही कहे देती हूँ, छवि बाबू, अपने लड़के का ज़िक्र किया था, वह झूठा भी नहीं है, पर जानते हो क्यों मैं उसे उतना प्रेम करती हूँ, इसलिए कि कभी सोच ही नहीं पाई कि उसके जन्मदाता तुम नहीं हो, कोई और है। जब आँखें खुलीं तो चारों ओर तुम्हें ही देखती थी। जिन्होंने मुझे समाप्त करने के लिए भोगा उस कुसुम को उनका मान लूँ और जिसने मुझे जिलाने के लिए त्याग किया, पाला-पोसा और रक्षा की, उसे उसका न मानूँ। जानती हूँ तुमने मुझे छुआ तक नहीं, पर इसीलिए क्या तुम्हें तुम्हारे अधिकार से वंचित कर दूँ। वैसे सब भगवान का है और तुमने मेरे प्राण बचाये हैं, इसलिए मैं और वह दोनों तुम्हारे हैं। तुम यदि मेरे प्राण न बचाते तो वही कहाँ होता। पुत्र इसलिए वह तुम्हारा ही है और मैंने तुम्हारी ही निशानी के तौर पर उसे पाला है। जा रहे हो तो मुझे छोड़कर नहीं, अपने पुत्र को छोड़कर, अपना…"

छविनाथ ने उस लड़के को कभी नहीं देखा था। वह शायद उस घर में नहीं रहता था। पर यह सुनकर कि 'वह तुम्हारा है और किसी का नहीं,' उसकी आत्मग्लानि की सीमा नहीं थी। बानो की उस दिन की दशा उसकी आँखों के सामने रह-रहकर घूम रही थी। वीभत्स थी। बानो का चेहरा सुन्दर न होता तो शायद कुछ न होता। साथ ही बानो के उस पुत्र का मुँह उसके

सामने एक गन्दे, भद्दे, कोढ़ भरे बालक की तरह घूम रहा था, जिसके चेहरे को देख-देखकर बार-बार भागने और बच-निकलने को मन करता है। फिर वह उसका कहलाये"'यह क्या घृणास्पद नहीं है ? वह भागकर बानो के घर से दूर-दूर जाने लगा। उसे लगा जैसे कोई भूत उसके पीछे भाग रहा है। उधर शाम झुक आई थी। पर छविनाथ पर उसका कोई प्रभाव नहीं हुआ। उसकी थकान नहीं उतरी"'वह अब भी जुहू के समन्दर की लहरों की छत्रछाया में, रेत पर पड़ा, पास की मोटर की एक लकीर को देख रहा था। एक दिन वह भी बानो के साथ कार पर यहाँ आया था। उस दिन की याद"'पर वह नहीं। कार से उसे प्यार नहीं"'ये रंगीन तितलियाँ, जो सागर की हर लहर की नोक पर पाँव रखती आगे-पीछे बढ़ रही हैं, उसके लिए आकर्षण का विषय नहीं; वे अर्ध-नग्न पुरुष और नारी"'और उस तीर्थ की वे सरल, सलौनी, बंगाली बालिकायें, वह गंगातट, वह तीर्थस्थान, वह"'

10

नन्दलाल छवि को याद है। उसके अहसानों का बदला वह उम्र-भर नहीं चुका सकता।

उस शहर में पहुँचने के दो दिन बाद एक पार्क में बैठा था। उस दिन आखिरी लुकमे का प्रबन्ध भी समाप्त हो गया था कि नन्दलाल ने पास पहुँचकर कहा, "सिनेमा चलोगे।"

छवि ने आश्चर्य से उसकी ओर देखा। फिर एक बार चारों ओर हँसी बिखेरकर वह बोला, "चलोगे ?"

इस बार छवि ने कहा, "चलूँगा। पर आप""

बात का सिरा पकड़कर नन्दलाल ने कहा, "न मैं आपको जानता हूँ न आप मुझे। पर जहाँ तक समझता हूँ, दोस्त इस समय आपको भी चाहिए और मुझे भी।"

छवि ने हामी भरी। साथ-साथ चलते हुए उसने सब हाल नन्दलाल को बता दिया और अन्त में नाम बताते हुए कहा, "मेरा नाम छविनाथ है !"

तो खिलखिलाकर हँस पड़ा, बोला. "अच्छा नाम नहीं है।"

छवि भी हँसा, बोला, "क्यों ?"

नन्दलाल ने कारण समझाते हुए कहा, "देखो, छवि शब्द का अर्थ शोभा है, सौन्दर्य है, दीप्ति है और कोई भी व्यक्ति इनका नाथ नहीं हो सकता, सेवक बेशक हो सकता है। तुम तो वैसे विशेष सुन्दर भी नहीं लगते। तुमसे सुन्दर तो मैं ही हूँ।"

छवि ने फिर सहमति में सिर हिला दिया, कहा,"वह तो स्पष्ट ही है, पर सुनो, मुझे भूख लगी है।"

नन्दलाल की चिन्ता ने छवि को मोह लिया, वह बोला, "यानी ?"

"सुबह से नहीं खाया।"

नन्दलाल ने तत्काल भोजन का प्रबन्ध किया, फिर कहा, 'वैसा नहीं करना चाहिए। संकोच बुरी चीज़ है। संकोच में पाप रहता है। छविनाथ, तुम घर से भागे हुए हो ?"

"हाँ।"

"क्यों भला, घर तो अच्छी चीज़ है ?"

छवि चुप रहा, पर नन्दलाल ने जब प्रश्न दोहराया तो वह धीमे से बोला, "तुम तो घर में रहते हो न ?"

"नहीं, पर प्रश्न असंगत है।"

छवि फिर बोला, "ब्याह-शादी करवा डाली।"

उत्तर देने का नन्दलाल को मौका ही नहीं मिला। पिक्चर हॉल आ चुका था। टिकट खरीदकर दोनों ने भीतर प्रवेश किया। कुर्सियों पर बैठते ही निःसंकोच नन्दलाल ने जताया, "मैं तुम्हारा दोस्त बन सकता हूँ छवि, पर एक शर्त पर कि एक दूसरे के प्रति जिज्ञासा रखना ग़लत। यदि यह रहा तो ठीक, अन्यथा···अच्छा देखो, पिक्चर देखो।"

पिक्चर अच्छी थी। एक भाई अपने छोटे भाई की प्राण-रक्षा में अपने प्राण दे डालता है, इसका अत्यन्त मार्मिक वर्णन था। अन्त में आँसू बहे आते थे। छवि भावुक हो उठा था। उसे अपना भाई याद आ रहा था। कुछ पलों को वह नन्दलाल को भी भूल गया था। पर नन्दलाल की कोमल हँसी ने उसे चौंका दिया। नन्दलाल मस्त था। धीमे-धीमे कह रहा था, "देखो, पागलों की बातें, प्राण दे दिए। छवि दोस्त, यह सब क्या तुम्हें सम्भव लगता है ?"

"क्या सब ?"

"यही, एक का दूसरे के लिए प्राण दे देना।"

"सच क्यों नहीं है। ऐसी कहानियाँ तो अनेक सुनने में आती हैं। और···!"

नन्दलाल ने बात काट दी, बोला, "एक बात है छवि, यह तो सच है कि जब तक एक के प्राण न जाएँ, दूसरे को प्राण नहीं मिलते, पर उस देने-लेने में क्या उनका अपना स्वार्थ, आनन्द पाने को लालच नहीं होता कि सब दोष लेने वाले का ही है। पर बहस छोड़ूँ मेरी यह आदत बुरी है। तुम्हारे शायद कोई भाई हैं और याद आ रहे हैं। कैसे हैं तुम्हारे भाई, तुमसे प्यार करते हैं ?"

छवि का यह स्थल अत्यन्त कोमल था। भीगी पलकों से नन्दलाल की ओर देखकर कहा, "मेरे भाई बहुत अच्छे हैं, उन जैसा भाई होना मुश्किल है। एकदम देवता हैं।"

नन्दलाल जोर से हँस पड़ा। बोला, "देवता हैं ?"

"हाँ।"

"यानी तुम्हें प्यार नहीं करते ?"

छवि से जवाब न बन पड़ा। चुप रहा।

नन्दलाल इस बार ज़रा गम्भीर होकर बोला, "इन देवता के समान अच्छे आदमियों से मुझे बड़ा डर लगता है छवि। इन्होंने इन्सानों का जीना दूभर कर दिया है। थोड़ी ग़लती न करने से इन्सान की जिन्दगी में लुत्फ़ नहीं रहता। फिर तुम्हारे इस समाज में पाला पड़ता है इन देवताओं से। छवि, ये देवता लोग बहुत बुरे होते हैं।"

नन्दलाल और छवि की दोस्ती हो गई। उस शहर का पानी उसे माफ़िक नहीं आया। एक दिन जमकर आलू-छोले खाने पर स्वास्थ्य ने दम तोड़ दिया। दस्तों से दिन-पर-दिन शरीर अधूरा होने लगा और उसी समय उसे नन्दलाल के वास्तविक रूप में दर्शन हुए। वह कोई आदमी था। छवि की सेवा में उसने रात-दिन एक कर दिया। नदी के घाट पर छवि के लिए एक उपयुक्त स्थान बनाकर वह फल, दवा और मनोरंजन के अन्यान्य साधन जुटाने चल देता। छवि पूछता, "इतना पैसा तुम कहाँ से लाते हो भला ?"

नन्दलाल कहता, "जहाँ पैसा हाता है, वहाँ से।"

"यानी।"

"जहाँ से मिल जाता है वहीं से ले आता हूँ। रोक-टोक कुछ नहीं मानता। इस शहर के ठग प्रसिद्ध हैं और सच है कि मैं भी उनमें से एक हूँ।"

छवि आगे कुछ न पूछ पाता। यहीं उसके मन को ठेस लगती। पर एक दिन जब उसने सुना कि नन्दलाल पकड़ा गया और उसके अन्दर जाने में थोड़ी ही देर है तो अच्छे-बुरे की सब दुविधा छोड़ वह उसे देखने निकल पड़ा। उस दिन कई दिनों बाद वह शहर में आया था। उसके शरीर ने हर कदभ पर उसे याद दिलाया कि वह बीमार है। पर छविनाथ चले चला, रुका नहीं। जब तक कि गली के मोड़ पर स्वयं नन्दलाल ही उससे टकरा नहीं गया। वह स्वस्थ चित्त था। हँसता आ रहा था। आँधी-पानी के कोई चिन्ह उसके चेहरे पर नहीं थे। छवि चकित हुआ, फिर अनायास ही उसने पूछा, "क्या हुआ?"

नन्दलाल ने कहा, "हुआ कुछ नहीं, आज तुम्हारे पूरे महीने के चावलों का प्रबन्ध करने लगा था कि—"

"नन्दलाल, तुम करते क्या हो?"

"जो नन्दलाल करता था। वह माखन चुराता था और मैं किताबें चुराता हूँ। उन्हें बेचता कोई और है और मेरा उसका आधम-आध का साझा है।··· पर आज पकड़ा गया। छूटा इस शर्त पर हूँ कि अमुक बुकसेलर के यहाँ से इस बुकसेलर के लिये अमुक पुस्तक की पांडुलिपि उड़ा कर ला दूँगा, पर अब तुम्हें···"

छवि ने कहा, "मुझे छोड़ो, कल से काम की तलाश करूँगा, और सुनो, देखो, मेरे अपने उपन्यास की पांडुलिपि तैयार है उसे यह देकर छुट्टी पा सको तो अच्छा है।"

"उपन्यास लिखते हो?"

"पहला ही तो है।"

"बिक सकेगा?"

"तुम जानो।"

"सुनो छवि, इसे मेरे नाम से छपवा दो।"

छवि पल को चुप रहा, फिर अनायास ठठाकर हँस पड़ा, बोला, "उपन्यास ले लो। लेखक की जगह मेरा नाम है, काटकर अपना लिख लो और बेच दो। मुझे कोई ऐतराज न होगा।"

नन्दलाल बहुत खुश हुआ, बोला, "जानता हूँ तुम ऐतराज़ नहीं करोगे। तो इसके बिकने का प्रबन्ध मैं आज ही किए देता हूँ। और छवि···देखो, यह न समझना कि मैं बेईमान हूँ या तुम्हें ठग रहा हूँ पर क्योंकि यह मेरी बहुत दिनों की इच्छा थी कि कुछ मेरे नाम से छपे और मैं भी समझूँ और समझाऊँ कि मैं भी कुछ हूँ, इसीलिए यह बात मान ली, मन हो तो···।"

छवि नन्दलाल के भोलेपन पर मुग्ध रह गया, बोला, "मन है, नन्द, सवा सोलह आने मन है।"

नन्दलाल ने फिर सोचकर कहा, 'तुम कहानियाँ नहीं लिखते?'

"लिख लेता हूँ।"

"तो ठीक है, उपन्यास रहने दो। एक कहानी ही मेरे नाम से छपवा देना, बस।"

छवि ने वैसा ही किया। उसके नाम से कहानियाँ छपीं। अखबार गोकि हल्के-फुल्के थे

पर उसकी कहानियाँ छपने योग्य हैं जानकर उसे बहुत प्रसन्नता हुई। कोशिश में नन्दलाल ने अखबार वालों से तोबा बुलवा दी। छवि अब कुछ ठीक होने लगा था। उसने काम की तलाश की। प्रेस से ठेके पर कुछ काम मिला। मन से छवि ने करना आरम्भ कर दिया। फिर तो उसके पास काम की सीमा न रहीं। पाँच चार रुपये रोज़ का काम आने लगा। नन्दलाल से उसने सब छुड़वा दिया। कर्ज़ा जिसका जहाँ था चुकवा दिया। उन बुकसेलर महाशय से भी फैसला हो गया और यूँ नन्दलाल और छविनाथ भाई-भाई की तरह जीने लगे।

11

छविनाथ को इन्हीं दिनों एक चोट लगी। नन्दलाल ने जिस प्रकाशक से उसके उपन्यास की बात की थी उसने उन्हें धोखा दिया। पहले हवा में से पता चला कि उपन्यास के डेढ़ सौ रुपये मिलेंगे। छवि संतुष्ट था। बीमारी के दिनों में इन्हीं महाशय का लगभग नौ रुपया छवि पर चढ़ गया था तो उन्होंने बतौर कर्ज़ के दिया था। हिसाब चुकता की तारीख तै हुई और कापीराईट लिखा लेने के पश्चात् छविनाथ के हाथ में नक़द इक्कीस रुपये पेश करके हाथ जोड़ दिये गये। छविनाथ को धक्का लगा, पर वह पी गया। लेकिन नन्दलाल रात-दिन बदला, धोखा और न जाने क्या-क्या बड़बड़ाने लगा। छविनाथ का कारबार उन दिनों खूब चल निकला था। उस कारबार में भी कई जगह उसे ठेस पहुँची थी। पाँच-पाँच दिन, पाँच-पाँच रात बराबर काम करा कर एक प्रेस मालिक ने उसे केवल दस रुपये देकर टाल दिया था। इसी सब के कारण छवि का मन कुछ कटा-फटा-सा रहने लगा था। एक प्रकार की सुर-सुराहट हर घड़ी मस्तिष्क में रहती। गंगा में घंटों-घंटों पड़ा रहता, रात के बारह-बारह बजे तक नाव में घूमता पर शांति न मिलती। असल में छवि में एक भारी दोष था। बचपन से ही अपने को बेशक़ीमत मानता आया था। इसलिए दुनिया उसकी जो कीमत लगाती उसे भाती नहीं और ठेस लगने पर उसकी उद्भ्रान्ति की सीमा न रहती। इसीलिए छवि को नौकरी से चिढ़ थी पर यह भी उसकी भूल थी। उसके ख़याल में नौकरी उसकी कीमत थी पर सच यह है कि नौकरी उसके नियत समय किये काम की क़ीमत थी। आदमी बेशक़ीमत हो सकता है पर आज के इस युग में आदमी का मूल्य उसके काम से ही आँका जाता है। होती हैं कुछ जगहें ऐसी भी जहाँ आदमी का मूल्य केवल उसके अस्तित्व मे होता है पर वह जगह छवि को प्राप्त नहीं थी। उस शहर से भी जाने वह कब भाग निकलता यदि तत्काल एक परिवार से उसका परिचय न हो जाता और उसके छोटे-छोटे बच्चों में वह रम न जाता। वे रोज़ संध्या समय घाट पर नहाने आते थे। छविनाथ ने अपना परिचय दिया, उनका लिया और घनिष्ट होने के लिए दो-चार पिकनिकें कर डालीं। उनके दो बच्चे थे, भोले, सुन्दर और शिष्ट। पता चला कि उनके माँ नहीं है। साल पहले की स्वप्न हो चुकी है। पहले किसी दूसरे शहर में प्रोफेसर थे और अब यहीं हैं। शाम को…

एक दिन बोले, "आपको नन्दलाल जैसे आदमी को साथ नहीं रखना चाहिए।"

छवि चकित हुआ, बोला, "क्यों ?"

"मैंने सुना है कि वह अच्छा आदमी नहीं है।"

छवि अनासक्त भाव से बोला, "वाह अच्छा नहीं है, मैंने किसी दिन नहीं सुना। और यह

कि उसने पिछली बीमारी में मेरे प्राण बचाये हैं।"

"उसे क्या उपकार मानियेगा?"

"क्यों न मानूँ?"

"एक सनकी की सनक नहीं?"

"हो सकता है, पर उससे यह बात तो झूठी नहीं पड़ती कि उसकी सनक से मेरे प्राण बचे, यह कैसे भूल जाऊँ?"

"न भूलो, पर मैं जहाँ तक समझता हूँ, काम में नीयत पहली चीज़ है।"

छवि इस बार हँस पड़ा, "मानता तो मैं भी यही हूँ पर बुरी नीयत से किये काम का फल यदि अच्छा है तो करने वाले को उसका श्रेय क्यों न मिले।"

प्रोफेसर ने समझा कि जीत हुई, बोले, "सच है, पर मैं कब कहता हूँ कि भूल जाओ, याद रखो, पर श्रेय न दो और कृतज्ञता से बचकर अपने सम्मान को बचाओ। यही तो ठीक है।"

छवि ने फिर भी किसी दिन नन्दलाल से बचना नहीं चाहा। पर फिर भी उन दोनों में अब पहले जैसा स्नेह नहीं रहा। पहले छवि सब पैसा लाकर उसे ही देता था पर अब वह बचाने लगा और यदा-कदा प्रोफेसर साहब के साथ नन्दलाल को बचाकर चला जाने लगा। पर नन्दलाल ने इसका कुछ बुरा नहीं माना। उसने स्वयं छवि से कन्नी काटनी शुरू कर दी और फिर अपने पुराने धन्धे पर पहुँचकर गुज़र-बसर करने लगा।

पर एक रात छवि को नन्दलाल बहुत याद आया। कई दिनों से वह उसे नहीं मिला था। आज ही किसी से पता चला कि नन्दलाल के माँ नहीं है। पिता हैं जो उससे बेहद प्यार करते हैं। भारतीय प्यार शायद परतन्त्र रखने की अभिलाषा को ही कहते हैं। वही नन्दलाल के पिता में है और यही कारण है कि नन्दलाल उनसे बचता है। उन्होंने अपनी इच्छा से नन्दलाल का विवाह कर दिया जो उसे पसन्द नहीं। घर से भागे फिरने का यह भी एक कारण है। लोग कहते हैं कि धर्म-स्थानों और विशेषकर अमुक संन्यासी में भी उसकी रुचि है। संन्यासी महोदयों से वह अक़सर मन की शांति के विषय में पूछा करता है। छविनाथ को ऐसा लगा जैसे भीषण व्यथा कलेजे में समेटे यह व्यक्ति मन की प्यास बुझाने को दर-दर भटकता फिरता है। पर भटकने में प्यास बढ़ती ही जाती है। उस रात वह सो नहीं पाया और सुबह होते ही नन्दलाल के घर पहुँचा। बुलाया। जरा उलाहने के स्वर में बोला, "मिलते ही नहीं हो?"

नन्दलाल हँसा, कहा, "मिलता तो हूँ।"

कोई और होता तो कहता कि उल्टा चोर कोतवाल को डाँटे। पर नन्दलाल उस मिट्टी का नहीं बना था।

छवि ने फिर कहा, "तुमने आज तक बताया ही नहीं कि शादी-शुदा हो, छिपाया क्यों भला?"

बोला, "घरेलू चीज़ है। देखना हो तो ऊपर चलो। और देखो छवि, उस बुकसेलर से जो तुम काम के पश्चात रुपये लाए हो, वे कहाँ हैं?"

छवि सकपका गया, बोला, "हैं।"

"कहाँ?"

"मैंने एक जगह रख दिये हैं।"

"यानी, मुझ पर भरोसा नहीं रहा?"

छवि ने दपटा, "पागल हो, तुम मिले नहीं, इसलिए प्रोफेसर साहब···"

नन्दलाल हँस पड़ा, "वापस मिलेंगे ?"

"जरूर मिलेंगे, नहीं क्यों मिलेंगे ?"

"देखना, पर सुनो छवि, मैं यह कहने का अधिकार नहीं रखता। परनिन्दा की मुझे आदत भी नहीं है पर इतना निश्चित समझो कि प्रोफेसर भला आदमी नहीं है। तुम्हें अपना पैसा पानी में बहाना है तो···"

बात काटकर छवि ने कहा, "तो साथ रहो न ?"

"रहूँगा और ज़रूर रहूँगा।"

कहकर वह साथ हो लिया। छवि चुप था, पर वह धीमे-धीमे बोले जा रहा था, "तुम्हें मालूम नहीं कि मैं कितना बुरा आदमी हूँ। अपनी पत्नी को मैंने बहुत दु:ख दिया है। वह तड़प तो काफ़ी चुकी है, मरना शेष है। पिता मुझसे परम दु:खी हैं। कहते हैं, 'काश ? तू न होता और तेरी माँ के पेट से एक पहरा देने वाले कुत्ते का जन्म होता।' पत्नी को मैंने भी चाहा था। तुम उसे देखो तो सच ही मेरी चाहने की बात पर या तो आश्चर्य करो या खिल्ली उड़ाओ। पर मैंने चाहा उसे और एक दिन बोली, 'कमाना जिसके लिए दुर्लभ होता है स्त्री सुलभ हो, क्या लज्जा की बात नहीं है।' कमाना भी मैंने न चाहा हो वह बात नहीं और कमाया भी है पर···यह कि आदमी का मूल्य उसकी उपयोगिता से···घर में यही है, बाहर भी यही है। तुम्हारे लिए मेरी उपयोगिता समाप्त हो गई सो कन्नी काटने लगे। तुम्हारी उपयोगिता प्रोफ़ेसर को दीखी, वह मित्र बन गये। मनुष्य-मन का सारा नेह-तेल यह उपयोगिता की लौ सोख जाती है। फिर तुम्हीं सोचो छवि, मन जिये कैसे और, छवि···"

छवि ने नन्दलाल की तरफ़ देखा।

नन्दलाल अपनी वही सहज हँसी हँस दिया। बोला, "बहक गया था, कल संन्यासी ने कहा था कि तुम यहाँ से जब तक जाओगे नहीं भली प्रकार जी नहीं पाओगे। रुपयों का प्रबन्ध होते ही मैं यहाँ से चला जाऊँगा। चलोगे ?"

"चलूँगा।"

"निश्चय।"

"हाँ, एकान्त निश्चय। ज़रूर चलूँगा। तुम जहाँ कहोगे वहीं चलूँगा।"

उसी दिन शाम को प्रोफेसर साहब से पैसा माँगा गया पर नन्दलाल की बात सच निकली। पैसा नहीं मिला। टालमटोल चलती रही। नन्दलाल मात्र हँस दिया, बोला, "चिन्ता न करो, उसने हमें मात दी है। हम किसी और को मात देंगे। तुम देखते रहो।" पर छवि कुछ न समझने के कारण मूक भाव से नन्दलाल की तरफ़ देखता रहा।

उधर प्रोफेसर ने छविनाथ को वह शहर दिखाना शुरू किया। बड़े-बड़े मन्दिर दिखाये और बताया कि यहीं से लड़कियों के व्यापार भी चलते हैं। ये जो पंडा लोग हैं ना, इनके स्वास्थ्य की सीमा नहीं होती। जाने कितनी लड़कियाँ इनके पास रहती हैं और न जाने कितनी आती-जाती रहती हैं, पर भगवान विश्वनाथ की असीम कृपा से इनके स्वास्थ्य में कभी कोई अन्तर नहीं दीखता।

एक दिन छविनाथ ने यों ही मज़ाक में कहा, "और लड़कियों के स्वास्थ्य के विषय में आपका क्या विचार है ?"

प्रोफेसर साहब ने कहा, "देखोगे ?"

"हाँ, देखने योग्य जब है तो अवश्य देखूँगा।"

प्रोफ़ेसर तैयार हुआ। नन्दलाल भी साथ हो लिया। उस शहर की गलियाँ पतली और घनी थीं। उनका सुनसान निष्कलंक था। प्रोफ़ेसर, छवि और नन्दलाल उन्हीं गलियों को पार करते एक बहुत ऊँचे मकान के नीचे पहुँचे। मकान क्या था महल था। एक मंजिल ऊँचा तो उसका चौंतरा था जिस तक बीसियों सीढ़ियाँ पार करके पहुँचना होता था। वहाँ से मकान की पहली मंजिल शुरू होती थी। आने-जाने वाले इतना ही समझ सकते थे कि यह मज़बूत चौंतरा ऊपर की तीन मंजिलों को सम्भालने के लिए है। पर उनका विचार गलत था। चौंतरा ठोस नहीं था, खोखला था। ढोल की तरह। उसी तरह वह चारों तरफ से बन्द भी था। अन्तर यही था कि वह बजाने पर बजता था पर चौंतरा बजाने पर भी नहीं बजता था।

प्रोफ़ेसर ने दरवाज़े पर दस्तक दी। एक साधुवेशी पुरुष ने आकर द्वार खोला, 'जय गंगा माता' किया और प्रोफ़ेसर से अपनी जान-पहचान जताते हुए पीछे हट गया। प्रोफ़ेसर के पीछे दोनों भी घुसे। साधु ने सहज स्वर में प्रश्न किया, "भक्त जन हैं ?"

"हाँ।"

"परदेसी हैं ?"

"हाँ।"

फिर कोई बात नहीं हुई। टेढ़े-मेढ़े रास्ते से होते हुए हम नीचे के बडे हॉल में पहुँचे। हॉल काफी बड़ा था और···

पर तभी किसी ने छविनाथ का वह स्वप्निल तारतम्य तोड़ दिया। हाथ से छू कर कहा, "घर नहीं चलोगे, छवि बाबू ?"

छवि ने पलकें उठाकर देखा। बानो का नौकर था। जुहू के तट पर घोर अन्धकार व्याप्त था। कहीं कोई आदमी नहीं था। मीठी ठड ने ऊपर कहीं से आकर रेत को भिगोना प्रारम्भ कर दिया था। छवि अब तक अपने को उस वातावरण से मुक्त नहीं कर पाया था जिसमें वह था। पर याद उसे सब था। उसने पूछा, "सलीम, बानो ने बुलाने भेजा है ?"

सलीम हँस दिया, कहा, "बुलाने नहीं आपके पीछे भेजा था। तब से आपके साथ ही हूँ। पर अब सोचता हूँ कि आपकी और मेरी कुशल इसी में है कि वापस घर चलो।"

छवि उठा और सलीम के पीछे हो लिया। एक बार भी उसने आनाकानी नहीं की। उस समय उसकी वैसी स्थिति ही नहीं थी। उसे डर-सा लग रहा था। सलीम के पीछे-पीछे चलते हुए भी उसे उस हॉल के वे भयानक चेहरे याद आ रहे थे, जिन पर न सौम्यता थी, न सौन्दर्य, न मनुष्यता। वे अर्धनग्न स्त्रियाँ, जैसे शतदल कमल की नुची हुई पंखुड़ियाँ। हाँ···छवि सिहर उठा। उस शहर में उसने सुना था कि केवल एक चाय के प्याले पर सब कुछ खरीदा जा सकता है पर इन्हें खरीदने में किसी को क्या प्रसन्नता होती होगी। उस समय भी डान्स की प्रैक्टिस जारी थी। कभी-कभी कोई आता और उनमें से एक को घसीट कर ले जाता। दूसरी तरफ बिस्तरों का खेल जारी था। मन और चादरें दोनों गन्दी की जा रही थीं। चादर को सहूलियत

थी साबुन की, पर मन···छवि के होंठों पर एक स्मित आया। धीमे से उसने कहा, "उसे भी सहूलियत थी, 'राम नाम की'। साथ ही ऊपर मिले साधु उसे याद आये थे और जोर से हँसने को मन हुआ था। पर प्रोफ़ेसर की वह बात उसे याद आ गई थी कि विरोध करने पर वहाँ से कोई बचकर नहीं आता। लाशें गाड़ने का वहाँ बड़ा अच्छा प्रबन्ध है, और छविनाथ चुप रह गया था। पर उसी भीड़ में एक चेहरा देखकर उसके मुँह से एक हल्की-सी सिसकारी निकल गई थी। होरेन दादा, शराब में मस्त एक टेबिल पर बैठे खाली गिलास से पत्थर की मेज़ पर एक अजब संगीत पैदा कर रहे थे। छवि सोचता रह गया। ये और यहाँ! होरेन दादा। पहले उसके बासे के मैनेजर। फिर उसके लिये हस्त रेखा-विज्ञान-विशारद। फिर एक बढ़िया बाँसुरी बजैया और फिर हाथ के पंजे से उसकी कड़ी उँगलियों को चटका देने वाले होरेन दादा। छः फुटा शरीर, एक कंधा जरा ऊँचा, दूसरा नीचा और शरीर दियासलाई की सलाई जैसा, बारीक। चेहरा पिचके टमाटर की तरह लाल पर झुर्रियोंदार। अवस्था कोई चालीस और तजुरबा जैसा कि उन्होंने बताया, 'निल'। होरेन दादा यहाँ? प्रोफ़ेसर और नन्दलाल भी चकित थे पर दादा शराब में मस्त, सबके आश्चर्य से अनजान और सबके···

प्रोफ़ेसर ने आगे बढ़कर होरेन को सचेत करना चाहा, कहा, "दादा, ऐ होरेन दादा।"

दादा ने कहा, "हाँ, कौन है भाई?"

छवि से रुका नहीं गया, बोला, "मैं, छविनाथ।"

"छविनाथ?"

"हाँ।"

"यहाँ?"

"जी हाँ।"

दादा का सारा नशा जैसे काफूर हो गया। झट से सचेत हो वह उठकर खड़े हो गये। बोले, "छवि, तुम्हें यहाँ कौन लाया? चलो यहाँ से। उठो, चलो बाहर।"

होरेन दादा के साथ सब बाहर आ गये। उस विभीषिका से निकलकर सबने ठंडी साँस ली, पर छवि न ले सका। हँसी-मज़ाक के साथ हल्के हुए वातावरण में भी छवि की आँखों में आग रही। उसको रह-रहकर वे चेहरे याद आ रहे थे। विशेषकर उनकी वह मुद्रा कि जब कोई बुलाने आता और उसे जाना पड़ता। छवि के मन की टीस और भी बढ़ गई, होरेन दादा को वहाँ देखकर। होरेन दादा···

सब बिछुड़ गए। नन्दलाल ने छवि से कहा, "छवि दोस्त, आज एक नये रहस्य का पता चला।"

छवि चुप रहा।

"स्त्री चेहरे भी बदल सकती है?"

"यानी।"

"इन्हीं लडकियों में मेरी शुचिता भी थी।"

छवि ने आश्चर्य से कहा, "शुचिता कौन? और वह तुम्हारी किस तरह।"

नन्दलाल हँस पड़ा, बोला, "शुचिता एक बंगाली लड़की है और मैं उससे प्यार करता था। एक दिन उसके बाप ने मुझे एक चपत भी मारा था, 'नीच' भी कहा था। उससे मेरे स्नेह

की सीमा नहीं थी। जितना भी बाहर कमाया, उसे दे आया। शुचिता भी मुझसे बहुत प्रेम करती थी। कहा करती थी, 'नन्दलाल, मुझे तुम्हारे ही साथ मरना है।' पर शायद मरने का उसने नया तरीका खोज निकाला है। इसलिये मुझे छोड़ दिया, पिता से शिकायत की और मैं पूँछ मोड़ भाग आया। आज वह यहीं थी। नाच रही थी। भीतर जाने का उसका नम्बर शायद नहीं आया। छवि, तुम सोचते हो जो उसे भीतर बुलाता, मैं उसे जिन्दा छोड़ देता। वह तो अच्छा हुआ कि जल्दी ही चले आये। उस दिन तुम उस भिखारी स्त्री पर दुःख मना रहे थे। वह, जिसे तुमने दस रुपये दिए थे। वही जिसने अपने मृत पति की नंगी लाश बाजार में बिछाकर उसके फूँकने के लिये पैसे इकट्ठे किए थे और जो उन सब पैसों को शाम को बटोरकर किसी और के यहाँ जा बैठी थी, और शुचिता, यदि मेरी···"

छवि ने कहा, "तुम उसके पति हो ?"

"हाँ, पति हूँ।"

छवि चकित भाव से उसे देखने लगा।

नन्दलाल फिर बोला, "पति क्या उसे ही कहते हैं जिससे दो घड़ी का मंडप-मिलाप हुआ हो, पति मेरे मन में रक्षक का नाम है और जो मन से जिसे प्रेम करे, रक्षक पहले है। वह पैसे के लिए वहाँ गई या प्यास के कारण, पर···"

छवि ने नन्दलाल का हाथ थाम लिया। धीमे से नन्दलाल को अपनी बाजू से सटाकर कहा, "दुनिया इतनी हल्की नही है नन्दू कि पैर की ठोकर मारकर गेंद की तरह उसे हवा में उछाल दोगे। ठोकर से पीड़ा तुम्हें अधिक होगी, दुनिया को कम। शुचिता गई न, जाने दो। तुम उस होटल वाली शुचिता की बात सोचते ही क्यों हो। तुम्हारे मन में जो तुम्हारी शुचिता हो उसे पा लो, प्रेम करो और जियो। वह बिक गई, ठीक है, पर तुम्हारे मन की शुचिता—"

नन्दलाल ने आगे नहीं सुना, झटके से हाथ छुड़ा, वह तेजी से आगे निकल गया। छवि को लगा जैसे उसकी आँखों में आँसू लबालब भरे हैं और वह उन्हें रोकने की अभिलाषा में पीठ घूमाकर भागा जा रहा है, भागा जा रहा है।

तीन दिन तक नन्दलाल किसी से नहीं मिला। तीन दिन बाद वह उसी तरह हँसता हुआ आया और बोला, "छवि, संन्यासी जी ने कहा है कि यहाँ से जाना ही होगा।"

छवि ने कहा, "चलो।"

"चलो तो, पर पैसे ?"

"तुम जानो।"

"इतने दिनों में और कुछ नहीं लिखा।"

"लिखा है, पर ऐसा नहीं जो जाने काबिल पैसा जुटा दे।"

नन्दलाल ने इस बार ज़रा धीमे से कहा, "जो कहूँगा, करोगे ? केवल तुम कर सकते हो ?"

निस्संकोच जाने किस साहस पर छवि ने कह दिया, "करूँगा।"

और कई दिन बाद छवि, नन्दलाल और होरेन दादा का ताँगा बाज़ारो से होता हुआ स्टेशन की तरफ़ चल दिया। शाम डूबने ही लगी थी। लोग मन्दिरों की ओर जा रहे थे। कुछ

घाटों पर स्नान-ध्यान करेंगे। कुछ नाव का आनन्द लेंगे और कुछ···पर तभी छवि को महसूस हुआ कि कुछ उसके ताँगे के नीचे आकर कड़-से टूटा है। नीचे झुककर उसने देखा तो सुन्न पड़ गया। एकदम दिगम्बर अवस्था में एक बुढ़िया सड़क पर पड़ी थी। सिर के बाल पूरे सफेद थे शायद यहीं भूख-प्यास के तड़प-तड़पकर मर चुकी थी। दुनिया की तरफ़ उसका भिक्षा का हाथ अब भी फैला था। जिसे ताँगे ने कुचल दिया था। छवि ने तिलमिलाकर चीख़कर कहा, "ताँगा रोको।"

पर नन्दलाल शान्त था। बोला, "मर चुकी है।"

छवि ने नन्दलाल की तरफ़ सप्रश्न देखा तो वह उसी स्वर में बोला, "तीन दिन से यहीं पड़ी थी। भूखी थी, मर गई। हाथ फैला न होता तो ताँगा बच निकलता। देखते नहीं हो धुँधलका है और उधर से रास्ता कहाँ है। मंदिर में जाने वालों की भीड़ ने आधा रास्ता घेर रखा है। ताँगा निकलता भी कैसे। सोचो मत। ताँगे वाले, ताँगा बढ़ाओ।"

छवि ने नेत्र फटे रह गए। वह कुछ भी बोल नहीं पाया। देखता रहा, सड़क के दो किनारे, एक पर पड़ा वह मृत वृद्धा का अस्थिपिंजर; दूसरी तरफ़ बदबू से नाक सिकोड़े जाता वह भक्त-दल और ताँगे का वह पहिया जो अभी उस भिक्षुक हाथ को तोड़कर आया है। छवि का सिर झुक गया। आँसू सूख गए। हृदय सिकुड़ गया। मन बुझ गया और शरीर शिथिल पड़ गया। वैसे आज भी उसे याद करते हुए उसकी वही हालत हुई जा रही थी। वह अचेत होकर गिर ही पड़ता यदि सलीम उसे 'घर आ गया, बाबू जी' कहकर जगा न देता। छवि भीतर गया और जाकर बिना किसी से बोले पलंग पर पड़ गया। शायद सो गया था थकान से बेहोश हो गया। जब उठा तो दिन के ग्यारह बजे थे और बानो एक दस वर्ष के अत्यन्त सुन्दर बालक को लिये खड़ी उसके जागने की प्रतीक्षा कर रही थी। छवि के आँखें खोलते ही बानो ने कहा, "नमस्ते छवि बाबू। और सुनील, नमस्ते कर, हाथ जोड़!"

छवि ने ध्यान से बालक की तरफ़ देखा। निश्चय ही वह सुन्दर था। वह टक लगाये छविनाथ की ओर देख रहा था। छविनाथ मुग्ध रह गया। बालक ने बानो के कहने से जब दोनों हाथ जोड़कर नमस्कार किया तो छविनाथ उसे गोद में लेने की तीव्र अभिलाषा से द्रवित हो उठा। पर छविनाथ बढ़ा नहीं, बोला, "क्या नाम है तुम्हारा राजा ?"

"सुनील।"

बानो की ओर देखकर छवि ने पूछा, " हिन्दू नाम रखा है ?".

बानो हँस दी। इस बात का उत्तर नहीं दिया। मातृ-स्नेह से अपने बेटे की तरफ़ देखती हुई बोली, "क्या पूछ रहे हैं, जवाब दो सुनी बेटा ?"

बालक ने निस्संकोच कहा, "माँ कहती थी कि लड़की होती तो निश्चय ही नाम मुसलमानी होता पर लड़के का नाम तो उसके बाप का ही रखा जाता है।"

छवि ने बात सुनी। उस घनिष्ट सौन्दर्य-मोह को चीर कर भी इस बात की ठेस उसे महसूस हुई। उसने बानो से कहा, "बानो, ग़लत को ग़लत कहकर बताओगी तो उसके सही रूप मे समझने की कुछ आशा हो भी सकती है पर इस तरह सही और ग़लत का भेद मिटा देने से सब गड्ड-मड्ड को जाएगा। पर खैर, मैं अभी और कुछ दिन तुम्हारे ही भरोसे पर चलूँगा। मन इतना कमजोर हो चुका है कि···उतने समय तक तुम्हें सुनील को मुझे सौंपना पड़ेगा। यही मेरा

सहारा होगा।"

बानो चली गई। छविनाथ ने उस खिलौने से खेलना आरम्भ किया। तरह-तरह की बातें हुई। सुनील पूना में रहता है। वहीं पढ़ता है। पाँचवी का इम्तिहान दिया है। क्लास में अव्वल आया है। स्कूल के और इनामों के अलावा उसे उसकी माँ ने भी एक घड़ी ईनाम में दी है। सुनील तभी दौड़कर वह घड़ी उठा लाया। उसे उलट-पुलटकर छवि को दिखाकर उसने कहा, "माँ से मैंने कहा था, घड़ी नहीं मुझे साइकिल ले दो, छोटे वाली। तो बोलीं, "पहले समय देखना सीख ले, फिर उड़ना सीखना। समय पर उड़ने में कुशल रहती है सुनील। देख, घड़ी की तरह; इसकी सुई की तरह रुक-रुककर चलना चाहिये। इस का यही सिद्धान्त है। पर साइकिल का सिद्धांत दूसरा है। वह केवल दो जगह रुकती है। मंजिल पर या जहाँ रास्ता न हो। सुनी बेटा, अभी साइकिल नहीं, घड़ी। मैं कुछ नहीं समझा। क्यों, आप इसका मतलब समझा सकते हैं।"

छवि ने कहा, "मतलब यह है राजा बेटा कि पैरों को ज़मीन पर रखो। समझे ?"

"नहीं।"

छवि को उसकी 'नहीं' कहने की मुद्रा बड़ी भली लगी। गोद में घसीटते हुए कहा, "सुनील, तू बहुत सुन्दर है। हमसे दोस्ती करेगा। हम तुझे अच्छी-अच्छी चीजें लाकर देंगे।"

छविनाथ और सुनील की दोस्ती हो गई। साथ खाना, साथ घूमना, साथ सोना, साथ बानो मे लड़ना और फिर साथ ही मिलकर मनाना। बानो के लिये उन दोनों का यह साथ समस्या बन गया। घण्टों-घण्टों जब यह ताश खेलते होते तो वह खाना लिए बैठी रहती। कहीं उसका जाने को मन करता तो कार उसे खाली न मिलती। सोने को मन करता तो सुनील आकर छवि बाबू के दिन भर के कारनामें सुनाना आरम्भ कर देता। एक दिन दोनों कहीं से हल्की-फुल्की चोटें खाकर आए तो बानो से खूब लड़े। उससे कहा गया कि तुम्हारी नज़र लगी कि हमारी यह दशा हुई। रुपये ठगने के रोज़ नये-नये तरीके ईज़ाद होने लगे। पर बानो के होंठों की मुस्कान किसी दिन फ़ीकी नहीं पड़ी। लेकिन एक दिन फिर घर के उस उजले वातावरण में कही से नीला थोथा आ मिला। बानो को छविनाथ को संदेश मिला, "पचास रुपये चाहिएं।"

बानो खराब मन में थी, बोली, "नहीं है।"

सुनील संदेशा लाया था और जवाब भी ले गया। छविनाथ ने सुना तो खौल उठा, बोला, "क्या कहा, नहीं है !"

सुनील ने बताया, "हाँ।"

"चलो तो जरा।"

और दोनों चलकर बानो के पास पहुँचे। बानो शीशे में सामने बैठी अपना शृंगार कर रही थी। वह सुबह के समय कभी शृंगार नहीं करती थी। पर उस दिन वह सुबह-सुबह शृंगार-दान के सामने जा बैठी। छवि का अक्स भी उसने देखा। पर अनजान बनी अपने सुन्दर मुख को ओर सुन्दर बनाने की कोशिश करती रही। कई मिनट तक छवि और सुनील वैसे ही खड़े रहे। छवि का क्रोध बानो की इस उपेक्षा से और बढ़ गया। अन्त में जब उसकी साँस फूल उठी तो वह बोला, "बानो, क्या कहा तुमने सुनील से ?"

बानो ने ध्यान नहीं दिया। हल्के से मुस्काराई फिर अपने मेकअप में लगे-लगे बोली, "कहा है कि लुटाने के लिए मेरे पास पैसा नहीं है।"

"मुझे देना पैसा लुटाना है ?"

"है तो।"

"तो आज तक तुम लुटाती रहीं ?"

"हाँ।"

छविनाथ क्रोध से थर-थर काँपने लगा। बोला, "बानो, क्या कहती हो, चला जाऊँ यहाँ से ?"

बानो हँस दी, बोली "रोका तो कभी नहीं था।"

"उस दिन सलीम को क्यों भेजा था फिर ?"

"बुलाने नहीं।"

"यानी ?"

"यानी यह है कि मेरे पास इस तरह लुटाने को फालतू पैसा नहीं है और तुम्हें मालूम है कि पैसा मैं किस तरह कमाती हूँ। उसमें मेहनत हो या न हो पर मानसिक क्लेश तो है ही उसकी भी अपनी कीमत है। उस कीमती पैसे को मैं लुटने देना नहीं चाहती तो उसमें नाराज़ होने का भला क्या कारण है ? और छवि बाबू, एक दिन शायद तुमने ही तो कहा था कि इस पाप की कमाई पर मैं और जीना नहीं चाहता।"

छवि परास्त हो गया। उसे समझ ही नहीं आया अब वह और क्या कहे। उसका समूचा क्रोध, समूचा लड़ने का अधिकार पल में काफूर हो गया। उसका हृदय जैसे गड्ढे में डूबता जाने लगा। मुँह से अनायास कुछ नहीं निकला। बस, एक हल्की-सी 'बानो' की ध्वनि गूँजी और तत्काल सुनील के कंधे पर रखा उसका हाथ खिसककर नीचे लटक गया।

मुड़कर वह जाने लगा तो बानो ने धीमे से कहा, "जाओगे नहीं, एक बात और सुनोगे।"

छविनाथ रुक गया।

बानो ने कहा, "जाना हो तो सुनील को साथ ले जाना।"

छविनाथ ने उत्तर नही दिया, पीठ नहीं फेरी, चुप खड़ा रहा। बानो ने फिर कहा, "वह तुम्हारा है, तुमसे अब प्रेम भी बहुत करने लगा है। चाहती हूँ कि जब तक उमर ढलकर चौंतरा न बन जाये, कुछ ढेर-सा पैसा कमा लूँ। फिर जाने कोई पूछे कि नहीं, रोटी दे कि नहीं, सुनील और तुम जहाँ चाहो रहो और सुख भोगो।"

छविनाथ धीमे से बोला, "मैं क्या करूँगा, कहाँ रहूंगा ?"

बानो ने कहा, "मन जहाँ हो वहाँ, सिर्फ अपने और सुनील के लिए भी नहीं कमा सकोगे ?"

"नहीं, मुझसे नहीं होगा।"

"तो भूखे ही प्राण दोगे। और सुनील को भी यों ही मरने दोगे ?"

छविनाथ चुप रहा।

तो बानो ही फिर बोली, "कुछ भी नहीं कह सकोगे शायद। तो सुनो, यह भी नही कह सकोगे कि बानो, तुझे अब कुछ करने की जरूरत नहीं है। मैं तुझे पालूँगा पोसूँगा।"

छविनाथ ने इस बार घूमकर द्रवित कण्ठ से कहा, "बानो।"

बानो ने अदा से गर्दन को नीचे झुकाया, जैसे एक अर्दली अपने मालिक के हुक्म पर

झुकाता है। कहा, "आपकी दासी बानो, पैसा मेरे पास है छवि बाबू। आओ नाचने-गाने के सिवाय कुछ करें। साथ घूमने का अधिकार समाज से पा लें। मानती हूँ कि तुम हिन्दू और मैं, मुसलमान हूँ। धर्म-परिवर्तन न कर सकती हूँ, न करने दे सकती हूँ। पर क्या···क्या एक छोटे से घर का सपना तुमने कभी नहीं देखा ? उसमें सुनील को बिठलाना तुम भी क्या मेरी तरह पसन्द नहीं करोगे ? छवि, यह अभिलाषा तो···पर छोड़ो , शायद 'ऐलिफैन्टा केव्स' जाने का इरादा था। सीटें रिज़र्व हो चुकी हैं। नीचे सलीम तुम्हारी इन्तज़ार कर रहा है। लौट आओ तो बैठकर बात करें। क्यों छवि, यह सोचने का अधिकार हमें नहीं है क्या···"

12

छविनाथ, सुनील और सलीम जब जाने वाले स्टीमर पर चढ़े तो स्टीमर छूटने को ही था। किनारा छूटते ही स्टीमर कुछ पलों को तिलमिलाया पर तत्काल संयत हो दिशा पकड़ गया। स्टीमर की गति तेज हो चुकी तो छविनाथ का मन और मस्तिष्क उन चिरती जाती लहरों की तरह फिर उद्वेलित हो उठा। उसे न जाने कैसी एक घबराहट-सी महसूस हो रही थी। जैसे किसी अप्रत्याशित दुर्भाग्य की आशंका हो या किसी अनागत सौभाग्य की शुभ सूचना की आशा। नीचे लहरों की तरफ़ देखने का उसका मन नहीं था। सुनील का हाथ अपने हाथ में लेकर वह मसलने लगा और उससे प्राप्त मीठे स्फुरण को अन्दर की हलचल के ऊपर डाट की तरह ठोककर बोतल की गैस को शान्त करने का प्रयास करने लगा। पर शान्त वह हुआ नहीं। आशंका और भय-सा उत्तरोत्तर बढ़ने लगा। छविनाथ व्यग्र हो उठा।

पर तभी उसके कन्धे पर किसी ने हाथ रखा, कहा, "कौन, छविनाथ।"

छविनाथ मुड़ा और उसके मुँह से भी अनायास निकला, "होरेन दादा।"

"हाँ, शायद वही हूँ, पहचानते हो न ?"

छवि न जाने कैसी एक विरक्ति से बोला, "जानता हूँ, पहचानता भी हूँ, पर चाहता नहीं हूँ कि जानूँ या पहचानूँ। पर छोड़ो, बम्बई कब आये ?"

"महीनों से यही हूँ। सुनो छवि, एक बार फिर तुम्हें निमन्त्रण देता हूँ, आ जाओ।"

छवि को जाने क्या सूझी, बोला, "यहाँ भी वैसा हो अड्डा है ?"

"हाँ।"

"कहाँ ?"

"आओगे ?"

"हाँ, देखूँगा पहले, फिर आने की सोचूँगा।"

होरेन दादा बहुत प्रसन्न हुए। जोर से छवि का हाथ उठाकर अपने हाथ में दबोचा और सहलाते हुए बोले, "गुड बॉय छवि, तुम यदि आ मिलो तो तीन दिन बाद तुम्हें एक कार खरीद दूँ।"

छवि चुप रहा।

होरेन ने फिर कहा, "सुनो, यहाँ हो कहाँ ?"

छवि ने कहा, "बानो के यहाँ।"

"कौन बानो ?"

"एक नाचने-गाने वाली है। मुझे वह बीमारी की हालत में इलाहाबाद के स्टेशन से उठा लाई थी। इलाज कराकर अच्छा किया है। पर अब रौब चौबीस घण्टे झाड़ती है। मैं खुद भी उस रौब से मुक्त होना चाहता हूँ।"

होरेन दादा ने आश्वासन दिया और बानो की आर्थिक, सामाजिक और मानसिक स्थितियों के विषय में खोजबीन की। फिर यह कहकर कि कल अमुक समय, अमुक स्थान पर मिलना, वे अनजान से बनकर दूसरे किनारे पर जा खड़े हुए।

पर छविनाथ के अन्दर एक तूफान उठ खड़ा हुआ। होरेन दादा ने एक श्रद्धा छवि के हृदय से प्राप्त की थी। गंगा के रमणीय घाटों पर होरेन दादा ने संगीत में अपनी अतिशय तल्लीनता दिखाकर छवि के हृदय को जीता। बंगाली टोले के आवारा बंगाली लड़कों को पीटकर उसको बताया कि भारतीय नवयुवक के आदर्श क्या हैं। बासे की रसोई की खिड़की से दीखने वाली एक अत्यन्त सुन्दर महिला के प्रति अपनी विरक्ति दिखाकर उन्होंने छवि के ऊपर हुए प्रभाव पर अपनी पक्की मोहर लगा दी। पर छवि की वह श्रद्धा उस दिन उन्हें उस तहखाने में मस्त-उन्मत्त पाकर चकित हुई। फिर भी अपनी आदत के अनुसार छवि ने कुछ नहीं कहा। नन्दलाल ने जाना तय किया तो होरेन दादा ने बताया कि उनके बिना उनकी रक्षा कौन करेगा। सब कलकत्ता पहुँचे। रास्ते में अन्यान्य प्रकार की व्यवहार-सम्बन्धी और बुद्धिपूर्ण सलाहें देकर उन्होंने स्वयं को इनका बुजुर्ग घोषित कर दिया। छवि उस अड्डे वाली बात भूल गया और होरेन बाबू फिर से होरेन दादा हो गये। नन्दलाल ने चाहते हुए भी उनसे ढँग से बातचीत किया करता था। कलकत्ते की वह सह-यात्रा असफल रही। कुछ ही दिनों में खाने के भी लाले पड़ गये। उस समय दादा ने एक बंगाली परिवार की सहानुभूति प्राप्त कर एक कोठरी पाई और खुद ही सड़क के किनारे की एक पटरी पर एक दरी छाल चन्दन लगा, पोथी-पत्रा ले स्थापित हुए और ज्योतिषी कहलाये। छवि और नन्दलाल उनके शिष्य बने। जब ग्राहक न मिलते तो उनके दोनों तरफ बैठकर हाथ दिखाने लगते। होरेन दादा यात्रा का योग बताते। छवि को 'तुम बहुत बड़े आदमी बनोगे' कहकर आश्वासन देते और 'अब परिस्थिति कोई विशेष चिन्ताजनक नहीं है' कहकर धीमे से मुस्करा देते। तभी ग्राहक जुटने लगते। भीड़ होने लगती। दादा के बिस्तरे पर पाँच आने, दस आने और सवा रुपये आकर गिरने लगते। नन्दलाल दायें से और छवि बायें से खिसक जाते। शाम को दावत होती और अगले दिन की चिन्ता!

पर ये दिन बहुत दिनों नहीं चले। होरेन दादा को खोखलापन विज्ञ जनों को ज्ञात होने लगा और आदमी घटने लगे। तब जैसे आपस में एक खास क़िस्म की खींचातानी रहने लगी। एक दूसरे पर दोष लगाना उन सब का दिन भर का पेशा हो गया। वही दादा अब विश्वसनीय नहीं रहे। जिस दिन वे दस आने लाते उस दिन नन्दलाल और छवि सोचते कि आधे लाये हैं और आधे कहीं छिपा रहे हैं। दादा के चले जाने पर उनकी जेबों की तलाशी होती और न मिलने पर उनको नीच और धोखेबाज कहकर अन्दर की व्यथा हल्की की जाती। छविनाथ बहुधा अपनी गति पर विचार करता तो उसे लगता वह काफी नीचे खाई में पहुँच चुका है। जरा-सी भूख-प्यास उसके संतुलन को विकृत कर डालती। सन्देह और भय उसके रोम-रोम

में व्याप्त हो गया। जिस जगह उस समय वह रह रहा था उस जगह के प्रभाव को ही वह अपने पतन का कारण मानता था। पर एक घृणित अकर्मण्यता उसमें फल-फूल रही थी जो अंदर बैठी अन्यान्य प्रकार की कुत्सित वृत्तियों को जन्म दे रही थी।

एक दिन फिर एक दुर्घटना घट गई। दादा ने केवल सात आने कमाये थे। उसमें मुश्किल से दो आदमियों का पेट भरता था। होरेन दादा ने घोषणा की, "मैं और छवि खायेंगे। नन्दलाल को नहीं देंगे। उसकी जहाँ इच्छा हो खाये-पीये। हम उसके जिम्मेदार नहीं हैं। वह निठल्ला है।"

छवि का चेहरा फ़क पड़ गया। मुँह से बोल नहीं निकला। नन्दलाल का यह अपमान। पर स्थिति समझ और खाने के लालच में छविनाथ धीमे से मुस्कराकर बोला, "कैसी बातें करते हो दादा, खाने दो न उस बेचारे को भी। वह भी तो अपना ही आदमी है।"

नन्दलाल ने हँसती आँखों से छवि की तरफ देखा पर चुप बना रहा। होरेन दादा ने हुँकार भरी, "नहीं।"

छवि और होरेन दादा दोनों उस पैसे का सदुपयोग करने चले गये।

अगले दिन नन्दलाल ने छविनाथ से कहा, "मेरे साथ घूमने चल सकोगे?"

छवि ने पूछा, "कहाँ?"

"जहाँ ले चलूँ, कभी तो चले चला करते थे पर आज अधिकार से कह नहीं सकता, विनती है..."

छविनाथ चला नन्दलाल ने अपना तमाम सामान उठा लिया था। देखते हुए भी छविनाथ उसे रोक नहीं पाया। साहस नहीं कर सका। साथ हो लिया। नन्दलाल ने एक बाज़ार में जाकर अपना कम्बल दिखाया और सात रुपये में बेच पैसा जेब में रखा। हँस कर बोला, "पर्याप्त है," फिर धीमे से सरककर एक बंगाली रैस्ट्रॉं में पहुँच, छवि के हाथ-पर-हाथ रखकर बोला, "क्या-क्या खाओगे?"

छवि ने कहा, "कुछ नहीं।"

"ऐ बैरा, कुछ नहीं लाओ... छवि बाबू संकोच बुरी चीज़ है, उसमें पाप रहता है।"

"फिर वह रुका नहीं। रसगुल्ला, चमचम और रसमलाई के साथ पूरियाँ मँगाकर उसने पेश की, कहा, "छविनाथ, तुम्हें मेरी क़सम, खाओ।"

छविनाथ को खाना पड़ा। बहुत दिनों बाद वैसे पदार्थ मिलने से उसे विशेष आनन्द की प्राप्ति हुई। पर उसकी झुकी पलकें नन्दलाल के सामने उठी नहीं। नन्दलाल ही फिर मेज़ के नीचे से उसके पैर-पर-पैर रखकर बोला, "मेरा स्नेह लौटा दो छवि।"

छवि ने गर्दन और झुका दी।

"मैं आज जा रहा हूँ छवि, शाम की गाड़ी से!"

छवि ने इस बार अपना हाथ नन्दलाल के हाथ में रख दिया।

"छोड़ने चलोगे?"

छविनाथ उठकर भागकर रैस्ट्रॉं से बाहर आ गया।

शाम को नन्दलाल घसीटकर छविनाथ को स्टेशन तक ले आया। वह बिना टिकट गाड़ी

पर बैठ रहा था। एक आने का प्लेटफार्म लेकर छविनाथ के हाथ में देते हुए उसने कहा, "मेरे चले जाने पर वापस चले जाना।"

और रेल पर चढ़कर उसने कहा, "चले दोस्त, शायद फिर कभी न मिलें। नमस्ते. छवि···मेरी कोई ग़लती हो तो···"

छवि ने जोर से जाती हुई रेल को सुनाकर कहा था, "हम मिलेंगे, मिलेंगे नन्दू···" पर जवाब में नन्दलाल मात्र मुस्करा दिया था। बोला कुछ नहीं था।

नन्दलाल चला गया। होरेन दादा से छवि को एक घृणा-सी हो गई। और कुछ दिनों बाद जब वह बोले, "यहां एक विल्सन क्लब है। एक अड्डा है, जहाँ 'यह' काम करना होता है, तो छवि ने उनकी तरफ़ मुँह करके थूका और भाग आया। उन्होंने दूर तक उसका पीछा किया पर मुक्त होने के लिए छटपटाते हृदय से छविनाथ भागा चला गया···फिर फ़ैसला हुआ। जाना निश्चित हुआ। दादा उसे स्टेशन पर छोड़ने आये और छवि ने आश्चर्य से देखा कि बिछुड़ने के समय दादा की आंखें भी गीली हैं, नम हैं, खूब नम!

13

बानो ने उस शाम कई दिनों बाद सितार को हाथ लगाया। सुर बँध गये तो आस-पास की दिशाओं में एक तरल अमूर्त्त रस बहने लगा। बानो लगभग स्वप्नाविष्ट थी। लगता था जैसे चारों ओर सौन्दर्यचूर्ण बिखर उठा है। उसकी दो बड़ी-बड़ी जड़ाऊ आँखें मुंदी थीं। कभी-कभी उन पलकों में सिलवटें पड़तीं और लगता कि अब खुले मुंदे नयन, पर वे अधखुले होकर रह जाते। वह खुद में लीन थी। वैसे स्त्रियां ज्यादातर औरों से लीन होती हैं पर बानो आज···

घर में नौकरों-चाकरों के सिवाय और कोई नहीं था। बानो का मन पूरी तरह डूब चुका था। तभी खलील मियां धीमे-धीमे चलकर उसके पास पहुंचे और संगीत के उस रस में डूबते-उतारते मन्त्रमुग्ध-से उसी के पास पड़ी एक कुर्सी पर बैठ गए। पर उनके बैठते ही बानो का प्रवाह छिन्न हो गया। आँखें उसकी मुंदी थीं और फिर भी उसे उनके आने का पता चल गया। धीमे-धीमे उसने सितार के सुरों को गिरा दिया और उसे नीचे रख भाई जान को सलाम किया। भाई जान ने आदाब का जवाब तो दिया पर बुझे मन से, बोले, "क्यों हमारे आते की बन्द क्यों कर दिया बानो?"

बानो मुस्कराई, बोली, "आप आज कितने दिनों बाद आये हैं। फिर तौरतरीके तो सब आप से ही सीखे हैं। क्या इतना भी मुझे नहीं आता कि आये मेहमान से कैसा सलूक किया जाता है। पर आज यह रास्ता किधर भूल गये?"

भाई साहब ने एक मिनट चुप रहकर कहा, बानो, एक बात पूछ सकता हूं कि जो एक जवान-सा हिन्दू छोकरा तुम्हारे यहाँ महीनों से पड़ा है, वह कौन है?"

बानो ने कहा, "छोकरा क्या मानी, छविनाथ बाबू से मतलब है, ? पर वे तो मेरे पति हैं।"

"पति हैं?"

"आं-हाँ, सुनील उन्हीं का बेटा है।"

"पर वह तो हिन्दू है।"

बानो जोर से हँस दी, बोली, "तभी तो पति हैं, नहीं तो खाविंद न होते।''' अच्छा छोड़ो, चाय पिओगे !"

भाई जान नाराज हो उठे। ऊँच-नीच समझाया। बताया, "माना कि तुम नाचती-गाती हो, पर तुम इस तरह सबकी उपेक्षा करके अपनी अलग दुनिया नहीं बना सकतीं। बाहर की दुनिया से तुम्हें सरोकार रखना पड़ेगा। तुम्हारा पति हो सकता है पर अपनी ही जात-विरादरी का भी हो सकता है।"

बानो चुप रही। उसने कोई भी स्पष्ट उत्तर नहीं दिया। पर भाई साहब ने जब फरमाया कि मैं जानता हूँ कि 'छविनाथ ठग के सिवाय और कुछ नहीं हो सकता, जो इतने दिनों तक मुफ़्त में तुम्हारी रोटियाँ तोड़ता रहा है' तो बानो ने अत्यन्त शान्त स्वर में कहा, "आप आज जाइयेगा नहीं क्या ?"

"निकाल रही हो ?"

"ना, जाने को कह रही हूँ, बात में फ़र्क है।"

भाई साहब लाल हो उठे, बोले, "पर उस काफ़िर को सब कुछ कहे बिना तो जा नहीं सकूंगा, बानो !"

बानो के होंठों पर अब भी स्मित था। बोली, "सब कुछ क्या ?"

"कि वह नीच है, कि वह''' "

बानो ने धैर्य से कहा, "वह सब सुन चुके हैं, बहुत देर तक आप के पीछे खड़े रहे और अब पास के कमरे मे है। आपका फ़र्ज पूरा हो चुका है। अब आप जाइये।"

छविनाथ से मुँह-दर-मुँह बात करने का ख़लील साहब को बड़ा अरमान था। पर यह सुनकर कि वे सब सुन चुके हैं, तो उनका साहस छिन्न-भिन्न हो गया और वे तत्काल ही उठकर चले गये। बानो धीमे-धीमे चलकर छवि के पास पहुंची। छवि कुर्सी में बैठा सोच रहा था। चेहरे को देखकर कोई भी उसके भीतर का हाल नहीं जान सकता था। वहाँ जैसे घृणा और विध्वंस खरल में घुटकर चेहरे की त्वचा पर बारीक परत के रूप में पुते थे।

बानो ने कहा, "घूम आये ?"

"हाँ।"

"कैसा लगा 'ऐलीफ़ैन्टा केवूस' !"

छविनाथ लगभग प्रसन्न भाव से बोला, "शायद अच्छा नहीं लगा, उस त्रिमूर्ति और उस पर्वत शिखर के सामने मैं इतना छोटा हो आया कि मन रुग्ण हो उठा। वह मुझे अच्छा नहीं लगा। बड़ी लकीरें और लकीरों को छोटा करने के लिए ही होती हैं न ?"

बानो हँस दी, बोली, "लकीरें जो छोटी हैं उन्हें छोटे होने का दुःख क्यों हो भला ?"

"छोटा हूँ न, तुम्हारे टुकड़ों पर पल रहा हूँ, इसी से छोटा हूँ।"

बानो सकपका गई। उसने बात का यह पहलू सोचा ही नहीं था। अनायास उसे रोना आने लगा। उसने स्वयं कई बार छवि का अपमान किया था और आज एक और जन आकर खुल्लमखुल्ला उसे ठग और उचक्का बता गया है। इसी अपमान की पीड़ा से छवि वैसा कह रहा है। उसने आज तक अपनी मर्यादाएँ नहीं तोड़ी थीं पर आज सब भूल वह एकदम छवि के पास जा उसका हाथ पकड़कर बोल उठी, "छवि, वह सब माफ़ करने काबिल नहीं है, मैं तुमसे

क्षमा नहीं चाहती। लो, मुझे दंड दो।" कहते-कहते वह छवि के पैरों के बैठ गई। अपना मुँह छवि की ओर उठा दिया, कहा, "मारो, दोनों हाथों से मारो छवि ! मेरा भरोसा रखो, मुँह नहीं मोड़ूँगी।"

छवि ने हाथ से उस छविपूर्ण मुख को धकेल कर परे हटा दिया और क्रोध से बोला, "स्त्री के साथ जब नाटक देखता हूँ तो अचरज नहीं होता।"

बानो ने कहा, "छवि , तुम्हें मेरी कसम, पाँव पड़ती हूँ, मुझे सज़ा दो ?"

छवि ने कहा, "मैं जाऊंगा।"

"नहीं, अब तुम नहीं जा सकते।"

"तुम मुझे रोकने वाली कौन होती हो, मैं जाऊंगा।"

बानो ने कहा, "तुम नहीं जा सकते। और फौरन निश्चय करो कि कौन-सा व्यापार तुम्हें रुचेगा। मैंने सोच लिया है छवि, कि तुम यहीं रहोगे और उम्र भर रहोगे ?"

व्यापार छवि ने तत्काल ही नहीं बताया। अगले दिन शाम को कहीं से लौटकर बताया। उस दिन दोपहर को अकेला ही वह किसी से मिलने गया था। लौटकर आया तो लगता था कि प्रसन्न है। बानो से उसने व्यापार की बात की और साथ चलकर एक जगह कुछ तय करने के लिए कहा और बताया कि लगभग बीस हज़ार रुपया उस व्यापार में खर्च होगा। व्यापार ऐसा है कि फिर पैसा-ही-पैसा दीखेगा···

और बानो ने देर नहीं की। जेब में बीस हजार रुपया नगद डाला और छवि के साथ अगले ही दिन चल दी।

अगले ही दिन छविनाथ को बम्बई से भागना पडा। कारण उसके अनेक थे पर मुख्य एक ही था, वह संक्षिप्त में आपको सुना दे। छविनाथ ने जिस व्यापार की बात की थी, वह उसे पता था कि व्यापार नहीं है, धोखा है। रुपया बानो को उसमे खोना था और कमीशन में पाँच-पाँच हजार छविनाथ और होरेन दादा को पाना था। मामला अंतिम सीमा तक पहुँचा। पर जिस समय बानो मुस्कराकर रुपया सौदे के एडवान्स के रूप में ठगों को देने जा रही थी कि छविनाथ को न जाने क्या हुआ कि उसके कान में कुछ कह डाला। बानो ठिठकी। ठगों ने भाँप लिया। जबर्दस्ती पैसा ले लिया गया। बानो को अड्डे से बाहर कर दिया गया और छविनाथ की जान पर बन आई। पर बानो भी तत्पर थी। उसे सब कुछ पहले ही आभास था। कुछ आदमियों को लेकर धीरे-धीरे उसने उस क्लब में फिर प्रवेश किया। क्लब में जो कुछ हुआ वह कल्पनातीत था। छविनाथ बच गया और बानो उसे सकुशल घर तक ले आई। छविनाथ स्तब्ध था। घर पहुंचकर जब पूरी स्थिति पर फिर नजर डाली तो कांप कर रह गया। बानो भी थकी थी। पर छविनाथ की तरफ से चिन्तित थी। इसलिए उसके पास ही बैठी तो रही पर बोलने की सामर्थ्य उसमें भी नहीं थी।

14

घन्टों वे इसी तरह गुमसुम बैठे रहे तो साहस कर छविनाथ ने ही कहा, "बानो !"

बानो ने पलकें उठाईं, बोली, "कहीं तुम्हें चोट वगैरह तो नहीं आई ?"

"नहीं।"

"शुक्र है, खुदा का!"

"सुनो बानो, मुझे दिल्ली भिजवा दो।"

बानो चुप रही।

"बानो, मैं घर जाऊँगा।"

बानो फिर भी चुप ही बनी रही।

"बानो मुझे जाने दो, मुझे रोको मत।"

बानो ने धीमे से दोनों पलकें उठाकर छविनाथ की तरफ देखा। उन में नमी थी।

छविनाथ चीख उठा, "यह रोने-धोने का क्या ढोंग है बानो। मैं जो करूंगा तुम क्या मुझे करने नहीं दोगी।"

और वह उठा। अपने कमरे में पल को गया। जूते पहने और बानो से कहकर कि 'स्टेशन जा रहा हूँ' घर से बाहर हो गया।

बानो की पलकें पूरी तरह भर आई थीं। उसने हल्की-सी एक करवट लेकर किसी को पुकारा। आदेश दिया "एक टिकट दिल्ली का लेकर, छविनाथ बाबू को ढूँढ़कर उन्हें दे देना— और कल सुबह तक मैं सोऊंगी, कमरे में कोई न आये, खाना-पीना सब बाद में ही होगा।"

दिल्ली के स्टेशन पर छविनाथ उतरा तो रात के आठ बजे थे। स्टेशन की बत्तियों ने विशाल हवेली को पीला कर डाला था। दूधिया नीले रंग में छविनाथ ने अपने कपड़ों को देखा। उसे वे ज़रा भी मैले नहीं लगे। पर छविनाथ बहुत दूर तक उन्हें देखता रहा तो उसे लगा कि अत्यन्त मैले हैं। बदलने को कुछ नहीं था। सो इस हालत में यदि वह घर पहुचेगा तो माँ क्या कहेंगी। भाई क्या कहेंगे। भाभी क्या कहेगी और सरपट—छविनाथ को लगा जैसे वे सब अनायास उसके चारों तरफ घिर आये हैं और मुस्करा-मुस्कराकर कह रहे हैं कि तेरे कपड़े मैले हैं। किस घमण्ड पर घर से निकल भागा था ? यही तेरा दम्भ था ? और था तो वापस क्यों लौट आया है ? डुबकर मर क्यों नहीं गया, सब को ठुकराकर गया था···अब ? पर तभी छविनाथ के भीतर से एक आवाज आई ! मन पर एक और दृश्य खिचा कि माँ दौड़कर हलवा पूरी बनाने दौड़ पड़ी हैं। भाभी ने हाथ से गर्म पतीली दूर फेंककर, सरपट को धकेलकर सास के हाथ से सूजी की थाली छीन ली है और सरपट ने गिरते-पड़ते दौड़कर चाचा के पायजामे को पकड़ लिया है और कहने लगा कि 'चाचा अब तो नहीं जाओगे ?'····

पर घर उसे उस रात नहीं मिला। जहाँ पहले रहते थे, पता चला कि अब वहाँ नहीं रहते और माँ अब नहीं हैं, उसके घर छोडने के कुछ ही दिनों बाद दुनिया छोड़ चुकी हैं···छविनाथ लौटकर स्टेशन के सामने के कम्पनी बाग में लेट रहा। रात के ग्यारह बज चुके थे। पहले छविनाथ ने माँ को याद करके रोना चाहा। पर वैसा कर नहीं सका। थकान और भूख से उसका शरीर चूर-चूर हुआ पड़ा था। वह कब सो गया उसे पता ही नहीं चला। आँख खुली तो सूरज काफी चढ़ चुका था। छविनाथ की थकान कुछ कम हुई। उसने कमर कसी और घर की ओर चल पड़ा।

घर शब्द पर छवि को बड़ा लालच था। जिस दिन से घर छूटा था उस दिन से जो-जो उसने भोगा था वह उसे याद आ रहा था। उन अभिशप्त क्षणों की याद से ही उसका शरीर सिहर उठता था। रास्ते में पैदल चलते हुए उन सब बातों को याद करते-करते न जाने कहां से उसके दिमाग़ में एक प्रश्न आया कि इस सब दुर्भाग्य के मूल में कौन है ?

उसने सोचा, पर उसे कोई उत्तर अपने अन्दर से प्राप्त नहीं हुआ।

घर के दरवाज़े में घुसते ही उसने देखा कि भाभी बर्तन माँज रही हैं। उनकी पीठ दरवाज़े की तरफ है और खुले सिर के खुले बालों की लड़ियां उनकी कमर से खिसक-खिसककर उनके गालों को छू लेना चाहती हैं। वे उन्हें बार-बार पीछे हटा देती हैं। कई मिनट तक छविनाथ चुपचाप भाभी को देखता रहा। उसे वह पहले से कुछ दुबली लगीं। कमर कुछ अधिक झुकी हुई प्रतीत हुई। उसने कई बार चाहा कि भाभी को पहले ही की तरह 'हो-हो' करके चौंका दे, पर नहीं कर सका और जब एक सात-आठ साल का बच्चा अपनी माँ की और उसकी ओर आश्चर्य से देखने लगा तो वह कुछ सचेत हुआ। फिर जब और भी छोटे-बड़े दो-तीन बच्चे उसके पीछे आ लगे तो वह एकदम सजग हो गया। यह उसने सोचा ही नहीं था कि रवि भैया के सरपट के सिवाय और भी बच्चे हो सकते हैं। और इससे पहले कि बच्चे शोर मचा दें उसने स्वयं ही कहा, "भाभी नमस्ते !"

भाभी ने मुड़कर देखा और देखती रह गई। पर छविनाथ ने आँखें मूँद लेनी चाहीं। भाभी का यह कैसा रूप था। रंग एकदम काला पड़ गया था। चेचक के दाग उठकर खड़े हो गये थे। आँखों के नीचे की कालिस पूरे चेहरे की कालिस से कुछ अधिक गहरी थी और आंखों के अन्दर नीलिमा बिलकुल सफेद होकर पपोटों की कालिस की शेडिंग के साथ चमकदार हो गई थी। छविनाथ चुप था और छलनामयी भी चुप ही थी। दोनों से अब [illegible] झेली नहीं जा रही थी। छविनाथ ने दुहराया, "भाभी नमस्ते !" पर नमस्ते का स्वर उसमें [illegible] मात्र भी नहीं था। वह जैसे एक बड़ा-सा प्रश्नचिन्ह था कि 'भाभी कैसी हो तुम' तुमने अपनी यह क्या हालत बना रखी है ?"

पर भाभी नहीं बोली। चुपचाप मुँह फेर कर हाथ धोकर उठ खड़ी हुई और घर के अन्दर घुसती हुई बोली, "आओ।"

छविनाथ ने पीछे चलते-चलते जान-बूझकर कहा, "माँ नहीं दीखती हैं ?"

छलनामयी का मुँह छविनाथ को दिखाई नहीं पड़ रहा था। प्रश्न ने किस तरह उसे हिला दिया है यह वह नहीं देख पाया। उसे तो केवल उत्तर ही सुन पड़ा, "मर गई।"

छविनाथ चौंका। माँ के मरने की खबर से नहीं वरन् भाभी के बोलने के ढंग से। माँ के लिए, क्या इतनी आसानी से 'मर गई' कहा जा सकता है ! वह चुप रहा तो छलनामयी ही फिर बोली, "तुम्हारे जाने के कुछ ही दिनों बाद मर गई थी। भाई तुम्हारे स्कूल गये हैं, रोज के आठ रुपये कमाने। दो रुपया फ़ी बच्चा। समझे, बैठो। बैठकर कुछ कहो, कुछ सुनो। पर...पर ! अरे हाँ, खाने को तो पूछा ही नहीं, खाना खाओगे ना ?"

छविनाथ बैठा नहीं, लेट गया। बैठा रह सकने के क़ाबिल वह रहा ही नहीं था। भाभी के व्यवहार ने उसे अप्रत्याशित रूप से दंग कर दिया था। वह सोच रहा था—यह उसकी वही भाभी है ? या...

15

कोई दो घण्टे बाद नहा-धोकर भाभी के सामने बैठकर खाना खाते छविनाथ ने पूछा, "रवि भैया कितने बजे आते हैं ?"

छलनामयी ने कौंचे से तेल में तिलमिलायी पूरी को उलटकर पलट दिया। बोली, "कोई ठीक है देवर जी, कब आते हैं। यहाँ आते तो उनका दम घुटता है। बस चले तो न ही आयें। बस नहीं चलता। इसलिए जब देखते हैं, कहीं और ठौर नहीं, आ जाते हैं। खा-पीकर सो रहते हैं। यही···लो न देवर जी, एक और लो।"

"नहीं भाभी, और नहीं।"

छलनामयी बोली, "क्यों, मेरे हाथ की पूरियाँ अच्छी नही लगतीं ?"

"भाभी !"

रुष्ट-सी छलनामयी ने कहा, "देश-विदेश का पानी पीकर किसी को चौक के कुएँ का पानी अच्छा लगा है, जो तुम्हें लगेगा।"

और झन्न से कौंचा पटककर छलनामयी रसोई से उठकर चली गई। छविनाथ भाभी के हाथ का खाना एक मुद्दत बाद खाने बैठा था और उसे एक अन्यथा स्वाद आ रहा था, पर भाभी के इस परिवर्तित स्परूप को अनुभव कर उसके मुँह का स्वाद अनायास बिगड़ गया। छविनाथ ने अपने हृदय में माँ की, भाभी की और भाई की बहुत मनोहर मूर्तियाँ स्थापित कर रखी थीं। माँ मर चुकी थी। उसके लिए इन पिछले दो घंटों में छविनाथ चाहकर भी दो आँसू नहीं बहा सका था। उसे भाभी में ही एक आश्वासन मिल रहा था। पर जब उसने देखा कि भाभी तो अब वह भाभी नहीं हैं, एकदम बदल चुकी हैं तो माँ को याद कर वह अत्यन्त व्यथित हो उठा। अन्दर जाकर खाट पर लेट रहा और छाती से उठने वाले आँसुओं को रोकने का भरसक प्रयत्न करने लगा।

शाम को रवि आए तो छवि को देखकर रोने लगे। बहुत देर रोते रहे, फिर बोले, "यह शक्ल क्या बना रखी है ?"

छवि को चोट लगी। सोचा, भाई उसकी निर्धनता पर व्यंग कर रहे हैं। बोला, "यों ही ठीक, तो है !"

रवि ने कहा, "ठीक है क्या मानी ? यह छवि की शक्ल है ? सारे चेहरे पर अत्याचार और अनादर के चिन्ह हैं। जैसे न मालूम···छवि, माँ तुम्हें बहुत याद करती गई है। उनकी आत्मा को शान्ति यदि देना चाहो तो अब ढँग से···छवि, तुम्हारी भाभी, बहिन सरिता और यह सरपट तुम्हें कितना-कितना याद करते रहे, तुम जानते हो ? पर आश्चर्य है कि एक दिन भी तुमने हमें याद नहीं किया, चिट्ठी नहीं डाली। माँ···छवि, उसके अन्त समय का रोना, छवि ! मुझे तो आज भी रोना आता है।"

रवि बाबू कितने बदल गए हैं, छवि ने अनुभव किया। चेहरा बदल गया, बातचीत करने का ढंग बदल गया और···उनके चारों तरफ की दुनिया भी बदल गई।

रात को खाट पर लेटकर छवि ने मुँह उठाकर भाई को देखा। उस चेहरे पर आज भयानक

रुग्णता थी। ऐसा लग रहा था जैसे वह बात करते करते न जाने कब रो दें। पर रवि के प्रश्न से छविनाथ का वह भीतर तक बैठा हुआ भ्रातृ-गर्व अनायास ठेस खा गया। रवि ने पूछा, "छवि, आगे का क्या प्रोग्राम है ?"

छवि से तत्काल कुछ उत्तर न बन पड़ा।

रवि फिर कहने लगा, "जमाना बहुत बुरा आ गया है, छवि ! भयानक है; इतना बड़ा पैसे का जमाना शायद पहले कभी न आया होगा। आज नाते-रिश्ते कुछ हैं ही नहीं, बस पैसा-ही-पैसा है। इसका अर्थ यह नहीं कि खून के रिश्तों की कोई कीमत नहीं है। है, पर वह भी पक्के तभी रह सकते हैं जब पैसों का व्यवहार ठीक रहे। आज कोई किसी के लिए दस पैसे खर्चने को तैयार नहीं। तैयार हो भी कैसे ! उसके पास सुभीता ही नहीं है···पर छोड़ो ! आज ये सब बातें रहने दो। कल बातें होंगी। थके होगे, सो जाओ ?"

बहुत देर तक दोनों चुप पड़े रहे। एक तरफ़ भाभी भी पड़ी थीं और चुप थीं। ऐसा लग रहा था, सब सो गए हैं। पर तभी रवि बोला, "छवि, हम लोगों की याद तुम्हें पल भर भी नहीं आई ?"

छवि ने करवट ली, बोलना चाहा। पर बोल नहीं सका।

रवि जैसे आप-ही से बोला, "आश्चर्य है !"

फिर बहुत देर तक चुप्पी रही और रवि ने ही फिर उसे तोड़ा, बोला, "पूरे सात साल बीत चुके हैं। सब कुछ बदल गया है। मैं भी, तुम्हारी भाभी भी, घर-बार का तौर तरीका भी। देखने में मॉडर्न लगता है। पर छवि, वह पहले जैसी अगाध शान्ति अब नहीं है। तुम जैसे सब अपने साथ ले गये···माँ ने रोते-रोते प्राण दिए। भाभी तुम्हारी जाने कैसी हो गई है। मेरा मन उखड़ा-उखड़ा रहता है। खर्च तो जैसे-तैसे चला लेता हूँ, पर शान्ति मैं नहीं ला पा रहा। छवि, पहले हमारे घर में कितनी ग़रीबी थी, तुझे याद है, पर घर की शान्ति में कभी खलबली नहीं मची···और छवि सत्या की शादी हो चुकी है। उसके एक बच्चा भी है।"

पल को छवि सिहरा, फिर चुप हो रहा।

रवि फिर बोलने लगा, "उस दिन तुम अपनी भाभी पर दोष लगाकर चले गये। पर वह कितनी निर्दोष थी, काश ! तुम जान पाते। सच कहता हूँ छवि, इसने इस घर के लिये अपने आपको नेस्तनाबूद कर लिया।"

छवि ने पलकें उठाकर भाभी की चारपाई को देखा। पर मुँह न देख सकने के कारण कुछ देख नहीं पाया। उसकी आँखों में आँसू आने को हुए। रवि ने फिर कहना शुरू किया, "छवि, बचपन की बहुत-सी बातें तुम्हें याद न हों पर मुझे याद हैं। तुम्हें मैं कितना प्यार करता था। कितना मैं तुम्हारे लिए रोया हूँ। छवि, इस तुम्हारी भाभी ने भी तुम्हें कम नहीं चाहा, पर···"

अप्रत्याशित रूप से अनायास करवट लेती हुई अत्यन्त धीमे स्वर में छलनामयी ने कहा, "मैंने किसी को नहीं चाहा।"

रवि ने फिर कहा, "तुम्हें स्वयं शायद नहीं मालूम छलना, पर मुझे मालूम है कि प्रेम का कैसा एक सोता रात-दिन तुम्हारे हृदय से प्रारम्भ होकर तुम्हारे रोम-रोम में प्रवाहित होता रहा है। पर इस परिवार के प्रत्येक प्राणी ने उस सोते पर एक बाँध खड़ा करने की चेष्टा की···माता-पिता ने शीघ्र ही मरकर तुम्हें चोट पहुँचाई। छवि, जिसे तुम सबसे अधिक प्रेम

करती थीं, तुम्हें ठुकराकर चला गया।···रहा, मैं, मैं तो जीवन भर तुम्हें सुख नहीं दे सका।···छलना, देखो छवि लौट आया है।"

छलना बोली, "पर अब तो मेरे पास कुछ बचा नहीं। कुछ ये पहले ही समाप्त कर गए थे। कुछ इनके बाद तुमने कर दिया और रूप-गुण, सब ही जानते हैं, मेरे पास कभी रहे ही नहीं।"

एक सन्नाटा छा गया। घुप अंधेरे में किसी का चेहरा नहीं दीखा। पर बोल उसके बाद कोई नहीं पाया। इतनी गहरी निस्तब्धता में इन तीन जनों के हृदयों में बड़े-बड़े तूफान उठते, मचलते रहे यह सिवाय इन तीनों के कोई जान नहीं पाया।

16

अगले दिन सुबह छलनामयी ने देखा कि छविनाथ गहरी नींद में सो रहा है। उसके चेहरे पर पहले जैसा सौरभ नहीं है। पहले जैसी चुलबुलाहट नहीं है, क्लान्त वेदना की एक झीनी-सी चादर है। जिसके नीचे से उसका भूत झाँककर एक व्यंग भरी मुस्कराहट मुस्करा रहा है।

छलनामयी को अपने पुराने स्नेह-भरे दिन याद आ गए। उन दिनों के प्रेम से पास-पड़ोस के लोग ईर्ष्या करते थे। माँ ममतामयी तक कभी-कभी कुढ़कर कह दिया करतीं कि देवर और भाभी तो हमने बहुत देखे पर ऐसे नहीं देखे। छलनामयी ने एक बार फिर छविनाथ की तरफ देखा। उसका मातृ-हृदय इस मातृविहीन पुरुष-शिशु के लिए करुणा से भर उठा। उसने पास आकर छवि को धीमे से सहलाया। जगाते हुए कहा, "देवरजी, सोते रहने की बुरी आदत डाल ली है तुमने। उठो, चाय पी लो।"

छविनाथ ने करवट ली। आँखें खोलीं। देखा कि भाभी पास खड़ी जगा रहीं हैं।

छलनामयी ने फिर कहा, "उठो देवरजी, चाय पी लो। मुँह-हाथ धो डालो, चाय तैयार हुई जाती है।"

चाय तैयार होने लगी। छविनाथ उठकर भाभी के पास बैठ गया। भाभी अनमनी थीं। कुछ देर चुप रहीं। फिर अनायास हथोड़ी जैसी चोट करती हुई बोली, "देवरजी, मुझे बरबाद करके तुम्हें क्या मिला?"

छविनाथ ने पल को भाभी की तरफ देखा। उसकी दोनों आँखें भर आईं। आँखों से आँसू झरने लगे।

छलनामयी की आँखों में स्नेह की जगह रोष झकोरे मारने लगा, बोली, "रोने बैठे हो देवरजी? पुरुष होकर रोने बैठे हो! पुरुष जानते हो किसे कहते हैं? पुरुष, यानी परुषता का अवतार, पत्थर की तरह··· देवरजी, रोओ मत, मुझे रोने से घृणा है।"

छविनाथ रो रहा था। उसके हृदय का सम्पूर्ण काठिन्य तलहटी में बैठा था। पर वाग्वाणों की यह अनपेक्षित बौछार उसको ऊपर तैरा लाई थी। अनायास वह बोल उठा, "भाभी, समझती हो, क्यों रो रहा हूँ?"

"नहीं!"

"नहीं समझती ?···मैं रो रहा हूँ कि तुम न जाने क्या हो गई हो। विश्वास और सेवा की मूर्ति, जिसे पूजकर···"

छलनामयी की दोनों आँखें विस्फारित हो उठीं। उसका काला गुलाबी मुंह एक दम काला पड़ गया। भाषण-सा देती हुई बोली, "और भी कहो देवर जी। मैं श्रद्धा की मूर्ति; तुम्हारी पूजा की थाली; दीप की बाती; जिस दिन ठोकर मार कर चले गये थे, उस दिन को याद कर सकते हो। और आज अपनी इस ज़रूरत के समय··"

छविनाथ ने धीमे से कहा, "ज़रूरत के समय ही तो हमेशा तुम्हारे पास आया हूँ भाभी। पहले तो कभी तुमने इस तरह निराश नहीं किया, फिर आज···"

भाभी ने छवि की ओर देखा, बोली, "चाहते हो, हमेशा मूर्ख रहूँ।"

पर धीरे-धीरे भाभी से छवि का मेल-जोल हो गया। रवि बाबू ने इसे शुभ लक्षण माना। समझा कि अब छवि बंधकर रह सकेगा। फिर अवसर देखकर इसका ब्याह कर देंगे। ऐसा हो सका तो माँ-बाप की आत्मा स्वर्ग में सुख प्राप्त कर सकेगी। रवि ने हमेशा इसी तरह सोचा है। वह किस तरह सुखी हो सके यही उसकी सोच की मुख्य धारा रही है। पर कोई किसी के सोचने से सुख पा सकता है ? जिस दिन से छवि लौटकर आया है, रवि का मन पल को भी शान्त नहीं रह सका है। शान्त रहता भी कैसे। जिस भाई के लिए सब से सुन्दर सपने उसने संजोये थे उसी भाई ने खुद को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला है। इस घर के प्रति ही अत्याचार कर लेता, पर अपने प्रति भी···

एक दिन रात को छवि सो गया था। बच्चे भी सो गये थे। रवि ने धीमे से पत्नी का हाथ सहलाते हुए कहा, "छलना, छवि कुछ कहता था ?"

"किस बारे में ?"

"अपने बारे में, उसका मन कैसा है ?"

"मन, मन का भला मैं क्या जानूं ? मुझ से तो कहते थे, मैं थक गया हूँ। अब कहीं जाने को मन नहीं करता। बस यहीं रहूँगा। और काम करूँगा।·· लगता है कि अपने किये पर बहुत पछता रहे हैं।"

रवि बहुत देर तक चुप रहा। फिर जैसे अपने आप से कह रहा हो, बोला, "वह तो ठीक है, पर विचित्र है उसके मन की स्थिति भी। जाने कब करवट बदल बैठे। छलना, इसे घर में रखते मुझे डर लगता है।"

छलना ने धीरे से पति की ओर देखा। जाने क्या उसके मस्तिष्क में आकर घूम गया। पर वह बोली कुछ नहीं। चुप बनी रही।

रवि ही फिर बोला, "देख छलना, छवि से मैं कितना प्रेम करता हूँ, तू जानती है, पर अब क्या करूँ। चार बच्चे हैं। महीने का खर्च कैसे चलता है, और···"

छलना ने बात काट दी। कहा, "फिर मुझे क्या सुनाते हो। मेरा मन लेते हो ? तुम्हारा भाई है, तुम कह दो।"

रवि ने कहा, "तुम कह दो।"

"मैं क्यों ?···क्या कह दूं ?"

रवि ने बताया, "काम करे और कहो उसे कि मेरे चार छोटे-छोटे बच्चे हैं। उनके प्रति

भी मेरा कुछ कर्त्तव्य है।"

छलमा अपने दोनों होंठ मरोड़कर मुस्करा दी, बोली, "कह दूंगी।"

17

अगले दिन दोपहर को छविनाथ जिस समय खाना खाने बैठा तो छलना ने बात शुरू की, बोली, "देवरजी, तुम में कुछ लाज शरम है ?"

छवि ने मुँह उठाकर भाभी की तरफ़ देखा। फिर पास बैठे भाई की तरफ। उसने समझा मजाक है। इसलिए फिर खाने में मन लगा लिया।

पर छलनामयी ध्यान से खाना बनाती हुई भी अपनी बात नहीं भूली थी। अगला फुल्का थाली में परोसती हुई बोली, "नहीं ही है शायद ?"

छवि चुप रहा, पर रवि झुँझुलाया-सा बोला, "यह क्या है छलना ?"

छलना मुस्कराई बोली, "न कहूँ ?"

"क्या न कहूँ ?"

"यही कि तुम अब नहीं चाहते कि देवरजी यहाँ रहें। यही कहने को तो तुमने रात मुझसे कहा था। इसलिए कि तुम्हारे भी अब छोटे-छोटे बच्चे हैं। तुम भी बहुत सी····"

पर छलना को और अधिक कहने का अवसर नहीं मिला। झन्न से उसके माथे पर गिलास का एक कोना आकर टकराया और छलना की 'सी' की आवाज के साथ ही खून का एक छोटा-सा चश्मा भी बह निकला। छवि की आँखो में पुराना खून खौल उठा। भाभी के प्रति उसकी दृष्टि हमेशा से अनुरक्त रही है। एक दिन पहले भी वह भाभी का पक्ष भाई के विरोध में खड़ा हो गया था, पर आज तो—

वह लाल-लाल आँखें निकालकर भाई की ओर मुडा, चीखा, "भैया!"

पर रवि का ध्यान उधर नहीं था। उसने छलना का बहता लहू देखा तो उसका सारा आक्रोश पानी बनकर बह गया। सामान्य सुस्थिर बुद्धि से उमने आगे बढ़कर छलना का माथा हथेली मे थामा और फुसफुसाकर बोला, "क्षमा, माफी चाहता हूँ छलना, मैं····"

छलना भी अब तक स्वाभाविक दशा में लौट आई थी, बोली, "क्षमा क्या, जो सात साल बाद आए अपने भाई को घर से निकालने की बात सोच सकता है, वह सभी कुछ कर सकता है।"

छलना ने बात कही और पति की ओर देखकर मुस्करा दी।

रात को फिर घर की सभा बैठी। छलना को पट्टी बंधी थी। वह अभी तक काम-काज से निवृत नहीं हो पाई थी। छविनाथ चुपचाप लेटा था। बच्चे खा-पीकर सो चुके थे। केवल सरपट साहब अपनी छोटी-सी किताब में न जाने क्या पढ़ रहे थे। रवि चारपाई पर ही बैठे थे और उदास थे। जब छलना भी काम-काज से निपटकर चारपाई पर आ बैठी तो रवि ने कहा, "छलना, आज जैसा अनर्थ इस घर में कभी नहीं हुआ था।"

छलना हँसी, बोली, "सोचती तो मैं भी यही हूँ, पर जाने क्यों आज क्रोध नहीं आ रहा।"

रवि चुप रहा। फिर छवि से बोला, "छवि, तुम भी मुझे क्या माफ़ नहीं कर सकोगे। मैंने वैसा सोचकर तुम पर और तुम्हारी भाभी पर..."

छवि ने फिर बात काट दी और धीमे से 'भैया' कहकर मुँह छिपा लिया।

वातावरण फिर शान्त हो उठा। पर पाँच ही मिनट बाद रवि ने एक अनोखे स्वर से बोलना आरम्भ किया। उस स्वर में थकान थी वेदना थी, एक लालित्य था, पर उस लालित्य में जैसे एक विष-सा कुछ घुला था। रवि ने कहा, "छवि, मैं और तुम जन्म से भाई हैं। भाई शायद दुःख-सुख के साथी को कहते हैं। यह तुम्हारी भाभी है। कल यदि मैं मर जाऊँ, जैसा कि अकसर लगता है कि अब मैं अधिक नहीं जी पाऊँगा, तो इन चार बच्चों को और इसे कौन संभालेगा, बोलो। बचपन में कभी यह सोचा भी नहीं था कि तुम मुझ से अलग हो सकते हो! पर हम अलग हुए और रात वास्तव में मैंने छलना से कहा कि मुझे छवि पर विश्वास नहीं है। इससे मुझे डर लगता है। पर छवि, सच मानना, वह अविश्वास मैंने तुम पर नहीं किया, अपने पर किया। अब देखो ना, कुछ बचत की दृष्टि से ही तो अपने भाई को अपने से दूर करने की बात मैंने सोची। ये बच्चे हैं। इनके लिये क्या कर पाता हूँ। खाना-पीना भी मुश्किल से जुट पाता है। सरपट सुबह सर्दी में दूध लाता है। लाना पड़ता है, क्योंकि मैं उस समय ट्यूशन के लिये जा चुका होता हूँ और यह...रोना नहीं रो रहा छवि, पर सच यही है कि छलना को आज मैंने मारा। छवि, आज तुम ही मुझे सजा दो तुम ही..."

छवि ने धीमे से कहा, "भैया!"

पर छलना इस बार चुप नहीं रह सकी। बोली, "क्या हुआ है तुम्हें?"

"क्यों छलना, सज़ा न माँगूँ?"

छलना बोली, "माँगो, पर देगा कौन?"

रवि ने कहा, "तुम, छवि, सरपट..."

छलना हँस दी, बोली, "सुन सरपट! बाप आज तेरे संत होने जा रहे हैं। रात को जागती रहूँ, कहीं महात्मा बुद्ध की तरह ये भी घरबार छोड़ भाग जाये और मैं गोपा की तरह और तू राहुल की तरह जीवन भर रोते ही रहें।"

रवि एक दम रुआँसा हो गये। समझाकर बोले, "संत नहीं छलना! यह व्यवहार की बात है। मैं जो तुम्हें जीवन भर..."

छलना ने फिर बात काट दी। रवि से न बोलकर छवि की ओर मुँह करके जोर से बोली, "चूरन की गोलियाँ नहीं ला दे सकोगे देवर जी, अपने इन भैया के लिए। आज इन्हें कुछ बदहज़मी मालूम पड़ती है।"

और वातावरण हल्का हो गया तो छवि ने कहा, "भैया! मैं वास्तव में बहुत अभागा हूँ!"

रवि ने शान्त भाव से कहा, "हम सब अभागे हैं छवि! हर आदमी जो काट नहीं सकता, छीन नहीं सकता, आज अभागा ही है। मैं और तुम ऐसा नहीं कर सके। याद है तुम्हें कृष्णशंकर की। वह सब कर सकता था। वह अभागा नहीं था, भाग्यवान था। कल ही उसकी चिट्ठी आई थी। तुम्हारे वापस लौटने की खबर वह पा गया है। तुम्हारे नाम उसने आशीर्वाद लिखा है।"

कृष्णशंकर का नाम सुनते ही छविनाथ की तमाम विद्रोही प्रवृत्तियाँ अनायास ही उच्छ्वसित हो उठीं। एक दीर्घ निःश्वास लेकर छवि ने उन्हें दबाया और यथासाध्य स्वर को कोमल बना, होंठों पर कृत्रिम मुस्कान लाकर पूछा, "कृष्णशंकर का नाम आज कैसे याद आ गया भैया!"

रवि ने कहा, "याद क्यों न आये। आखिर वह हमारा बड़ा भाई है। हमारे पिता जी का लाड़ला भतीजा था। उन्होंने जाने कितने रुपये खर्च कर उसे पढ़ाया-लिखाया था। कहते हैं वे उससे इतना प्यार करते थे कि क्या कहना। माँ उस पर जान देती थी। उसने कारबार फैलाया। भविष्य के लिए अर्थ-संग्रह प्रारम्भ किया। रिश्वत को रिश्वत नहीं माना, अकलमन्दी माना। आखिर एक दिन जाल में फँस गया। मुकदमा चला। पैसा पानी की तरह बहा और जब उसका अपना पैसा समाप्त हो गया तो चाचा की पुकार हुई। चाचा कृष्ण-स्वरूप! नंगे पाँव दौड़े गये। युद्ध ज़ोरों पर था। देखा कि भतीजा घायल है। बेहोश होकर गिरना ही चाहता है तो धैर्य से आगे बढ़ एक हाथ में दुधारी तलवार संभाल उन्होंने दूसरे हाथ से भतीजे की कौली भर ली। साथ ही उस अचेतप्राय के कानों में ये शब्द फुसफुसा दिये, "तू निश्चिंत रह वत्स"तुझे छवि, याद नहीं है, तू छोटा था। पर मुझे याद है। जिस रात कृष्णशंकर सपरिवार हमारे घर में आया था। माँ ने समारोह मनाया था। शंकर को उलाहने दिये थे कि उसने पहले क्यों नहीं बतलाया और उससे पूछकर जग-संसार को यह तसल्ली दी थी कि यह जो इतना बड़ा कांड उसके शंकर के खिलाफ खड़ा हुआ है, यह और कुछ नहीं है, दुश्मनी है सब लोगों की शंकर से कि ऐसा होनहार लड़का किसी और के है ही नहीं—सब जानते हैं।"

रवि रुका तो छवि ने कहा, "छोडो भैया।"

रवि उबल पड़ा, तीक्ष्ण कंठ से कहने लगा, छोडने को मैं कुछ पकड़ने जा रहा हूँ। आज अपनी और तुम्हारी दुर्दशा देखकर वह दिन याद आ गए। पिता की वह सस्ती भावुकता। पैसे को मिट्टी समझने की आदत का ही परिणाम है कि आज हम ज़रूरते तक पूरी नहीं कर पाते। उस मुकदमे में उन्होने कोई बारह हज़ार रुपया खर्च कर डाला। तीन साल में दो दिन भी प्रेस मे नही बैठ पाये। प्रेस का व्यापार चौपट हो गया। मुकदमे में हम हार गये शंकर को छः महीने की सज़ा हुई। पर आखिर वह भतीजा था हमारे पिताजी का। नाक न कट जाती अगर वह 'सी क्साल मे रहता। जेलर की असीम अनुकम्पा से वह 'बी' क्लास मे रहा और जेल के सिर्फ चार महीने भोगकर वापस लौट आया। रिश्वत का केस था पर जाने कितनी-कितनी रिश्वतें सरकार के अफसरों को पिताजी ने दीं। खैर, मुकदमा निबट गया और घर की हालत डाँवाडोल हो उठी। पर शंकर की छोटी बहिन का विवाह उसी स्थिति में हुआ और धूमधाम से हुआ। पिताजी के शरीर और उस कारखाने की खोखली हड्डियाँ एक-दम भरभरा उठीं। तभी एक और बात उनके सामने आई। विषय अत्यंत गम्भीर पर रुचिकर था। तू बहुत छोटा था छवि, पर मुझे याद है शंकर बाबू ने कारखाने में आधा हिस्सा माँगा था।"

छवि ने चौंककर भाई की आखों में देखा। मरु की तपती रेत की तरह वे आँखें रूखी थीं।

वह बोला, "हाँ, शंकर ने वह माँगा था। पिताजी ने देने से इनकार कर दिया तो उसने

प्रेस की उन खोखली हड्डियों को चकनाचूर कर दिया।"

"कैसे ?"

"कैसे क्या ? चुटकियों में। पिताजी ऊपर से कांग्रेस में नहीं थे पर अन्दर-ही-अन्दर वह कांग्रेस का बहुत काम किया करते थे। अंग्रेज़ी सरकार जानती तो थी पर प्रत्यक्ष प्रमाण कोई पकड़ नहीं पाई थी। शंकर बाबू ने खुद कलक्टर के यहां पहुँचकर वह प्रमाण दिये और प्रेस ज़ब्त हो गया। शंकर घर छोड़कर अलग रहने लगे। पिताजी जिनके नीचे साठ-सत्तर नौकर काम करते थे, इस शहर में आकर साठ रुपये की नौकरी करने लगे। मैं स्कूल में दाखिल हुआ। सुबह सात से एक तक स्कूल में और दो से रात के नौ बजे तक एक रबर स्टाम्प बनाने वाले की दुकान पर नौकरी। तब तो तू समझदार था छवि, तुझे याद होगा··· एक दिन पिताजी रात के बारह बजे तक कुर्सी पर ही बैठे-बैठे जाने क्या-क्या सोचते रहे। माँ और तू गाँव, नाना जी के पास गये थे। मैं उनसे बहुत डरता था। मैं भी रहा देखता कि वे सोएँ तो मैं भी सो जाऊँ। नींद बहुत तेज़ आ रही थी। डरते-डरते आखिर कहा ही—"ऐसे क्यों बैठे है पिताजी, सो जाइये न।' उन्होंने मुझे अत्यन्त स्नेह से देखते हुए कहा था, "बरसों से ऐसे ही तो बैठे-बैठे रातें बीती हैं रवि। अब तो कष्ट नहीं होता। आदत पड़ गई है। तू सो जा!" पिताजी कभी उच्छ्वास नहीं फेंकते थे पर उस दिन उनका वह करुण भिक्षुक-सा स्वर कुछ ऐसी ठेस··· छवि, ओ छवि! क्या सो गया ?"

रवि बाबू ने देखा कि इतनी ही देर में छलना और सरपट भी सो चुके हैं। और शायद छवि भी! उन्होंने धीमे से मुस्कराकर बदन सीधा किया और शान्ति से लेट रहे। आज उनका मन रोज़ से अधिक शान्त था।

सुबह छलनामयी ने सोये छविनाथ पर चादर डालते हुए कहा, "उठोगे नहीं देवरजी!"

छवि जागा और जागकर उसने भाभी की तरफ़ देखा। बोला, "चादर डाल रही हो और कह रही हो कि उठना नहीं है क्या ?"

"हाँ, वही तो। उठना तो चाहिये ही। पर काँप क्यों रहे थे, देवरजी ?"

छवि ने पल भर सोचा, फिर बोला, "काँप ही रहा था न। बड़ी ग़नीमत है। इस दुनिया को याद करके तो खूब जोर-जोर से फूट-फूटकर रोने को जी करता है। पर भाभी··· भैया चले गये क्या ?"

"हाँ देवरजी, वह चल गये हैं। कहते गये हैं कि छवि को उठाना मत। खुद ही उठे तो उठे।"

छवि उठकर बैठ गया। भाभी पांयतों खड़ी थी और टक लगाकर उस का चेहरा देख रही थी। उस समय वास्तव में छलना के आँसू भरे आ रहे थे पर उन्हें दबाये थी। पर छवि की एक बात ने उसके उमड़ते आँसुओं को बिलकुल घोंट दिया। बोला, "भाभी, क्या वास्तव में तुम मुझसे घृणा करने लगी हो ?"

"हाँ, वास्तव में।"

"क्यों ?"

"जिस दिन गये थे उस दिन की ठोकर क्या भुलाई जा सकती है। देवरजी वह क्या मामूली

ठोकर थी। उसने मेरे भीतर के सारे नेह-प्रेम को सुखाकर लकड़ी कर दिया है। वह लकड़ी अब भी कलेजे में अड़ी बैठी है। पर आज वह सुख नहीं देती, कष्ट देती है। न पिघल सकती है, न निकल सकती है। मुझे सारा कष्ट तुम्हारे ही कारण तो मिला। फिर भी आशा करते हो कि मैं तुमसे प्यार करूँ।"

छवि के हृदय पर घूँसा-सा लगा। वह फिर लेट गया। पहले यों ही लेटा रहा। बाद में चादर भी ऊपर सरका ली। पहले चुप रहा पर कुछ ही देर बाद फूटकर रो उठा। छलना करुण दृष्टि से रोते छवि को देखती रही पर बहुत देर वह खड़ी देखती न रह सकी। छवि ने पास बैठ गई और धीमे-धीमे उसके बालों में उँगलियाँ घुमाने लगी। कुछ देर वह चुपचाप बैठी छवि को सहलाती रही और होंठ पर दाँत रखकर अपना रोना रोके रही। पर फिर उसका भी बाँध टूट गया। रोते-रोते ही उसने छवि का एक हाथ पकड़कर कहा, "उठो देवरजी, उठो, रोओ मत! माँ का कोप मुझ पर गिरेगा। अन्त समय उन्होंने मुझ से वायदा लिया था कि छवि यदि कभी लौटकर आया तो मैं उसे सँभालकर रखूँगी। उन्हें कष्ट नहीं होने दूँगी। उठो देवर जी, रोओ मत!"

पर छविनाथ ही नहीं स्वयं छलनामयी भी कहकर पहले से भी अधिक ज़ोर से रो दी। आज एक जमाने बाद छलना कुछ हल्की हुई। उसके चहरे की कालिस जैसे आँसुओं के पानी से धुलकर साफ हो गई। वह खूब हल्की हो आई।

चाय पीते हुए छवि ने भाभी से पूछा, "तुम क्यों रोई थीं भाभी?"

छलना शरमा गई, बोली, "तुम क्यों रोये थे?"

"मुझे तो रोना चाहिये ही था।"

"तो ठीक है, छवि रोए और छलना न रोए, यह संभव नहीं है।"

छवि बहुत हल्का था, बोला, "भाभी, तुम्हें मेरी याद आती थी।"

"आती थी देवर जी। सच, आती थी। तुम्हारे बिना यह घर मुझे काट खाने को दौड़ा है।"

"भाभी, तुमसे माफ़ी चाहता हूँ, पर···"

छलना हँस दी, बोली, "माफ़ न करना तो औरत जानती ही नहीं और यह 'पर' क्या!"

"तुम बहुत बदल गई हो भाभी।"

"हाँ, पर क्या करूँ?"

"क्यों बदल गई हो लेकिन?"

"जानती नहीं।"

"नहीं जानतीं?"

"नहीं।"

फिर पल भर रुककर बोली, "ऐसा नहीं है कि बिलकुल उसका आभास ही नहीं है, मुझे, पर साफ़ कुछ नहीं जानती। लगता है कि तुम्हारे जाने के बाद एक नये सत्य का भान मुझे हुआ था। पैना। साफ़ दीखा! उससे पहले पता नहीं काहे की परत उस पर चढ़ी थी। उस दिन माँ हमें रोते-बिसूरते छोड़कर चली गई थीं, पिता तो जा ही चुके थे, तुम भी नहीं थे और सरिता

जीजी दो-चार दिन रहकर चली गई थी। भाई तुम्हारे स्कूल चले जाते, तो रह जाते मैं और सरपट ! सच देवरजी, मन करता कि कहीं भाग जाऊँ। सरपट उन दिनों बहुत पिटा और शायद प्यार भी उससे उन्हीं दिनों मैंने सबसे अधिक किया, पर मन को शान्ति न मिलती। उस मकान में रहना दूभर हो गया। मैंने इनसे मकान बदलने को कहा तो एक अड़चन सामने आई। बीमारी इत्यादि के कारण तीन महीने का किराया दे नहीं पाए थे। किराया न दें तो मकान खाली कैसे करें ! पूरे छः महीनों में वह किराया चुका और छ. महीने उस घर में मैंने कैसे बिताये यह मैं ही जानती हूँ। उन्हीं दिनों पहली बार लगा कि माँ से, तुम से, इनसे, सरपट से जो सम्बन्ध थे, जमीन के-से नहीं लगते थे, आकाशीय लगते थे। झन-झनकर टूट रहे हैं। फिर भी वह पूरी तरह नहीं टूटे थे कि सरपट बीमार पड़ा, फिर यह लड़की हुई और उधर इनकी नौकरी में कुछ गड़बड़ दीखने लगी। मैं सच ही उन दिनों तुम सब को भूल गई। इसे कृतघ्नता कहो तो कह सकते हो। माँ का और तुम्हारा वह अमिट प्यार भुलाना कृतघ्नता ही तो है, पर उन्हीं दिनों अकेले बीमार सरपट के पास बैठकर सोचने से लगा कि जैसे पहले के हमारे सम्बन्धों का आधार ठोस नहीं था। आकाश पर आदर्श रह सकता है। पर यथार्थ तो नीचे ही रहता है और यथार्थ ही ठोस होता है। उसकी उम्र अधिक होती है। मुझे लगता है कि हमारे रिश्तों में जैसे कहीं बचाव था। ठोस परिस्थिति के ठोसपन से बचने की लालसा थी। मैं जैसे सब कुछ माँ को, तुम्हें और उनको सौंपकर सब जिम्मेदारियों से मुक्त होना चाहती थी—"

छवि ने बात काट दी, बोला, "तुम तो भाभी, जिम्मेदारी से कभी भागी नहीं।"

भाभी ने हँसकर कहा, "लगता ही है देवरजी, पर वह बात सच नहीं है। न भागती तो तुम्हारी यह हालत न होती। तुम भी अपने भाई की तरह घर-गिरस्ती के होते।"

"पर उसमें तुम्हारा क्या कसूर है ?"

"सब मेरा ही तो है। ऊपर से देखने से नहीं लगता पर गहरे में देखो तो दीखता है। यह तो सच है न देवरजी कि तुम मेरी बात मानते थे, जैसा मैं कहती थी वैसा ही करते थे, फिर क्यों यह सब हुआ। लगता है मेरे बन्धन में ही कुछ कमी थी जो तुम तोड़ सके। तुमने कभी पतंग उड़ाई है देवरजी ! मुझे उसे उड़ाते देखना बहुत अच्छा लगता है। उसका नियम मालूम है, क्या है ? डोर ढीली छोड़ो तो फौरन ही तेज़ी से वापस भी खींचो। वापस नहीं खींचोगे तो पतंग नीचे आएगी। यानी कुछ दो तो लो भी। यह जीवन का एक स्वाभाविक नियम है। सब चीज़ें इसी नियम पर कायम हैं। यह न हो तो सब टूटकर गिर पड़े। त्याग का अर्थ है अधिक दो कम लो और दुनिया का अर्थ है कम दो अधिक लो। पर इनके बीच का भी एक रास्ता है। जितना दो उतना ही लो। त्याग को खींचकर जहाँ हमने आकाश पर चढ़ा दिया, वहाँ वह पागलपन बन गया और इसी अन्दाज से दुनिया को हमने रसातल में पहुँचा दिया। दोनों के बीच में सच्चाई है देवरजी। वह न आसमान पर है न नरक में, वह ज़मीन पर है, वह…"

"भाभी !"

भाभी अपनी धुन में बोलती रही, "तुम्हारे साथ यही हुआ। हम देते रहे पर लिया कुछ नहीं और न ही देना बन्द किया। पतंग को तो गिरना ही था और—देवरजी हिसाब चुकता होता रहा तो ग़लत भरोसे न होते और तुम्हारी यह हालत न होती। तुम…"

"भाभी, यह इतनी सारी बुद्धि⋯"

"ओह हो, मैं तो भूल ही गई थी। अरे बाबा, वह आते होंगे। खाना बनाऊँ जल्दी। और बच्चे भी तो स्कूल से लौटेंगे। राम राम!"

"मैं बनवाऊँ भाभी!"

"अरे छोड़ो-छोड़ो, कभी कुछ कराया भी है। हमेशा नुक़सान ही करते रहे। चलो हटो, उठो। जाकर कुर्सी पर बैठो। अरे देवरजी, चाय पी नहीं। फिर से गर्म कर दूँ।"

"नहीं जी, रहने दो। तुम खाना बनाओ। भूख लगी है।"

"पहले नहाओ-धोओ, उठो।"

"अच्छा भाभी।"

"हाँ तो।"

फिर कई दिन उथले-पुथले बीतते रहे। काम की तलाश होती रही। छवि का मन ऊपर से शान्त दीख रहा था पर भीतर-ही-भीतर उसके मन में भट्टी-सी सुलग रही थी। उसका कारण था भाभी का उस दिन का वक्तव्य। उस वक्तव्य के आधार पर वह अपनी पिछली घटनाओं को तोल रहा था। विशेषकर उन स्थलों को जहाँ उसने नौकर और मालिक का सम्बन्ध बनाया था। उसे याद आ रहा था कि किस तरह उसने हर जगह जी जान से काम किया था। किस तरह वह रात-दिन 'काम-काम-काम' ही ध्यान में रखता रहा था। मालिक ने जब तनख्वाह तय की तो सोचा था कि पहले अपने कोई क्या दाम बताए और उस पर झिकझिक तो क्या ही करे। ये क्या समझते नहीं हैं? जब मैं रात-दिन काम करूँगा तो क्या⋯उसने रात-दिन काम किया। सालों तक करता रहा। और आदमी जहाँ आठ घण्टे की ड्यूटी देते थे वहाँ वह ज़रूरत पर दस घण्टे, बारह घण्टे, सोलह घण्टे काम कर दिया करता था। पर उसका फल सिर्फ एक ही होता था कि उसकी असली कीमत मिलने के सब रास्ते एकदम बन्द हो जाते थे। मालिक उसे एकदम अपना आदमी समझ लेते थे। भारी-से-भारी ज़िम्मेदारी का काम उस पर सौंपते थे। उसकी जिन्दगी को अच्छा बनाने के लिए बड़े-से-बड़े सुनहरी उपदेश देते थे पर तनख्वाह कभी नहीं बढ़ाते थे। वह तनख्वाह के लिए होती हड़तालों को देखता था, अपने और अधिकारों के लिए होते हुए आन्दोलनों को देखता था, इधर-उधर होते भाषणों को सुनता था। सुनकर महसूस करता था कि वह भी उन आन्दोलनों में भाग ले। पर मन का आलस्य उसे रोक लेता था और मिलने वाले अधिकार कम या अधिक सब को मिलते थे पर उसे नहीं मिलते थे। वह जैसे भीतर-ही-भीतर सुलगता रहता था और एक दिन फूटता था तो आक्रोश सारा मालिक के प्रति होता था, पूरी व्यवस्था के प्रति आक्रोश जम ही नहीं पाता था। यही कारण था कि वह अपने आक्रोश को सही-सही समझ नहीं पाता था। उसका आक्रोश व्यक्त करने का तरीका इतना भौंडा होता कि लोग उसे ही मुजरिम समझते।

एक दिन इसी तरह सोचता वह बैठा था कि भाभी ने टोक दिया, "कहो देवरजी, बानो का ध्यान हो रहा है क्या?"

यह कोना छविनाथ के दिल का बहुत नरम था। उससे वह सहा नहीं जाता था। उसे अहसास था कि बानो को उसने बेहद कष्ट दिया है। कष्ट तो उसने बहुतों को दिया था। माँ

को, भाभी को, भाई को, पिता को या और भी अनेकों को। पर बानो खून के रिश्ते की बाध्यता से अलग थी। फिर वह जानता था कि ये सब शिकायत नहीं करेंगे। उसे ये सब अपने ही तरह के लोग लगते थे इसीलिए अपनी ही तरह वह इन्हें कष्ट भी दे लेता था। पर बानो का नाम उसके काफ़ी गहरे ज़ख्म को छूता था। फिर भी काफ़ी संभलकर उसने कहा, "नहीं तो भाभी, यों ही!"

"यों ही, यों ही क्या ?"

"ऐसे ही, यों ही बैठा था।"

भाभी हँसी, प्रेम से देवर को देखा, फिर बोली, "यों ही नहीं बैठते देवरजी! ऐसे बैठे-बैठे तो आदमी थकता है।"

"तो क्या करूँ ?"

"मुझसे बात करो।"

"क्या बात करूँ ?"

"कुछ भी, पर यों न बैठो!"

उस समय रात झुक आई थी। रवि रात के ट्यूशन पर गये थे। सब सो चुके थे। दोनों पल को चुप रहे। फिर छवि ने कहा, "भाभी, उस दिन तुम कह रही थीं कि यदि हम देते और देते रहने की अति न करते तो मेरे माँगते और पाते रहने की अभिलाषा की अति न होती और मेरी ज़िन्दगी खत्म न होती।"

भाभी ने अपने उस नादान देवर की तरफ अत्यन्त स्नेह से देखा, फिर बोली, "हाँ, कहा तो था।"

"भाभी, इस दुनिया में देने वालों और लेने वालों के दो पक्ष हैं ही क्यों। दुनिया एकमएक क्यों नहीं है ?"

भाभी ने कहा, "दुनिया के बारे में तो मैं नहीं जानती देवरजी, पर अपने, तुम्हारे और इस परिवार के बारे में पूछती हूँ। क्या तुम्हें यह कभी महसूस होता था कि घर में दो पक्ष हैं ?"

छवि ने पल को सोचा, फिर बोला, "जब तक प्रेस खत्म नहीं हुआ था, यानी हम लोग अमीर थे, तब कभी नहीं लगा पर बाद में अकसर लगा। भाई, पिता जी एक तरफ थे, सरिता जीजी, मैं और माँ एक तरफ। बीच में कृपा थी, कर्त्तव्य था, शायद प्रेम भी था, पर पक्ष दो थे। हमारा परिवार तो शायद छोटा था, पर बड़े परिवार…"

"देवरजी! भाई पर अविश्वास कर रहे हो ?"

"ना भाभी, ना! सचाई बयान कर रहा हूँ। भाभी, भाई-भाई के बीच सिर्फ़ प्रेम हो सकता है पर परिवार का आधार तो पैसा होता है, उसमें दो पक्ष क्यों नहीं रहेंगे। एक वह जो कमाता है और दूसरा वह जो खाता है। छोड़ो भाई-भाई को, पति-पत्नी को लो। पत्नी शारीरिक श्रम करती है। रात-दिन काम करती है। तुम ही बताओ न भाभी, रात में कितने घण्टे सो पाती हो। यह जाग गया, उसको दूध पीना है। उनके सिर में दर्द है। घर के किवाड़ खुले तो नहीं रह गए, पर सब की दृष्टि में एक ही तो बात सच है कि रवि भैया सब का पालन-पोषण करते हैं।"

छलनामयी रुष्ट हो उठी, बोली, "छोड़ो देवरजी, जब स्वस्थ हो लोगे तब बात करूँगी।"

"अब अस्वस्थ हूँ ?"

"मानसिक रूप से !"

छवि हँस दिया, फिर बोला, "अच्छा भाभी, छोड़ो। पर एक बात बताओ। बचपन में सरिता जीजी और माँ एक बात मुझे कहा करती थीं—बात जरा गँवारू है—पर हमारे बीच के दर्जे और छोटे घरों में सब ही जगह यह कहावत प्रसिद्ध है—'काम का न काज का, ढाई सेर अनाज का।' वह मुझे याद है। हमारे घरों में जो कमाता नहीं है उसे अकसर यह सुनना पड़ता है और जब वह कमाने लगता है तो आगे यही सुनाता है। मैं मानता हूँ कि शब्द ही सब कुछ नहीं हैं, नीचे प्रेम रहता है, पर हमारे समाज में क्या यही भावना पूरे समाज को दो वर्गों में खड़ा नहीं कर देती ? पिछले दिनों बहुत-सी छोटी-बड़ी नौकरियाँ करनी पड़ीं। सब में एक ही बात महसूस हुई कि नौकरी तो करते ही हैं पर वापसी में पैसा देते हुए मालिक का हाथ बहुत ऊँचा होता है। उसके चहेरे पर सौदे के भाव नहीं होते, दान के भाव होते हैं। तभी तो कहता हूँ भाभी, दिन और रात दो होते हैं, एक नहीं होते।"

भाभी ने जैसे थककर कहा, "दिन तो चौबीस घण्टे के दिन को कहते हैं।"

"यही तो, रात को भी अपने में समेट लिया। दिन का यह छल है। रात के सितारे और चाँद सभी सूरज की कृपा पर जी रहे बताए जाते हैं। उनका भविष्य वास्तव में रात की तरह अंधियारा है। पर यह आकाश का नियम है, पृथ्वी का नियम अब दूसरा होगा, दूसरा होना चाहिए।"

"अच्छा बाबा, होगा, तुम्हें सोना नहीं है ?"

"सोऊँ कैसे भाभी। सारा शरीर एक आग से जल रहा है। अब देखो न, तुम भी पहले जैसी नहीं रहीं, जिस पर मुझे सब से ज्यादा भरोसा था। पहले जो थे सब बिछुड़ ही गये थे। जसोदा चली गई। मेरे और उसके पिता की सामाजिक स्थिति मेरे और उसके बीच आ गई। बानो और मेरे बीच में धर्म आ गया और सत्या और मेरे बीच में मेरी संकीर्णता आ गई। वह सब रहा, पर सोचो भाभी, रेशमी और पटवारी के बीच में क्या आया, मेरे और नन्दलाल, और अन्त में मेरे और बानो के बीच में क्या आया, मैं····"

छलना ने बात काट दी। हँसकर बोली, "ये सब कौन हैं देवर जी ? मैं उन्हें नहीं जानती ! मैं तो पूछती हूँ कि मेरे और तुम्हारे बीच में क्या आया था ?"

"वही तो।"

"जवाब दो।"

"जवाब, जवाब तो एक ही है। मेरी हीनता !"

छलना ने कहा, "अब सोच देखो देवरजी, हर सम्बन्ध में कहीं वही तो बीच में नहीं आई !"

"आई भाभी, वही आई, यह मैं स्वीकार करता हूँ। पर भाभी, मेरा प्रश्न तो आरम्भ यहीं से होता है। मेरे अन्दर यह हीनता कहाँ से आई ?"

भाभी ने कहा, "बीमारियाँ कहाँ से आती हैं ?"

"हिन्दुस्तान की कुछ बीमारियों को छोड़कर सब कीटाणुओं से आती हैं और कीटाणु पैदा होते हैं, बढ़ते हैं, फैलते हैं और फिर समझदार लोग····"

तभी छविनाथ ने देखा कि रवि भैया आ चुके हैं और ठीक भाभी के पीछे खड़े उसकी

बातें ध्यान से सुन रहे हैं।

पकड़े जाकर रवि जोर से हँस दिए। बोले, "भाषण हो रहा था।"

"नहीं भैया, यों ही।"

रवि ने बैठते हुए कहा, "तुम्हारे लिये खुशखबरी है!"

छवि ने भाई की तरफ़ देखा।

"हाँ, छवि! तुम्हारे लिए एक नौकरी का प्रबन्ध किया है। कल से चाहो तो शुरू कर सकते हो।"

छवि के हृदय पर 'नौकरी' शब्द त्रिशुल की तरह लगा। पर उसने प्रसन्न मुद्रा बनाकर कहा, "अच्छा? 'गुड'! जाऊँगा क्यों नहीं, कल से ही जाऊँगा।"

भाभी ने हँसकर कहा, "देवरजी, पराँवठे तो अब भी मैं तुम्हें रोज़ ही बनाकर दे दिया करूँगी पर ऐसा न हो कि कम्पनी बाग के कुत्तों को नियमित रूप से खिलाकर ठीक टाइम पर वापस आ घर जाया करो।"

रवि खिलखिलाकर, भाभी सकौतुक और छवि एक झेंपल हँसी हँस दिया।

18

अगले दिन छवि ठीक समय से कुछ पहले ही घर से चल दिया। भाभी ने पराँवठे बनाकर दिए और बस के पैसे भी दिए पर छवि बस पर नहीं बैठा। पैदल चलने का उसे बहुत अभ्यास था। कई जगह तो नौकरी पर वह छः-छः, सात-सात मील पैदल चलकर पहुँचा करता था। पैदल चलना उसके मन के लिए अच्छा रहता था। उसी अभ्यास के भरोसे हाथ में टिफिन-कैरियर लेकर वह पैदल ही चल दिया। अपनी स्वाभाविक गति से चलकर भी नौकरी के दरवाज़े पर वह ठीक समय पर पहुँच गया। दुमंजिले पर दफ़्तर था, पर ऊपर जाना···

ऐसे ही न जाने कितने जीनों पर वह ऊपर गया और न जाने किस-किस तरह नीचे आया था। वह सब सोचकर छविनाथ का सारा शरीर पल को सिहरा पर फिर उसे अपने भाई और भाभी की चार आँखें कन्धे पर खड़ी दीखीं और···और वह ऊपर चढ़ता चला गया।

और इस तरह छविनाथ, नौकरी और भाई-भाभी इकट्ठे बीतने लगे।

आगे याद करना उतना आसान नहीं है। याद करते भय लगता है। क्यों उसे एक दिन फिर घर से भागना पड़ा था। क्यों उस समय कोई भी उसको विदा करने के लिए घर पर नहीं था, क्यों वह अब इस तरह रेल में आ बैठा था और क्यों बिना उसकी मर्जी के रेल उसे आगे-आगे घसीटे ले जा रही थी? क्यों उसके अपने जीवन में अब कोई सार नहीं रहा था और क्यों उसे बाकी की दुनिया भी उतनी ही निस्सार प्रतीत हो रही थी?

···उस दिन चाँदनी रात ही तो थी। नौकरी करते हुए उसे कई महीने बीत चुके थे। उसके अन्दर की उथल-पुथल खूब बढ़ चुकी थी। उसकी भूख का कोई अन्त नहीं था और चाँदनी रात में भूख उसके सारे शरीर को जला रही थी। पर ऊपर से छविनाथ शान्त था। भतीजों में उसका मन रमने लगा था। भाई पर फिर पहले जैसा प्यार आने लगा था। भाई का पूरा विश्वास

अभी नहीं जमा था फिर भी वे आश्वस्त दीखते थे पर भाभी खूब खुश थीं। लगता कि उनके पहले दिन लौट आए हैं। वह छविनाथ को खूब खुश रखतीं। कभी-कभी नहाते-धोते छविनाथ को छेड़ भी देतीं। उस पर पानी के छींटे डाल देतीं। पास की कोई लड़की घर में आती तो छविनाथ के उसको देखने पर उसे चिढ़ातीं, कहतीं, "देवरजी, अपनी ही जाति की है, तुम ज़रा और पक्के हो जाओ तो बात चलाऊँगी। तुम्हारे हाथ से बहुत कुछ निकला है पर इसे नहीं निकलने दूँगी।"

छवि कहता, "नहीं भाभी, देख रहा हूँ कि मेरे हाथ से कुछ भी नहीं निकला है।"

"यानी !"

"तुम हो तो सब सुरक्षित है !"

"अच्छा, मैं क्या..."

और छलनामयी ताली पीटकर हँस देती।

फिर पूछती, "देवरजी, नौकरी पर मन लग रहा है या नहीं ?"

"नहीं भाभी।"

"क्यों, देवरजी, यह तो भयानक है।"

"हाँ भाभी, भयानक तो है।"

"पर क्यों है ?"

"यह दुनिया अच्छी नहीं है भाभी।"

"हाँ देवरजी, अच्छी तो नहीं है...पर..."

"पर कुछ नहीं भाभी, मेरा मन नहीं लगता।"

उस समय छलना बात टाल जाती। फिर तरह-तरह से छविनाथ का मन बहलाने की कोशिश करती। कहीं दबे-दबाये अपने पैसे उसे सिनेमा देखने को देती। हँसी-मज़ाक ज़रा अधिक करती और बच्चों को उसके चारों तरफ़ रखती, पर छलना देख चुकी थी कि छविनाथ अब पहले जैसा छविनाथ नहीं रहा है। वह सारी-सारी रात जागते देवर को देखती और भीगी करुणा से भर आती। वह डरती रहती कि कहीं उसका यह नादान देवर फिर किसी दिन घर छोड़कर खिसक न ले। इसलिए रात को भी उसकी चारपाई अपने बहुत पास बिछाती और ध्यान रखती। अधिकतर किसी-न-किसी बच्चे को उसके पास सुला देती और दिन भर में जितने समय भी छविनाथ घर रहता रवि से भी अधिक उसका ध्यान रखती। वह समझ चुकी थी कि बहुत से लोगों ने मिलकर छविनाथ के दिल में एक बड़ा-सा घाव किया है। वह घाव रात-दिन टीसता है। उस घाव की टीस इतनी मर्मान्तक है कि छवि सहन नहीं कर पा रहा। छलना और रवि और बच्चों का प्यार उस जख्म पर मरहम रखते हैं पर वह पर्याप्त नहीं है। छलना यह भी समझती थी कि छवि घर पर खुश नहीं रह पाता। कारण उसके वे काम हैं जिनसे उस घर को कष्ट मिला। इसीलिए छवि फिर शायद कहीं भाग जाना चाहता है। वह सुख से इसीलिए कतराने लगा है। दुःख में ही उसे सुख मिलने लगा है। बाहर की दुनिया...

उस दिन चाँदनी रात थी। भाभी की चारपाई छवि से बिलकुल लगी हुई बिछी थी। भाभी के सारे शरीर पर चादर थी पर हाथ की कुछ उँगलियाँ चादर में से झाँक रही थीं। छवि जाग रहा था। चाँदनी में उसे वे उँगलियाँ बहुत ही सुन्दर लगीं। उसने करवट लेकर अपना मुँह भाभी

की तरफ कर लिया। बहुत देर तक वह उसी तरह लेटा रहा। फिर जैसे उसका काँपता-सा हाथ उठा और उस हाथ ने जैसे अत्यन्त अनिच्छा से उन उँगलियों को छुआ और वापस हट आया। पर वापस आने के बाद भी पल का वह स्पर्श उसे सुख देता रहा। छविनाथ के मन में बार-बार वह सुख पाने की लालसा ललक उठी। उसने फिर अपना हाथ उठाया और उन उँगलियों पर जमा दिया। उँगलियाँ पल को सहमीं फिर शान्त होकर लेट रहीं पर इस बार छविनाथ का हाथ जल्दी ही वापस नहीं आया। छविनाथ उन उँगलियों के माध्यम से न जाने कैसा एक गाढ़ा-सा रस अपने शरीर में सोखता रहा और भीतर की तपन बुझाता रहा।

और सुबह वह बहुत देर से उठा। रवि भैया जा चुके थे और उसका अपना भी जाने का समय हो गया था। उठकर पाया कि भाभी उसी तरह काम पर लगी हैं। चाय तैयार है। खाना भी तैयार है। भाभी बर्तनों को उलट-पुलट रही हैं।

छविनाथ भाभी के पास जाकर बैठ गया। बोला, "रवि भैया से कह दिया।"

"क्या ?"

"कि रात मैंने तुम्हारी उँगलियाँ छुई थीं।"

"हाँ, कह दिया।"

छवि ने अनमने भाव से पूछा, "क्या बोले ?"

"बहुत नाराज हुए ?"

"नाराज हुए !"

"नहीं तो क्या राजी होते ?"

छवि चुप हो रहा तो फिर बोलीं, "देवरजी, तुम मुझसे प्यार करने लगे हो ?"

छवि की आँखों में एकदम खून उतर आया, बोला, "नहीं, मैं किसी से प्यार नहीं करता।"

"प्यार नहीं करते ?"

"न, कर ही नहीं सकता।"

"अच्छा ?"

"हाँ।"

"तो रात क्या करने लगे थे ?"

"रात-रात ...."

"घबराओ नहीं देवरजी, मैंने रवि भैया को कुछ नहीं बताया और बताऊँगी भी क्यों ? प्यार तो मुझे चाहिए। मैं तो प्यार की भूखी हूँ। पर देवरजी सब बताओ, तुम मुझे प्यार करते हो न।"

छविनाथ कुछ नहीं बोल पाया। आज जाने क्यों वह मुँह खोलकर यह कह ही नहीं पाया कि 'हाँ भाभी, मैं निश्चय ही तुम्हें प्यार करता हूँ ?"

पर छलना फिर उद्‌भ्रान्त-सी बोली, "सुनो देवरजी, सारे जीवन में तुम्हें कभी किसी ने प्यार नहीं दिया, पर मैं देती हूँ। पर मुँह से तुम बोल क्यों नहीं सकते कि मैं तुझे प्यार करता हूँ।"

मुश्किल से छवि बोला, "पर भाभी, रवि भैया ?"

छलना ने सुना। सुनकर जैसे बहुत देर तक वही वाक्य वह सुनती रही, दोहराती रही, खुद को सुनाती रही, फिर बोली, "तो वे अभी बीच में है ? भैया अभी बीच में हैं ?"

छवि ने अवाक् भाभी की तरफ देखा।

छलना ने फिर कहा, "इस हरी-भरी दुनिया में जाने कुछ लोग इतने रूखे-रूखे, पीले-पीले भूखे-भूखे क्यों दीखते हैं ? शायद इसीलिए कि उनके और उनकी हरियाली के बीच में सिर्फ ईश्वर ही नहीं होता 'यह वह' यह भी होता है। चलो छोड़ो, उठो, मुँह-हाथ धो लो। चाय लो। फिर खाना खाकर दफ़्तर जाओ।"

"भाभी, मुझे···"

"माफ किया।" और छलना धीमे से मुस्कराई और अपने नित्य के कार्यक्रम में लग गई।

फिर क्या नहीं हुआ ? छविनाथ क़दम-क़दम आगे बढ़ने की कोशिश करने लगा और रात-दिन आत्म- ग्लानि से जलने लगा। छलना ने अपने व्यवहार में किसी दिन कोई अन्तर नहीं आने दिया। मन पर ज़रा मैल नहीं आने दिया। छवि छलना के लिए वही रहा पर छलना छवि के लिए वह न रह सकी। छलना ने रवि से कहकर लड़की की तलाश शुरू करा दी। अखबार में विज्ञापन दिया गया। चिट्ठी पत्री आने लगी तो एक दिन अकेले में छवि ने भाभी को बाँह से पकड़कर कहा, "यह सब क्या है ?"

"ब्याह की तैयारियाँ।"

"ब्याह, किसका ब्याह ?"

"तुम्हारा। और मेरे यहाँ बिनब्याहा कौन है ?"

"मैं···भाभी, मैं ब्याह नहीं करूँगा।"

"मत करो, अपने भाई से कह दो।"

"तुम से कहता हूँ, मैं ब्याह नहीं करूँगा।"

"तो क्या करोगे ?"

"कुछ भी करूँ, पर ब्याह नहीं करूँगा।"

भाभी ने देवर को अपने पास बिठाया। फिर हथेली पर ठुड्डी रखकर चंचल दृष्टि से उसकी और देखते हुए बोली, "कुछ भी क्या करोगे, मुझसे प्यार करोगे ?"

"भाभी !"

"भाभी फिर क्यों, छलना कहो न !"

"भाभी, मैं तुम्हें···!"

"ओहो, प्यार नहीं कर सकते तो क्या मारोगे ?"

"तुम, भाभी तुम···!"

"कहिये-कहिये छविनाथ जी, तुम क्या···!"

छवि को न जाने क्या हुआ, उसने छलना को अपने बहुत पास खींच लिया, और उसे अपनी बाँहों में दबोच लिया। दबाता चला गया, दबाता चला गया और होश उसे आया तो भाभी को छोड़ अचानक अपना सिर अपने हाथों में छिपा लिया और सुबक-सुबककर रो उठा—"नहीं, नहीं, नहीं ! वह नहीं हो सकता, नहीं हो सकता, नहीं हो सकता ! ओह ! भाभी

मुझे माफ करो, मुझे माफ करो, मुझे माफ करो।"

और छविनाथ घर से भाग लिया···और सीधा चलता आकर रेल में बैठ गया···रेल आगे बढ़ निकली और छवि···

[illegible]

सब उसकी जान-पहचान के लोग बैठे हैं, पर सब मुंह-फेरे हुए हैं। उसकी ओर कोई न देख रहा है, न देखना चाहता है, न बात करना चाहता है।

पर एक नहीं है वहाँ, और वह है बानो। बानो उसे अब भी डिब्बे से बाहर दीखी और उसकी ओर प्रेम-भरी दृष्टि से देखती दीखी।

उप-संहार

पूर्वाभास

उसे मालूम है इसका परिणाम अच्छा नहीं होगा। फिर भी वह खिंचा चला जा रहा है। ऐसा क्यों होता है उसे मालूम नहीं है। मालूम होता तो भी वह शायद वापिस नहीं लौट सकता उसे अपनी लाचारी पर बहुत अकुलाहट होती है। पर अंदर की दुविधा और द्वन्द्व उसे उसके पास जाने से रोक नहीं पाता। पैदल, बसें बदलता हुआ, कभी-कभी स्कूटर पर वह उस सुखद सान्निध्य के मोह में भागा चला जाता है।

आज भी वह वहीं जा रहा है।

अगस्त का महीना। सुबह धुआँधार बारिश बरसी है। इस समय भी हल्की बूँदें पड़ रही हैं। सडक पर कीचड़ है। चप्पलों को एडियों से दबाकर संवारता, छींटों से बचता वह एक बस से उतरा है और दूसरी के लिए स्टैंड पर खड़ा हो गया है। नीचे चारों तरफ भीड है और ऊपर आसमान में बादल ही बादल हैं। ज़मीन की चिपचिपाहट मन खराब कर रही है, बादल शरीर पर पंख उगा रहे हैं और बस का न आना दिमाग़ में उद्वेग को पिघला रहा है। उसके साथ हर मौसम में यही होता है। शरीर और मन का तालमेल कभी नहीं बैठता। और इसलिए...

वह उससे एक साल से मिल रहा है।

दिल्ली शहर की कई खुबियां हैं। हर पॉश कालोनी के नीचे एक गन्दी बस्ती है। घूमते हुए, छोटे गांव, कस्बे और शहर का मज़ा एक साथ लिया जा सकता है। एक ही आदमी में ग्रामीण भाव-बोध और महानगरीय चेतना की झलक समय-समय पर मिलती है। आधा घंटे का सफर बस में करने पर आपका मन दोबारा नहाने को कर सकता है। दिन में दस बीस आदमियों से राजनीति पर बातचीत हो जाये तो शाम को आप दस बीस साल की अपनी राजनीतिक सोच के प्रति अनिश्चित हो उठने को बाध्य हो सकते हैं। स्त्री को लेकर 'स्कैण्डल' यहाँ ऐसे उठते हैं जैसे सहस्रधारा में झाग। और सबसे बड़ी खूबी दिल्ली शहर की यह है कि इसमें हरियाली बहुत है। कुछ सड़कें तो हरी साड़ी में लिपटी पड़ी औरतों जैसी लगती हैं। ऐसी ही एक सड़क पर उसका घर है। यानी, एक कोठी में उसका घर है; वह रहती है, अपने परिवार के साथ।

नाम है उसका प्रतिभा दत्त। खुद उत्तर प्रदेश की है पर शादी की है एक बंगाली से।

और दिल्ली की सबसे बड़ी खूबी यह है कि बस यहाँ तब तक नहीं आती जब तक,

जानेवाले में आंशिक अनिच्छा पैदा न हो जाये। पर इस जगह जाने के लिए सुधीर के मन में अनिच्छा पैदा हो ही नहीं सकती। इसलिए वह अनिश्चित काल तक प्रतीक्षा करने को तैयार है। पर उसे डर है कि बारिश यदि फिर शुरू हो गयी तो वह भीग जाएगा और भीगे कपड़ों में वहाँ जाना सम्भव नहीं होगा। वह सिकुड़ा हुआ एक पेड़ के नीचे खड़ा है। पेड़ पर से बूंदें टपक रही हैं।···सुधीर सोच रहा है···

एक साल हो गया प्रतिभा से मिलते हुए, पर···

वह उस दिन की बात याद करके हल्की-सी हँस दिया···

सुबह के ग्यारह बजे सुधीर को उसके घर पहुँचना था। कुछ लेट हो गया था। बस से उतरकर घर की तरफ लपका। नज़र उस मोड़ पर थी जो उसके घर की तरफ मुड़ता था। गर्मी का मौसम, ग्यारह बजे की धूप थी। उंगलियाँ झुलसी जा रही थीं। अचानक उसे महसूस हुआ कि पैर के अगूठे में कुछ हुआ है। ध्यान मोड़ पर से हटा कर उसने नीचे देखा। देख कर भौचक रह गया। अगूठे पर से एक मोटी पापड़ी सड़क पर पड़े तार ने छील दी थी और अब पूरी चप्पल पर पैर के नीचे लहू ही लहू था। पैर को चप्पल से बाहर निकालकर वह पल भर देखता रहा। फिर सामने नजर डालकर उसने परिचित मोड़ को देखा। अब और देर हो जाएगी। ऐसी हालत में कैसे वहाँ जाए ? ये दोनो वाक्य एक साथ उसके दिमाग़ में उभरे और वह तेज़ी से अंगूठा संगवाने में लग गया। पास बैठे पान वाले ने मदद की। साथ में सलाह भी थी, 'जंग लगा तार है बाबू जी, इजैक्शन लगवा लेना।'

कोई पन्द्रह मिनट लगे उसे इस क़ाबिल होते कि वहाँ जा सके। अंगूठा चिसचिस कर रहा था। पर उससे भी ज्यादा बेचैनी मन में थी। उसे लग रहा था कि उस ज़िन्दगी के बेहतरीन पन्द्रह मिनट खो दिये है।

यह सब क्या है ? कैसे होता है ? वह सोच-सोच कर खुद चकित होता रहा है। क्या लगती है प्रतिभा उसकी ? कोई सम्बन्ध नहीं, किसी सम्बन्ध के होने की गुंजाइश भी नहीं। शायद आशा भी नहीं। ठीक है, उसके मन में सुधीर के प्रति सहानुभूति है, उसे कृतज्ञ होना चाहिए, पर कृतज्ञता इतनी अदम्य तो नहीं होती। यह सच है, वह बहुत सुन्दर है पर सौन्दर्य तो किशोर-चेतना पर हावी होता है। फिर दोनों कभी भी सौन्दर्य के विषय में तो बात नही करते। उसने शायद ही कभी उसके सौन्दर्य की अलग से तारीफ़ की हो। फिर यह क्या है ? यह कैसा बन्धन है ? यह उसका जड़ मानस किस गर्मी से पिघला जा रहा है ? यह प्रतिभा दत्त उसके लिए क्या है ?

बारिश और बस दोनो साथ ही आईं। सुधीर भीगने से तो बच गया। दौड़कर बस में चढ़ती हुए भीड की ठोकरो-कोहनियों से नहीं बच सका। दोनों पैर औरों के जूतों के कीचड़ से सन गए। कपडो की क्रीज कुचली जाकर टूट गई। सिर के बहाये हुए बाल बिखर कर फैल गए। पर जो भी हुआ हो बस उसे मिल गई और यह आशा कि, वह ठीक वक्त पर प्रतिभा के घर पहुँच जाएगा, उसके मन को संतुलित करने लगी। एक कोने में पीठ दीवार से लगाकर वह चुपचाप खड़ा हो गया।

बस के बाहर तेज बारिश हो रही है। आधा घंटे का सफर है, देखा जाएगा।

'एक दिन और लुढ़क गया,' हर शाम यह वाक्य उसके दिमाग़ के किसी-न-किसी कोने से उभरता है और वह हँस पडता है। कभी उसे यह हँसी बड़ी सार्थक लगती है और कभी एकदम

हास्यास्पद। शुद्ध मूर्खता। पर आज उस कोने में खड़े सुधीर के अन्दर यह वाक्य शाम से पहले ही उठ कर खड़ा हो गया। वाक्य को उसने थोड़ा ठीक किया—'एक दिन और लुढ़क रहा है। शाम तक लुढ़क जाएगा। कोई रोक नहीं सकता।' उसने सोचा और हँसी का एक छोटा-सा टुकड़ा उसके अन्दर चक्र में घूमने लगा। हँसी बाहर न आए तो मन को घूमते शीशे के टुकड़ों की तरह काटती है। पर अकेला आदमी हँसे कैसे? प्रतिभा होती तो 'लुढ़क गया' पर हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाती। वह हँसती बहुत है। हँसने का उसे रोग है। बहुत मीठी हँसती है। उसे हँसने के लिए बात छांटनी नहीं पड़ती। किसी बात पर हँस देगी। कोई आदमी छत से कूद कर जान दे दे, तो उसकी सूचना पर हँस देगी। कहेगी 'जान देने का यह तरीक़ा गलत है, आदमी को···' सुधीर बात काट देगा। कहेगा, 'खबर दी है तरीक़ा नहीं पूछा।' तो हँसते-हँसते कहेगी, 'तुम तो ऐसे मुँह बना रहे हो जैसे तुम्हें इसी तरीक़े से मरना है।' न चाहते हुए भी सुधीर को उसकी बातों पर हँसी आ ही जाती है। शायद उसके बात कहने के तरीक़े पर।

तो एक दिन और लुढ़क रहा है। उसने दोहराया है। मन ही मन।

कितने दिन लुढ़क गये। चालीस साल में कितने दिन होते हैं? कौन हिसाब लगाए? हिसाब उसका वैसे ही कमज़ोर है!

बारिश रुक गई। नहीं, रुकी नहीं। इधर शायद हुई ही नहीं। सड़कें सूखी पड़ी हैं। चलो, अच्छा है, बच गए।···क्या मजेदार बात है, उधर कितनी धुआँधार बारिश बरसी और इधर···

इधर लुढ़कता हुआ दिन कीचड़ में नहीं सनेगा, सोच कर वह खिल-खिला कर हँस पड़ता है। अकेला ही।

पाँच दिन से प्रतिभा थी नहीं शहर में। कल ही वापस आई है। पाँच दिन सुधीर का मन शुद्ध विषाद में रहा है। कल से कुछ बादल छंटे हैं। सुधीर जानता है, प्रतिभा शहर में होती है तो उसका लघु मस्तिष्क ठीक काम करता है। नहीं होती तो उस पर शाम के रंगों की पतरियाँ चढ़ी रहती हैं। वह यह भी जानता है कि आने के भी कई दिन बाद ये रग धुल-धुल कर साफ होते हैं और वह सहज इंसान बन पाता है। वैसे मानसिक रूप से सहज वह कम ही होता है। एक तनाव में जीना उसका स्वभाव है, शायद जरूरत भी। जरूरत इसलिए कि विखरी हुई चेतना सिर्फ तनाव के कारण ही जैसे-तैसे जुड़ी-पड़ी रह सकती है। प्रतिभा ने उसके अन्दर की फ्रेंज़ी को बढ़ाया है। पर आज यह फ्रेंज़ी सुधीर की जिन्दगी का रस है। पहले जो उद्वेग उसके शरीर को जलाया करते थे आज मिठास देते हैं।

सुधीर को हँसी आती है। वह पहला दिन याद आता है जब प्रतिभा मिली थी।

छोड़ो, क्या याद करना है। मन खराब होता है।

अपना छोटापन याद करना किसे अच्छा लगता है।

हाँ, था तो छोटापन ही।

किसी को पूरी तरह जाने बिना उसके बारे में हल्की राय बनाना अपने ही अन्दर का छोटापन होता है।

वह तो होता ही है।

होगा। हो गया। उसका काफी पश्चाताप वह कर चुका है। खुद को उसी पश्चाताप में उसने बहुत छोटा किया है। पर आज भी उसके मन में उस बात की करक तो है। अब क्या करे? जो हो गया उसे अनहुआ तो किया नहीं जा सकता···हाँ, यह तो है, जो हो जाता है, उसे

भूलना तक सम्भव नहीं होता, अनहुआ कर सकना तो बहुत दूर की बात है, सोचना भी मूर्खता है।

पर प्रतिभा का सोचने का तरीका अलग है। वह कहती है—जो हो गया, हो गया। होते ही अनहुआ तो वह खुद-ब-खुद हो जाता है। इसके बारे में सोचना क्या ? आगे कुछ और नहीं करना क्या ?...वह रोज ही तो कहती है—'जो हो गया, अनहुआ हो गया। आगे बढ़ो।'

सुधीर ने एक दिन पूछा था, "तुम इस क़दर खूबसूरत हो, अपनी खूबसूरती की कान्शस क्यों नहीं हो ?"

वह हँस दी थी, कहा था, "उस काम के लिए तुम रहते तो हो साथ।"

"क्या मतलब ?"

"बता तो दिया, मैं जानती हूँ, मैं खूबसूरत हूँ।"

"तो ?"

"कान्शस वह होते हैं, जो नहीं होते। समझे ?"

"नहीं, नहीं समझा।"

"और समझोगे भी नहीं। जरा गहरी बात है, तुम्हारे बस की नहीं है।...और यह बात सिर्फ खूबसूरती के होने पर ही लागू नहीं होती...समझे ? पर छोड़ो, तुम उड़द की दाल के भाव बताओ। क्या हैं आजकल ?"

कहकर वह हँस दी थी और बहुत देर तक निर्बाध हँसती रही थी।

वह ऐसी ही है। चुटकी लेगी। अचानक बहुत गम्भीर हो जाएगी। फिर सामने बैठे आदमी को एकदम नकार कर अस्तित्व इतना दूर कर लेगी कि छूना तो दूर पूरा स्वरूप देखना भी मुश्किल हो जाएगा। तब जैसे सहानुभूति में कोई पागलपन की बात करेगी और सहज-सामान्य होने की कोशिश करेगी। पर एक बार दूर जाकर उसके लिए भी लौटना मुश्किल होता है और तब उसके चेहरे पर दो रंग अलग-अलग चमकने लगते हैं। अपनी इस हालत को वह देर तक बरदाश्त नहीं कर पाती। कुछ देर इधर-उधर की बातें इधर-उधर लुढ़का कर वह अपने घर की तरफ भाग निकलती है। इस मन:स्थिति में वह बेहद खूबसूरत लगती है। उसकी बातें बहुत बामानी हो जाती हैं।

एक दिन बोली थी, "तुम्हें मालूम है सुधीर, डूबने से पहले सूरज के चारों तरफ ये रंग क्यों बिखरते हैं ?"

"नहीं, मुझे नहीं मालूम।"

"हाँ, तुम्हें क्यों मालूम होगा। तुम्हारे डूबने का वक्त अभी आया भी कहाँ है।"

"तुम्हारा आ गया ?"

"ये सुधीर, उसकी दिन भर की रंग-बिरंगी स्मृतियाँ होती हैं।"

"होती होंगी। मेरी बात का जवाब दो।"

पल भर चुप रह कर पूछती, "कौन-सी बात ?"

पर चाह कर भी सुधीर प्रतिभा के डूबने की कल्पना को प्रश्न बनाकर उसी के सामने न रख पाता। धीमे से कहता, "तुम्हारे मन में क्या है प्रतिभा, कभी बताओगी नहीं ?"

तो हँस पड़ती, कहती, "मेरे मन में कुछ भी हो, यह तय है कि तुम नहीं हो। मालूम है ?"

"है मालूम। मैं पूछ रहा हूँ, तुम्हें कोई दुख है ?"

सीधे प्रश्नों से प्रतिभा बहुत चिढ़ती है। बोली, "है। तुमसे मिलना पड़ता है, यही मेरा सबसे बड़ा दुख है।"

प्रतिभा की यही विशेषता है। मन के ही नहीं शरीर के रंग भी इतनी तेजी से बदलते हैं कि वाकई डूबते सूरज का ख़याल आता है। मन उसका खरगोश की तरह दिशा बदल-बदल कर भागता है और शरीर···लगता है जैसे खुली हवा में न पलकर अलग-अलग कैमिकल्स से भरे अलग-अलग टबों में रखा जाकर अपना अस्तित्व जैसे-तैसे बनाए हुए है।

देखो, आज किस रंग में मिलती है।

2

तीन दिन पहले की बात है।

सुबह का वक्त। सुधीर की आँख खुली-खुली है। दिमाग अभी तक गुनगुना है। रात उसे बहुत कम नींद आई है। न जाने वह कहाँ-कहाँ घूमता रहा। प्रतिभा के शहर में न रहने पर वह रात को भटकता बहुत है। प्रतिभा मुसल्सल साथ रहती है। और सारी रात की भटकन सुबह तक शरीर को तोड़ कर रख देती है। सारे बदन में दर्द है। आवारगी का हैंगओवर दारू के हैंगओवर से ज्यादा गुनूदगी पैदा करता है। इस तन्द्रा का अपना मज़ा है। कोई इसे तोड़ने की कोशिश करता है तो गुस्सा आता है।

वह खाट पर उठकर बैठ गया है और तन्द्रा की गांठों के खुलने का मज़ा ले रहा है। रात की यात्राओं के छोटे-छोटे टुकड़े चेतना से टूट-टूट कर गिर रहे हैं। खिड़की से बाहर का मौसम दीख रहा है। खुशनुमा है। गहरे धूसर बादल पूरे आकाश को ढँके हैं। बूँदें शायद नहीं बरस रहीं। मौसम तन्द्रा को गाढ़ा कर रहा है। पर···

पत्नी ने सुबह का अखबार लाकर सामने रख दिया है। वह जानती है सुधीर की तन्द्रा तोड़ने का एक मात्र तरीका अखबार है। अखबार वह प्रेम-पत्र की तरह पढ़ता है और यह सच है कि दूसरा प्रेम-पत्र ही पहले प्रेम-पत्र के अक्षरों को धुंधला कर सकता है। सुधीर भी जानता है कि अखबार उसकी तन्द्रा तोड़ देता है। पर उसका तर्क अलग है। वह मानता है कि व्यक्तिगत भ्रम सामाजिक भ्रम में घुलकर ही रूप खोते हैं। बहुत से व्यक्तियों को भ्रामक स्थिति से उबारना हो तो एक बड़ा-सा सामाजिक भ्रम पैदा कर दो। बस, सब ठीक हो जाएगा। ये सब नीति-धर्म और आदर्श विचारधाराएँ और हैं क्या···उसे अपने इस तर्क पर कभी-कभी हँसी भी आती है पर अपनी इस धारणा को ध्वस्त कर सकने योग्य तर्क वह कभी इकट्ठे नहीं कर पाया। सीधे अनुभव में से भी यही बात सिद्ध होती है। इतिहास इस धारणा को झुठलाता दीखता है पर इतिहास का सत्य···

उसने अखबार पढ़ना शुरू कर दिया।

दो मिनट बाद पत्नी चाय का गिलास उसके हाथ में पकड़ा गयी।

गिलास में से पहला घूँट भरते हुए उसने जाती हुई पत्नी की तरफ देखा। सिर्फ झम्पर और पेटीकोट में से उसके शरीर के कंटूर झलक दे रहे हैं। बहुधा सुधीर को यह अच्छा नहीं लगता। रमा के शरीर ने अभी अनुपात नहीं खोया है। जैसी ब्याह के वक्त थी वैसी ही आज

है। तीन बच्चों की माँ है पर अभी चाहे दोबारा ब्याह कर लो। सोचकर उसे हँसी आई। साथ ही रमा पर प्यार भी आया। चाय का दूसरा घूँट मारा और साथ ही पत्नी को पुकार उठा, "रमा-आ!"

रमा फिर कमरे में दीखी। पूछा, "क्या है ? चीनी कम है ?"

"नहीं ठीक है।···और यह तुमने धोती क्यों नहीं पहन रखी ?"

रमा ने पति की तरफ देखा, फिर हँस कर कहा, "शुकर है। आज तुमने मेरी तरफ देखा तो सही।"

"जो पूछ रहा हूँ, उसका जवाब दो।"

"दूसरी बार चाय लाऊँगी तो धोती पहन कर आऊँगी।"

"क्या मतलब यह कि जब एक घंटे बाद दूसरी चाय लोगे तब तक धोती किसी क़दर सूख जाएगी और मैं पहन कर आपके सामने हाज़िर हो जाऊँगी। जाऊँ ?"

"बहुत मुहावरेदार भाषा बोलने लगी हो ?"

"लेखक की पत्नी हूँ, खेल थोड़े ही है।"

"तुम्हारे पास दूसरी धोती नही है ?"

"है क्यों नहीं। ट्रंक भरा पड़ा है। पर कौन निकाले ? मैं बहुत आलसी हूँ ना।···चलूँ, स्टोव खाली जल रहा है।"

वह चली गई। सुधीर बहुत देर बैठा सोचता रहा। पता नहीं क्या-क्या। फिर अचानक जोर से हँस पड़ा। अखबार पढने को मन नहीं किया। खबरें आती भी क्या हैं ? कैसे एक नेता ने दूसरे नेता की टाँग खींची और कैसे वह नेता गिरते-गिरते भी हमलावर को टंगड़ी मार गया। वह भी गिर गया···सभी साले गिरे पडे है और सब समझते हैं कि···पर कम-से-कम अपराध-समाचार तो पढ़ ही लेने चाहिए। उनमे मजा आता है। पर···

उसने फिर पुकारा, "रमा-ऽ!

"अब क्या है ?" रमा ने दूसरे कमरे से ही कहा।

"यहाँ आओ।"

रमा आई तो धोती पहने थी। शायद गीली ही पहन आई। पर सुधीर के दिमाग़ में अब वह बात थी ही नहीं। उसने रमा के दीखते ही कहा, बैठो यहाँ आकर, तुम्हें एक कहानी सुनाता हूँ।

"अरे, कहानी सुनने का वक्त है यह। खाना तैयार करना है। बच्चों के जाने का वक्त हो रहा है। मैं तुम्हारी तरह निठल्ली नही हूँ।"

सुधीर तिलमिला उठा, "होशियारी छोड़ो, बैठो पाँच मिनट। बस, पाँच मिनट से ज्यादा नहीं लगेंगे। बैठो।"

रमा खाट पर ही बैठ गई, "बोलो।"

सुधीर ने कहानी शुरू की, "तुम्हें तो मालूम नहीं है रमा, हमारे एक बड़े भाई थे। ताऊजी के लड़के। उम्र में हम से बहुत बड़े। मर गए। अभी मरे हैं तीन चार साल हुए। सम्बन्ध नहीं रहे थे इसलिए तुम से ज़िक्र करना याद नहीं रहा। मुझे भी मरने के बहुत बाद पता चला था। उनके साथ एक बहुत विचित्र घटना घटी थी। कहते हैं उनकी पहली शादी के कुछ ही दिनों बाद एक साँप उनके घर में आकर रहने लगा। उसे बहुत निकालने कोशिश की। हंडिया में

बन्द करके दूर जंगल में छुड़वाया पर वह फिर आ जाता। और एक दिन तो कहते हैं रमा, वह सारी रात भाभी के बिस्तरे में पड़ा रहा और भाभी को पता भी नहीं चला। फिर एक दिन तय किया गया कि साँप को मरवा दिया जाए। साँप पकड़ने वाले बुलाए गए और साँप को मरवा दिया गया। तुम्हें मालूम है रमा, भाभी भी एक महीने के अन्दर मर गई। भाई साहब की दूसरी शादी फिर बड़ी मुश्किल से हुई थी'''अरे, तुम हँस रही हो ?"

"तो क्या डरूँ। सच बताना, यह कौन-सी फिल्म से उड़ाई है ?" कह कर रमा खिलखिलाकर हँस दी।

पर सुधीर गम्भीर था, बोला, "हँसने की बात नहीं है रमा, यह एकदम सच्ची घटना है।"

"तुमने देखा था साँप ?"

"पिताजी बताया करते थे और उन्हें झूठ बोलने की बिलकुल आदत नहीं थीं साथ ही उनका इस सब पर विश्वास भी नहीं था। वे हमेशा चकित भाव से ही इसे सुनाते थे। उनकी बात को''''"

रमा ने काट दी, "आज यह कहानी क्यों याद आ गई ?"

"रात सपने में भाई दीखे थे।"

रमा उठकर खड़ी हो गई। वह भी अब गम्भीर हो गई थी। एकदम रूखी आवाज में बोली, "तुम्हें चिन्ता करने की जरूरत नहीं है, यहाँ कोई साँप नहीं आता और सुनो, मन पर जो काम वज़न डाले वह नहीं करना चाहिए, रात को बुरे-बुरे सपने दीखते हैं। समझे ?"

"क्या मानी ?"

"मानी यह कि मेरे पास फालतू बातों के लिए वक्त नहीं है। और मेरे से तुम उतनी ही बात किया करो जितनी जरूरी हों।"

रमा चली गई। सुधीर सामने पड़े अखबार को उलटने-पलटने लगा पर अखबार के सभी अक्षर उसके लिए धुँधले हो गए थे। उसी की सुनाई कहानी को रमा ने जिस तरह घुमाकर उसके मुँह पर मार दिया था उससे वह सुन्न रह गया था। यह बात सच है कि यह कहानी उनके घर में सच्ची घटना की तरह कही-सुनी जाती रही थी। रमा पर आज सुबह उसे स्नेह आया था। उसने सोचा था कि एक मनोरंजक और चौंका देने वाली कहानी सुनाकर वह उसे भी सरस कर देगा। पर रमा ने किनारा पकड़कर सारी चौपड़ गोटियों समेत उलट दी। उसका मन एकदम खराब हो गया।

वह खाट पर फिर पसर गया।

दो छोटे-छोटे कमरों के इस छोटे-से फ्लैट में सुधीर, पत्नी रमा और तीन बच्चों के साथ रहता है। कहने को वह लेखक है जरूर पर लेखक की एक भी अदा उसमें नहीं है। दिखावट में एकदम साधारण, स्वभाव से उग्र और निहायत अस्थिर चित्त आदमी वह माना जाता है। सुधीर अन्दर ही अन्दर खुद को जानता है। वह जानता है वह मूलतः कायर और डरपोक प्रकृति का आदमी है। उसकी साधारणता सिर्फ दिखावटी नहीं है, वह है ही साधारण। चरित्र में जो एक गरिमा होती है, वह उसमें नहीं है। पर अपनी सभी कमजोरियों को कहीं छिपाने और कहीं युक्तिसंगत साबित करने के लिए उसने एक बेहद उलझा हुआ तर्कजाल बुन रखा है जिसके पक्ष में वह हमेशा एक ज़िद में अड़ा रहता है, कभी पीछे नहीं हटता। यह तर्कजाल अगर कहीं छिन्न-भिन्न होता है तो सिर्फ प्रतिभा के सामने। वहां सुधीर की सारी आक्रामक उग्रता काफूर

हो जाती है। उसके सामने उसकी निरीहता देखते ही बनती है। और यही शायद सुधीर में प्रतिभा कि प्रति फैलते मोह का कारण हे। क्योंकि यह अपनी कमजोरियां जानता है इसलिए अपने अच्छे रूप को महसूस करने के लिए तरसता है। वह उसे प्रतिभा के सामने होते ही उझकने लगता है, तभी वह···

ऐसा नहीं है कि प्रतिभा उसके लिए सिर्फ लेखिका है, सुन्दर स्त्री है ही नहीं। है, पर सुधीर के मन को उसका भूत और का पुरुषता इस तरह दबोचे रहती है कि साहस की बूँद दो बूँद जब भी उसमें उभरती, सिर्फ गर्मी में उभरी पसीने की बूँदों की तरह, जो उसे, ज़ाहिर है··· पहले या बाद में पूँछ कर फेंक देनी पड़ती हैं···

···पर आज··· आज सुधीर ने सोचा है, वह प्रतिभा से बहुत-सी बातें खुलकर करेगा।

बस, स्टाप आने ही वाला है।

यहां बारिश नहीं हो रही।

3

दो स्टाप और हैं, उसका स्टाप आ जाएगा। बस में अब पहले की तरह भीड़ नहीं है। सुधीर का मन थोडा हल्का हुआ है। बहुत-सी ऊदी पीली धुंध छट रही है। अच्छा लगने लगा है। प्रतिभा के पास पहुँचने तक उसका मन बिलकुल साफ हो जाएगा, शीशे की तरह। मन के चारों तरफ जो घिरा रहता है वह प्रतिभा के प्रभाव-क्षेत्र के सामने टिक नहीं पाता। मन तो ठीक हो रहा है, पर कपड़े ? कैसे हो गए है ? जैसे अभी-अभी घड़े से निकाले हों। और पर ? जैसे अभी गारा ढोकर आया हो। इन्हें तो धोना ही पड़ेगा। बस में सफर करके शरीर कैसे किचकिचा हो जाता है। अन्दर की कापुरुषता को बढ़ाता है। मन शरीर से कोई अलग चीज़ थोड़े ही है। शरीर मैला हो तो मन कैसे साफ रह सकता है। या फिर शरीर को आदमी एकदम नकार दे। पर··· नही, शरीर बहुत महत्वपूर्ण होता है, माध्यम।···उसको नकारना प्रेम का नकारना है···वह···

ऐसे ही न जाने कितना ऊलजलूल सुधीर सोचता रहा। पर काम की बात उसने एक नही सोची। यह तक नही कि आज प्रतिभा से क्या बात करेगा ? खुलकर बात करने का फ़ैसला कियां था उसने मन ही मन। पर प्रतिभा से खुलकर बात करना इतना आसान है ? वह क्या···

स्टाप आ गया।

वह बस से नीचे उतर आया। चारों तरफ देखा। खुला आसमान। तेज़ चुभने वाली धूप, पर हवा में नमी। धूप की चुभन नम हवा के झोंकों में सुख दे रही है···प्रतिभा के सान्निध्य में जैसा होता है···उसकी बुद्धि की चुभन और सौन्दर्य की नमी। क्या कहेंगे इसे ? बौद्धिक सुन्दरता या सुन्दर बुद्धि·· कुछ भी कह लो···पर वह है लाजवाब···हाँ, वाक़ई उसका जवाब मिलना मुश्किल है···

सुधीर का मन बहुत हल्का हो गया। दूसरे की प्रशंसा से मन हल्का होता ही है···फिर प्रतिभा तो··

रास्ते के एक नल पर उसने पैर धोये। रूमाल गीला करके मुँह पर फेरा। बालों को दोनों हाथों से पीछे हटाकर जमाया और मन ही मन खुद पर हँसता हुआ वह प्रतिभा के घर की तरफ चल दिया। अब पाँच मिनट पैदल चलना पड़ेगा।

पाँच मिनट बाद वह दीखेगी। उसने खुश होकर चारों तरफ देखा। सूरज चमक रहा है। पर दायीं तरफ से घने बादल चढ़े आ रहे हैं। इधर भी बारिश होगी। हो, अब हमें क्या डर है। हम तो उसकी छाया में जाकर बैठ जायेंगे। बरसा करें। पानी से क्या भीगना है। सिर्फ शरीर गीला होता है। उसकी दृष्टि का भूरापन पूरी चेतना को भिगो देता है। कितनी उद्दीप्ति है उसकी दृष्टि में। दो दीये समान्तर जलते दीखते है। पारदर्शी लौ...

हरियाली में लिपटी पड़ी सड़क आ गयी। सड़क से नीचे उतर कर चलना चाहिए। सोई पड़ी है। या किसी के ख़यालों में मोह-जड़ है। चंचल मन चेहरे पर एक ठोस पतरी चढ़ा देता है। ठोस पतरी तो बीच-बीच प्रतिभा भी चेहरे पर चढ़ा लेती है। मन तो चंचल है उसका...पर छोड़ो, उस दिशा में नहीं सोचना चाहिए। शरीर का स्फुरण मन के स्वाद को तीता कर देता है। अनुभव को सीधा चेतना तक जाने देना चाहिए। किसी माध्यम की ज़रूरत नहीं। पर...

घर आ गया।

तीन कोठियों से पहले खड़े प्रेस वाले को देखकर उसे उसकी कोठी का ख़याल आता है। हाथ-ठेले पर फैले कपड़ों की, सख्त होंठों से, सिलवटें निकालते प्रेस वाले के चेहरे की सन्नद्धता बहुत अच्छी लगती है। काला, सिलवटों-भरा चेहरा, कैसे होंठ भींच-भींच कर प्रेस सरकाता है,—उसे बहुत हँसी आती है। कभी-कभी इसी ठेले पर एक तकरीबन जवान लड़की भी काम करती होती है। वह न होंठ भींचती है, न चेहरे पर तनाव लाती है। हँस-हँस कर काम करती जाती है और पास खड़े मूल ग्राहक के नौकर से बतियाती भी जाती है। सुधीर ने कई बार सोचा है—वह कपड़े भी अच्छे प्रेस करती होगी। होंठ भींचने से प्रेस की गर्मी बढ़ थोड़े ही जाती है।—उसने आज भी सोचा और उसके चेहरे पर एक स्निग्ध मुस्कराहट खिल आई।

कोठी आ गई। दौड़ते हुए बादल भी आकर सिर पर खड़े हो गए। पूरी दीखती दुनिया एक गुम्बद बन गई। रोशनी की आँखें मुँद गईं। अन्दर भूरा अंधेरा पिघल कर बहने लगा। सब दिशाएं एकमएक हो गईं। गोल गुम्बद में क्या पूरब, क्या पश्चिम। पर...दिशाओं का मिटना सुखद है...या दुखद...या दोनों से परे...

प्रतिभा के पास बैठ कर भी तो उसे दिशा-बोध नहीं रहता।

सुधीर तेज़ क़दमों से कोठी में घुस गया। मेन-गेट खुला था। वह पहली मंजिल पर रहती है। एक लम्बा गलियारा। फिर बाईं तरफ मुड़कर कुछ सीढ़ियाँ चढ़नीं होती हैं। गहरी ऊदी हरियाली में लिपटे पड़े इस दीर्घकाय स्फटिक में क़ैद ओस की पारदर्शी बूँद तक पहुँचने के लिए। पर...जितनी भी दफा वह यहाँ आया है, इन सीढ़ियों पर कुछ मिनट भयभीत खड़ा रहा है...आज भी रुक कर खड़ा हो गया है। प्रतिभा को देखने का उद्दाम आवेग भी उसे दो-तीन मिनट तक खिसका नहीं पाया है।

वह यहाँ खड़े होकर हमेशा एक ही बात सोचता है—क्या किसी दिन ऐसा हो सकता है कि वह यहाँ आए, घंटी बजाये, कोई और दरवाज़ा खोले और सूचना दे, 'सॉरी, प्रतिभा हमेशा के लिए चली गई।' या वह आए, दरवाज़ा खुला पड़ा हो। वह अन्दर घुस जाए। अन्दर कोई

न हो। वह पुकारे, कमरे-कमरे, कोने-कोने में उसे ढूँढे, वह न मिले और…

क्या करेगा वह किसी दिन ऐसा हुआ तो ?

नहीं, वह नहीं सोच पाता कि उस दिन वह क्या करेगा ? किसी दिन नहीं सोच पाया। न ही सोच पाएगा। उसकी सारी कल्पनाशक्ति यहाँ आकर कुन्द हो जाती है। इतने गहरे अंधेरे में कल्पना की आँखें भी क्या देख सकती हैं। सिवाय कुछ ऐसी आकृतियों के जो भय को और गाढ़ा करें। और इस गहरे अंधरे से भयभीत होकर ही वह घंटी का बटन दबा देता रहा है…आज भी उसने बटन दबा दिया है…

पर इस आक्रामक भय का एक फायदा भी होता है। उसके भीतर उफनता असभ्य आवेश कुंठित होकर सो जाता है। प्रतिभा के सामने वह सभ्य बन कर ही पेश होता है।

प्रतिभा के ड्राइंग-रूम की सजावट सज्जा-कला की कई भंगिमाओं का मिश्रण है। बफ शेड की साफ-सुथरी दीवारें। फर्श पर गोल उन्नाबी रंग का कालीन। बड़े-बड़े कोच और बेंत की कुर्सियां भी। कोने में गमले और काठ पर उभरी अनर्थक-आकर्षक आकृतियां। कमरे की तीन दीवारें सीधी हैं और एक चाप है। और छज्जे से कटा आस्मान टेलीविज़न के स्क्रीन की तरह दीखता है। प्रतिभा हमेशा छज्जे की तरफ मुँह करके बैठती है, आकाश के विशाल ब्लू-स्क्रीन को देखती हुई।

इस समय ब्लू-स्क्रीन पर गहरे बादल छाए हुए हैं।

प्रतिभा बैठी देख रही है।

सुधीर पास की कोच पर बैठा प्रतिभा को देख रहा है।

प्रतिभा कहीं बहुत गहरे में डूबी है।

स्क्रीन पर दीखा है। बारिश आ गई है।

छज्जे से ही दीखती पेड़ों की टहनियाँ और बेलों की लड़ियाँ पल भर बूँदों की छुअन से काफी हैं फिर मोह-मुग्ध लय में हिलने लगी हैं।

वातावरण की सुगन्धि को छितराता हुआ सुधीर बोला है, "कैसा रहा ट्रिप ?"

बोलकर उसे महसूस हुआ कि उसकी आवाज़ कर्कश है। आवाज़ ने चारों तरफ जमी प्रशान्ति को फोड़ दिया है। चुप रहता तो रस निर्बाध बहता रहता, पर अब…

प्रतिभा ने कहा है, "ठीक रहा।"

"क्या हुआ ?"

"कहाँ ?"

"कुछ खोई-खोई हो ?"

"हूँ, तो ?"

पूछ रहा हूँ, क्यों हो ?"

"वह मेरी व्यक्तिगत समस्या है। तुम कैसे जानोगे ? और क्यों जानना चाहोगे ?"

सुधीर चकित रह गया। अन्दर की कुचमुचाहट को दबा कर उसने कहा, "चलो, नहीं सही, कुछ और बात करो।"

"क्यों, बात करना जरूरी है ?"

"तो?"

"चुप बैठो। चाय बन रही है, पीना।"

"मैं इतनी दूर से चाय पीने आया हूं?"

"और क्या करने आए हो? कुछ काम तो आज था नहीं।"

इस बार सुधीर ने आहत महसूस किया। रूखे स्वर में बोला, "तो, बोलो, जाऊं?"

"चलो, चाय पीकर ही चले जाना।"

सुधीर उठना चाह कर भी उठ नहीं सका। यही सुधीर की कमजोरी है। प्रतिभा के पास से उठना उसके लिए बहुत मुश्किल काम है। प्रतिभा के हल्के से इशारे पर वह जम कर बैठ जाता है और तब तक नहीं उठता जब तक प्रतिभा उससे सीधे न कहे—जाने के लिए। चाय पीकर जाना, सुनकर वह कोच में पसर गया। यह तय करके कि इस दफा पहले प्रतिभा बोलेगी।

प्रतिभा बोली और फिर कई घंटे तक दोनों बोलते रहे। हँसते रहे। तरह-तरह की बातचीत बीच में लुढ़कती-पुढ़कती रही। देश की, साहित्य की, राजनीति की और अपने सम्बन्धों की। मौसम की और मन की। बीच-बीच में चाय आती रही। दोनों को महसूस हुआ कि बातचीत रस दे रही है कि अचानक सुधीर पूछ बैठा, "आते-आते तुम्हें क्या हुआ था प्रतिभा?"

प्रतिभा मिनट भर चुप रही, फिर बोली, "बारिश बन्द हो गयी है, अब तुम जाओ।"

"चलता हूं···बताओगी नहीं?"

प्रतिभा का चेहरा सख़्त हो उठा, बोली, "नहीं, तुम जाओ।"

"चलो, नहीं पूछता। एक कप चाय और पिला दो।"

"नहीं, और अब तुम जाओ ही। सुबह फोन करना, कल हो सका तो मिलेंगे···और तुम्हें ऊटपटाँग सवाल पूछने हों तो नहीं मिलूंगी, ठीक?"

कहते-कहते प्रतिभा का चेहरा पत्थर की तरह कठोर हो उठा। उस का मर्मरी रंग पीला हो गया। उसकी दोनों असाधारण, बड़ी-बड़ी आंखों में नमी तिरती न होती तो सुधीर वाक़ई उस चेहरे से डर जाता। वह चुपचाप उठकर बाहर खिसक आया। कोठी से बाहर सड़क पर आकर पीछे मुड़कर देखा। दीर्घकाय स्फटिक नहा-धोकर हरा कोपीन पहने खड़ा है। कहीं-कहीं पानी की बूंदें हरे कोपीन पर लटकी हुई हैं। अभी गिर कर फूट जायेंगी। फूट जाने दो। पर स्फटिक के अन्दर बन्द वह···

सुधीर पल को सिहर उठा।

उसने ऊपर आस्मान की तरफ देखा। बादल जा चुके है। नीला-साफ आस्मान कैसा भदेस लगता है। कोरी औरत की तरह···

4

बस से उतरते ही सुधीर को महसूस हो गया—वह दूसरी दुनिया में आ गया है।···दूसरी दुनिया···सुधीर की असली दुनिया···नहीं, असली दुनिया नहीं, वह दुनिया जिसमें सुधीर रहता है, असली दुनिया से तो वह लौटा है।···असली दुनिया में रह कौन पाता है···

पर नहीं, असली दुनिया वही होती है जिसमें आदमी रहता है···

सुधीर ने सड़क पार की। वह धीरे-धीरे अपने घर की तरफ खिसक चला।

यहां के आसमान पर अभी भी बादल घिरे हैं।

इस आसमान के बादल अलग हैं। जैसे किसी ने धुएं में घोलकर काली-भूरी मिट्टी आसमान में उछाल दी हो···इस कालोनी के चारों तरफ फैली फैक्टरियों की चिमनियाँ धुआँ उगलती भी बहुत हैं। धूल तो खैर बारिश से कीचड़ में बदल जाती है और उड़ना बन्द कर देती है, पर कीचड़-सने पैरों से जब आदमी घर की तरफ बढ़ता है तो मन बहुत उड़ता है। सुधीर के घर तक जो गली छोड़ती है उसमें दोनों तरफ लगातार फैक्टरियां हैं। बारिश न भी हो तब भी सारी गली में पानी भरा रहता है। फैक्टरियों का फालतू पानी। गली के कीचड़ का क्लाइमैक्स गली के अन्त में आता है। यहाँ एक तरफ रबर की चप्पलों की स्टेपीज़ बनाने का कारखाना है तो दूसरी तरफ शीशे के कंचे बनाने का। दोनों तरफ से तीखा गन्ध वाला पानी निकलकर गली में फैलता है और फिसलन पैदा करता है। गली के इस हिस्से को पार करना उतना ही मुश्किल है जितना हनुमान के लिए लंका तक पहुंचने के लिए समुद्र पार करना। हनुमान को तो खैर 'लांग-जम्प' का अच्छा अभ्यास रहा होगा। पर यहा अक्सर जम्प मारते वक्त लोग पीठ के बल धराशायी होते देखे गए हैं और उठने की कोशिश में बार-बार फिसलने का उनका करतब कम-से-कम चार आने का मज़ा तो दे ही जाता है।

पर गली पार करते ही मज़ा आता है। रेल की पटरी पार करते ही—दो फर्लांग लम्बी कालोनी दीखने लगती है। पटरी के दोनों तरफ पानी इसलिए इकट्ठा नहीं होता क्योंकि ढलान है। और फिर क़तारों में एक के ऊपर एक खड़े हजार क्वार्टर—छोटे-छोटे, बारह-बारह का गुट बनाये। क़तारों मे खड़े बच्चों की तरह। ड्रिल करते बच्चे सीधे होते हुए भी टेढे होने का भ्रम पैदा करते हैं। बीच के गैप से देखने पर।

पटरियों के ढलान पर उतरते हुए सुधीर का अंगूठा एक पत्थर से टकराया। हल्का-सा दर्द हुआ। उसे याद आया कि प्रतिभा के घर जाते हुए यही अंगूठा फटा था। अब ठीक हो चुका है। अच्छा हुआ बरसात से पहले ठीक हो गया। नहीं तो कितना कष्ट दे सकता था। जिस तरह खुले पैरों कीचड़-पानी में घूमता है, उससे तो—

कालोनी मे घुसते ही सुधीर की सोच, भाषा, चलने-खड़े होने का ढंग सब बदल जाता है। उसको यह परिवर्तन साफ़ तौर पर महसूस होता है। बहुत दिनों पहले एक और तरह का परिवर्तन अनुभव किया करता था। दिल्ली से जब अपने गांव जाता था तो गांव के बाहर बहती नदी पार करते ही उसे लगता कोई हवा में से उसके शरीर में प्रवेश कर गया है। या लगता जैसे नदी से गांव के घर तक उसके साथ-साथ चल रहा है और उससे बात कर रहा है। उससे बात करते-करते ही अन्दर सब बदल गया है। बदलाव पूरा होते-होते ही वह चला गया है। यह बदलाव उसे गांव के लिए और गांव को उसके लिए यथापूर्व परिचित कर देता और वह गांव का रस ले पाता। गांव छूट गया। यह कालोनी भी किसी दिन छूट जाएगी। तो···?

जगह का भी एक चेतन व्यक्तित्व होता है।

वह तो होता ही है।

पर व्यक्तित्व चेतन वही होता है जो दायरे से बाहर भी अनुभव किया जा सके।

जैसे···जैसे प्रतिभा का है···वही तो···

घर में घुसते ही सुधीर ने वातावरण में एक तनाव की गन्ध पाई। रमा बाहर के कमरे में बिछी एक आरामकुर्सी पर बैठी कोई मैगज़ीन पढ़ रही है। चेहरा नीचे झुका है पर उस तनाव की

गर्मी साफ दीख रही है। लड़की संज्ञा दीवार की तरफ मुँह किये पलंग पर लेटी है। उसके आधे बदन पर चादर पड़ी है। सत्रह-अठारह साल की संज्ञा घर में तनाव पैदा करने में माहिर है। उसके दोनों छोटे भाई समीर और संदीप अभी दस साल से कम हैं, और घर में तैरती खुशी को जितनी जल्दी वे समझ लेते हैं, तनाव को नहीं सूँघ पाते। इसलिए ज़मीन पर बैठे लड़-लड़ कर खेल रहे हैं।

सुधीर ने चप्पलें एक तरफ उतार कर पत्नी के सामने पड़ी कुर्सी पर बैठते हुए कहा, "यहां भी दिन भर बारिश हुई ?"

पत्नी ने मैगज़ीन में सिर गड़ाए-गड़ाए कहा, "जी हां। खाना लाऊं ? मुँह-हाथ धोओगे ?"

सुधीर चुप रहा। फिर धीरे से बोला, "क्या हुआ ?"

"खाना ले आऊं ?"

"हो क्या गया ? यह संज्ञा ऐसे क्यों पड़ी है ? तबीयत तो ठीक है !"

रमा से कुछ भी पूछने से सुधीर कतराता है। एक तो उसे बात को गम्भीर बनाकर बताने की आदत है। दूसरे स्थिति या वातावरण का तनाव उसके चेहरे पर इतना साफ अंकित होता है कि घबराहट होती है। फिर भी घर में तनाव हो और गृहपति न पूछे यह भी नहीं हो सकता। सुधीर चाहता है खाने से पहले ही पता चल जाए कि क्या हुआ है, नहीं तो खाने में किरकल आती रहेगी।

सुधीर ने फिर टटोला, "क्या हुआ रमा, बताती क्यों नहीं ?"

इस बार रमा बोली, "संज्ञा से ही पूछो।"

"तुम्हीं बता दो।"

"नहीं, इसी से पूछो।"

"अजीब पागलपन है। तुम्हीं क्यों नहीं बता देतीं।"

"खाना खा लो, फिर बता दूंगी।"

"नहीं, पहले बताओ।"

और इस बार सुधीर का स्वर रूखा हो उठा।

रमा ने बताया — "परसों इसके कालिज में कुछ है। इसे भी उसमें शामिल होना है। कहती है नया सूट नहीं होगा तो शामिल नहीं होगी और शामिल नहीं होगी तो फिर कभी कालिज नहीं जाएगी।...इसीलिए..."

सुधीर ने सुना। सुनकर समझा और समझकर ज़ोर से ठहाकर मारकर हँस पड़ा और फिर काफी देर तक निरन्तर हँसता रहा। संज्ञा जो अब तक दीवार की तरफ मुँह किए पड़ी थी चौंक कर सीधी हो गयी और पिता का मुँह देखने लगी। रमा भी हतप्रभ थी। कुछ देर चुपचाप देखती रहकर वह बोली, "इसमें इतना हँसने की क्या बात है ?"

सुधीर ने कहा, "वही तो, इतना रोने की क्या बात थी ?"

"बात क्यों नहीं थी। हमें पता है सूट नहीं बन सकेगा। और तुम जानते हो संज्ञा कितनी जिद्दी है।"

"और तुम दोनों को यह पता नहीं है कि हम कितने जिद्दी हैं।"

"तुम क्या करोगे ?"

"हम सूट सिलवा कर ही रहेंगे।"

कहकर सुधीर फिर जोर-जोर से हँसने लगा।

रमा ने भी हँसते हुए कहा, "आज बहुत खुश नजर आ रहे हो। क्या मिल गया ?"

सुधीर चुप हो गया।

"खाना लाऊं ?"

"हां।"

खाने पर रमा ने फिर पूछा, "आज इतने खुश क्यों हो ?"

"अरे, तुम दोनों की बेवकूफी पर हँस रहा हूं। और क्या—"

रमा गम्भीर थी। बोली, "बेककूफी पर गुस्सा किया जाता है।"

"जिनसे आदमी प्यार करता है उनकी बेवकूफी पर हँसी आती है, प्यार आता है। नहीं ?"

रमा इस बार हँस पड़ी, बोली, "नहीं, आदमी जब अन्दर से खुश हो तो गुस्सा करने की बात पर भी हँसता है।"

सुधीर ने स्वर को यथाशक्ति गरिमामय बनाकर कहा, "रमा, तुम्हें हर समय कोरी दीवार पर तस्वीर लटकी क्यों दीखती रहती है?"

रमा गम्भीर हो चुकी थी। चौकस भाव से खाना परसती हुई बोली, "तस्वीर अगर लटकी हो तो औरों को ही दीखती है, खुद को जरा देर से ही दीखती है। पर खैर, मुझे तस्वीर की न चिन्ता है, न एतराज है। पत्नी पास की दीवार होती है, तस्वीर कभी नहीं बन पाती। ठीक है। पर मेरी चिन्ता है कि—"

"चुप क्यों हो गई ?"

"नहीं, चुप नहीं हुई। जरा शब्द ढूंढ़ रही थी। तुम्हारी तरह मैं लेखक तो हूं नहीं कि शब्द हर समय नाखूनों से झरते रहें। मुझे सोचना पड़ता है। वैसे भी मैं सोच-विचार कर बोलने की आदी हूँ।" कहकर रमा खिलखिलाकर हँस दी।

पर सुधीर गम्भीर था, उसने बात टूटने नहीं दी, "क्या कह रही थी ?"

रमा को खुद को समेटने में देर लगी। फिर धीरे-धीरे बोली, "कोई खास बात नहीं। मैं कह रही थी कि तुम्हें तस्वीर उतर जाने पर दीवार को फिर कोरा करना नहीं आता। और तस्वीर लाकर दीवार पर टांगो यह भी तुम्हारे बस का नहीं है। दरअसल सम्बन्ध सदा अस्थायी होते हैं और तुम्हें इस शब्द से···मैं तुम्हारे मन से डरती हूं। और मुझे कोई डर नहीं है, कोई चिन्ता नहीं है।"

सुनते-सुनते सुधीर का मन उखड़ गया। जल्दी-जल्दी उसने खाना खत्म किया और यह कहकर कि 'जरा घूमकर आता हूँ वह घर से बाहर निकल गया।

5

जिस कालोनी में सुधीर रहता है उसकी भौगोलिक स्थिति इस प्रकार है। दिल्ली के पूर्वी क्षेत्र का यह आखिरी सिरा है। कालोनी के पीछे एक पॉश कालोनी है। बाईं तरफ रेल की पटरी पार करते ही छोटे उद्योगों की लम्बी क़तार है, जिसमें हजारों आदमी-औरतें-बच्चे कम-से-कम

तनख्वाह पर अधिक-से-अधिक काम करते हुए पाए जाते हैं। दाईं तरफ छोटेअपराधियों की बस्ती है, जिसमें कच्ची शराब खींचने वालों से लेकर, चोरी, बटमारी के अनुभवी मुज़रिम तक रहते हैं। कालोनी के ठीक सामने एक विशाल मैदान है जिसमें क्वार्टरों की ही तरह कीकर के छोटे-छोटे आदमकद पेड़ खड़े हैं। इस मैदान के अनेकानेक उपयोग हैं। रात के बारह बजे से सुबह के आठ बजे तक इस मैदान में बहुत चहल-पहल रहती है।

सुधीर बाहर निकला तो बाहर खूब अंधेरा छा चुका था। आसमान में बादल थे। ठंडी हवा चल रही थी। मौसम बहुत ही अच्छा था। दिन भर के थके-मांदे लोग खा-पीकर सड़क पर घूम रहे थे। पान की दुकानों पर औरत से राजनीति तक जबड़ों में घुमाते लोग तैश खा-खा कर अपनी बात सही सिद्ध करने के चक्कर में थे। काफी लोग कच्ची सूँघ चुके थे। बात करने के उनके लहज़े में बनावटीपन कम था। मौसम का खुशनुमा होना उनकी अभिव्यक्ति को आक्रामकता दे रहा था जो राजनीति पर से फिसल कर औरत पर जमकर बैठने की मजबूरी पैदा कर रहा था।

सुधीर बाहर निकला तो उसका मन खराब था। पर चारों तरफ फैली रंग-बिरंगी दुनिया ने उसका मन हल्का कर दिया। जी हुआ वह भी पान की किसी दुकान पर खड़ा हो हँसे, ठहाके लगाए। कालोनी के सभी लोग उसे जानते हैं, पर जिस तरह के लोग यहाँ रहते हैं, उनकी बातों में देर तक रस लेना उसके बस की बात नहीं है, पर एक दफा हँसकर जल्दी उनके चंगुल से निकलना भी उतना आसान नहीं होता। फिर भी एक पान की दुकान पर खड़ी भीड़ में सुधीर घुस गया।

पर घुसकर उसे पता चला कि वह बहुत गलत जगह फंस गया है।

वहां बीच में न राजनीति थी, न फिल्म और न मैनेजमेंट। मैनेजमेंट मजदूरों का प्रिय विषय होता है। पर जो विषय उस भीड़ में था वह कालोनी के लोगों के लिए सबसे प्रिय था। और इस समय भी वे उसी का मजा ले रहे थे। ठहाके-चुटकियां-गालियां एक दूसरे पर उछाल कर वह खुशी को सामूहिक बना रहे थे।

बात दरअसल यह थी कि कालोनी के उत्तरी विस्तार के बीचों-बीच एक पुलिया है। ऊपर से रेल और नीचे से आदमी गुजरते है, इस पुलिया के नीचे एक जवान पगली अपने ताम-झाम के साथ पड़ी रहती है। वैसे वह बहुत कम बोलती है पर उसका कोई प्रशंसक उसे भर-मन कच्ची पिला देता है तो कहते हैं उस पर देवी आती है और उस समय वह सिर्फ सच बोलती है, सच के सिवा कुछ नहीं बोलती। सच वह कभी पूरा नहीं बोलती। टुकड़ा-टुकड़ा सच उसके मुँह से चूता है और उसमें से पूरा सच बुनना पड़ता है। अभी-अभी चटर्जी का जो बारह साल का लड़का रेल के नीचे कट कर मरा था उसे उसने मरने से दो दिन पहले ही बताया था — "पटरी से दूर···पटरी से दूर··· नेता बन जाएगा···नेता···हा-हा-हा,···नहीं था···नेता··· नहीं था··· हा-हा-हा।" उस समय कोई पगली की भवियवाणी का अर्थ नहीं समझा पर दुर्घटना के अगले दिन सबको पगली के फुटकर शब्द याद आए और हरेक ने उसके उन टूटे-फूटे वाक्यों के अलग-अलग अर्थ लगाए। जिसमें से कुछ दार्शनिक थे और कुछ शुद्ध राजनीतिक।

कालोनी के लोगों ने इस पगली का नाम प्यार से 'सब की भाभी' रखा हुआ था।

उस भीड़ में उस वक्त सबकी भाभी ही थी। और उसके मुँह से टुकड़ा-टुकड़ा सच चू रहा था।

वह बोल रही थी—सिर झुकाए, आंखें कभी-कभी खोलती, और बेहद उदास स्वर में—"डूब गया···एक आदमी में दूसरा आदमी डूब गया···कलई खुल गयी···राम-राम···पुलिया-पुलिया···चोर-चोर···सिपाही-सिपाही, चोर-सिपाही, चोर-सिपाही···"

अचानक भीड़ में से एक ने टोक दिया, "ओ भाभी, क्या चोर-सिपाही, चोर-सिपाही लगा रखी है। कोई अच्छी-सी बात सुना यहां की। देख, ये सुधीर बाबू आए हैं, तेरी बात सुनने।"

पगली चुप हो गई। उसने अपने चेहरे को धीरे-धीरे सुधीर के ठीक सामने किया। पलकों को हल्के-से उठाया, सुधीर को देखा और खिलखिला कर हँस दी। बहुत देर तक हँसती रही। फिर अचानक चुप होकर बोली, "कालोनी का सबसे बड़ा पागल?"

कहकर वह फिर गर्दन चक्रावर्त्त में घुमा-घुमाकर हँसने लगी और साथ ही भीड़ ने एक सम्मिलित ठहाका लगा दिया। सुधीर की हालत खराब हो गई। वह भीड़ से निकलकर भागना चाहने लगा। पर वह जानता था कि कोई उसे बाहर नहीं जाने देगा। मजदूरों की भीड़ एक ऐसा ही चक्रव्यूह होती है जिसमें घुसा जितनी आसानी से जा सकता है निकला नहीं जा सकता। सकपकाया-सा सुधीर खड़ा रहा और फिर खुद को ढीला छोड़ने के लिए वह एक खिसियानी हँसी हँस दिया। पर भीड़ के ही एक और आदमी के एक सवाल ने सुधीर की नसों पर से सारे तनाव को छीन दिया। वह खुलकर हँसने लगा। उस आदमी ने उस पगली से पूछा, "क्या बोलती है भाभी, सुधीर बाबू को पागल कहती है। सुधीर बाबू बहुत होशियार आदमी है।"

ऐसी बात नहीं है कि सुधीर अपनी इस तारीफ़ से खुश हुआ था। पर चलती बात चलते पानी की तरह खुशनुमा होती है। बात शुरू होकर वहीं डूब जाए तो बस जोहड़ खोद देती है।

पगली ने बेहद गम्भीर-भाव से उस आदमी की बात का जवाब दिया, "अरे, पागल है तो क्या हुआ, वहां, मेरे पास रहेगा।"

सुनकर सबने फिर ताली पीट दीं।

इस बार सुधीर बिलकुल उखड़ गया। तेजी से सबके रोकते-रोकते वह बाहर खिसक चला। पगली ने भीड़ और सुधीर की धींगामुश्ती देखी तो ताली पीट-पीट कर गाने लगी, 'जाने दो···आएगा, जाने दो···आएगा···जाने दो···'

और सुधीर का पिण्ड तभी छूटा जब पगली ने खड़े होकर ठुमका दे-देकर नाचना शुरू कर दिया।

"जाने दो···आएगा, रे ए-ए-ए जाने दो··· आएगा!"

दूर जाते सुधीर के कानों में भी यह कसैला सुर पड़ता रहा। उसका सारा शरीर खौलने लगा। उसे मालूम था कि उस पगली के बारे में कैसी-कैसी कहानियां प्रसिद्ध थीं। कोई कहता—यह पागल नहीं है, पुलिस ने इसे यहां बैठा रखा है। तो कोई कहता कि यह कालोनी में रहने वाले स्मगलरों की साथिन है। कोई कुछ कहता तो कोई कुछ। पर इतना सुधीर निश्चय से जानता था कि कालोनी के बहुत से लोग पगली का 'सही' इस्तेमाल करने से नहीं चूकते। उसने रात-बिरात लौटते हुए कई दफा बहुत कुछ देखा है। आज अचानक इस मूर्ख ने कालोनी वालों की नज़रों में उसे भी उन लोगों की क़तार में खड़ा कर दिया। सुधीर का मन एकदम फट कर रह गया। वह घर से मन हल्का करने बाहर निकला था। संज्ञा के सूट की चिन्ता थी पर इस समय तो सीधा जाकर सोना चाहने लगा। रात भी काफी हो गयी थी। आज का दिन शायद···

घर पहुंचकर पाया कि चटर्जी उसका इन्तजार कर रहा है। सुधीर को मालूम था कि जिस

दिन उसके लड़के की मौत हुई यह घर पर नहीं था। उसी दिन क्यों, कई दिन से घर से गायब था। बच्चे की लाश पड़ोसियों ने चन्दा देकर फूँकी थी। चन्दा देने की बाध्यता के कारण बच्चे की मौत का गम आधा हो गया था। कुछ लोगों ने चटर्जी को गालियां देकर ही अपना कर्त्तव्य समाप्त समझ लिया था और कुछ लोगों के कर्त्तव्य की सीमा चटर्जी की बहू को सलाह और उसमें स्त्रियोचित गुणों के अभाव का विशद विवेचन थी। दरअसल इसमें कुसूर चटर्जी का भी नहीं था। उसका खयाल था कि उसमें एक बड़े पेन्टर के तमाम गुण विद्यमान हैं और आज तक पेशे से वह लाइनो-आपरेटर था। उसके अन्दर का चित्रकार उसे इधर-उधर प्रेम-पींग बढ़ाने को उकसाता तो गर्दन पर बैठा लाइनो-आपरेटर उसकी गुद्दी पर लात-घूँसे बरसाता। स्याह रंग का मरगिल्ला-सा चटर्जी क़द में बहुत छोटा था। पर जुबान उसकी बहुत तेज़ थी। सुधीर ने उसे घर में बैठा देखा तो फुंक गया। बोला, "कहिए!"

"सुधीर बाबू आपको हमारा मदद करना पड़ेगा।"

सुधीर पहले ही जला बैठा था, वितृष्णा से बोला, "क्यों करनी पड़ेगी?"

पर चटर्जी अपनी धुन में था, "आप हमारा बात तो सुनिए!"

"क्यों सुनूं मैं आपकी बात? और आपको मालूम है इस समय क्या बजा है?"

चटर्जी ने फिर कहा, "पर आप सुधीर बाबू हमारा बात तो सुनिए।"

और सुधीर कुछ कहने ही जा रहा थ कि रमा ने टोक दिया, "तुम भी अजीब आदमी हो। बात सुनने में क्या हर्ज है?"

सुधीर भभक उठा, बोला, "तुम्हें मालूम है मैं चटर्जी को कब से जानता हूं?"

"ये वक्त उन बातों को करने का है? कितनी बड़ी घटना घटी है बेचारों के साथ और तुम पिछली बातें बतलाने बैठे हो। सुन लो, क्या कह रहे हैं।"

सुधीर अनमना था, पर बोला, "सुनाओ।"

चटर्जी को सांस आया। उसने लाइन पर गाड़ी चढ़ती देखी तो अन्धाधुन्ध कोयला झोंक दिया। धाराप्रवाह बोला, "वही तो सुधीर बाबू, हमारा बात तो सुनिए। तुम तो जानता है, हम को पेंटिंग का शौक है। तुम तो जानता है, मनमाफ़क काम में जो मज़ा है, और काम में कहां। ये साला दिल्ली है, अपना देश होता तो लोग पैर धो-धोकर पीता। तुम तो खुद लेखक है, सब जानता है, आर्टिस्ट है, कलाकार है।"

सुधीर का धैर्य दम तोड़ रहा था। उसने ललकारा, "चटर्जी!"

"हाँ सुधीर बाबू!"

"काम की बात करो!"

"हाँ, सुधीर बाबू वही तो। हम चाहता है, इस कालोनी के लोगों पर मुक़दमा करें। पुलिस में रपट कराएं।"

"क्यों? लोगों ने क्या किया है?"

"इन्होंने हमारा बच्चा रेल के नीचे धकेल दिया।...मार डाला।"

कहते-कहते चटर्जी की आवाज़ में कुछ ऐसी व्यथा गूंजी कि सुधीर और रमा दोनों जड़ तक हिल गए। बच्चे सब सो चुके थे। दानों की समझ में नहीं आया कि क्या कहें। पर चटर्जी अब भर आया था। उसी गूँजती आवाज़ में बोल रहा था, "हां, हमारा ही दोष है। हमारे ही कारण घर बरबाद हो गया। होता है तो हो जाने दो। हम तो अब वही करेगा जो मनमाफ़क

होगा। कितना साल हो गया लाइनो पर बैठकर टिकटिक करते। कभी छुट्टी नहीं, कहीं घूमना नहीं। दो रुपया हुआ तो सनीमा देख लिया। सौ रुपया इकट्ठा कभी नहीं हुआ कि बच्चों को हरिद्वार घुमा लाएं। सुधीर बाबू, यही वह लड़की है जिससे मैं उन दिनों प्रेम करता था, जब आपके साथ काम करता था। पन्द्रह साल पहले··· आज जी करता है इसे लात मार कर घर से भगा दूं··· कोई सुख नहीं, कोई मनोरंजन नहीं। बस, सनीमा देख लो, साला, दूसरे का मिथुन, या दारू, साली कच्ची···"

सुधीर ने बहुत कोमल स्वर में टोका, "चटर्जी, चाय पियोगे ?"

चटर्जी की आंखों में चमक आ गई। बोला, "पिऊंगा सुधीर बाबू, और कुछ खाने को हो तो वह भी दीजिए। कई दिनों से कुछ नहीं खाया···और भाभी जी, आप उस को समझाइये ना, न खाने से वह लौट थोड़े ही आएगा···आप, कल, ज़रा···"

अचानक चटर्जी चुप हो गया। कुछ मिनट एकदम सुन्न पथरीला मुँह लिए बैठा रहा फिर एक झटके से उठा और बिना कुछ कहे कमरे से बाहर हो गया। सुधीर चुप बैठा देखता रहा। उसने चटर्जी को रोकने की कोई कोशिश नहीं की। वह जान गया था—चटर्जी रोना चाहता है। रो लेगा तो हल्का हो जाएगा। भूख-प्यास भी तभी उसे ठीक से लगेगी। रमा चटर्जी के 'हां' कहते ही चाय बनाने अन्दर चली गई थी। स्टोव के भभकने की आवाज़ आ रही थी। सुधीर ने आवाज़ देकर रमा को सूचना दी, 'रमा, चटर्जी चला गया। रहने दो।"

रमा बाहर आई, चले गए ?"

"हां।"

"क्यों ?"

"मुझे क्या पता ? उठा और चला गया।"

"तुम पिओगे चाय ?"

"नहीं, और अब मेहरबानी करके सो जाओ।" कहकर वह बिना कपड़े बदले ही अपने बिस्तरे में पसर गया।

6

सुधीर ने बिस्तरे मे लेंटकर आंखें मूंद लीं। उसे पता भी नहीं चला कब रमा ने बत्ती बन्द की और कब वह लेट गई।

पर यह उसे साफ महसूस हुआ कि नींद दूर तक कहीं नहीं है। उसके चारों तरफ बेहद भीड़भाड़? बेहद ऊहापोह है। अंधेरे में उभरती-डूबती आकृतियाँ उसे उद्वेलित कर रही है।

बाहर की बत्ती बुझ जाए और अन्दर का अबरक टूटा पड़ा हो तो पता नहीं कहां की रोशनी के अबरक पर पड़ते 'रिफ्लैक्शन' मात्र से अन्दर का कमरा जगमगा उठता है। सुधीर के कमरे में भी इस समय अबरकी रोशनी पिघल कर बह रही है। कमरा सजा-धजा है। सांवली रोशनी में उन्नाबी कालीन महक रहा है। कालीन के चारों कोनों को चार कोच मुट्ठियों में भींचे बैठे हैं। कमरे की दिशाओं के विस्तार और कालीन की गहराई का अनुपात न बिगड़

जाए। दरवाज़े से गुलमोहर और नागचम्पा झांक-झांक कर हँस रहे हैं। चटक हरे पत्ते गहरे हरे दीख रहे हैं। कमरे में कहीं कोई बल्ब नहीं जल रहा फिर भी खूब सारी रोशनी झिलमिला रही है। बहती रोशनी।

कमरे में कोई नहीं है।

कमरे में कोई न हो तो कमरा रात का आकाश बन जाता है। अपने प्रभाव में रोशनी चाहे जितनी क्यों न हो।

···एक कोच पर कोई उभरा है···

···प्रतिभा है···

यह प्रतिभा है ?

नहीं, यह प्रतिभा नहीं हो सकती।

प्रतिभा इतनी सांवली कहां है। उसका मोतिया रंग···

ओह ! वह उसके कमरे में है न। कमरे की रोशनी का रंग कमरे मे बैठे आदमी के रंग को बदल देता है···

···तो यह प्रतिभा ही है···

···उदास, चुप, सुन्न बैठी है। चेहरे पर कैसा करुणाजन्य लसीलापन हे···

···क्या हो गया इसे···सुधीर सोच रहा है···

···सुधीर कमरे में नहीं है···

अचानक सब गड्डमड्ड हो गया···

कालीन गायब। कोच गायब। गुलमोहर, नागचम्पा गायब। प्रतिभा भी गायब। नंगा कमरा।

नंगे कमरे के नंगे फर्श पर घूमते कत्थई रंग के सलौने बालको जैसे काक्रोच ! आंख-मिचौनी खेल रहे हैं। कोने में जाकर छिप जाता है, कोई एक। सब उसे ढूँढ़ते फिर रहे हैं।···वह कोने में बैठा रहता है। कोई उसे ढूंढ नहीं पाता। शायद खुद ही ऊब कर कमरे के बीचों-बीच आ गया है। चारों तरफ से और काक्रोच खुश होकर उस पर हमला करते हैं।···सब मिलकर नाच रहे हैं···

अरे !···यह क्या हुआ ?

यह कमरे के बीचों-बीच नंगे फर्श पर सुधीर कहां से आ गया···सुधीर नहीं, सुधीर का शव···कितना सपाट पड़ा है···काक्रोच चारों तरफ नाच रहे है।···उसे सब दीख रहा है···

सुधीर का शव कितना सपाट पड़ा है···काक्रोच कैसे ताल से नाच रहे हैं...

तभी कमरे में चटर्जी अवतरित हुआ है···उसने चटकीले रंग का कुर्ता और बेहद झीनी धोती बंगाली ढंग से बांध रखी है। आधा मिनट वह अतिनाटकीय ढंग से कमरे के दृश्य को अलग-अलग कोण से परखता है···फिर अचानक उसके चेहरे पर विक्षिप्त आक्रोश उभरता है और वह कूद-कूद कर काक्रोचों को पैरों से कुचलना शुरू कर देता है। चटर्जी का काला रंग आबनूसी काला हो उठा है···उसकी भाव भंगिमाएं ताण्डव-नृत्य की झलक दे रही हैं।···काक्रोच भी कमरे के वातावरण के अमूर्त्त, निस्वर संगीत के लय-ताल पर उछल-कूद रहे हैं···

खट् की एक आवाज़ के साथ फिर दृश्य बदल जाता है···कोच, कालीन, गुलमोहर-

नागचम्पा, यथापूर्व अपनी-अपनी जगह उभर आए हैं…

प्रतिभा भी एक दूसरी कोच में आ गई…अब उसकी दृष्टि गुलमोहर-नागचम्पा की तरफ नहीं है…उस तरफ उसकी पीठ है…वह कमरे की एक दीवार की तरफ देख रही है…दीवार पर एक विशाल कोरा कैनवास टंगा है…कोरा…

प्रतिभा टक लगाकर कैनवास को देख रही है…

उसके शरीर का रंग सहज मोतिया है…

सुधीर ने कमरे के बाहर से देखा है…प्रतिभा के सारे शरीर का रंग मोतिया है…

वह उन्नाबी शनील में बैठी दीख रही है…कोरे कैनवास पर दृष्टि टिकाए…

…सुधीर सोच रहा है…काक्रोच, चटर्जी, सुधीर का शव अचानक कहां गायब हो गए…

…वह दृश्य डरा नहीं रहा था…यह दृश्य…

हड़बड़ाकर सुधीर जाग गया है।…

बहुत दिनों बाद उसे कोई सपना दीखा है। उसे सपने दीखने बन्द हो गये थे। सपने में डरने जैसी कोई बात नहीं थी। फिर भी सुधीर को लग रहा था, उसकी पसलियों के नीचे डर घुड़दौड़ मचा रहा है। उसने महसूस किया कि उसके सिर में कुछ रेंग रहा है और सनसनाहट पैदा कर रहा है, जो कनपटियों तक आ रहा है। उसने सोचा—सिर में कहीं काक्रोच तो नहीं घुस गया? सोचकर उसे हँसी आई और साथ ही मन हल्का हुआ। फिर भी अँधेरा उससे सहन नहीं हुआ। वह उठा और उठकर उसने बत्ती जला दी। रोशनी के फैलते ही फर्श पर घूमते काक्रोच भाग-भाग कर छुपने की जगह तलाश करने लगे। सुधीर को याद आया—बरसात में तो इन लोगों की आमद होती ही है। रमा और छोटे बच्चे—समी और संदीप—बाहर खुले में सो रहे हैं। इन क्वार्टरों में नीचे वाले बाहर और ऊपरवाले छत पर सोते हैं। पर सुधीर कभी बाहर नहीं सोता। बाहर सोना उसे बहुत अशिष्ट काम लगता है। वैसे भी बाहर मच्छर बहुत होते हैं। क्वार्टर के बिलकुल पास से एक नाला बहता है। और सामने के मैदान से भी मच्छर घूमने-फिरने आते हैं। उसे फिर एक बहुत मज़ेदार बात याद आई और इस बार वह ठहाका मारकर हँस दिया। बहुत दिनों बाद एक बार जब वह उस गांव में गया था जहां बचपन में रहता था तो उसकी एक सहेली ने कहा था—अरे सुधीर, मैं तेरे शहर में आऊँ तो तू मुझे शहर घुमा देगा ना? सुधीर ने कहा था—'हाँ।'

और उसने कहा था, "ना बाबा, कौन जाए इन बड़े शहरों में, सुना है, बिलकुल भूलभुलैया होते हैं। एक बार खो जाए तो मिलना मुश्किल, ठीक बात है यह?"

ठीक तो है ही। सुधीर ने सोचा। और ये मच्छर साले अपने कीकर के जंगल से यह शहर देखने क्यों आते हैं? यहाँ दीवारों में फँस जाते हैं तो रहने वालों को काटते हैं।

कितना चुभता है इनका डंक!

हां, डंक तो किसी का भी हो, चुभता ही है।

डंक? किसका?…किसी का नहीं…

कोई चुभन स्वाद लगती है…और कोई…

पर यह साला सपना आज कहां से आ गया?

सुधीर ने बत्ती खुली छोड़ दी और आकर अपने बिस्तरे पर बैठ गया। नजर उठाकर उसने देखा—सज्ञा पलंग पर निश्चेष्ट लेटी है। इस समय उसका चेहरा बहुत ही सलौना लग

रहा है। चेहरे पर उत्तेजना न हो तो कितना सलौना लगता है···पर कुछ चेहरे तो उत्तेजना में ही सुन्दर लगते हैं।···हां, यह तो है···

सुधीर का बिस्तरा ज़मीन पर ही लगता है···बिस्तरा···!

सुधीर फिर हँस पड़ा है···

पर यह सपना आज कैसे आ गया ?

और इस सपने का मतलब क्या था ?

कल संज्ञा के सूट का प्रबन्ध करना है···करना ही है···

प्रतिभा के शरीर का रंग कैसा मोतिया है···हरी-नीली शेड देता है···एकदम न्योन लाइट से बना शरीर—एब्स्ट्रैक्ट···इथीरियल···

···छूना नहीं चाहिए···छूआ ही नहीं जा सकता···

संज्ञा के सूट का प्रबन्ध तो होना ही चाहिए···बहुत होनहार लड़की है—एकदम बिज़नरी—कल्पना-विहारी···

पर क्या संज्ञा के स्वप्न, उसकी महत्त्वाकांक्षाएं पूरी होंगी ?

कितना दीर्घकाय प्रश्न-चिन्ह है !

अपने हिसाब से सुधीर लेखक है। कुछ कहानियां और कुछ कविताएं उसने लिखी भी हैं। उनमें से कुछ छोटी-बड़ी पत्रिकाओं में छपी भी हैं। जैसा कि हरेक लेखक के साथ होता है, एक या दो रचना छपते ही वह खुद को लेखक कहने लगता है और लेखक महान तो होता ही है। इसमें इससे क्या लेना-देना कि किसी की एक चीज छपी है या दस। वह अच्छी थी या बुरी—लेखक लेखक होता है। चीज़ कैसे छपी यह भी कम महत्व की बात है और यह तो और भी मामूली बात है कि किस रचना की किसने तारीफ की और क्यों की ? बस तारीफ होनी चाहिए। तारीफ होते ही रचना महान हो गई और तारीफ़ नहीं हुई तो रचना और भी महान हो गई, क्योंकि उसकी तारीफ़ इसलिए नहीं हुई कि वह सही मायनों मे क्रान्तिकारी रचना है।

तो सुधीर लेखक है और अपने चारों तरफ सम्मानित भ्रान्तियों का एक वातावरण बनाए रखना चाहता है जो उसके 'इमेज' को व्यापकता प्रदान करे और अहम् को तुष्ट करे। इस तथ्य को कि सुधीर जिन भ्रान्तियों के वातावरण को अपने चारों तरफ बुनना चाहता है, वह औरों से अलग है, उसके चारों तरफ फैले लोगों में कोई भी समझने को तैयार नहीं है।

पर कुछ साल पहले तक सुधीर का लेखक काफी सीमा तक उसके अन्दर ही बन्द था और वह एक सीधे-सादे इन्सान की तरह एक प्रकाशन संस्थान में प्रूफ-रीडर के तौर पर काम करता था। लेखक अन्दर कुलबुलाता, बाहरी व्यवहार को प्रभावित करता, कभी-कभी लोगों से झगड़े भी कराता पर सुधीर मानता था कि लेखक होने में और लेखक माने जाने के बीच बहुत बड़ी खाई है और वह उस खाई को पूरने में असमर्थ है, उसमें वह होशियारी नहीं है। इसलिए वह काम करता। बड़े लेखकों की किताबों के प्रूफ पढ़ता, उन किताबों की और उनके लेखकों की खिल्ली उड़ाता, 'फ्रस्ट्रेटड' आदमी कहलाता और मस्त रहता। ऐसा नहीं था कि घर उस समय वह बहुत अच्छी तरह चला रहा था, नौकरी के अलावा बाहर का काम करने पर भी उसे सिर्फ इतना ही मिल पाता कि दो वक्त रोटी मिल जाए और कम से कम कीमत वाली कामचलाऊ शिक्षा बच्चों को मिलती रहे। कपड़ों का नम्बर तब भी कभी-कभा ही आता।

बीच-बीच में किसी एक इतवार को वह अपनी कहानियां और कविताएं धूलअटी फाइलों में से निकालता, उन्हें पढ़ता और रमा से कहता, "लिखा तो हमने बढ़िया है। किसी दिन हमारे ये कागज़ तुम्हें पैसा देंगे।"

रमा पति की इस व्यथा को समझती थी पर इसमें उकसाने के खतरों से भी वाकिफ़ थी। इसलिए सान्त्वना देती हुई कहती, "पैसा ही क्यों, तुम्हें यश भी मिलेगा। वक्त आता है, तो सब कुछ हो जाता है। आदमी को वक्त का इन्तज़ार करना चाहिए।"

सुधीर हँस पड़ता। पत्नी के चतुर वाक्य-विन्यास का अर्थ वह भी समझता था पर जानता था कि पत्नी की सोच में संतुलन, जो कभी-कभी जड़ता लगता है, कहां से और क्यों आया है। रमा को दोष देने का उसके पास कोई बहाना नहीं है। फिर जब वह खुद ही मान चुका है कि लेखन एक ऐसा व्यवसाय है जो सम्मान सिर्फ़ तभी देता है जब सम्मानित व्यक्ति पर पतरी की तरह चढ़ा हो। इस समाज में साहित्य की सुगन्ध साहित्य में न होकर साहित्यकार की सामाजिक स्थिति में है। वह अपने पास है नहीं तो फिर क्यों लोभ करके दलदल में धंसा जाए। फिर भी सुधीर के बहुत से लेखक दोस्त थे जिनमें उठ-बैठ कर वह जैसे-तैसे लेखकों की सूची को नीचे के सिरे पकड़े लटका रहता और बदन पर रेंगते कनखजूरों को इस स्थिति के सहारे सहन करता रहता।

धुंध-चित्रों की तरह ये ही बातें बिस्तरे पर लेटे सुधीर के चित्त पर तैर रही थीं। बत्ती जली थी। दीखा सपना भी इन्हीं सब में घुलमिल कर चित्त को और धुंधला कर रहा था। प्रतिभा कभी दीखती, कभी गायब हो जाती। चटर्जी के ताण्डव की गति बढ़ती-घटती। काक्रोच छिपने की कोशिश की जगह अब चटर्जी को झिकाने और उसमें मज़ा लेने लगे हैं। गुलमोहर और नागचम्पा चटर्जी के नृत्य को सांस्कृतिक कार्यक्रम की तरह देख रहे हैं और सिर हिला-हिला कर तारीफ़ कर रहे हैं। प्रतिभा का चेहरा कभी जड, कभी द्रवित और कभी विक्षिप्त होने की भंगिमाएं दे रहा है…

प्रतिभा का चेहरा…न्योन लाइट से बना चेहरा…

बत्ती जल रही है…

संज्ञा शान्त, निश्चेष्ट सो रही है…

सुधीर सो गया है…पर बोल रहा है…संज्ञा का सूट कल ज़रूर सिलवाना है…

7

इस कालोनी का बाहरी भूगोल ही विशिष्ट नहीं है, इसकी आन्तरिक संरचना भी काफी संकुल है। हर प्रान्त का आदमी यहां रहता है, हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई सब धर्मों के परिवार यहां मिलेंगे। हिन्दुओं की हर जाति अपनी-अपनी ध्वजा के नीचे एकत्रित होते हैं और दूसरी जाति को छोटा सिद्ध करने की प्रेरणा उस ईश्वर से प्राप्त करते हैं। कोई राजनीतिक दल ऐसा नहीं है जिसका प्रतिनिधित्व यहां के निवासी कम अधिक संख्या में न करते हों। यहां अलग-अलग तरह की छोटी-बड़ी फैक्टरियों के मजदूर और बाबू रहते हैं और अपनी -अपनी फैक्टरी के बड़प्पन या छोटेपन का भार अपने कन्धों पर ढोते हुए जीते हैं। सम्मान या

असम्मान के इतने सारे मानदण्डों को यदि कोई एक मानदण्ड खुले मैदान में मात देता है तो वह है कि किस के पास अधिक पैसा है। या यों कहो कि कौन अधिक पैसा बचा सकता है। किसके घर टी०वी० है, किसके घर रेडियो या किसके घर ट्रांजिस्टर ? कौन कैसे कपड़े पहनता है ? कौन है जिसको महीने में उधार मांगने की ज़रूरत पड़ती है, किसे नहीं ? उधार मांगना, सर्वसम्मति से मानव-मात्र का सबसे निकृष्ट कार्य माना जाता है। फिर भी कालोनी में रहने वाले अधिकांश लोग किसी-न-किसी के कर्ज़े के नीचे दबे हैं। कालोनी के बहुत-से लोग जो पीछे से खानदानी हैं महाजनी का व्यापार करते हैं। इन लोगों से या कालोनी के चार-पांच दुकानदारों के हर क्वार्टर के गृहपति का मूल-चरित्र जाना जा सकता है।

ये क्वार्टर सरकार की तरफ से उन कर्मचारियों को दिए गए हैं जो रज़िस्टर्ड फैक्टरियों में काम करते हैं, फैक्टरी की गारंटी पर, और जो फैक्टरी एक्ट की परिभाषा के अनुसार फैक्टरी कर्मचारी की श्रेणी में आते हैं।

सुधीर को यह क्वार्टर तब मिला था जब वह उस प्रकाशन संस्थान में प्रूफरीडर था। वहां से नौकरी छोड़े उसे दो साल हो चुके हैं।

कानूनन सुधीर को यह क्वार्टर अब खाली कर देना चाहिए। सुधीर की तो कोई बहुत अधिक आस्था क़ानून में नहीं है पर सरकार तो चलती ही क़ानून के आधार पर है, इसलिए सुधीर को अच्छा नागरिक बनाने के लिए, उसे क़ानून के तहत लाने के लिए सरकार ने उस पर मुक़दमा कर रखा है कि मकान खाली करो। पर सुधीर छोड़कर जाए कहां ? इसलिए वह भी सरकार से भिड़ गया है। मुक़दमा जब तक चलता रहेगा तब तक तो पड़ा रहेगा। कचहरियों में फैला भ्रष्टाचार कभी-कभी कितना न्यायसंगत होता है इसका सुखद अनुभव सुधीर को इस मुक़दमे के दौरान ही हुआ। फिर उसका ख़याल यह भी है कि मुक़दमा लड़कर वह सरकारी न्याय को व्यापक मानवीय मंच दे रहा है। तीसरे यह कि मुक़दमे का तनाव उसे और कई तनावों से मुक्ति दिला रहा है। घर के लो॰ भी अपनी मांगें आगे खिसकाने से कतराते हैं। रमा कहती — 'देखते नहीं हो, कैसा मुक़दमा चल रहा है, कितना पैसा बह रहा है।' समीर और संदीप तो खैर कुछ नहीं समझते पर संज्ञा कभी-कभी विद्रोह कर उठती, कहती, "हम क्या करें, क्यों छोड़ी नौकरी पापा ने ? उस समय सोचना चाहिए था कि नौकरी छोड़ते ही क्वार्टर भी छोड़ना पड़ेगा। अब हर समय मुक़दमा-मुक़दमा करके हमारी ज़ुबान बन्द करना चाहते हैं।"

रमा हँसकर पति से कहती, "देख लो, मैंने कभी तुम्हारी इस तरह टीका नहीं की। और चढ़ाओ लड़की को सिर पर। क्या पटर-पटर ज़ुबान चलाती है।"

सुधीर भी हँस पड़ता, कहता, "बात तो ठीक ही कह रही है। तुम हर बात में मुक़दमे का ज़िक्र करती ही क्यों हो ?"

"लो, यह कसूर भी मेरा ही हो गया।"

"मेरा मतलब है कि मुक़दमा नहीं था तभी कौन घर में दूध की नदी बह रही थी और जब नौकरी थी तब भी पैसा रखकर भूलने की सुविधा नहीं थी तुम्हें। फिर इस शब्द के खोल में घुसकर कोई अतिरिक्त सुरक्षा मिलती है क्या। मत कहा करो, बच्चों के दिमाग़ पर बुरा असर पड़ता है।"

"तो क्या कहा करूं ?"

"नहीं है, बस।"

"और वह मान जाएगी। जानते नहीं हो, कैसी भैरवी है।"

"भैरवी नहीं, उसका नाम संज्ञा है। बेहद सचेत लड़की है।"

"हाँ, तुम्हारी तरह।"

"वह तो है ही। लड़की बिलकुल मुझ पर गई है।"

"मैंने कब कहा, तुम पर नहीं गई।...भगवान मालिक है इस घर का।" कहकर रमा हँस पड़ती।

रात भर की मानसिक ऊहापोह ने सुधीर का मन बहुत भारी कर दिया था। उठते ही याद आया कि आज संज्ञा के सूट का कपड़ा खरीदना है और कल मुक़दमे की तारीख है। सिल तो खैर सूट घर में ही जाएगा। पर इस समय तो...संज्ञा कैसी निर्द्वन्द्व सो रही है...देर तक सोना उसकी आदत है...

सुधीर ने आदत के अनुसार ऊंचे सुर में पुकारा, "चा ऽऽ य!"

बिना मुँह-हाथ धोए बिस्तरे में बैठकर एक कप चाय पीने की सुधीर को आदत है। रमा भी जानती है देर हुई तो वह हल्ला मचा देगा, इसलिए उसके उठने के लगभग साथ ही साथ वह चाय लेकर हाजिर हो जाती है। आज भी 'चाय' की आवाज़ के साथ ही साथ वह मंच पर अवतरित हो गई। चाय सुधीर को पकड़ाते हुए बोली, "रात भर क्या बड़बड़ करते रहे? बहुत सपने दीखे रात? और बत्ती इसीलिए जलाकर छोड़ दी थी कि सपना साफ दीखे, अंधेरे में...."

सुधीर ने चाय ली, एक घूंट भरा, आंखों को पटपटाया, फिर कहा, "एक वक्त में एक सवाल?"

"मुझे क्या करना है, सवाल करके। मुझे तो डर सिर्फ यह है कि संज्ञा तो तुम पर हँसती ही है, बड़े होकर ये दोनों भी हँसा करेंगे। हँसता कोई तुम पर है और शर्म मुझे आती है। मतलब आंखें ही रात भर भटकाते फिरो, मुँह तो बन्द रखा करो।" कहकर रमा एक मस्त हँसी हँस दी।

सुधीर का मन खराब था। सुबह-सुबह यह पुराण उसे अच्छा नहीं लगा, बोला, "तुम्हें पता है, औरत और तोते में क्या फर्क होता है? मेरा मतलब दोनों के स्वभाव में...."

"पता है, कोई फर्क नहीं होता। फिर?"

"एक ही कहानी, हर समय..."

"कहानी तो इस दुनिया में एक ही है, बाकी तो सब लघुकथाएं हैं। हम लोग..."

सुधीर झींक उठा, "तुम्हें मालूम है, मुझे...."

बेहद तेज़ी से रमा ने बात पूरी की, "साढ़े आठ बजे जाना है। तीन बजे तक मैं आ जाऊंगा। फिर संज्ञा के सूट का कपड़ा लेने बाज़ार चलेंगे। सीं तो तुम घर पर लोगी ही..."

"रमा ऽ" सुधीर ने आवाज़ ऊंची की।

"पर मैं सोचती हूं, बारिश-पानी का दिन है, कहां जाओगे आज?"

"तो? क्या करूं?"

"घर में बैठो। आखिर हम भी तो हैं।"

"क्या हो गया आज तुम्हें?"

"रात मैंने भी एक सपना देखा।" कहते-कहते रमा सुधीर के पास ही बैठ गई।

"क्या ?"

"पहले तुम अपना सपना सुनाओ।"

"छोड़ो, झूठ क्यों बोलते हो ?"

"झूठ नहीं, सच।"

"तो बड़बड़ा क्यों रहे थे ?"

सुधीर ने पल भर चुप रहकर कहा, "भय और चिन्ता के टुकड़े कभी कभी जुड़कर सपने का भेष भर लेते हैं। ऐसे में मुँह से आवाज़ें निकलती ही हैं। उन आवाजों का—"

रमा झटके से उठकर खड़ी हो गई। अन्दर जाते-जाते कहती गई, "अच्छा-अच्छा, अपनी यह मृत्यु-पुराण बन्द करो। मुझे नहीं सुननी। उठ कर निपट लो। मैं तुम्हारे जाने की तैयारी करती हूं। और संज्ञा को उठा दो, जो भी कहना हो उसी से कहकर जाना। समझे। मेरे बस का नहीं है, उससे झक मारना।"

घर की खटर-पटर, बच्चों की चीख-पुकार और रमा के लहकते वाक्यों ने सुधीर के अन्दर की दुनिया को नेपथ्य तक खिसका दिया। पर साढ़े आठ बजे घर से बाहर क़दम रखते ही छोटी-छोटी धारदार चक्रियां तेज़ चाल से घूमकर दिमाग की नसों को काटने लगीं। इस समय बारिश नहीं हो रही थी, पर आसमान पर बादल घुटे थे। रात भर भी शायद पानी नहीं बरसा था। इसलिए पथरीली और गढ़ीली सड़कें कुछ सूखी नजर आ रही थीं। सुधीर को अच्छा लगा। सिर के ऊपर नमी हो और पैरों के नीचे सूखा, तभी मज़ा आता है। ऊपर की नमी अगर नीचे कीचड़ कर दे तो मौसम का सारा रोमांस···

पुलिया आ गई। सुधीर ने देखा—पगली हाथ पर रखकर कुछ खा रही है।

सुधीर का सारा आक्रोश अचानक पगली पर केन्द्रित हो गया। रात की बात याद करके। पर इससे पहले कि सुधीर उससे कुछ कहता पगली ने एक सीन खड़ा कर दिया। उसने सुधीर को देखा। हाथ पर रखी रोटी गूदड़ पर रखी। उठकर खड़ी हुई। सुधीर को तब दीखा कि वह सपाट नंगी है। दो क़दम आगे बढ़ी और पेट पर हाथ मारकर गाना शुरू कर दिया—"आएगा, आएगा; आएगा आनेवाला; आएगा···"

सुधीर जुगुप्सा से भर उठा पर पता नहीं क्यों आदत के अनुसार वह भागा नहीं, रुककर खड़ा हो गया। पगली ने उसकी तरफ देखा। पल भर के लिए वह ठिठकी, कहा, "आओ।"

"क्या है ? रात तूने वह बत्तमीजी क्यों की ? चल, कपड़े पहन।"

पगली ने कहा, "आओ।"

कहकर पगली ज़ोर-ज़ोर से हँसने लगी। हँसती जाती और कहती जाती, "सड़क पर पड़ी औरत से भी गंदी बात नहीं करता। पागल कहीं का···आओ···दिन क्या और रात क्या··· आओ···"

और फिर जिस तरह के इशारे पगली ने करने शुरू किए, सुधीर झेल नहीं पाया। भाग लिया। बस स्टाप की तरफ···उसे कहीं जाना है···जाने कहां उसका दिमाग एकदम ठस्स हो गया है···

पगली···उसकी हँसी की आवाज़···वे इशारे···

वह ···पागल···हो जाएगा···

8

जो पहली बस आई, सुधीर उसी में चढ़ गया। दिल्ली की बस। राजधानी का उसूल इस पर सबसे अधिक लागू होता है। जो बस में चढ़ गया वह भरसक कोशिश करेगा कि उसके पीछे का आदमी पायदान पर ही लटका रहे। पर उसूल कुछ भी कहे आदमी ऊपर चढ़ता ही है, सुधीर ऊपर चढ़ गया। अपने हाथ पैर और कपड़े बचाता हुआ। सुधीर की आदत है, बस में सीट खाली न हो तो पीछे खड़े होने की जगह के किसी भी एक कोने में वह दुबक जाता है। ऐसा नहीं है कि वहां उसके हाथ-पैर नहीं कटते पर ज़रा कम कटते हैं और दिल्ली में यह कोई छोटा आश्वासन नहीं है।...सुधीर ने कोना पकड़ लिया। और चारों तरफ की दुर्गन्ध से बचने के लिए खुद में डूबने की कोशिश करने लगा।

आज उसके पास खुद में डूबने के कई कारण थे।

प्रतिभा घर से निकलते ही उसके दिमाग पर छाने लगती है। घर की बदतर होती हालत उसके शरीर के हर जोड़ पर टेप की तरह चिपकी है। संज्ञा का सूट उसकी नाड़ियों में पिन की तरह बह रहा है। मुक़दमे की तारीख भी कल ही है। देखो क्या होता है।...आस्मान में बादल बढ़ रहे हैं...धूप आज भी नहीं निकलेगी...बरसात की धूप बदन को नोचती है...यह बस भी खूब चीज़ है...कैसे भागी जा रही है...पीछे क्या छूट रहा है, कुछ होश ही नहीं है...मशीन है ना...पर आदमी आगे भागता भी है तो उसका व्यतीत उसका ऐसे पीछा करता है जैसे कोई भी मकान-मालिक किसी ऐसे किराएदार के पीछे भागे जिसे वह बांध-जूड़ कर अपने मकान में सिर्फ इसीलिए रखना चाहता हो क्योंकि वह ठीक वक्त पर किराया देता है और शोर-झंझट बिलकुल नहीं करता। बीते दिनों के कूप में रहना वाक़ई एक अच्छे किरायेदार की तरह, यानी गुप-चुप रहने जैसा ही है। इस तरह रहना सुखद हो न हो, सुरक्षित तो है ही।

घर दूर होता जा रहा है और प्रतिभा का दायरा मन के चारों तरफ फैलता जा रहा है...

यह तो सच है, प्रतिभा का चुम्बकीय क्षेत्र काफी वायवीय है...

पर वायवीय क्या व्यक्तित्व-सापेक्ष नहीं होता...?

होता क्यों नहीं, सिर्फ वही होता है...

प्रतिभा का व्यक्तित्व...

बस में भीड़ बढती जा रही है। कोंने में दुबके होने के बाबजूद सुधीर के पैर कट रह हैं, मिनट में दो दफा के रेट से। पर सुधीर आज किसी से उलझने के मूड़ में नहीं है। वैसे अकसर वह छोटी-छोटी बातों पर बड़े झगड़े मोल लेने में समर्थ है। इसमें उसका एक तर्क है कि छोटी बातों में अकेले और बड़ी बातों में सबके साथ मिलकर लड़ना चाहिए। जो लोग छोटी बातों का विरोध नहीं कर सकते वे लोग बड़े मामलों में भी बिना दुविधा के समझौता कर लेते हैं। छोटी बातों पर वे झगड़ा इसलिए नहीं करते क्योंकि बड़े समझौतों के लिए सामाजिक सम्मान बचाए रखना चाहते हैं। ऐसे बहुत से 'डिग्निफाइड' लोग उसकी पहचान में हैं जो अपने चेहरे चिकने रखने के लिए बहुत उदार भंगिमा से कहते हैं—"छोटी बातों पर सोचना मेरी 'डिग्निटी' के नीचे है।" ये ही लोग, इसी चिकनाहट के आधार पर जब बड़ा समझौता करते हैं तो इनका

अष्टावक्रीय रूप काफी मनोरंजक लगता है।···सुधीर जिस बस पर सवार है वह सीमापुरी से आ रही है। दिल्ली की सीमा पर बसी यह बस्ती राजधानी की कुरड़ी हैं। कुरड़ी! सुधीर को हँसी आने को हुई। कुरड़ी की गन्ध ने उसकी हँसी पर डाट लगा दी। उसे अपने गांव के दिन याद हैं। एक बार एक कुरड़ी खुद रही थी। गांव भर का कूड़ा-करकट, मल-मूत्र, खर-पतवार एक गहरे गड्ढे में जमा किया जाता है। कुछ सालों बाद उसे खोदा जाता है और खाद के रूप में अच्छी फसल के लिए खेतों में बिखरा दी जाती है। सीमापुरी दिल्ली के समाज की आदमियों की कुरड़ी है। इसका अपना तर्क है, पर है यह कुरड़ी ही। सम्मानित समाज के गन्दे-घिनौनी, शारीरिक-मानसिक बीमारियों के मरीज़ सीमापुरी के गड्ढे में उछाल कर फेंक दिये जाते हैं···जब खाद की जरूरत···

अचानक एक साहब जोर से सुधीर के पैर पर कूद कर चढ़े। न चाहते हुए भी सुधीर के मुँह से 'उफ्' निकल गया। सुधीर ने उनको देखा, गन्दा फटा कमीज, नीचे पाजामा, जिसका एक पाहुंचा एक पैर को ढँके हुए और दूसरा घुटनों से नीचे तक चढ़ आया हुआ और शायद और ऊपर चढ़ने की कोशिश में। चप्पल देख सुधीर आश्वस्त हुआ। कमोबेश उसकी बिरादरी के ही हैं। चप्पलें उसके चेहरे की तरह फटी-पुरानी। सुधीर ने उसके कन्धे पर हाथ रखा, फिर निहायत फिसलती आवाज़ में कहा, "क्यों, भाई साहब, पैर के नीचे बिच्छू आ गया था क्या?"

और उसके जवाब देने के लिए मुँह खोलते ही सुधीर को पता चल गया कि महाराज सुबह-ही-सुबह 'कच्ची' की बोतल चूस आए हैं। कच्ची का भभका बस के उस कोने को महक दे गया। सब के चेहरे पर तृप्त हास्य पसीने की तरह झलका। सुधीर ने सुना, वह कह रहे थे, "बिच्छू आता तो साले को मैं, क्या समझते हो, कुचल कर रख देता, पर वह तो, किसी साले आदमी का पैर आ गया, और भाई साहब, मुझसे छोटे हो, यानी मेरे छोटे भाई हो, आदमी पर मुझे बहुत रहम आता है, मैं सब कुछ कर सकता हूँ पर आदमी साले को मुझसे गाली तक नहीं दी जाती. मारना तो –"

सुधीर ने बात काट दी, पूछा, "आज? सुबह-सुबह शराब पी मारी?"

इस बार वह गम्भीर हो गया। मिनट भर चुप रहा फिर बोला, "हां बाबू, मार आया, सुबह-सुबह मार आया। शाम की घूँट नींद लाती है और सुबह की घूँट दिन भर चकाचक रखती है। पागल हैं साले जो सिर्फ शाम को, सिर्फ सोने के लिए पीते है।···दारू के बाद तो बाबू···समझे?"

सुधीर विरक्त हो गया था, बोला, "समझ गया।"

"क्या समझे?"

"दारू के बाद आपका मार खाने को जी करता है।"

"क्या कहा? फिर से कहना। कौन साला हमको मारेगा?" शराबी अचानक गले की नसें फुला-फुला कर चीखने लगा। ऊँची सुसंस्कृत गालियां देने लगा। सुधीर कुछ देर सुनता रहा। वितृष्णा से मुँह विकृत करता रहा। शराबी हाथ फैला-फैला कर कोस रहा था। इस प्रक्रिया में उसके चारों तरफ के लोग दूर-दूर हट गए थे और शराबी महोदय एक छोटे-से गोल मंच पर खड़े 'मोनोलॉग' अता फरमा रहे थे। उनकी भाषा मिनट-दर-मिनट भदेस और स्वर कर्णकटु होता जा रहा था। बस में बैठी महिलाओं के चेहरे पथरीले हो गए थे। हँसी रोकते-रोकते। सुधीर चुप खड़ा था कि अचानक वह गाली बकता आदमी चुप हुआ, वहीं झटके से ज़मीन पर

गिरा, सुधीर के दोनों पैर पकड़े और दहाड़ मार कर राने लगा। उसकी गालियां सबको समझ में आ रही थीं पर अब जिस भाषा का प्रयोग वह कर रहा था वह किसी की समझ में ही आई। वेदना की भाषा समझना मुश्किल तो होता ही है। गाली और नीति की भाषा सरल होती है क्योंकि उसमें करना कुछ नहीं होता पर प्रेम और वेदना की भाषा···

सुधीर ने सोचा—कुरड़ी से निकल कर कैसी-कैसी हरकतें कर रहा है, यह कीड़ा।

पर सोचते ही उसे लगा कि अब और वह यह दृश्य देख नहीं पाएगा।

उसे याद.है बचपन में भी कुरड़ियों के खुदने पर जब लम्बे-लम्बे कीड़े निकल कर इधर-उधर भागते थे वह डर नाना से लिपट जाया करता था। आज भी उसे वैसी ही वितृष्णा महसूस हुई। उसने दोनों पैर झटके से छुड़ाए। भीड़ के लोगों को धकियाता हुआ बस के गेट तक पहुंचा और चलती बस से कूद पड़ा।

जहाँ सुधीर कूदा वह जमुना का गाटरों वाला पुल था। पुल से जरा-सा पहले। सुधीर को अच्छा लगा। इस पुल को पैदल पार करना उसे हमेशा अच्छा लगता है। खास तौर पर बरसात और सर्दी के मौसम में। सर्दी में यमुना की निरभ्रता और बरसात में उसकी दीवानगी उसे एक ही शिद्दत से मोहित करती रही है। खास तौर से बरसात में उसकी स्त्रैण अदा कि गर्मी के संकुचन और कुंठा के विद्रोह में वह स्वयं सारे कपड़ों को फाड़कर बहने; लगे खूब बहे, निर्बाध-निरंकुश बहे, चारों तरफ हाहाकार मच जाए, मूल्यों से बने किनारे-सीमाएं नकार दे और बह चुके तो शान्त होकर तुष्ट भाव से मदिर-मंद गति से चलने लगे। ···और यह बरसात है···किनारे टूट रहे हैं···

सोचते-सोचते सुधीर पुल पर चढ़ गया। पैदल यात्रियों की भीड़ में शामिल हो गया।

चाहे जैसी अनजान भीड़ हो, भीड़ में आदमी को कदम मिलाकर चलना होता है।

इस समय सुधीर हाथ पैर फेंकते हुए चलने की मूड़ में हैं। उसने चलना रोक दिया। रेलिंग पर खड़े होकर नीचे बहते अथाह पानी को देखने लगा।

उसे यह हमेशा से अच्छा लंगता है।

पर इसमें उसे क्या अच्छा लगता है यह उसे कभी समझ नहीं आया।

वह खड़ा होकर सोचने लगा। देखने लगा। कुछ अव्यक्त अपरिभाषेय अनुभव करने लगा।

वह क्या है जो इस प्रक्रिया में उसके मन को गुदगुदा रहा है ?

दिशाओं पर घिरे बादल ?

या उनका रंग, उनकी नमी, उनकी उरोजीय गोलाई ?

पैरों के नीचे बहती तरल धरती का अहसास ?

बहते पानी पर नजर टिकाए देखने से पैदा हुआ दिशाबोध का लोप ?

या अचानक उछल कर पानी में जाने की सहजानुभूत वासना ?

या ये सब, एक साथ 'क्रिस्टलाइज़' होकर ?

पर जो भी हो कुछ है जो उसके मन को हल्का करके बहाए लिए जा रहा है। क्या है जो अनेकानेक पत्थरों को खिसका कर मन को मन बना रहा है, उड़ने की बात कह रहा है,

फुसफुसाकर। शराबी ने जो उत्तेजना पैदा की थी, किसने पोंछ दी ? संज्ञा के सूट ने रगों में चुभना बन्द कैसे कर दिया ? घर में जो रोज़-रोज़ ही आटा आता है, दो किलो, तीन किलो या हद से हद पाँच किलो। दो किलो रोज़ लगता है। पर इस सारी स्थिति पर हँसी क्यों आ रही है, हमेशा तो झुंझलाहट उठा करती थी। यह कैसा आश्वस्ति-भाव है। मौत से पहले का या मौत को जीतने लेने का ? या···

कूद पड़ूं पानी में ?

सोचकर सुधीर ज़ोर से हँस दिया।

उसे मालूम है, वासना की सहजानुभूति और वासना की पूर्ति में बहुत गहरी खाई होती है। कितना चाहता रहा है कि प्रतिभा को किसी दिन देखे, छुए, सहलाए, चूमे और जाने कि उसकी पलकों, पुतलियों और गर्दन की खाल जितनी पारदर्शी है शेष शरीर की खाल भी उतनी ही पारदर्शी है या नहीं ? बादलों के कैनवास पर चिपकी प्रतिभा कैसी लग सकती है ? सड़क पर चलती, रैस्ट्राँ में बैठी और घर में सजी प्रतिभा उसे कभी-कभी ही अच्छी लगती है, पर···उसने अचानक अपने चारों तरफ देखा। पुलों के दो टुकड़ों को जोड़ता हुआ वह खड़ा है। नीचे, सामने, दोनों तरफ दृष्टि-प्रक्षेपण की हर सीमा को पानी दबाए हुए है।···कैसा लगता है ? पानी ही पानी ! वह अक़सर सोचता रहा है कि पैरों के नीचे बहता पानी उसे इतना सम्मोहित क्यों करता है। एक नशा-सा छाने लगता है उस पर। सिर में उठती घुमेर रस देती है। पर ऐसा क्यों होता है ? पानी तो आखिर पानी ही है।···यह हो सकता है। आदमी को आदत होती है, पैरों के नीचे ठोस धरती देखने की और पैरों के नीचे की धरती ही घूमने लगे तो सिर में घुमेर तो आएगी ही···पर प्रतिभा को देखकर घुमेर क्यों आती है ?···हाँ यही बात तो है, समूचा शून्य आकाश 'क्रिस्टलाइज़' होकर, एक आकार लेकर आपके सामने आकर बैठ जाये तो घुमेर तो आएगी ही···सुधीर के सिर में घुमेर को घुलाती हुई एक गुदगुदी-सी उठी। साथ ही उसका मन किया कि चला जाये। बहुत-सी जगह जाना है···संज्ञा के सूट का कपड़ा तो टाला जा ही नहीं सकता···तो चलें···अर्द्धस्वप्न क्षेत्र से, कर्म क्षेत्र में उतरा जाये···पर उस दिन तो···

उसने मुड़ने के लिए दाईं तरफ देखा ही था कि दीखा—एक और आदमी भी खुद में डूबा बादलों से उलटी दिशा में बहते पानी को देख रहा है। और वह आदमी और कोई नहीं उसका बेहतरीन दोस्त आनन्द है, जो पिछले दो साल से पता नहीं कहाँ गायब था। उसके घर जब भी सुधीर गया तो ताला बन्द मिला। एक दिन सुना, आनन्द बनारस चला गया है, साधु बन गया है। आनन्द की सफाईपसन्दगी, नफ़ासत,स्त्रैण सुन्दरता और बिना दारू, सिगरेट, चाय और औरत की ज़िन्दगी, दोस्तों की महफिल में सैकड़ों ठहाके उठवातीं। आनन्द के चुटकुले तो पेट में बल डाल-डाल देते। जिस होटल में आनन्द दूसरे तीसरे दिन खाना खाता था, उस के बेयरे उसे 'खुंदकी' कहते पर उससे बेहद मौहब्बत करते। पहले वह अपने सामने गिलास प्लेटें धुलवाता, फिर कभी सब्ज़ी की देग में झाँकता तो कभी आटे की परात के चारों तरफ घूमकर देखता। अपने सामने खड़े होकर पांच रोटियाँ सिंकवाता, कहीं कोई पकाने वाला उसमें पसीना या कुछ और न डाल दे। उससे की इन हरकतों पर सब हँसते पर वह कभी इन से बाज नहीं आया। घर में उसके पिता के सिवाय और कोई नहीं था। पिता रिटायर्ड ज़िन्दगी बिता रहे थे। इसलिए ज़्यादातर दिन तो दोनों फल-अंडे खाकर ही गुजर करते। दूसरे तीसरे दिन जब रोटी के स्वाद को जी करता···

पन्द्रह-सोलह साल पहले आनन्द से उसकी दोस्ती हुई थी। दो साल पहले वह अचानक कहीं गायब हो गया था। सब दोस्तों ने उसे बहुत ढूंढ़ा, पर कहीं उसका पता नहीं चला। यहां तक नहीं कि उसका आखिर हुआ क्या। पिता भी पता नहीं कहां चले गए थे। घर में हमेशा ताला बन्द मिलता।

आज कितने दिन बाद आनन्द दीखा है। कुछ कमज़ोर हो गया लगता है। कपड़े भी कुछ मैले-मैले से लग रहे हैं। आनन्द और मैले कपड़े ? कैसा ध्यान में डूबा नीचे बहते पानी को देख रहा है। इस 'प्यूरिटन' में रोमांस जाग गया क्या ? पर रोमांस जागता तो ऊपर देखता नीचे क्यों देखता, तो ?

कुछ कौधा और सुधीर ने आनन्द के ठीक पीछे जाकर हल्के से अपना हाथ उसके कंधे पर रख दिया। सुधीर जानता था कि मुड़कर उसे देखते ही आनन्द उसकी कौली भर लेगा। कितने दिन बाद उसे उसकी धड़कती छाती का स्पर्श नसीब होगा। कैसे वह उ[illegible] [illegible]ष्म स्पर्श के लिए तरस उठता रहा है। उसे अक़सर लगा है कि उसके गले लगकर उसके पूरे शरीर के हर सैल को कोई हाथ से छूकर सांत्वना दे रहा है। आज फिर उसे वह सुख मिलेगा। पर…

आनन्द की यह बाहरी तन्द्रा तो टूटी पर अन्दर की तन्द्रा ?…

आनन्द ने मुड़कर देखा। दोस्त की आंखों से नहीं, एक अपरिचित की आंखों से।

सुधीर के मुँह से चीख-सी निकल गई, "आनन्द !"

आनन्द उतनी ही खाली दृष्टि से उसको देखता रहा। उसकी दोनों हथेलियां रेलिंग पर पहले की तरह ही चिपकी रहीं।

सुधीर ने कुंठित गले में से शब्द दागे, "आनन्द, मैं सुधीर हूं।"

"तो ? मैं क्या करूं ? आगे बढ़ो।"

"पागल हो गए हो। तुम मुझे पहचानते नहीं ?"

"पहचानता हूं, तभी तो कह रहा हूं, आगे बढ़ो।"

सुधीर का सारा दिमाग झटका खा गया। उसने यथाशक्ति संतुलन बनाए रखकर कहा, "क्या हो गया तुम्हें आनन्द, तुम मुझे…?"

"मैं किसी को नहीं पहचानता। मैं किसी को पहचानना नहीं चाहता। मुझे पहचान शब्द से नफरत है। मैं किसी ऐसी गली में नहीं घुसता जो कहीं न कहीं, मेरी पहचानी हुई दुनिया का हिस्सा रही है।…और तुम, तुमने मालूम है क्या किया है इस वक्त…तुम जाओ, बढ़ो…सब भ्रम टूटने वाले थे एकमुश्त, पर तुमने…जाओ, आगे बढ़ो…"

और झटके से आनन्द पीछे हटा, मुड़ा और शहर की तरफ भाग लिया। लगभग उतनी ही तेज चाल से, और उसी अन्दाज से जैसे एक जेबकतरा किसी के गले का हार तोड़कर भागता है। सुधीर को लगभग उसी तरह का झटका गले पर महसूस हुआ। वह कुछ दूर तक अपने उस बेशकीमती दोस्त के पीछे भागा भी। फिर रुक गया। हतप्रभ पुल की रेलिंग का सहारा लेकर खड़ा हो गया। उसे लगा किसी ने उसे सैकड़ों बार घुमाकर अनायास ही धरती पर खड़ा कर दिया है।…घुमेर ही घुमेर…सिर में और कुछ नहीं…पैरों के नीचे की धरती पानी होकर बही तो घुमेर आई थी…सारा आकाश सिकुड़कर प्रतिमा में सीमित हो गया था तब भी घुमेर आई थी…पर किसी भी वक्त सुधीर का 'मैं' पूरी तरह मिटा नहीं…पर यह कैसी घुमेर है…धुरीहीन आदमी को देखकर तो देखने वाला ही एकदम 'क्षर' में पिघल रहा है…चारों तरफ फैला सौन्दर्य

पल भर में कैसा काला पड़ गया है···सड़क पर लिसे चिपचिपे कीचड़ के सिवाय कैसे सब एक पल में लुप्त हो गया···

पता नहीं कितनी देर सुधीर उसी दशा में खड़ा रहा···

धरती तरल होकर पैरों के नीचे से बहने लगे तो सर्वव्यापी प्रवहमान तक जड़ हो जाता है···

9

सुन्न सुधीर कब खिसकता हुआ पुल पार कर गया और कब वह राजघाट तक पहुंच गया उसे खुद भी पता नहीं चला। गांधी की हमेशा वह मज़ाक उड़ाता रहा है पर आज उसकी समाधि के पास से गुजरते हुए उसे महसूस हुआ वह रो पड़ेगा। मरने के बाद आदमी के सुकून का कितना ध्यान रखा जाता है। कैसे शानदार हरे कालीन में लपेट कर सुला रखा है गांधी को, उसके 'पुत्र-राष्ट्र' ने। कहते हैं, गांधी जब मारा गया मन से बहुत दुखी था। कितना खुशकिस्मत आदमी था, मन से दुखी हुआ और तत्काल मरने की सुविधा मिल गई। यह तो सच है, गांधी था खुशकिस्मत। जब जो चाहा, मिला। जो आन्दोलन-धारा लोकप्रिय होने लगी उसका नेता मर गया। अच्छे बड़े नेता अपने-अपने कारणों से गांधी के चारों तरफ जुड़ गए। जिसने जरा भी चूं-चपड़ की गांधी ने उसे मजबूर किया कि वह राजनीति की मुख्य धारा से खुद को काटने के लिए कुछ बड़ी गल्तियां करे···पर जो भी हो गांधी था संत! दूसरे की चादर फाड़ो और अपनी फटी हुई चादर सियो, यह हिन्दू संत का प्रथम लक्षण रहा है।···संत कहता है—किसी के प्रति क्रोध मत करो, किसी से घृणा मत करो, सबसे प्रेम करो···यानी साधारण आदमी की तरह नहीं, महान आदमी की तरह···पर यह आनन्द···क्या हुआ इस आनन्द को? यह साधारण से भी नीचे क्यों धँस गया? यह पागल क्यों हो गया? नहीं, यह पागल नहीं है। अचानक इसके चेहरे पर से 'डबल' टूट कर गिर गया है। 'डबल' टूट जाता है तो आदमी पागल हो जाता है। आज के समाज में चेहरे पर चढ़ा 'डबल' किसी के भी अस्तित्व की शर्त है···पर यह अस्तित्व क्या चेहरे की कीमत पर···

नहीं, वह सोचना नहीं चाहता, सोच नहीं सकेगा। उसे कुछ-कुछ अन्दाज़ है कि आनन्द के साथ क्या हुआ है···वह नीम-पागल क्यों हुआ है, इसको सुधीर काफी सीमा तक देख सकता है···पर इस समय वह सब वह देखना नहीं चाहता···उसे सुकून चाहिए, उसे समस्याओं का हल चाहिए, उसे ठोस सहानुभूति चाहिए···उसे···

प्रतिभा के यहां चलना चाहिए···

पर उसकी समस्याएं···!

समस्याएं हल करने का नैतिक साहस चाहिए···

तो चलो, वहीं चलते हैं···

हां, नहीं···

सब छूट जाता है। प्रतिभा की कोठी में घुसते ही पीछे चिपटा सब खुद-ब-खुद झड़ जाता है।

चेतना अचानक तरल हो जाती है। कैसे होता है यह ? व्यक्ति का भी 'फील्ड' होता है ! चुम्बक लौह-चूर्ण के बिखराब को, उसकी असंगतियों को कितनी दूर से प्रभावित करता है। जैसे किसी आदमी के पीछे कुत्ते लगे हों, वह भागता-हांफता किसी के पास पहुंचे और उसकी मात्र उपस्थिति उन कुत्तों को अचानक नेपथ्य में धकेल दे। पर जो भी हो, है यह जादू ही। जादू वहम भी हो तो भी सिर चढ़ाकर बोलता है।

हां, यह तो है, वहम और जादू एक ही तरह व्यवहार करते हैं।

वही, हरे कोपीन में लिपटा दीर्घकाय स्फटिक ! और उसके भीतर बनी गुफा में गुडी-मुडी बैठी वह ओस की बूंद···नहीं, गुड़ी-मुड़ी होकर वह कभी नहीं बैठती···एक विश्वसनीय 'ह्यूमन फिगर' उभरती है कैनवास पर···उसके बैठने, खड़े होने, बोलने, सब में एक गरिमा है, एक विश्वसनीयता है···वह वहम नहीं है···न जादू है···बस, अन्दर एक विश्वास जगाती है···और अन्दर कहीं विश्वास जागे तो व्यक्तित्व जादुई अन्दाज़ से बदलता है···बस, यही उसका जादू है···यही उसका सौन्दर्य···

पर, अविश्वसनीय तरल तपनभरा सौन्दर्य भी है उसके पास···

हां, है तो, कभी-कभी उसका मोतिया रंग अचानक सिर्फ सुनहरी शेड का हो तो उठता है···

होगा, सुधीर को मोतिया रंग पसन्द है···सुनहरा उसके अन्दर तपिस पैदा करता है···उसके बिखराव को बढ़ाता है···कुछ पिघलने लगता है···टूटने लगता है···मोतिया में गहराई होती है···सुनहरा किरणें सिर्फ बाहर को फेंकता है···पर पिघले बिना कभी कहीं 'टैम्पोरल यूनिटी' स्थापित हुई है, हो सकती है···?

पर, पर···प्रतिभा का क़द बहुत ऊंचा है···वह उसके सामने···

ओह ? क्या हो जाता है यह उसे, कितनी तेज़ी से भाव उतरने-डूबने लगते हैं···यह क्या होता है···

दो-दो सीढ़ियां चढ़ता हुआ वह उस छोटे-से मंच पर जा खड़ा हुआ जहां से वह अपने आने की सूचना देने के लिए बैल बजाता है···

उसका हाथ बैल के बटन की तरफ बढ़ा ही था कि अचानक उसे ध्यान आया कि शायद यह पहला मौक़ा है जब वह बिना फोन पर तय किये आया है···

यह तो गलत हुआ···पहले ध्यान ही नहीं आया···यह तो एकदम गलत है···फिर ?···वापिस चलें···पर वह शायद और भी गलत होगा···यह भी ठीक है···और इस तरह इस जगह खड़े होकर सोचना तो शायद बहुत ही गलत है···

कभी-कभी होता है कि एक क्षण के चारों तरफ गलत क्षणों का वृत घिर आता है और देखते-देखते सिकुड़ना शुरू कर देता है···तब इस क्षण में जीते व्यक्ति के अस्तित्व को बचाने का एक ही तरीका होता है, बस, कोई भी एक काम कर डालो···एक निःशब्द विस्फोट होगा और सिकुड़ता दायरा फैल कर टूट जाएगा और आदमी···

सुधीर ने जैसे जागकर पुश-बटन दबा दिया···

उसे और दबावों ने मुक्ति चाहिए···

और मुक्ति सिर्फ प्रतिभा के सान्निध्य में मिल सकती है···

पर यह प्रतिभा है कौन···?

कोई साल भर पहले की बात है…

और उससे भी दस साल पहले की बात है, जब उसकी कविताएं, कहानियां छपा करती थीं, यहां-वहां, फुटकर और एक दिन उसने ऊबकर तय किया था कि उसे नहीं बनना लेखक, वह लेखक की तरह स्थापित होने की कभी कोशिश नहीं करेगा…क्यों किया था उसने यह फैसला,…ठीक से याद नहीं है…पर था कुछ बहुत घिनौना…बहुत त्रासद…नहीं, उसे नहीं बनना लेखक, उसने चीखकर खुद से कहा था और यहां-वहां से, प्रकाशक-प्रेस से फुटकर काम लेकर जीना शुरू कर दिया था, और कभी-कभी जब मन करता कि कुछ लिखे तो लिखता और धीरे से किसी दीमक लगी फाइल में खिसक देता और पत्नी को धमका कर कह देता, "मेरी कोई चीज़ खोनी नहीं चाहिए।"

रमा हँसकर कहती, "कह दूंगी।"

"कह दूंगी ? कह दूंगी किससे ?"

"दीमकों से।…कि पूरी तरह नहीं खोनी चाहिए…"

"तुम यह सब ठीक नहीं कर सकतीं ?"

"फायदा ? जो आदमी अपनी नई कविता भी दीमक-लगी फाइल में रख सकता है, वह अपनी चीज की कीमत खुद ही नहीं…"

सुधीर ज़ोर से चीख उठता, "लैक्चर मत दो, सब ठीक करो।"

और कुछ कभी ठीक न होता…

फिर एक साल पहले दीखी थी प्रतिभा…

दीखी ही कहना चाहिए…मिलना कहना तो गलत है…हां, एकदम गलत…

सुधीर उस प्रकाशक के दफ़्तर में घुसा तो दीखा, प्रकाशक के ठीक सामने की कुर्सी पर एक खूब सुन्दर, खूब चटकदार महिला बैठी हैं, और जोर-जोर से हँस रही हैं। सुधीर ने सुना। हँसी की आवाज़ कर्ण-मधुर ही नहीं थी, एक लय भी थी उसमें। सुधीर के अनास्था-पीड़ित शरीर को एक मीठी झुरझुरी-सी महसूस हुई। वह बैठ गया। महिला की तरफ ध्यान से देखा…सुन्दर है, वाक़ई बहुत सुन्दर है…और खास बात यह है सुन्दरता शरीर-विन्यास और चेहरे के नय-नक्स की मोहताज़ नहीं है…बस, सुन्दर है…क्या सुन्दर है, उंगली उठाकर नहीं कहा जा सकता…पर निस्संकोच कहा जा सकता है कि बहुत सुन्दर है…

प्रकाशक ने परिचय कराया, "प्रतिभा, ये सुधीर हैं। कभी ये भी लिखा करते थे। अब --"

प्रतिभा ने धीरे से सुधीर की तरफ मुड़कर कहा, "अब क्या हो गया ?"

सुधीर को याद है, उसने तोला था, प्रतिभा के स्वर में व्यंग्य नहीं था, फिर भी सुधीर की अनास्था-जनित कुंठा सक्रिय हो उठी थी। उसने तुर्श आवाज़ में कहा था, "बहुत लोग लिख रहे हैं, मैं भीड़ में शामिल होना पसन्द नहीं करता।"

प्रतिभा ने तत्काल कहा था, "बिलकुल नहीं होना चाहिए। आप अलग तरह का लिखिए। भीड़ में शामिल भी नहीं होंगे और लिखते भी रहेंगे।"

सुधीर ने देखा, प्रतिभा उसी की तरफ देख रही है। उसने प्रतिभा की पुतलियों को पलक झपकते परखा नहीं, व्यंग्य कहीं नहीं है। इसी बार उसे दीखा कि प्रतिभा की आंखें बहुत बड़ी हैं और आंखों में एक चाहत है, दुनियादारी नहीं है; उसकी दृष्टि किसी भी दबाव से स्वतन्त्र

है। सुधीर का मन हुआ कि कहे कि आप बहुत भोली हैं, दुनिया से परिचित नहीं हैं। लिखने के लिए संवेदना को तीव्र करना होता है और छपने के लिए उसे कुंठित। पर बिना किसी परिचय के···

उसने धीमे से कहा, "आप ठीक कहती हैं। मैं लिख रहा हूं और भीड़ से अलग हूँ। यही निस्तार का एकमात्र रास्ता है। क्योंकि छपने के लिए भीड़ में शामिल होने की बात तो छोड़िए, भीड़ का गुलाम होना पड़ता है···और वह मेरे बस का नहीं···"

सुधीर को याद है, प्रतिभा यह सुनकर उसकी तरफ ध्यान से देखती रही थी। होंठ दृढ़ता से जुड़े थे। दृष्टि अब भी व्यंगहीन थी। पूरे चेहरे पर से हास्य गायब था, एक गम्भीर तन्मयता थी—सोच की, सहानुभूति की, विश्वसनीयता की।

सुधीर को याद है—उसने प्रतिभा का अनुभव किया था और मुग्ध रह गया था। उसके अन्दर की जड़ता को 'शॉक' लगा था और वह उस 'शॉक' की गर्म गुदगुदी घर पहुंचने तक महसूस करता रहा था। घर पहुंच कर उसने अपनी पुरानी दीमक-लगी फाइलें निकली थीं और उन्हें बहुत देर तक उलटता-पुलटता रहा था···जिन्दा होने के चिन्ह···

किवाड़ खुलने की खटक् से सुधीर का ध्यान टूटा। आधे खुले दरवाज़े में खड़ी प्रतिभा दीख रही थी···

"तुम!"

"हां।"

इस वक्त?"

"हां, खाली न हो तो लौट सकता हूं।"

"अरे! पागल हो, लौटोगे क्यों! अन्दर आओ ना···"

"सुधीर प्रतिभा के पीछे-पीछे ड्राइंग-रूम तक गया और पनाह लेते-से भाव से एक कोच में धँस गया···

प्रतिभा खड़ी उसे देख रही थी। चिन्तित मन से···

"पानी?"

"नहीं।"

प्रतिभा भी पास के एक कोच पर बैठ गई।

"क्या हुआ?"

"कुछ नहीं।

"मेरा मतलब···अचानक, बिना खबर किए···?"

"बस, यों ही···"

"यों ही?"

"हां, मन किया···चला आया। तुम्हें बुरा लगा हो तो चला जाता हूं।" सुधीर ने बहुत धीमे से कहा।

"ब्लैकमेल कर रहे हो?"

"क्या मतलब?"

"जानते हो, मैं इतनी असभ्य नहीं हूं कि कहूं कि जाओ, इसलिए…"

"मैं तुमसे ये सब वाक्य सुनने नहीं आया…"

"पूछ तो रही हूं, क्यों आए हो ?"

"तुम्हें तो पुलिस में होना चाहिए था…सांस नहीं लेने दोगी…बत्तीसवीं दफा कह रही हो, क्यों आया…?"

"मैंने सिर्फ एक दफा पूछा है !"

"मौका मिलता…"

"हां, यह सच है, सौ दफा पूछती…"

"पूछो।"

"पूछूंगी। बोलो, चाय पियोगे या कॉफी ?

"कॉफी ! और कुछ खाऊंगा भी, भूख लगी है।"

"गुड, यह हुई न बात…ऐसे बोला करो…लाती हूं…"

प्रतिभा ज्यादातर चाय-कॉफी खुद ही बनाती है। नौकर से नहीं कहती। वह उठकर चली गई। सुधीर चुप नीले कैनवास पर चिपकी हरियाली को देखता रहा। कहीं गहरे में सोच रहा था कि अब फिर अगर प्रतिभा ने पूछा कि क्यों आया है तो क्या जवाब देगा। पीछे का पीछे छूट जाने पर आदमी कितना खाली-खाली महसूस करता है। आकाश में लटकी बूंद की तरह। नहीं, बूंद में बन्द आकाश की तरह। यह कितना कोशिश करती हैं कि बूंद में बन्द आकाश बिखर जाए पर यहां तो समूचा आकाश पिघलकर चिम्मड़ हो गया है। उसे तो कोई नाखूनों से खुरच कर ही…

"कॉफी !"

सुधीर ने प्रतिभा की तरफ देखा। कॉफी का प्याला थाम लिया। वह फिर रसोई में चली गई। शायद कुछ खाने को लेने के लिए। सुधीर के सिर पर लिपटा पल पिघलकर सिर को चिपचिपा करने लगा…

क्या करती है यह प्रतिभा उसके साथ ! वह होता है और उसकी काली छाया नहीं रहती। प्रकाश तेज़ हो जाता है और छाया गायब हो जाती है…कैसा करिश्मा है…बिना छाया का आदमी…पर बात करने के लिए उसके पास कुछ और है भी तो नहीं, सिवाय उस काली छाया के, वीभत्स इतिहास के…बात मज़ेदार है, बिना छाया का आदमी…बिना इतिहास का आदमी… नहीं, वह आदमी इतिहास जिसका पीछा कर रहा है…बस, कभी सिर पर सवार तो कभी पीछे छूटकर आंखों से ओझल…

प्रतिभा के दीखते ही उसका इतिहास मुंह फेरकर खड़ा हो जाता है…

पर होता तो है, कहीं भी हो…

और जो होता है, उसका प्रभाव भी होता है…

"लो, खाओ। परांठा बना दिया तुम्हारे लिए। कहां से आ रहे हो, भूखे-प्यासे ?"

सुधीर चुपचाप खाने लगा।

"कॉफी ठंडी तो नहीं हो गई ?"

सुधीर ने एक घूंट भरी, कहा, "नहीं।"

सुधीर खाता रहा। प्रतिभा देखती रही। चुपचाप।

"क्या हुआ है, बताओगे नहीं ?

सुधीर ने कॉफी का प्याला उठाया और एक ही दफा में पूरा प्याला गले में उंड़ेल गया।

"ठंडी थी ना। कहा क्यों नहीं। और बनाती हूं।"

"नहीं।"

"एक परांठा और सेंक दूं ?"

"नहीं।"

प्रतिभा खिलखिलाकर हँस दी, "क्या 'नहीं-नहीं' लगा रखा है ? किसी बात पर 'हां' भी बोलो।"

"हा बोलने को है क्या ?"

"क्यो, क्या आसमान गिर पड़ा तुम्हारे सिर पर ?"

"तुम नहीं समझोगी।"

"जी हां, और क्यों समझूं···और जब यह जानते हो कि मैं नहीं समझूंगी तो घुमा-फिराकर समझाने की कोशिश क्यों कर रहे हो ?"

पल-भर चुप रहकर सुधीर ने कहा, "प्रतिभा, तुम लोग—"

पर चील की तरह झपटकर प्रतिभा ने बात काट दी, "मेरी बात करो। मैं किन्हीं लोगों की प्रतिनिधि नहीं हूं।"

"मेरा मतलब—"

"मतलब कुछ भी हो, पर बात मुझसे कर रहे तो मुझसे ही करो, तुम्हारे पीछे हजार लोग हो सकते है, मेरे पीछे कोई नही। मै किसी के कामो की जिम्मेदार नहीं हू, ना ही किसी को 'शील्ड' करने की मूर्खता मैने कभी की है···और गलत न समझो तो बताए देती हूं कि इस तरह बोलने को मैं अपनी 'इन्सल्ट' मानती हूं और यह हक मैंने आज तक किसी को नहीं दिया।"

कहते-कहते प्रतिभा का चेहरा आक्रोश से लाल हो गया। आखो की पुतलियां जलती रेत पर पड़ी मछलियो की तरह करवटें बदलती रहीं।

सुधीर सुन्न रह गया। कई मिनट चुप रहकर फिर बोली, "बहरहाल, पूछना चाहती हू कि बात क्या है जो इस कदर 'डिस्टर्ब्ड' हो। मुझे खुशी होगी अगर बता सकोगे। कुछ हुआ, तुमने नही बताया और तुमने बताया और मै कुछ कर न सकी तो—"

प्रतिभा अचानक टूट गई।

"रूक क्यो गई ?"

"तो रात को सोने के लिए 'पिल्स' लेने पडेंगे।" कहते-कहते सुधीर को दीखा कि प्रतिभा की आखे नम हो गई है।

"तुम, प्रतिभा, इतना महसूस करती हो ?"

"नहीं, मै तो पत्थर की बनी हूं···तुम्हारे हिसाब से हम लोग तो पत्थर के बने होते हैं, और···"

"मैं माफी चाहता हूं प्रतिभा, आई एम रीयली सॉरी।"

सुधीर विह्वल हो उठा।

"छोडो उसे, क्या हुआ है, बताओ।"

"पर···"

"मैं कहती हूं, बताओ।"

सुधीर का अहम् का नाटक बिखर गया। उसने सब कुछ बताया। पलक झपकते प्रतिभा ने समाधान भी कर दिया। सुधीर क्षण में जीने-वाला प्राणी, समस्या हल हुई, मन हल्का हुआ और लगा साहित्य और राजनीति के फारमूले बुनने-उधेड़ने। प्रतिभा ने भी खुलकर हिस्सा लिया। और चाय पिलाई। खाने को पूछा। धीरे-धीरे चलने का वक्त हुआ। चलने से पहले धीरे से, स्नेह से प्रतिभा ने कहा, "संकोच मत करना आइन्दा भी।"

पर कोठी से निकलते ही सुधीर एकदम घबरा उठा, जो छूट गया था वह खड़ा उसकी इन्तज़ार कर रहा था और कोई उसे चिढ़ा-चिढ़ा कर कह रहा था—'तुम यहां आए इसलिए थे कि वह तुम्हारी समस्या हल करेगी। तुम्हें रुपया देगी।'

'नहीं, मैंने छल नहीं किया। मुझे ज़रूरत थी। हो सकता है मैं इसी आशा में आया हूं पर प्रतिभा मेरे लिए···'

सुधीर ने चीखकर खुद से कहा पर आगे की बात चारो तरफ गूंजने ठहाको की आवाज़ से फट गई।

सुधीर ने दोनों हाथ पीछे बांधे, गर्दन झुकाई और किसी से कन्नी-सी काट कर घर की तरफ बढ़ चला।

उसे लगा कोई उसके पीछे हो लिया है···निःशब्द ठहाके लगाता हुआ।

10

सुधीर अपने क्वार्टर के बाहर खाट बिछाकर कभी नहीं सोता। पंखा हो या न हो वह कमरे में किवाड़ बन्द करके ही सोता है। बाहर ठंडी हवा होती है, पर उसका मानना है कि ठंडी हवा के साथ बदबू मन को बहुत खराब करती है। चीजों का अपना-अपना मेल होता है। बदबूदार ठंडी हवा तो मुहावरे के तौर पर भी अजीब ही लगेगी। पर रमा का तर्क और है। उसके हिसाब से बहती बदबू कुछ नुक़सान नहीं करती। जिस तरह बहती गंगा मे गिरकर सब अपवित्र पवित्र हो जाता है उसी तरह हवा पर बहती बदबू भी बहुत मनभावनी लगती है। वहां रहने वाले और लोगों का मत भी कुछ-कुछ इसी प्रकार है। सिवाय़ उन लोगों के जो अक़सर इस बदबू होने की चर्चा को कुछ दिमागों का खलल बताते हैं और खुलकर कहते हैं—'साले बाबूगिरी दिखाते हैं। रहेंगे मजदूरों की बस्ती में और बात करेंगे बदबू की। लगवाते हैं, सालों के लिए, रात की रानी।'

बात यह है कि सुधीर के घर के ठीक सामने से जो नाला बहता है उसमें से होकर फैक्टरियों का फालतू पानी दूर एक जंगल में जाकर पमर जाता है। दरअसल यह बस्ती पहले नहीं थी इसीलिए इस नाले को इधर से निकाला गया। बस्ती बनने के बाद इस नाले को ढँक दिया जाए यह किसी को ध्यान ही नहीं आया। गर्मियों और सर्दियों में तो खैर ठीक है पर बरसात में यह नाला थोड़ा उफनकर बहता है। अच्छा भी लगता है। बच्चों को खेल मिल जाता है और माओं को बच्चों को बचाने का काम।

पर आज सुधीर ने घोषणा की, "मैं बाहर सोऊंगा।"

रमा ने आश्चर्य से सुधीर की तरफ देखा, पूछा, "क्यों ?"

"क्यों क्या मानी ? बस, मेरी मर्जी।"

"वही तो पूछ रही हूं, आज यह मर्जी आई कहां से ?"

"तुम्हारा तो है दिमाग खराब, जी कर रहा है, बस।"

"बाहर बिछा देती हूं तुम्हारी खाट, खुशी की बात है। पर एक बात बताए देती हूं, दो घंटे बाद फिर मत कहना कि मर्जी ने करवट ले ली, मैं तो अन्दर ही सोऊंगा।"

"ओहो, तो उसमें क्या है, मन हुआ तो उठकर अपनी खाट अन्दर डाल लूंगा।"

"हां, वह तो मुझे मालूम है—खुद डाल लूंगा। आदमियों वाला कोई काम तुमने कभी खुद किया है····" कहकर रमा खिलखिला कर हँस दी। संज्ञा भी पास मेज-कुर्सी पर बैठी पढ़ रही थी। उसे बात चीत में मजा आ रहा था। उसने अपनी किताब पर से सिर उठाया और पिता की नक़ल उतारते हुए कहा, "संज्ञा-आ-आ, बेटे, एक गिलास पानी तो लाना, और सुन, जरा माचिस भी।"

सुधीर को भी हँसी आ गई। संज्ञा और रमा तो हँस-हँस के लोट-पोट होने लगीं। हँसते-हँसते रमा ने कहा, "संज्ञा, तुझे याद है उस दिन क्या हुआ था ?"

किस दिन माँ, कोई एक दिन हो तो याद भी रहे।"

"वह पहले वाले मकान में जब एक दिन लेखक जी, खुले में सोए थे और बारिश आ गई थी। काफी देर पड़े भीगते रहे थे। वह तो मेरी नींद खुल गई। ध्यान आया तो जगाकर अन्दर लाई। पूछा तो बोले ऐसा लगता रहा जैसे सपने में भीग रहा हूं।"

कहते-कहते रमा फिर ज़ोर से हँस दी।

इस बार संज्ञा ने टोहका दिया, "पापा, मम्मी को डांटो।"

सुधीर खिसिया रहा था, बोला, "क्यों ?"

"ये तुम्हें पागल कह रही हैं।"

सुधीर उठकर खड़ा हो गया, धीरे से बोला, "पागल है।" फिर कमरे से बाहर निकलते हुए कहा, "हँस लो खूब, दोनों, फिर बिस्तरा बिछा देना। सोऊंगा मैं आज बाहर ही।"

बहुत दिनों बाद सुधीर और रमा की खाटें बराबर-बराबर बिछीं। इस तरह के घरों में स्त्री-पुरुष नाम मात्र को ही पति-पत्नी होते हैं। पति-पत्नी की तरह साथ सोना उनको बच्चों के साथ लुका-छिपी खेलकर ही नसीब होता है। बाहर खाटें साथ पड़ने से भी सुविधा सीमित ही रहेगी। हाथ छू लिया। पैर पर पैर रख लिया। या इसी तरह की कुछ फुटकर चेष्टाएं। जिनसे पैदा हुई उद्दीप्ति की हत्या करने के लिए काफ़ी मानसिक बल की आवश्यकता पड़ती है। वैसे भी सुधीर इस मामले में थोड़ा अलग है। स्पर्श-सुख के साथ तत्काल उसे शरीर-सुख चाहिए। इसीलिए सामान्य तौर पर वह स्पर्श से कतराता है। बाद की हिंसक प्रक्रिया उसके शरीर में बहुत सड़न पैदा करती है। आज यों भी उसका मन कुछ और ही सोचने को कर रहा था। रमा अब अपनी खाट डाल रही थी तो एक बार उसका मन किया था कि कह दे—अपनी खाट जरा दूर को डालो, पर कह नहीं सका। रमा को बहुत बुरा लगेगा।···उसने सोचा—लेटते ही सोने का नाटक किया जा सकता है।

पर नाटक चला नहीं। उसकी आंखें खुली पड़ी थीं कि रमा ने बात शुरू कर दी। बोली,

"प्रतिभा जी कैसी हैं ?"

"ठीक हैं, बढ़िया।"

"आज मिली थीं क्या ?"

"हां, मैं गया था। ये संज्ञा के लिए पैसे उन्हीं से लाया हूं।"

"प्रतिभा जी से ?" रमा शायद चकित थी।

"हां। क्यों ? उनसे नहीं लेने चाहिए थे ?"

"मुझे क्या मालूम। यह तुम्हारे सोचने की बात है। पर क्या तुम घर के बारे में सब उन्हें बताते हो ?"

"हां, लगभग सभी कुछ।"

"क्यों ?

"अच्छा लगता है। और क्या ?"

"और पैसे लेना ?"

सुधीर मिनट भर चुप रहा। फिर धीरे से बोला, "सच पूछो तो बुरा नहीं लगा। एक मिनट को यह खयाल आया था कि कहीं मैं इसी लिए तो प्रतिभा के यहां नहीं जाता कि वह धनी है और समय पर काम आ सकती है, पर वह ग़लत था। एक दम ग़लत था। मैंने यह बात खुद को खूब खोदकर जान ली है कि यह ग़लत है।"

"तो सही क्या है ?"

"सही ? सही क्या है, क्या मानी ?"

"मतलब यह कि क्यों जाते हो वहां ?"

"मेरी दोस्त हैं, और क्या ?"

"तुम्हारा मोह नहीं है उन पर ?"

सुधीर फिर मिनट भर चुप रहा। फिर बहुत धीरे से रमा की तरफ़ करवट ली, बोला, "हां, है।"

"अपने दिमाग़ को समझते हो ?"

"क्यों ? समझता हूं, तभी तो कह रहा हूं।"

"वह नहीं कह रही। मेरा मतलब है कि जब तुम्हें मालूम होगा कि प्रतिभा जी सिर्फ तुमसे सहानुभूति रखती हैं और कुछ उनके मन में नहीं है, तो तुम्हारे दिमाग की क्या हालत होगी, तुम्हें मालूम है, कुछ अन्दाज़ा लगा सकते हो ?" रमा पता नहीं क्यों, कहते-कहते हांफ गई।

सुधीर ने अब पूरी तरह रमा की तरफ करवट ले ली। उसकी तरफ ध्यान से देखते हुए उसने कहा, "मालूम है।"

"पागल हो जाओगे ना ?"

"नहीं, मैं कह रहा था, मुझे मालूम है प्रतिभा के यहां कुछ नहीं है। सब कुछ इकतरफा है।"

रमा को झटका लगा। उसने पति की तरफ आश्चर्य से देखा। ऊंची फुसफसाहट में बोली, "मालूम है ? फिर ?"

"फिर क्या है ? जो है सो है।"

"क्या है ? तुम उनसे प्रेम करते हो, मानी करने लगे हो ?"

इस बार सुधीर बहुत देर चुप रहा। रमा उसकी तरफ टकटकी लगाकर देखती रही। सुधीर बोला तो रमा चौंककर जागी और सुनने लगी। सुधीर कह रहा है, "मैं तो सिर्फ इतना कह सकता हूं कि इस समय वह मेरे दिमाग पर बुरी तरह हावी है। मेरा चेतन और अवचेतन उसके बिम्बों से आक्रान्त हैं। शायद इसको ही प्रेम कहते हैं। मुझे यह भी अच्छी तरह मालूम है कि यह सब इकतरफा है और शायद रहेगा भी। उसकी अपनी अलग दुनिया है और उसमें मेरे लिए कोई जगह नहीं है। पर मैं लाचार हूं। मुझे लगता है रमा, प्रेम शायद होता ही इकतरफा है···तुम्हीं बताओ, तुम मुझसे प्रेम नहीं करतीं ?"

"मेरी बात छोड़ो, मैं पत्नी हूं।"

"मुझे मालूम है, तुम सिर्फ पत्नी नहीं हो। वह मुझे मालूम है।"

रमा हल्के से हँस दी, बोली, "तो अब तुम्हारी यह हालत हो गई है कि तुम गिड़गिड़ाने भी लगे हो।"

"क्या मतलब ? गिड़गिड़ाया किसके सामने हूं मैं ?"

"इकतरफा लगाव में गिड़गिड़ाने के सिवाय होता ही क्या है ?" रमा ने कहा, बात तोड़ी और पल-भर रुककर फिर जोड़ दी, "खैर जो भी हो। पर दो बातों का ध्यान रखना। एक तो यह कि तुम्हारा स्वाभिमान और मेरा स्वाभिमान अलग चीज़ें हैं और दूसरा यह कि बहुत दूर निकल जाओ तो मुझे बता देना, मैं आवाज़ लगाना छोड़ दूंगी।···हां, एक बात और बिना पूछे बता रही हूं, मुझे विश्वास है कि तुम मोह करने के असली कारण में हेरा-फेरी नहीं कर सकते। मुझे विश्वास है, तुम उनसे प्रेम करने लगे हो···मुझे विश्वास हो गया है···"

"तुम्हें दुःख हुआ है रमा ?"

"नहीं, सुख मिला है।"

दोनों चुप हो गए। सपाट लेट गए। दोनों ने मुँह आकाश की तरफ कर लिया। दिन में आज भी बादल घिरे रहे थे। बूंदाबांदी भी बीच-बीच में होती रही पर तेज बारिश नहीं बरसी। इस समय आसमान बिलकुल साफ था। बिना सितारों का नीला-काला आसमान। नम और चिपचिपा।

पता नहीं कितनी देर बाद रमा फिर बोली, "जाग रहे हो ?"

"हां, क्या है ?"

"एक बात और, यह सोचकर कभी मुझे छोटा न करना कि मैं ईर्ष्या भी कर सकती हूं।"

सुधीर विह्वल हो उठा, हाथ उठाकर उसने रमा के माथे पर रखा और भारी आवाज़ में कहा, "मैं तुम्हें पहचानता हूं रमा, तुम्हारे बड़प्पन को जानता हूं मैं—"

रमा ने बात काट दी, "पर मेरे बड़प्पन की छाया में जीने का छोटापन मत करना, नहीं तो मैं तुम्हें छोड़ दूंगी।"

और इससे पहले कि सुधीर कुछ बोले रमा ने एक करवट ली और सुधीर से मुंह फेर लिया। चाहकर भी फिर वह रमा से बातचीत का दरवाज़ा न खोल सका।

नींद नहीं आई सुधीर को। रमा का मालूम नहीं। उसने फिर करवट नहीं बदली। सुधीर के मन पर कुछ ही देर रमा की कही हुई बातें तैर सकीं फिर वह पिघलकर उस दुनिया में ढुलक गया जिसमें रहने की इच्छा में आज वह बाहर सो रहा है···

चारों तरफ जमी चुप्पी अंधेरे को 'क्रिस्टल' में बदल देती है। अंधेरे का विशाल 'क्रिस्टल' काले पत्थर से बने विशाल गुम्बद की तरह खड़ा है। ऊंघता हुआ-सा। सुधीर उसमें एक भुनगे की तरह फंसा है। फड़फड़ाता हुआ। सुधीर की दाईं तरफ कोई सौ डेढ़ सौ फीट पर एक लैम्प-पोस्ट है। उसकी मंदी-मंदी रोशनी गुम्बद के अंधेरे को लिज़लिज़ा बना रही है। आसमान में सितारे होते तो पूरा गुम्बद थोड़ा रूमानी हो उठता पर इस समय तो महसूस हो रहा है कि गुम्बद की गोल दीवारों के नीचे डायनामाइट फैला हुआ है और गुम्बद बस उड़ने ही वाला है···प्रतिभा सुधीर के अस्तित्व के गुम्बद की दीवारों के नीचे फैला बारूद होती है···उसके अस्तित्व का गुम्बद फटने ही वाला है···फिर ? फिर क्या ? नया अस्तित्व मिलेगा। पुराने अस्तित्व की चिंदियां हवा में उड़ती हुईं···कितनी मनोरंजक लगेंगी। पर ज़्यादा दूर नहीं उड़ पाएंगी··· गुम्बद में हवा नहीं आ पाती ना···थोड़ा ऊंचा उछलकर फिर उसके नये अस्तित्व के चारों तरफ आकर जमा हो जाएंगी···वह एक-एक को उठाकर पढ़ेगा···किसी अपरिचित के इतिहास के पन्नों की तरह···और हँसेगा···काले पत्थर से बने गुम्बद में उसकी हँसी की आवाज गूंजेगी···वह सहमा-सहमा उस गूंज में लिपटा लेटा रहेगा···वह नहीं, उसका चेतना-पिण्ड···

अपरिचित के इतिहास की फैली चिंदियां···

एक-एक उठाऊं···नहीं, उतना धैर्य कहां बचा है···

तो क्या उड़ते उड़ते जो चिंदी जो शब्द झलका जाए···बस, तुम निश्चेष्ट लेटे रहो···चेष्टा करोगे तो इबारत का अर्थ बदल दोगे···अर्थ बदलने से बड़ा अन्याय-असभ्यता कोई नहीं···और इबारत का सच चेष्टा करके नहीं पकड़ा जा सकता···सच को महसूस किया जा सकता है···चेष्टा करना कि जो महसूस करो, उसकी इबारत बन जाए, हो सकता है कि सच की कोई झलक तुम ले सको···अब यह प्रतिभा ही है···क्या जानते हो तुम उसके बारे में···कुछ भी नहीं···पर कितना तुम उसे महसूस करते हो···बस, वही तुम्हारा सच है···उससे इधर-उधर मत हिलना, नहीं तो डूब जाओगे···जो भी दीखे उसे अपने एहसास के 'प्रिज़्म' में से देखना···नही तो सब झूठ दीखेगा···और···

प्रतिभा खुद एक अहसास है, अहसास का बना 'प्रिज़्म', उसमें से देखने से दुनिया बड़ी सतरंगी दीखती है···खूबसूरत दीखती है···

पर, पर दुनिया सतरंगी तो है, उतनी खूबसूरत नहीं है जितनी दीखती है···

खुद प्रतिभा की पलकों पर वेदना की काली छाया हर समय ओट दिए रहती है···

और ये चिंदिएं···यह कैसा खेल कर रही हैं···खुद खुलकर सुधीर की आंखों तक उठकर वहीं खड़ी रह जाती हैं···

कैसी कतार-सी वहीं खड़ी रह जाती हैं···

गुम्बद में हवा नहीं होती ना···

और सुधीर के अस्तित्व के गुम्बद में गहरा नीला शून्य है···जो जहां होगा, वहीं रुका रहेगा···जड़ आकाश शायद इसी को कहते हैं···

तो ?आंखें बन्द कर लें···?

पर पलकें भी तो जड़ हुई पड़ी हैं···चिंदियों पर लिखी इबारत पढनी तो पड़ेगी ही···

तो पढ़ो···पर कहीं ऐसा न हो कि पढ़ते-पढ़ते फिर जो छितरा रहा है, उसे जोड़कर, ओढ़कर बैठ जाओ, नहीं तो···

नहीं, ऐसा नहीं होगा, प्रतिभा उसे बचा लेगी, उसे विश्वास है···

11

क्या हुआ था···।

जो भी हुआ था, आज कितनी दूर है···गहरे अंधेरे में जुगनू की तरह चकम रहा है···जुगनू भी खूब मच्छर होता है, पंख खोलकर उड़ान भरेगा तो चमकेगा और पंख बन्द करके कहीं बैठ जाएगा तो अंधेरे में गुम···वही, बीती घटना की याद की तरह···कितने जुगनू हैं उसके दिमाग में पंख फड़फड़ाते हुए···कभी चमकते, कभी अंधेरे में गुम; कभी दूर, कभी पास···और···

क्या लिखा है, इस चिंदी पर ?

क्या मतलब हुआ इसका ?

लिखा है—तुम जब उसे मारोगे तो उसकी आंखों में इतनी मौहब्बत होगी, तुम्हारे लिए, कि तुम उम्र भर उसे भूल नहीं पाओगे···?

हुं, क्या बेवकूफी से भरा वाक्य है···भला···

पर एक बात तो सच है, भूल तो नहीं पाता···हां, यह शायद सच है, यह जुगनू सबसे अधिक फडफड़ाता है···अधेरे में कभी गुम नहीं होता···ज़िन्दगी का भरपूर अंधेरा उसे कभी लील नहीं पाया, वह अधेरे को···

देखा, हो गई न गड़बड···वही जुगनू सबसे पहले पंख खोल बैठा जिससे तुम हमेशा कतराते रहे···जिसने हमेशा तुम्हारा जीना मुहाल रखा···जो···

छोडो, चिन्दी पर लिखा मजमून पूरा पढो···

हा, आगे लिखा है—हत्यारा मारने से पहले कुछ क्षण के लिए जिस डर को जीतता है, मारने के बाद उम्र भर उसी डर का गुलाम रहता है।

बहुत भयावह सच है···आक्रामक सच···

पर रुको, पहले पूरा मज़मून पढ लो। अभी एक सतर और है—

लिखा है—जब वह उसे मार रहा था, और तुम खड़े देख रहे थे तो तुम उसे मार रहे थे। मारनेवाला उसकी तरफ देखे न देखे, तुम्हारी तरफ भरपूर नजर से ज़रूर देखेगा और तुम उम्र भर उसे भूल नहीं पाओगे···

ओह! हटाओ इन चिन्दियों को···मुझे नहीं पढना इनका मज़मून···मुझे नहीं याद करना अपना इतिहास···मुझे नहीं···

कोई हँसा है, जोर-ज़ोर से, ठहाके लगाकर···वही, जो तब हँसा था जब वह प्रतिभा के घर से बाहर लिकला था···वही है, बिलकुल वही···सुधीर हँसी की इस आवाज़ को बखूबी पहचानता है···

दूसरी चिन्दी ने पहली की जगह ले ली है···आंखों के सामने खड़ी चमक दे रही है···उसे 'मेस्मराइज़' कर रही है···खुद पर लिखी इबारत को पढ़ने को मजबूर कर रही है···शायद पढ़ना ही पड़ेगा···

चलो, पढ़ ही लेते हैं···

इस पर भी वैसे ही तीन पेरे हैं···

लिखा है—किसी की मदद से किसी को मत बचाओ, वह अपना हिस्सा ज़रूर मांगेगा और फिर जिसे तुमने बचाया है, तुम्हें कभी मुआफ़ नहीं करेगा···

और लिखा है—मन जीतने से पहले शरीर मत लो। शरीर लेने के बाद मन जीतने का प्रयास मत छोड़ो। उलटा चलोगे तो विद्रोह ही पल्ले पड़ेगा, और कुछ नहीं···

और—बहुत चौकन्ना और डरपोक आदमी घर आए मेहमान का उचित सत्कार नहीं कर पाता। जो बाहर घटी घटना का अर्थ घर आकर समझते हैं, उम्र भर पछताते हैं। अपने प्रिय के अहम् को ठेस पहुंचाना उसकी हत्या करने से छोटा अपराध नहीं है···

सुधीर हड़बड़ाकर जाग गया···उठकर बैठ गया···चारों तरफ देखने लगा, अंधेरे में झांक-झांककर···रमा शान्त सोई है···आस्मान में बादल घिर, आये हैं···अंधेरा और गहरा हो गया है···यह क्या था ? भूत या भविष्य ? या तीनों गुड्ड-मुड्ड···भूत, भविष्य और वर्तमान···कहीं कुछ खूबसूरत नहीं है—सुधीर के अन्दर, बस, डर ही डर···जो भी खूबसूरत है, पहचान नहीं पड़ता···इतने घुप्प अंधेरे में जीना···गुम्बद मे···बिना किसी खिड़की के···बिना···

रमा को जगा लूँ ?

नहीं, एक अमूर्त्त खिड़की भी बन्द हो जाएगी···

तो ?

तो क्या। लेट जाओ। तभी तो—

नहीं, और एक भी चिन्दी पढ़ने की सामर्थ्य नही है. उसमें···पर इन दोनों का लिखा मजमून पिघल कर फैल रहा है···

'तो उसी को ब्यौरेवार पढ़ूँ ?'

कुछ पढ़ा जा सकता है, तो पढ़ लो।

बहुत पुरानी बात है। वह कोई सत्रह साल का रहा होगा। पूरे देश में मारकाट मची थी···हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे के लिए हिंसक पशु थे···आदमियों जैसी बोली बोलते और जानवरों जैसे काम करते···कुट्टी की तरह कटते बच्चे···गायों-भैंसो-कुतियों की तरह खुली सड़क पर दातुन कराती औरतें···पास-पास लगी चिताओं की तरह जलते मकान···घर छोड़कर बीहड़, जंगल की तरफ भागते आदमियों के क़ाफिले···चेहरों पर सिसकने के बाद का नम सन्नाटा लिए···आतंकित, दुख से अभिभूत···खुदा का नाम याद करते हुए···राम सुमरनी लपेटते···जिसके नाम पर मर रहे थे उसी का नाम मौहब्बत से लेते हुए···

सुधीर को याद है···उसके शरीर का लोहू भी तभी-तभी गर्म हुआ था।···हाथों पैरों में शक्ति फूट रही थी···उसके ग्रामीण शरीर में सामान्य से अधिक जोर था···गुमसुम सुधीर हमेशा अन्दर उबलता रहता···कुछ न कुछ करने को मन करता···अच्छा या बुरा···

उसने देखा, चारों तरफ कुछ हो रहा है···उसने महसूस किया, उसके हाथों-पैरों में पंख निकल आए हैं···उसके शरीर का हर दाना रेगिस्तान की बालू के दानों की तरह भभक रहा है···

उसने भूत की तरह उस देशव्यापी श्मशान में घूमना शुरू कर दिया है···

उसने कहीं से एक गुप्ती प्राप्त कर ली थी···

वह भीड़ में होता···सामने से गोलियां बरसतीं···दुश्मनों के मकानों में बने मोर्चों से···सुधीर के पास खड़ा एक आदमी गिर पड़ता···सब भाग खड़े होते, पर सुधीर टकटकी लगाये उस गिरे पड़े आदमी को घूरता रहता···हां, उसे याद है···कई आदमियों की चीखती आंखों के बोल उसने सुने थे···एक सुन्न नपुंसक की तरह···और सुनकर वह चुपचाप वहां से हट जाया करता था···एक 'मेस्मराइज़्ड' जमूरे की तरह···

फिर···?

फिर एक दिन उसने भी एक आदमी की पसलियों और पेट के बीच बने छोटे-से गढ़े में अपनी 'गुप्ती' खोलकर घुसेड़ दी थी···

पूरा फल कुछ क्षणों के लिए उसकी दृष्टि से ओझल हो गया था···जब फल बाहर आया था उसने महसूस किया था, एक लेस-सा उस पर लिसा है···

वह चिपचिपा लेस आज तक उसकी छाती पर, उसकी चेतना पर लिसा है···

उसकी आंखों की मौहब्बत आज भी उसकी आंखों में बसी है···

अनचाही 'गुप्ती' जब शरीर में जाती है तो सारा शरीर चिपचिपा हो जाता होगा···

तभी तो···तभी तो वह मर गई थी···मता नहीं, तभी की बात है, या कुछ दिन बाद की···पर उसे अच्छी तरह याद है···उसके अपने दोस्तों की 'गुप्तियां' एक-एक कर उसके शरीर में घुसी थीं और वह मर गई थी···इन्हीं दोस्तों की मदद से उसने उसे एक बहुत वीभत्स स्थिति से उबारा था और उन्ही दोस्तों ने उसकी गैरहाज़िरी में···

मरते हुए उसने कहा था—मैं हमेशा तुम्हारे साथ रहूंगी, मर कर भी···

और वह सुधीर के साथ है···

दोनों सुधीर के साथ हैं···

उसके चारों तरफ घूमते हैं···उसके आडम्बरी रूपों पर ज़ोर-ज़ोर से हँसते हैं···उसका पीछा करते हैं···उसे खिझाते हैं···

पसीने में तरबतर सुधीर हड़बड़ाकर चारपाई पर ही घुटनों में सिर देकर बैठ गया···सच्चाई से बुना दुःस्वप्न और भी भयावह होता है···भयाक्रान्त सुधीर का मन कर रहा है कि वह उठकर प्रतिभा के घर की तरफ भागना शुरू कर दे···भागता चला जाए···जब तक वह बेहोश न हो जाए···चाहे रास्ते में···चाहे उसके दरवाज़े पर···या हो सके तो उसके पैरों में···एक अपराधी की तरह···

पर वह उठ नहीं पाया है···उसका शरीर टूट रहा है···

अंधेरे से बने विशाल गुम्बद में अकेला बैठा सुधीर बुदबुदा रहा है—

'तुम्हारे होंठों की हल्की-सी छुअन, प्रतिभा, मेरी चेतना की तमाम सिलवटों को निकाल देती, पर तुम्हारे गर्व ने कभी तुम्हें झुकने न दिया और मुझे, मेरे अपराध-जनित संकोच ने कभी उबरने···'

अंधेरा बहुत गाढ़ा हो गया है···

सुधीर के अन्दर थोड़ा-सा अंधेरा पिघलकर उसकी आंखों में छलक आया है···

रमा ने उसकी तरफ करवट ली है···

12

अगले दिन सुबह-सुबह रमा ने याद दिलाया, "तुम्हें याद है ना, कल मुक़दमे की तारीख है ।"

सुधीर ने कहा, "याद है ।"

"और चाय पिओगे ?"

"पी लेंगे ।"

रमा ध्यान से सुधीर का चेहरा देख रही थी । धीरे से बोली, "तुमने बहुत दिनों से कुछ लिखा नहीं ?"

"लिखूंगा ।"

"क्या हुआ, ऐसे क्यों बोल रहे हो ?"

सुधीर ने बेहद ठंडे स्वर में कहा, "चाय !"

रमा मिनट भर खड़ी रही, फिर मुड़ी और रसोई में चली गई ।

सुधीर ने जल्दी-जल्दी चाय पी । तैयार हुआ और घर से बाहर निकल आया ।

उसके दिमाग में इस समय एक ही बात है । कल की तारीख के लिए इन्तज़ाम करना है । कल तो वक़ील को भी देने होंगे । कई तारीखों से टाल रहा है ।

सबसे पहले सुधीर जहाँ पहुंचा वहाँ घुसते ही सुधीर को दीखा कि दरबार लगा है । हिन्दी साहित्य केन्द्र के दफ़्तर में मालिक की विशाल मेज़ के चारों तरफ पड़ी कुर्सियों पर हिन्दी के दिग्गज,गैर-दिग्गज साहित्यकार जमे थे । मालिक महोदय—सेठ राममनोहर जी—स्वयं एक अच्छे लेखक थे पर अचानक एक दिन उन्हें महसूस हुआ कि प्रकाशन संस्थान के माध्यम से हिन्दी और हिन्दी साहित्य का अधिक प्रचार-प्रसार हो सकता है । वह अकसर कहते—"सिर्फ़ लिखता रहता तो यश मुझे ही मिलता न, पर यह छोटा-सा मंच बना कर मैं हिन्दी के 'कॉज़' की यथाशक्ति सेवा कर सका हूं । यही होना चाहिए । आदमी को सामाजिक होना चाहिए, सिर्फ अपने बारे में सोचना—"

इस समय राममनोहर जी अपनी मनोरंजक शैली में कोई घटना सुना रहे थे—सुधीर भी पीछे की एक खाली कुर्सी पर बैठ गया और सुनने लगा—

"वह तभी-तभी पहुंची थी कि हम पहुंच गए । खूबसूरत तो वह है ही । उस दिन कुछ ज्यादा ही चटक लग रही थी । मुझे मालूम था कि उस महफ़िल में उसके बन-ठन कर पहुंचने का कारण क्या था । पर हमें क्या । नमन् नमस्कार हुआ । उसकी तात्कालिक सुन्दरता की तारीफ़ की । वह खुश हुई । हमने धीरे से उसके कन्धे पर हाथ रखा । पूछा, "नई किताब आ गई ?" तो हँसी, बोली, 'अरे राममनोहर जी, यह भी कोई चाइल्ड-बर्थ है कि समय पर होगी । आप लोगों का 'पीरियड' तो एक महीने से दस साल होता है, जब भी डिलीवर कर दें'''' वार गहरा था, पर औरत हमें 'बीट' कर दे, डूब मरने को जगह न मिले । हमने फौरन कहा, 'हमें दे कर देखिए, कभी अपनी किताब, फिर देखिए ठीक वक्त पर डिलीवरी होती है या नहीं ।' पर साहब मानना पड़ेगा, 'सैन्स ऑफ ह्यूमर' उसमें है, ऐसी निर्बाध खिलखिलाकर हँसी कि तबीयत खुश हो गई । तय कर लिया फौरन कि इसकी किताब ज़रूर छापनी है । हम तो भई, 'ह्यूमन रिलेशन्स' में विश्वास करते हैं । दरअसल''''"

किसी ने एक कुर्सी पर से कहा "ह्यूमन नहीं, वूमन रिलेशन्स में, है ना, राममनोहर जी। आदमी आप अभी तक—"

राममनोहर जी बिदक पड़े, "अभी तक क्या मानी ?"

एक और ने कहा, "ये तो मरते दम तक जवान रहेंगे। शर्त यह है कि 'साइन्स' तरक्की करती रहे।"

सब हँस पड़े। राममनोहर जी भी। सब के साथ हँसते हुए उनकी आदत थी कि चारों तरफ बैठे अपने सभासदों की तरफ देखकर हरेक से नजर मिलाते थे। चारों तरफ देखा तो सुधीर बैठा दीखा। सुधीर से उनका विशेष प्यार है। एकदम उछल कर बोले, "अरे सुधीर, तुम कब आए ?"

हँसी मज़ाक में सुधीर भी हल्का नहीं पड़ता था। बोला, "बस, वह आई थी कि मैं आया था।"

एक वृद्ध दीखते सज्जन ने मुँह बिचका कर कहा, "हां जी, राममनोहर जी के यहां किताब की डिलीवरी हो और सुधीर न आएं। यह तो भाई दाई हैं। 'प्रोडक्शन' का काम नो यही देखते हैं।"

इस बार ठहाका जोर का पडा। कुछ लोग जरा मुँह घुमा कर हँसे कुछ लोग अचानक उठ कर खड़े हो गए। बोले, "अच्छा भाई, चलते हैं।"

धीरे-धीरे सभा विसर्जित हो गई। सुधीर अपनी कुर्सी पर से उठा और राममनोहर जी के ठीक सामने जाकर जम गया। कुछ देर इधर-उधर की हांकता रहा, फिर अचानक बोला, "आज मुझे सौ रुपये चाहिएं, ज़रूर"

राममनोहर जी गम्भीर हो गए। कई मिनट तक अपनी मेज़ के कागज़ इधर-उधर पलटते रहे। फिर नजरें बचाकर बोले, "क्यों चाहिए ?"

"कल मुक़दमे की तारीख है।"

"तो ?"

"तो क्या ?"

"तो यह कि उसका टैक्स मुझ पर क्यों ? तुम्हारा कोई बिल तो हमारी तरफ है नहीं, बल्कि कुछ रुपया इधर का ही तुम्हारी तरफ निकलेगा। देखो, तुम्हारे ही फायदे की बात कह रहा हूं, हिसाब को हिसाब की तरह चलाया करो।"

सुधीर चुप हो गया। एक मिनट सोचता रहा। बात तो ठीक ही है। हिसाब तो हिसाब की ही तरह चलना चाहिए। पर यह भी ठीक है कि पैसे चाहिएं तो ?...तो क्या, कहीं और चलो। भिक्षा ही मांगनी है तो निराश क्या होना। भिखारी दुनिया का सबसे बड़ा आशावादी होता है।

मन में आई इस बात पर सुधीर को मन-ही-मन हँसी आई। वह उठ खड़ा हुआ। बोला, "तो चलते हैं।"

"नाराज हो गए ?"

"नाराज होने की इसमें क्या बात है। बात आप सही कह रहे हैं, पर पैसे का इन्तजाम तो करना ही है।"

"कहां जाओगे ?"

"यह यहां से निकल कर सोचूंगा।"

"हो जाए तो मुझे खबर करना, चिन्ता रहेगी।"

"न हो, तो खबर न करूं।"

राममनोहर जी एक तटस्थता की हँसी हँस दिए, बोले, "अरे भला, यह कैसे हो सकता है कि तुम चाहो और इन्तज़ाम न हो। तुम इस काम में बहुत माहिर हो।"

सुधीर का मन खराब होने लगा था, बोला, "हां, माहिर तो हूं, पर सिर्फ इसी काम में।"

कह कर तेज़ी से सुधीर हिन्दी साहित्य केन्द्र से बाहर पड़ी सड़क पर उतर आया।

किधर चलें ?

चलते हैं। पहले एक पान खाते हैं। जबाड़ा ऊपर नीचे होगा तो दिमाग़ की थोड़ी कसरत होगी, जड़ता दूर होगी।

हां, यह ठीक है।

आपको मालूम है सुधीर जी, आपकी बुनियादी कमज़ोरी क्या है ?

नहीं, नहीं मालूम।

हम बताते हैं, सुनो—तुम जहाँ प्रूफ-रीडर हो सिर्फ प्रूफ-रीडर रहा करो, उसी अन्दाज में बात किया करो, विनय से और जहां लेखक हो—पर नहीं, शायद उल्टा बता गया। जहाँ प्रूफ-रीडर हो वहां लेखक की तरह बात किया करो—गिड़गिड़ाकर और···हां, यह ठीक है, इस मामले में आजकल लेखक लाजवाब हैं। उनसे बहुत कुछ सीखा जा सकता है। पर उनके तरीके ज़रा सांस्कृतिक होते हैं···और जरा महंगे भी···उसके बस का···

पान के लिए कहकर सुधीर ने जेब में हाथ डाला तो उसके मन में एक हूक-सी उठी—"किधर चलें अब ?"

पर चारों तरफ देखने, पान तेज़-तेज़ चबाने, धीमे-तेज़ चलने और सड़क के बीचोंबीच खड़े होकर मोटरों-कारों-साइकिलों की भंवर में पैर जमाए खड़े रहने और बच निकलने के कौतूक को झेलने के बावजूद सुधीर को कोई रास्ता नजर नहीं आया और बिना कुछ सोचे वह एक तरफ को चल दिया।

निरुद्देश्य चलना सुधीर की एक आदत है। असली मक़सद छोड़कर इधर-उधर की बातें सोचने लगता है। इससे उसे कुछ राहत मिलती है, शायद शक्ति भी। और आज तो उसके पास सोचने को बहुत कुछ है, प्रतिभा और हत्या गुड़ीमुड़ी हुए पड़े हैं···उगते सूरज की किरणें बस्तियों से उठते काले विषैले धुएं का रंग बदल देती हैं···हां, पर सिर्फ रंग ही बदल देती हैं ना, प्रभाव तो धुएं का विषैला ही रहता है···वह तो है··· वह साला पारस पत्थर अब कहीं नहीं मिलता···मिलता क्यों नहीं···मिलता है, पहचानना पड़ता है, और···

यह मुक़दमा भी गरदन में तौक़ की तरह आ पड़ा है···

नौकरी करो तो चार सौ रुपये महीना मिलता है और न करो तो···

लेखक होने में सिर्फ यश मिलता है···वह भी तब, जब···

सुधीर ज़ोर से खिलखिलाकर हँस पड़ा···

वह मोड़ आ गया। मोड़ नहीं, विशाल चौराहा। किसी एक सड़क के किनारे खड़े होकर देखो तो लगे कि सैकड़ों सड़कें अलग-अलग दिशाओं में फूट रही हैं। दरअसल दिशाभ्रम होता ही उन लोगों को है जो किनारे खड़े रहना पसन्द करते हैं···और दिशाहीनता का बोध ज्यादातर

उन्हें जा हर बहाव के साथ बहना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। दोनों में से त्रासदायक अधिक कौन है···एक से एक बढ़कर है···इसी चौराहे से एक सड़क प्रतिभा के घर की तरफ जाती है···चलें···नहीं-ई···बिलकुल नहीं···फिर किसी दिन चलेंगे···जी तो कर रहा है···जी कर रहा है या समस्या का हल ढूंढ़ रहे हो···नहीं, बिलकुल नहीं···तभी तो कह रहा हूं, आज नहीं जाऊंगा···आदमी का गरीब होना भी कितना बड़ा अभिशाप है···गरीब होना नहीं, अमीर होना···इनसे प्रेम करो तो अपने ही मन में 'गिल्ट' पेदा होने लगता है···कहीं लालच में तो कुछ नहीं कर रहे। अन्दर 'गिल्ट' हो तो रंग साफ दीख सकता है ? नहीं, रंग और शब्द अपना अर्थ खो देते हैं···वे प्रतिभा से···

सुधीर, कल मुक़दमे की तारीख़ है···वकील···मुंशीजी···पेशकार···

हां, है तो···तो ?

जितना वक्त तुम इस तरह बरबाद करते हो, उतने वक्त काम करो तो यह स्थिति ही क्यों आए···

सुधीर के चेहरे पर एक गहरी तीती मुस्करा मुस्कराहट बिलबिला गई—हां, यह सच है, मैंने कभी काम नहीं किया···मुझे काम करना आता ही नहीं···वैसा काम करना जिससे ऐसी स्थिति नहीं आती···

पर अभी काम करने से तो अभी पैसा मिलने से रहा···

घर चलो···आसपास कही देखेंगे···

आसपास···? आसपास क्या रखा है ? क्या होगा ?

नही होगा तो रात को नन्नूसिंह से बात करेंगे···

हां, यह ठीक है, इन तिलों मे तेल है···

सुधीर ने निष्कृति की गहरी साम ली और घर की तरफ मुड गया···पेदल ही···

बरसात के मौसम का सूरज मन-बदन को खुरच रहा है···

13

इसी चौराहे स एक सडक सुधीर के घर के पास वाली सडक से जाकर मिलती है। कोई दस किलोमीटर लम्बाई की सडक। बीच मे चौगहे आते है, मडकें फूटती है, पर यह सडक निर्द्वन्द्व, सीधी, छोटे-मोटे मोड लेती, बहती चलती है···काफी चौडी है, दो हिस्सो में बंटी हुई···आना-जाना···आना अलग, जाना अलग···इसे कहते हैं सीधा राम्ता···आदमी को भीड होने से बचाता है···आदमी आदमी बना रहता है···और···

हर सडक पर पैदल चलनेवाले के लिए एक कार्पेट खुलता चलता है···रात को चितकबरा, दिन को अबरकी···इस कार्पेट के रेशे मुलायम नहीं होते, पैरों में चुभते हैं···पैरों और सिर का सीधा सम्बन्ध होता है··· पैरों में मुछ चुभेगा तो सिर के बाल खड़े हो आएंगे···बाल तभी खड़े होते हैं, जब बहुत दिनों से सोया कुछ उठ बैठता है···

कुछ···!?

जोहड़ के पानी में से एक जानवर सतह पर आने की कोशिश कर रहा है···कितना घिनौना जानवर है···छोटी-सी गर्दन···कमर पर काले गोल-गोल सिक्के जड़े हुए···उलट गया शायद···पैर आए थे सतह पर···कितने अजीब पंजे हैं···कैसे हिल रहे हैं···लो, डूब गए, पर···

पर इन पंजों के कितने गहरे निशान उसके दिमाग़ पर खुदे हैं···

हर ऐसा निशान एक इबारत होता है···

पढ़ूं इसे ?···पढ़ो···पर डरना नहीं···नहीं, डरूंगा नहीं, डरने लायक संवेदना अब बची भी कहां है···अरे, डरने के लिए संवेदना की ज़रूरत क्या है···सिर्फ शरीर डरता है···याद नहीं है···जिस शरीर को उसने साल-भर साथ रहने पर भी अछूत की तरह दूर रखा था, सिर्फ इसलिए कि मन और शरीर का द्वैत जब तक मिट न जाए तक तक किसी एक को छूना नहीं चाहिए···अलग एक को छूने से दूसरा चोट खाता है, उसी शरीर को जब···कैसा डरा था···दोनों—मन और शरीर—के बीच की खाई कितनी चौड़ी, कितनी गहरी हो गई थी···कैसी विक्षिप्तता थी उसकी आंखों में···कैसे देखती रह गई थी, वह उसकी तरफ···

छोटा शहर। पक्के मकान, कच्ची-पक्की सड़कें और तरल, भावुक मन वाले लोग। बहुत प्रेम करते, बहुत लड़ते। यहां रात की दुनिया कुछ और ही होती। बड़े शहरों में शफ़्फ़ाफ़ चादरों के नीचे कीच-काई जमी होती है, यहां धूल-धक्कड़ की गन्ध-तले फूल खिले होते हैं। खुला मन चेहरे पर फूल खिला देता है। अन्दर जो भी है, अच्छा-बुरा, सामने है···और बड़े शहरों के लोग···जैसे भराई के जेवर···पीतल पर सोने की पतरी···पतरी कहीं मोटी, कहीं झीनी···इन लोगों की सारी ज़िन्दगी इस पतरी को बचाए रखने में जाती है···कहीं से टूट न जाए कि नीचे का पीतल···और इस निरन्तर उपेक्षा से अन्दर का पीतल तक काला पड़ जाता है। पतरी कभी-कभी खिड़की खोल दे तो काला स्याह छेद गहरे अन्ध-कूप जैसा भय पैदा करता है···हर शरीर में अन्ध-कूप की आशंका···और हर मन पर लगा जंग···भय का एक स्टील-वातावरण पैदा करता है···पर···

तब सुधीर की शादी नहीं हुई थी···

वह पतली-सी गली जिसमें सुधीर रहता था—अकेला—बहुत गहरी थी। दूर तक गली ही गली। गली के दोनों तरफ लोग ही लोग। ज्यादातर मुसलमान। दो-चार घर हिन्दुओं के भी। सुधीर एक मकान में नीचे बनी एक छोटी-सी कोठरी में अपने संक्षिप्त से बिस्तरे को एक छोटी-सी खटिया पर लपेटता-लुढ़काता। उम्र कोई तेईस-चौबीस साल। ठीक ठीक जवान। हम-उम्र दोस्त सब मुसलमान। रात-दिन ग़ालिब, मीर और फ़िराक़ की महकती छाया। और···

और···

और वह···रजिया···नाम उसका रजिया था, पर सुधीर उसे रधिया कहता···वह खुश होती···वह हमेशा खुश रहती···कितनी साफ-दिल, साफ-जुबान लड़की थी···जो दिल में होता, वही जुबान पर···कोई भ्रम नहीं, कोई छल नहीं···मन की बात कहने में किसी सही वक्त का इन्तजार नहीं···अदाओं की मोहताजी नहीं···यह फरेब नहीं कि कहो भी और मुकरने की सुविधा मुट्ठी में बन्द रखो···'मैंने कब कहा तुमसे यह' उसने कभी नहीं कहा। हमेशा कहा—'कह तो दिया। कितनी बार पूछोगे।'

सुधीर ने कहा था, "रोज़। जब भी मिलोगी।"

"तुम समझते हो मैं बदल जाऊंगी।"

"कान का मैल, नज़रों की धुंध और मन की दुविधा तुम्हारे इस एक जुमले से साफ हो जाती है। बस, मुझे भरोसा है, तुम बदलोगी नहीं, पर वक्त…"

"वक्त से नहीं डरना चाहिए।"

"नहीं रजिया, दुनिया में सिर्फ दो ही चीजों से डरना चाहिए, एक वक्त से और एक खुद से, बस, और किसी से नहीं।"

"तुम अपने-आपसे डरते हो ?"

"बहुत।"

"फिर तो मुझे भी तुमसे डरना चाहिए।"

"मुझसे नहीं, अपने-आप से।"

रजिया हँस पड़ती, कहती, "इतनी कम उम्र में ही यह तुम उस्ताद जी कैसे हो गए।"

सुधीर भी हँस कर कहता, "हुआ तो नहीं, पर तुम्हारे बिना उम्र गुज़ारनी पड़ी तो हो जाऊंगा।"

रजिया हँस पड़ती, हँसती रहती, हँसते-हँसते कहती, "तुम्हें एक बात सुनाऊं ?"

"हूं।"

"एक बार मैंने अम्मी से पूछा, 'अम्मी, सच-सच बताना, तुमने भी कभी किसी से इश्क किया है।' तो अम्मी कुछ देर चुप रहीं, फिर भीतर की गुदगुदी को दबाते हुए बोलीं, "अरी रानी, ऐसी भी कोई किशमिश होती है, जिसकी पीठ में तिनका न हो।" मैं हँसने लगी तो बेहद समझदारी की आवाज़ में कहा, "पर बन्नो, किशमिश का स्वाद तिनका उतार कर खाने में है। समझी।" मुझे भला क्या समझना था। जब तक पीठ में तिनका है, तब [illegible] ठीक है, जब कोई चूंट कर फेंक देगा, और खाने की कोशिश करेगा तो देखेंगे।"

"तुम्हारी अम्मी को सब पता है ?"

"हां।"

"और अब्बाजान को।"

रजिया फिर हँस पड़ी, "जिस दिन उन्हें पता चल गया, तुम्हारी खाल में भुस भरवा देंगे। उस वक्त से डरना।" कहकर वह जोर से हँस पड़ी।

"अम्मी कुछ नहीं कहतीं ?"

"अरे, अम्मी हमारी बहुत रंगीन हैं। वह तो उकसाती रहती हैं। तुम्हें पता है, सुधीर अम्मी हमारी कौन है।"

"कौन हैं, क्या मानी ?"

"इस पूरे इलाके की मशहूरो मारूफ रक्कशा रही हैं, हमारी अम्मी। कहते हैं लोग पागल थे इनके नाच पर, आज से पहले, पन्द्रह साल पहले तक। पांच बार निकाह किया और पांचों से एक-एक लड़का हुआ। फिर इश्क किया। पूरी शिद्दत से। मुश्किल से दो महीने रहा वह इस शहर में। पेशावर की तरफ का था। इस शहर में लकड़ी का कुछ सामान बनवाने आया था। अम्मी कहती हैं, मेरा अब्बा वह था। मुझसे ही सिर्फ उसके बारे में बातें किया करती हैं। कहती हैं, "दो महीने में ही मेरी रूह बदल गई।" वह चला गया। दोनों ज़ार-बेज़ार रोये। मां ने धन्धा बन्द कर दिया। पहले पैसे से लड़कों को पढ़ाया-लिखाया और हिस्से बांटकर सबको अलग

कर दिया। अम्मी उनके पास कभी नहीं जाती। छठा निकाह किया और मेरे साथ इस गली में रहने लगीं···तुम्हें मिलाऊंगी किसी दिन अम्मी से। आज भी नज़र फिसल न जाए तो कहना···इतनी मीठी आवाज है···"

"तुम बहुत प्यार करती हो अम्मी से ?"

"हां, बहुत···"

सुधीर पाता कि मां का ज़िक्र करते-करते रजिया आत्म-विस्मृत-सी हो जाती है। अलौकिक सौंदर्य उसके चेहरे पर उझक जाता है, वह···

सुधीर सोचता, कितनी निर्द्वन्द्व है···क्या कहानी है, और कैसे बेहिचक सुना रही है···

पवित्रता भला और किसे कहते हैं···

जगाता तो जाग जाती और अचानक उठकर घर चली जाती···रजिया खुद किस क़दर खूबसूरत है···

चलते-चलते सुधीर का मन किया कि वहीं बैठ जाए। थोड़ा सुस्ता ले। पर चारों तरफ धूप ही धूप है। कहीं छाया नहीं है। इतनी दोपहर में भी किस क़दर भागदौड़ है—कार के पीछे ट्रक, साइकिल के पीछे स्कूटर, बस के पीछे सिर्फ उसकी छाया···इस क़द-बुत की औरत के पीछे भला कौन हो सकता है।···रजिया ? गई। कौन याद करे। हिन्दू धर्म की महानता यही है···यह आवागमन तो चलता ही रहता है, सब भगवान करता है···

सुधीर वाक़ई बैठ गया। मेन रोड़ की गहमागहमी से हटकर एक मोड़ पर पड़े एक पत्थर पर। मोड़ का ट्रैफिक कुछ और ही आनन्द देता है। हर वाहन हल्का-सा अपना रूप बदलता है, या शायद एक किनारे से देखने से एक बदलाव का भ्रम देता है, बदलते हुए हर चीज़ लड़खड़ाती है, गिरने-गिरने को होती है, मुड़ जाती है तो फिर संभलकर सुथरी चाल से चलने लगती है और आंखों से ओझल हो जाती है। कितने लोग सुधीर को देखते-देखते मुड़कर आंखों से ओझल हो गए। अन्दर-बाहर तो रोज ही होते हैं। हो रहे हैं। कौन जानता है इन जाते हुए वाहनों में कोई एक उसका घनिष्ट परिचित अपरिचित की धुंध में लिपटा चला जा रहा हो, और···अपरिचिय की धुंध···नहीं, ग़लत मुहावरा है···धुंध परिचय में होती है···अपरिचय तो साफ-सुथरा शून्य है···शून्य आकाश···परिचय ही कम्बख़्त आकाश में बहुत सारी चीजें उगा देता है···कहीं फूल, कहीं बादल, कहीं चांद और फिर धुंध के चक्रवात से चलने लगते हैं···परिचय व्यक्ति की त्रासदी है और···अपरिचय एक 'यूटोपिया'···

चलो, चलें,घर···

यूटोपिया से त्रासद-भूमि की ओर···

कर्मभूमि···युद्धस्थल···

सुधीर उठा और फिर चलने लगा···बहुत सारे लोग साथ-साथ, आगे-पीछे···कोई ऐसा आदमी हो सकता है जिसका कहीं कोई परिचित न हो···हो क्यों नहीं सकता···कालोनी में रहने वाली पगली का कौन परिचित है। आनन्द अगर इसी तरह व्यवहार करता रहा तो कुछ ही दिनों में कौन उसका परिचित रहेगा···वह लेखिका जो सबके लिए महफ़िल की शोभा है, क्या वास्तव में उन सबकी परिचित है···और वह खुद···कौन है उसका परिचित ?···या किसके लिए, वह परिचित है···ये क्षणिक परिचय अपरिचय की कितनी गहरी नींव खोद जाते हैं···पर

क्षण-निरपेक्ष परिचय-स्थापित करने में···आदमी जीने का लोभी हो जाता है···और मौत तक पहुंचने की गति तेज़ हो जाती है···

कर तो रहा है आजकल वह इसका अनुभव···

चाहता तो है प्रतिमा से ऐसा ही परिचय बनाना···

पर···पर रुके वक्त में कोई किसी की तरफ कैसे बढ़ सकता है···नहीं, वक्त के रुकने का अहसास तुम्हारी अपनी दृष्टि की धुंध है। ध्यान से देखोगे तो दीखेगा कि वक्त अपनी सहज गति से चल रहा है···पर धुधं में खड़े आदमी से हाथ मिलाने से सब कतराते हैं···दृष्टि-भ्रम दूर करो, कहीं ऐसा न हो कोई तुम्हारे बराबर से होकर गुजर जाये···अपरिचय की केंचुली अपने शरीर से उतारे और पीछे को उड़ा दे···उस केंचुली में लिपटकर जीना तुम्हारी जिन्दगी की शर्त बन जाए···और अपनी जड़ता का दोष उम्र-भर तुम निर्दोष वक्त पर चुआते रहो···तुम···

यह क्या हो रहा है···?

वक्त कट रहा है···!

हां, काफी कुछ कट रहा है···

अचानक सुधीर को ध्यान आया, वह आनन्द के घर के सामने से निकल रहा है···

देख ही लें, है क्या···

सुखद आश्चर्य से खुले पड़े कमरे में से झांककर सुधीर ने देखा कि आनन्द अपनी चारपाई पर सपाट खुली आंखों लेटा है···

सुधीर कमरे में घुस गया···

"आनन्द···" उसने डरते डरते पुकारा।

आनन्द समाधि में था। आवाज ने कांच तोड़ दिया। आनन्द ने करवट ली। लेटे ही लेटे सुधीर की तरफ देखा। धीरे से कहा, "तुम ?"

"हां। पहचान लिया तुमने ? क्या है, कुछ तबीयत खराब है ?"

"आओ, बैठो। कुर्सी घसीट लो···या यहीं आ जाओ चारपाई पर, मेरे पास···तुम तो मेरे दोस्त हो नां···"

सुधीर लगभग भागकर आनन्द की चारपाई पर लेटे आनन्द से सटकर बैठ गया···

"क्या है, तुम्हारी तबीयत ठीक नहीं है ?"

"अच्छा हुआ तुम आ गए। इस समय तो चाहता था कोई भी आ जाए।"

कैसे बोल रहा है यह आनन्द ?···सुधीर की आंखों में आंसू छलके पड़ रहे हैं···

कई मिनट दोनों चुप रहे···

आखिर आनन्द की आवाज़ सुनाई दी, ऐसे जैसे कुएं से आती आवाज हो···

"मुझे बोलने देना सुधीर। बहुत दिनों से मैं बोला नहीं हूं। अच्छा हुआ तुम आए हो। कोई और आता तो शायद···सुधीर, मैं जरा जल्दी में हूं, आवाज़ टूट भी जाए तो भी बात समझ लेना···तुम मेरे दोस्त हो ना, कोई ऐसी हरकत न करना, जैसी दोस्त नहीं करता···कितने ताज्जुब की बात है, तुम आए हो···किवाड़ खुले हों तो कोई भी आ सकता था, पर कोई भी क्यों आएगा···आएगा दोस्त···दोस्त को दोस्त की जरूरत होती है···ढूंढ़ते-ढूंढ़ते, तुम आए और अब मेरी बात सुन रहे हो···कोई क्यों सुनेगा मेरी बात···पर, तुम दोस्त हो···दोस्त···

"तो सुधीर मेरे दोस्त···मैं जा रहा हूं···डरो नहीं भाग मत जाना···मैंने कुछ नहीं खाया···मैं जा रहा हूं, मानी, इस शहर से···तुम्हें याद है कि एक दिन मैंने कहा था कि इस शहर से मुझे मौहब्बत है, यह शहर मैं एक ही दिन छोड़ूंगा···कमरे की सपाट दीवारों और खाली अलमारियां देख रहे हो, सब किताबें और जो आज तक लिखा था, रद्दीवाले को बेच दिया···तभी तो शहर छोड़ रहा हूं···तुम आंखें फाड़-फाड़ कर मेरी तरफ क्या देख रहे हो···मैं आनन्द हूं···तुम्हारा दोस्त···"

सुधीर के मुँह से धीरे से निकला, "आनन्द, चुप रहो।"

"तो मैं कह रहा था, सुधीर, कि मैं जा रहा हूं···तुम्हें मालूम है आदमी को सबसे ज़्यादा तक़लीफ कब होती है; जब कोई दीखे, आँखें उसे पहचानें और वह पहचानने से इनकार कर दे। देखने वाला चिर कर रह जाता है। मैं जा रहा हूं क्योंकि रोज़-रोज़ चिरने की मेरी सामर्थ्य अब खत्म हो चुकी है···सुनो, मेरा एक काम करोगे ?"

"हां, बोलो।"

"मुझे अकेला छोड़ दो।"

सुधीर सुन्न रह गया।

आनन्द कई पल मृत दृष्टि से सुधीर को देखता रहा, फिर बहुत थके स्वर में बोला, "दोस्त नहीं हो ?"

"हूं।"

"तो जाओ।"

"बताओगे नहीं आनन्द, आखिर हुआ क्या ?"

"नहीं, थक गया हूं, बहुत···बता नहीं सकूंगा···पर यह समझ लो, नहीं, यों समझ लो कि···नहीं, तुम जाओ···बस, जाओ···"

"आनन्द, तुम कभी मुझसे···" कहते-कहते सुधीर का गला रुंध गया।

आनन्द एकदम चुप रहा। उसकी आंखें तक मृत-चुप थीं।

सुधीर ने हिम्मत करके फिर कहा, "किसने तुम्हें इस किनारे···"

"तुमने ?" नेपथ्य से आनन्द ने कहा।

"मैंने ?"

"हां, तुमने···और तुम जाओ सुधीर, मेरा दम घुट रहा है।"

"पर···?"

"तुम नहीं समझोगे, बताऊंगा तो भी नहीं। तुम जाओ।"

"तुम्हें ऐसी हालत में छोड़कर···"

"जाओ।" कहकर आनन्द ने दीवार की तरफ करवट ले ली और फिर सुधीर के बार-बार पुकारने पर भी उसने उसकी तरफ मुँह नहीं किया। सुधीर धीरे-धीरे खिसककर बाहर जाने लगा तो उसे महसूस हुआ कि आनन्द ने करवट लेकर फिर खुद को सपाट कर लिया है।

बाहर सड़क पर आकर सुधीर को लगा वह चकराकर गिर पड़ेगा। आनन्द कहता है—मैंने उसकी यह हालत की है। मैंने तो उससे प्रेम करने के सिवाय कुछ नहीं किया। रजिया कहा करती थी—तुम्हारा यह इतना प्यार हर वक्त गले पर छुरी की तरह घिसता रहता है। रमा कहती

है—कुछ भी हो, कुछ है जो मुझे तुममे बांधे है। इस दमघोंटू वातावरण के बावजूद न कभी भागने को मन किया न मरने को···और उसने क्या कहा होगा, मानी जिसे मैंने—वह भी मुझे पहचानता तो था···हां, पहचानता था···पहचानता न होता तो मरते वक्त चीखता ज़रूर··· पहचान ने उसके होठों पर आई चीख होंठों पर ही जड़ कर दी···चीख जड़ होती है तो अन्दर का सब सीसे की तरह पिघलकर···

सुधीर को लगा अब और वह सोच नहीं पाएगा···किसी ने अचानक स्विच ऑफ कर दिया है···पर···

यह प्रतिभा अंधेरे में बैठी क्या कर रही है···एकदम सादी धोती में···सद्यःस्नाता-सी··· चेहरा कैसा धवल-पुष्प-सा खिला है···यह क्यों हर समय मुझ शापग्रस्त की जिजीविषा की तरह···

शापग्रस्त की जिजीविषा···अच्छा नाम है, प्रतिभा का···कहूंगा कि अपना एक बड़ा सा फोटो दो···उसके नीचे किसी से लिखवाऊंगा, किसी आर्टिस्ट से—शापग्रस्त की जिजीविषा··· 'अच्छा नाम है···बहुत अच्छा···सम्बोधन नहीं बनता, नहीं तो उसे इसी नाम से···

इस इतने गहरे मूर्त्त अंधेरे में—उंगली पकड़ लो प्रतिभा—इतनी अमूर्त्त मत रहो···

मुझसे साहस की आशा मत करना···सब चुकाकर तुम्हारे पास आया हूं···

14

घर में घुसते ही सबसे छोटे लड़के संदीप ने सूचना दी, "पापा, आज पगली को लोगों ने खूब मारा।"

"मारा ?"

"हां पापा, बहुत मारा, कई जगह उसके खून निकल आया। उसके सब कपड़े फाड़ दिए। एकदम नंगा कर दिया।"

"कौन थे ?"

"पता नहीं।"

"कालोनी के नहीं थे ?"

"नहीं।"

"यहां के लोगों ने छुड़ाया नहीं ?"

"सब खड़े हँसते रहे। किसी ने नहीं छुड़ाया।"

"तूने क्यों नहीं छुड़ाया ?"

संदीप चुप रहा। पापा की तरफ देखता रहा।

सुधीर बैठ गया तो रमा आकर गिलास पानी दे गई। पांच मिनट सुधीर चुपचाप बैठा रहा। रमा चाय ले आई। कुछ देर चुपचाप खड़ी सुधीर का चेहरा देखती रही। चेहरा शायद रोज से अधिक रुग्ण था। वह जानती थी, ऐसे में बोलना भी खतरनाक होता है और न बोलना भी। इस संदीप के बच्चे ने यह अखबार पढ़कर सुना दिया। वह भी जानती है कि इस तरह की ख़बरें सुधीर को बहुत बौखला देती हैं। बाहर निकला तो ज़रूर किसी से झगड़कर लौटेगा।

सोचते-सोचते अचानक उसे मुक़दमे की तारीख़ का ध्यान आ गया। एकदम पूछ बैठी, "कल के लिए पैसों का इन्तज़ाम हो गया ?"

"नहीं।"

"तो कैसे होगा ?"

"हो जाएगा। यह पगली का क्या हुआ ?"

"मुझे क्या मालूम।"

सुधीर चुप रहा। फिर पास खड़े संदीप से बोला, "संदीप, जा, एक धोती अम्मा से ले ले और पगली को दे आ।"

रमा भड़क उठी, बोली, "दो हैं मेरे पास कुल और एक मैं दे दूं पगली को।"

"अच्छी लगेगी वह कालोनी के दरवाज़े पर नंगी बैठी हुई।"

"तो मैं क्या करूं ? मैं ही रहती हूं इस कालोनी में। नौ सौ क्वार्टर हैं। और शायद ही कोई औरत हो जिसके पास सिर्फ दो धोतिएं हों।"

"औरों से क्या मतलब है ?"

"तुम्हें औरों से क्या है ? पगली पर तुम्हें बहुत रहम आ रहा है, मुझ पर तो कभी नहीं आया।"

"रमा, मैं बहुत थका हूं। तुम्हें भेजनी हो तो भेज दो, नहीं तो…"

"नहीं तो…"

सुधीर ने त्रस्त दृष्टि से रमा की तरफ देखा, फिर बोला, "नहीं तो एक कप चाय और बना दो।"

रमा हँस दी। बोली, "कपड़े बदल लो।"

"पहले चाय…"

"कल पैसों का क्या होगा ?"

"पहले चाय…"

रमा चली गई। इस बार दो कप चाय बनाकर लाई एक अपने लिए। कुर्सी घसीटकर पास बैठ गई। धीरे से बोली, "सुनो, एक बात बताओगे ?"

"हूं।"

"तुम लोग, ये किस्से कहानियां क्यों लिखते हो ?"

इतनी मानसिक ऊहापोह में भी सुधीर को हँसी आ गई। बोला, "आज यह क्या हुआ ?"

"नहीं, ऐसे ही पूछ रही हूं।"

"जी करता है, इसलिए लिखते हैं।"

"क्यों जी करता है ? सबका क्यों नहीं करता ?"

सुधीर को शब्द ढूंढ़े नहीं मिले। जितने सरल तरीके से रमा पूछ रही थी, जवाब न देना भी सम्भव नहीं था। पर ऐसे प्रश्नों के सरल जवाब नहीं होते। इसलिए वह बहुत देर बैठा सोचता रहा। फिर बोला, "रमा, मुझे औरों की तो मालूम नहीं, अपनी जानता हूं। मैं जो कह नहीं सकता वही लिखता हूं। आदमी जो कहता है वह पूरा सच नहीं होता क्योंकि कहने में वह आधे डर को जीतता है, आधे यानी छोटे डर। पर बड़े, यानी मूलभूत डरों को वह लिखने की प्रक्रिया में ही जीत पाता है और डर जीतना मानसिक स्वतन्त्रता की उपलब्धि है, बस यही…

रमा ने टोक दिया, "यानी वह अन्दर-बाहर के डरों से सीधे मुक़ाबला न करके, घुमा-फिराकर उनसे लड़ने का ढोंग करता है।"

"वह कैसे ?"

"देखो, मैं कह रही हूं कि डर सामने खड़ा हो तो उसकी तफ मुँह करके उससे लड़ना चाहिए। यह नहीं कि उसकी तरफ पीठ करके के बैठ जाओ और दूसरी दिशा में कुछ शब्द उछालकर समझो कि डर को जीत लिया। तुम लोग यही तो करते हो। डर से लड़ने की जगह उस पर कहानी लिखते हो। डर तुम पर वार न कर सके और जनता तुम्हें वीर कहकर पुकारे। क्यों, यही है न तुम्हारी चालाकी।" रमा के चेहरे पर कहते-कहते एक शरारत उझक आई थी।

पर सुधीर बात में मज़ा ले रहा था। उसके अन्दर की तन्द्रा टूट रही थी। उसने रमा को उकसाते हुए कहा, "मिसाल देकर समझाओ।"

रमा हँस दी, बोली, "लो, मिसाल दिये देती हूं। इसमें क्या है। एक क्या हजार मिसाल दे सकती हूं। यह पड़ोस में जो भटनागरनी रहती है, मालूम है ?"

"हां।"

"तुम्हें मालूम है, जिस कारखाने में वह काम करती है वहां से उसे कितने पैसे मिलते हैं ?"

"शायद सौ रुपये महीना।"

"नहीं, सत्तर रुपये महीना। उम्र तो उसकी कम है पर सिर के आधे बाल सफेद हो गये हैं, नहीं तो शायद सौ रुपये भी मिल जाते। तुम्हें मालूम है, क़ानूनन यह जुर्म है। पर होता है। जुर्म के खिलाफ लड़ो नहीं तो वह जुर्म नहीं होता। भटनागरनी लड़ी थी…तुम होते तो उस पर एक कहानी लिखते…बस यही भेद है, आदमी में और एक लेखक में। आदमी लड़ता है, लेखक बैठा लिखता है…"

सुधीर ने समझाने के स्वर में कहा, "रमा, लडने से पहले एक वातावरण तैयार करना होता, एक सेना…"

रमा बहुत बेताब थी। उसने फिर बात काट दी। बोली, "वह सब क्या तुम्हारी इन कहानियों से होगा। सात जनम नहीं कब्भी नहीं। करके देख लो।"

"तो कैसे होगा ?"

"मैं क्या जानूं। पर ऐसे नहीं होगा। यह सब निरर्थक…"

दोनों ने देखा, संज्ञा कमरे में घुसी है। कन्धे पर लटका बैग एक कोने में मेज़ पर पटका है और गुसलखाने की तरफ बढ़ गई है।

"लो, आ गई तुम्हारी लाड़ली। अब इसके सामने बात मत बढ़ाना, नहीं तो पूरा भाषण सुनना पड़ेगा।…और धोती मैंने तुम्हारी पगली को भिजवा दी थी, कभी इसी कारण बेचैन रहो।"

सुधीर ने कहा, "रमा, जरा समीर को भेजकर दिखवाना नन्नूसिंह है या नहीं।"

"नन्नूसिंह ?"

"हां।"

"ब्याज पर लोगे रुपया ?"

"हां, कहीं से हुआ जो नहीं।"

"क्यों, प्रतिभा जी दूसरे ही झटके में टूट गईं ?"

सुधीर चुप रहा। एकदम सुन्न। उसे रमा से शायद इस तरह के वाक्य की आशा नहीं थी। वह चुप ही रहता पर संज्ञा के लौटने की आवाज़ ने उसे जगा दिया। बड़बड़ाहट के स्वर में उसने कहा, "रमा, आइन्दा कभी प्रतिभा पर व्यंग्य न करना। मैंने आज उससे कुछ नहीं कहा। पर यदि कहूं और वह मना कर दे तो उसका क़द ज़रा ऊंचा ही होगा। मैं जानता हूं किसी एक का भिखारीपन सबको छोटा करता है। पर मेरे कारण अगर वह छोटी होती है, तो कम से कम तुम—"

रमा ने बात समझी। महसूस किया। धीरे से कहा, "मैंने सिर्फ मज़ाक किया था।"

सुधीर ने कहा, "अच्छा मज़ाक किया करो। आदमी का मज़ाक उसकी सोच का आईना होता है। मैं नहीं चाहता कि जो तुम साफ न कह सको, मज़ाक में कहो।···तुम तो खुद इसके खिलाफ़ हो।"

"अच्छा बाबा, माफ़ करो।"

"छोड़ो। समीर को भेज दो।"

"हां।"

"और सुनो रमा। तुम्हें आनन्द की याद है ?"

"अरे, उन्हें कोई भूल सकता है।"

"पागल हो गया।"

रमा ने घूरकर सुधीर की तरफ देखा।

"वह भी, तुम्हें याद है, बहुत मज़ाक करता था।"

संज्ञा ने रसोई में खड़े होकर कपड़े बदले। बाहर के कमरे में आई। पापा-ममी को गम्भीर बैठे देखा तो बोली, "क्या हुआ ?"

दोनों ने एक स्वर में कहा, "कुछ नहीं।"

"आज 'चूहा दौड़ बिल्ली आई' नहीं हो रहा ?"

दोनों हँस पड़े। सुधीर ने कहा, "अरे हम क्या हर समय लड़ते रहते हैं।"

"यही तो। लड़ते कभी नहीं। लड़ लो तो ठीक हो जाए। हर समय एक-दूसरे से खेलते रहते हो। खैर, लम्बा अभ्यास है, अब छूटेगा थोड़े ही। मुझे उस समय से क्या लेना-देना।···पापा, एक बात बताओ।"

दोनों मुग्ध होकर संज्ञा को देख रहे थे। दोनों के मन में एक ही भाव था—कल तक जरा-सी थी। कैसी बड़ी हो गई है। अक़्लमंदी की बातें करने लगी है। अब हमें अक्ल दिया करेगी। चलो, सुख की बात है।

सुधीर ने कहा, "क्या बात ?"

"पापा, हम कुछ दोस्तों ने मिलकर तय किया है कि एक छोटा-सा ग्रुप बनायें, उसकी आए हफ़्ते मीटिंग करें, अलग-अलग सामाजिक-राजनीतिक मसलों पर बहस करें और इस शहर की गरीब-बस्तियों में कुछ काम करें। कैसा रहेगा ?"

सुधीर उत्साह से भर उठा, बोला, "बहुत अच्छा बहुत बढ़िया, पर तुम लोग यह सब कर सकोगे ?"

संज्ञा एकदम तिनक उठी, बोली, "देखो पापा, यह भाषा हमसे मत बोला करो। हम लोग

जो सोचते हैं, करने की इच्छा रखते हैं, दृढ़ता के साथ। हम असफल होने से कभी नहीं डरेंगे पर अपनी इच्छा-शक्ति पर फफूंद कभी नहीं जमने देंगे। तुम उत्साहित न कर सको तो कोई शिकायत नहीं होगी पर तुम्हारे शब्द यदि हमारे मन में दुविधा की स्थिति पैदा करेंगे तो हम—"

"हां, क्या— ?" मंत्रमुग्ध सुधीर ने पूछा।

"हम तुमसे अपने कार्यक्रमों के बारे में बात करना छोड़ देंगे। फिर हमारा-तुम्हारा रिश्ता—पापा पैसे लाओ—तक सीमित हो जाएगा। हम से 'डायलॉग' बनाये रखना है, तो तुम्हें हमारे साथ चलना होगा। न आगे-आगे, न पीछे-पीछे।"

सुधीर ने हँसकर कहा, "चलेंगे।" फिर एक पल सोचकर बोला, "और हमारा तुम्हारा विरोध हुआ तो ?

निर्द्वन्द्व संज्ञा ने कहा, "हम और तुम आमने-सामने होंगे या अपनी-अपनी पगडंडी पर···चलो ममी, खाना दो।"

खाना परसते-परसते रमा ने संज्ञा से कहा, "संज्ञा, वह जो आनन्द थे ना, तेरे पापा के दोस्त, पागल हो गये।"

संज्ञा ने सुना कुछ देर सोचती रही। गहरे में फिर बहुत धीरे से बोली, "तुम्हें मालूम है ममी, आदमी पागल क्यों होता है ?"

रमा चुप रही।

"जो लोग सोचते हैं, करते नहीं, पागल हो जाते हैं। ये लेखक इसी क़िस्म के लोग होते हैं। इनकी खोखली मानव सहानुभूति इन्हें ले डूबती है। जिससे सहानुभूति है उसके लिए लड़ क्यों नहीं मरते। ऊंची आवाज़ और संकोच, जड़ -चेतना इनके मनोविकार का मूल कारण है···राजनीतिज्ञ कभी पागल नहीं होते···पापा को ही लो—"

रमा ने बात काट दी। स्नेह से संज्ञा की तरफ देखती हुई बोली, "तू तो एकदम बहुत होशियार हो गई संज्ञा। मुझे पता ही नहीं चला।"

संज्ञा ने कहा, "यह तुम दोनों के चल रहे खेल की कृपा है।"

"संज्ञा, मैं तेरे साथ हूं···बोल, रखेगी मुझे अपने साथ ?"

संज्ञा चुप रही। उसने कोई जवाब नहीं दिया। उसे मालूम था कि इस समय का कोई भी जवाब कल को झूठ साबित हो सकता है। मां से वह झूठ नहीं बोल सकती। फिर अभी तो उसी को मालूम नहीं है कि वे लोग क्या करने जा रहे हैं।

रात को रमा ने पति से धीरे से कहा, "संज्ञा बड़ी हो गई है।"

"हां, हम लोगों से बड़ी।"

नन्नूसिंह से प्रबन्ध हो गया था, इसलिए सुधीर का मन निरुद्वेग था।

15

कचहरी की विशाल पांच-मंजिली बिल्डिंग अपने व्यक्तित्व से ही एक भय पैदा करती है। कचहरी की बिल्डिंग बड़ी ना भी हो डर उसने पैदा होता ही है। एक अपराध-जन्य उदासी हवा में घुली होती है। हर चेहरे पर लिखा होता है—मुझसे धीरे बोलो, मैं सोच रहा हूं—पर

हर आदमी बहुत तेज़ बोलता है। चाहे वह वकील हो या ग्राहक, मुंशी हो या पेशकार। कारिडोर में से गुजरते हुए शेयर मार्किट की गन्ध आती है और कोर्ट-रूम में बैंच पर बैठा आदमी टक लगाकर नाटक-सा देखता रहता है। मुक़दमा चाहे किसी भी चीज़ का हो—फौजदारी हो या दीवानी—आवाज लगते ही दिल ज़रूर धड़कता है। न्याय और भय अपने देश में पर्यायवाची हैं। अपराध करके एक क्षणिक मानसिक स्वतन्त्रता जो व्यक्ति को प्राप्त होती है, कचहरी में घुसते ही वह एक ऐसी त्रासद उम्र-क़ैद का रस देती है कि लगता है इससे छुटकारा कभी हो ही नहीं सकता। सुधीर ने कई बार सोचा, 'फांसी की सज़ा सुनकर क़ैदी को पता नहीं कैसा लगता होगा।' पर साथ ही उसके दिमाग़ में हर बार यही आया, एक छुटकारे की सांस लेता होगा वह। कहता होगा, 'कचहरी से छुटकारा दिला दो, कहीं भेज दो।' उसे याद है, उसने एक दिन सोचा था—उस पर अगर हत्या के अपराध में मुक़दमा चलता तो वह यही कहता जज से भी और पुलिस से भी, मैंने मारा, 'मुझे फांसी दो, मुक़दमा न चलाओ। कचहरी न ले चलो।' एक बार बहुत पहले रजिया के मामले में वह कचहरी में फंसा था, और उसे याद है उसने···हां, मुक़दमा नहीं चला था···पर इसी बिल्डिंग में एक सी० आई० डी० इन्सपेक्टर के यहां रोज उसे पेश होना पड़ता था···सुबह पौने दस वह आता और शाम पौने छः जाता···उस इन्सपेक्टर ने उसे बचा लिया था—सिर्फ दो सौ रुपये लिए थे—पर दस-बारह दिनों की उस बैंच की बैठक ने उसकी सारी मानसिकता बदल दी थी। रजिया उसके हाथ से निकल गई थी···और वह अपने हाथ से निकल गया था···उसके बाद कभी वह पहले वाला सुधीर नहीं दीखा···और···

उंह ! क्या याद आ गया। कल सारे दिन का हैंगओवर ही बाकी है, यह आज फिर भूत पीछे लगने लगा था···अच्छा हुआ समय पर चेत गया···तारीख है, चलो, मुंशीजी को ढूंढो···आज किसी तरह तारीख मिल जाए तो बढ़िया···पांच सात रुपये देकर···देखो पटाते हैं, मुंशीजी को···मुंशीजी साले अपना टैक्स मांगेंगे···

देखते हैं···मांगेगा तो है ही···चलते हैं, बस्ते पर···वकील तो आया नहीं होगा अभी···साढ़े नौ बजे हैं···पौने दस से पहले कभी नहीं आता···आ गया होगा तो पचास रुपये दे देंगे···कह देंगे, और अगली तारीख पर देंगे···तारीख ले रहे हैं तो खुश होगा···पिंजरे का तोता पिंजरे में··· फ़िक्र काहे की···पच्चानवें हैं जेब में, रात सौ लिए थे ना नन्नूसिंह से···अच्छा आदमी है, नन्नूसिंह···बड़ा लिहाज़ करता है···सबसे पांच रुपये सैकड़ा लेता है, उससे तीन रुपया···कभी मना नहीं करता···

तारीख मिल जाए तो मज़ा आ जाए···

मज़ा क्या आ जाएगा ? दस-बीस रुपये फ़ालतू के जाएंगे···

चाहे जेब के सारे ही चले जाएं···तारीख मिल जाए···जल्दी से जल्दी यहां से ···हां ! उससे मिलेगा क्या···

बिल्ली के दीखते ही कबूतर को आंख मूंदने पर क्या मिलता है, तुम्हें क्या मालूम···

मूर्ख का खिताब !

···यह तो तुम देते हो, पर उसे भीतर ही भीतर क्या मिलता है, तुम्हें क्या मालूम···और मालूम··· हो भी कैसे सकता है···

मालूम है···मौत···

वह भी तुम्हीं देते हो पर···

अच्छा छोड़ो, चलो मुंशीजी को ढूंढ़ते हैं···

सुधीर खिसकता-खिसकता बस्ते पर पहुंच गया। बस्ता, यानी वकील साहब की दुकान।

एक मैली-कुचैली कुर्सी, खुले में। कुर्सी के दोनों तरफ, दो लम्बी बांहों की तरह फैली दो बैंचें। बांहें न हों तो आदमी छिटक जाए। इन बांहों की गिरफ़्त में आकर···एक बैंच की जड़ में चिपकी एक मेज़ पर सजा टाइपराइटर···जाहिर है, टाइपराइटर के पीछे बैठा टाइपिस्ट, एक और कुर्सी पर···

दूसरी बैंच के एक कोने पर सजे मुंशीजी···बराबर में रखा फाइलों का ढेर···हाथ में एक पैड···पैड के क्लिप में अटके कुछ कागज़···सबसे ऊपर के कागज़ पर आज के मुक़दमों का चिट्ठा···

मुंशीजी यानी छोटे-से कद के बूढ़े से सरदार जी···

सुधीर ने उन्हें सुदामा-भाव से देखा। भागकर उनके पास पहुंचा। चरण छूने को मन तो किया पर उनकी टांगों पर चिपके पायजामे से छुटे पैर बहुत ही मैले थे। पायजामे में घुटनों की जगह उभरे गूमड़ भी तीखी घिन पैदा कर रहे थे। मुंशीजी के गालों की खाल, आंखों के ऊपर चिपकी भंवें और नाक की नोक हर समय हिलती रहती है। लगता है जैसे किसी बटुए में चाबी भरकर···

सुधीर ने कंठ तर किया और पुकारा, "मुंशीजी।"

मुंशीजी ने ऊपर देखा, पहचाना और रूखे पर ऊंचे स्वर में कहा, "आ भाई सुधीर, आज तो तेरी तारीख है। चल फिर पहुंच जा इकसठ नम्बर में···"

सुधीर ने कहा, "वकील साहब तो आए नहीं, अभी।"

"आते ही होंगे।"

सुधीर एक मिनट चुप रहा, फिर बोला, "मुंशीजी, आज तो कुछ तारीख लेने का चक्कर चलाओ।"

"क्यों ?"

"मुझे कहीं जाना है।"

"देख भाई सुधीर, यह आई दफा का चक्कर ग़लत है। तू कहीं मुकदमा खराब न कर दे, मुझे डर है।"

"आज तो कराओ ही मुंशीजी।"

"अच्छा, तो आने दे वकील साहब को।"

"तुम भी मुंशीजी, समझते नहीं हो। इस वक्त तो पेशकार फुरसत में होगा। जज के आने पर···

"तो वकील साहब से नहीं मिलोगे ?"

"लौटकर मिल लेंगे।"

"अरे सुधीर बाबू, तारीख मिलने के बाद कौन वकील से मिलता है। वकील और वेश्या, इनकी अदायगी बात में नहीं होती। पैसों का इन्तज़ाम आज भी नहीं हुआ शायद ?"

"नहीं।"

"तो तारीख कैसे लोगे ?"

"उतने तो है।"

कितने हैं ?"

"पन्द्रह रुपये।"

"पन्द्रह में क्या काम चलेगा। लम्बी तारीख लेनी पड़ेगी, मैं जानता हूं। गरीब आदमी हो। पैसे का इन्तज़ाम होते-होते ही होगा। वह अग्रवाल साला बहुत ही कमीना आदमी है। दस से कम में नहीं मानता। क्या ज़माना आ गया है, पहले एक रुपये में तारीख मिलती थी। मैंने अपने हाथ से हजारों...अच्छा चल, निकाल, पन्द्रह ही निकाल। कराते हैं तेरा काम...गरीब आदमी है..."

सुधीर ने मज़ा लेने को दस रुपये का नोट निकालकर मुंशीजी की तरफ बढ़ा दिया।

मुंशीजी फुदककर खड़े हो गए। बोले, "और दे पांच!"

"तुम तो कह रहे थे कि अग्रवाल दस में मान जाएगा।"

"और उसका स्टेनो, और वह साला हनीफ, दोनों साले मुँह बाए देखते रहते हैं।"

"पर मेरे पास कुछ नहीं बचेगा।"

"देख लो भाई, पन्द्रह से कम में तो नहीं होगा। और जो कहना हो जल्दी कर। वकील साहब आने वाले हैं। मैं अपने काम में लगूंगा।"

सुधीर जानता था अग्रवाल को मुंशीजी पांच से ज्यादा नहीं देंगे। बाकी दस अपनी जेब में रखेंगे। पांच रुपये देकर वह खुद भी तारीख ले सकता है, पर उसे तारीख देने में अग्रवाल ग्यारह बजा देगा। कहेगा—"बैठो बैंच पर, अभी करता हूं तुम्हारा..."सुधीर का मन आज बिलकुल नहीं है यहां ठहरने का। उसने मुंशीजी के और ज़रा-सा नजदीक खिसककर कहा, "देता हूं पांच पर एक शर्त पर।"

"क्या ?"

"मैं देकर चला जाऊंगा। तुम डलवा लेना तारीख।"

"दो।"

"मामला खराब मत कर देना।"

"ऐसी बात आइन्दा मत कहना। बाल सफेद हो गए इसी काम में, कभी किसी का काम..."

सुधीर ने जेब से निकालकर पांच रुपये और दिए, फिर पूछा, "जाऊं ?"

"जाओ, पर अगली दफा मुझे मत फंसाना इस दलदल में। यह हर दफा का खेल नहीं है।"

सुधीर हँस पड़ा, बोला, "अच्छा, तारीख का कार्ड डाल दोगे ?"

"डाल दूंगा। और वकील साहब को क्या कहूं ?"

"कहना, घर आऊंगा एक दो दिन में।"

"तो तभी पूछ लेना तारीख भी।" कहकर मुंशी जी ने सुधीर की तरफ से मुँह फेर लिया। सुधीर भी विरक्त हो चुका था। मुड़ा और कचहरी के विषैले वातावरण से बाहर निकलने के लिए कदम बढ़ा दिए। वह मन ही मन खुश था कि बहुत जल्दी पिण्ड छूट गया और इसलिए भी कि वह मुंशी जी को उदास छोड़े जा रहा है। मुंशी जी वाकई उदास थे। उनका ख़याल था कि सुधीर से और पैसा खींचा जा सकता था, उन्होंने उसे सस्ता बख़्श दिया है, पर जो भी होना नियत था, हो चुका था...

सुधीर कचहरी की सीमा से बाहर खिंचा आ रहा था...

वह चाहता था आज प्रतिमा से मिले···थोड़ा सुकून···

प्रतिमा···परती मा···तीमा···नही, रतिमा···

सुधीर को अपने इस मानसिक खेल पर हँसी आने को हुई। वह मेन गेट से बाहर निकल रहा था···कैसी मनोहारी निष्कृति···कैसी ठंडक···

पर तभी किसी ने उसे पुकारा, "कौन ? सुधीर ?"

सुधीर ने उधर देखा। ये ? अरे, कौल साहब ?

कौल साहब पास आए। सी० आई० डी० इन्स्पेक्टर कौल। वही रोबदार चेहरा।···पन्द्रह साल बाद भी कोई कैसे अपने-आप को ज्यों का त्यों रख सकता है। सुधीर ने उत्साह से एक क़दम आगे बढ़ाकर कहा, "कौल साहब, आप ?"

"और तुम यहां कैसे ? फिर कुछ इश्क-विश्क मार दिया क्या ?"

"और कौल साहब, क्यूं मज़ाक···"

"बहुत दुबले हो गए हो। तुम्हारी सेहत तो··· "

"मैंने आपको बाद में बहुत खोजा।"

"क्यों !"

"आपके साथ एक कप चाय पीने की इच्छा थी।"

"हम पिलाएंगे।"

"यह तो बात गलत होगी।"

"नहीं, गलत नहीं होगी। तुम्हारे दो सौ रुपये मेरे पास जमा है।"

"आपको सब-कुछ याद है ?"

"हां, वह केस ही ऐसा था। अच्छा चलो, चाय पीते हैं।"

सुधीर मन्त्रमुग्ध-सा इन्स्पेक्टर के पीछे हो लिया।

रैस्ट्रां में सुधीर कौल साहब के ठीक सामने बैठा। कुछ देर दोनों चुपचाप बैठे रहे। सोचते से। शायद एक ही घटना के बारे में अलग-अलग कोण से। सुधीर को याद था—यदि यह इंस्पेक्टर उसे न बचाता तो उसके पाँच-सात-दस साल आराम से जेल में बीतते। अचानक सुधीर जरा-सा आगे झुका और गहरी दृष्टि से कौल की तरफ देखकर बोला, "एक बात बताइए इंस्पेक्टर साहब!"

"हूं।"

"आपने मुझे क्यों बचाया था ?"

कौल साहब हल्का-सा मुस्करा दिए, "तुमने दो सौ रुपये दिए थे।"

"मज़ाक नहीं, सच बताइए।"

कौल चुप हो गए। एक मिनट चुप रहे, फिर बोले, "तो सच यह है कि तुमने अपराध नहीं किया था।"

"पर—"

"छोड़ो, बहस से कुछ साबित नहीं होगा। पर इतना समझ लो कि हम रात दिन यही काम करते हैं। कौन अपराध कर सकता है, कौन नहीं, पहली नजर में जान लेते हैं। मैंने तुम्हें देखते ही—"

"मैं अपराध नहीं कर सकता ?"

"ना, कभी नहीं। मैं देख रहा हूं, तुम बदले नहीं हो।"

सुधीर को वाक्य बहुत गहरे में छू गया। इतने विश्वास से कभी किसी ने उसके बारे में ऐसा वाक्य नहीं कहा था। वह चुप बैठा इंस्पेक्टर का चाय पीना देखता रहा।

इंस्पेक्टर भी सोच रहा था। सोचते-सोचते प्याले को एक लम्बे घूंट में खत्म करके बोला, "मैं जरा जल्दी में हूं सुधीर, चाय पी लो। उठेंगे। मैंने भी तुम्हें बाद में बहुत खोजना चाहा। वक्त नहीं मिला, नहीं तो खोज लेता। तुम्हारी रक़म तुम्हें वापस करना चाहता रहा। मन पर उस रक़म का बोझ था। चलो, आज मिल गए हो, बोझ उतर जाएगा।···एक बात तुम्हें बताऊं। हम लोग 'सेन्टीमेंटल' नहीं होते। पर तुम पहले आदमी हो मेरे पूरे पुलिस के कैरियर में जिसने मुझे अन्दर से हिला दिया था। मेरे लिए वह एक नया अनुभव था। अच्छा लगता है सुधीर, यह देखकर, कि कोई किसी से इतनी शिद्दत से प्यार करे। खैर, चलें। उठो।"

कहकर कौल साहब ने जेब से एक भारी-सा बटुआ निकाला। दो नोट बहुत से नोटों में से खींचे और एक विजिटिंग कार्ड। पहले कार्ड दिया, "यह मेरे घर का पता। किसी दिन घर आना, जरूर। और यह तुम्हारी अमानत है। मना नहीं करोगे। भले आदमी हो, क्यों चाहोगे कि मेरे मन पर वज़न रहे। लो।···और चाय के पैसे तुम दे देना। मुझसे लेगा नहीं।"

और अपना 'मोनोलॉग' समाप्त करके कौल ने अपना भारी भरकम हाथ मिलाने के लिए बढ़ा दिया। मोह-मुग्ध सुधीर का हाथ ऐसे उठा जैसे मशीन का पुर्जा उठता है। इंस्पेक्टर ने पुर्जे को छुआ और सुधीर को उसी तरह सोचता छोड़ वह लम्बे संतुलित डग भरता हुआ रैस्ट्रां से बाहर हो गया।···सुधीर की आंखों से ओझल···

ओह ! यह कैसी घटना···सुधीर की सारी चेतना को झिंझोड़ती निकल गई···वह रैस्ट्रां में पड़ी मेज़ों की दो क़तारों के बीच खड़ा है। एक हाथ में दो नोट और विजिटिंग कार्ड है···सामने रैस्ट्रां का काउंटर है···

···कुछ ही मिनटों में उसकी आँखों के सामने चलचित्र की तरह उस घटना के सारे स्टिल घूम गए हैं···

16

रजिया···साधारण नयननक्श, पर बेहद आकर्षक···हर समय ललकती आंखें··· बिना गांठों की भरी-भरी देह···इकहरे धागे से बुनी हुई···कंधे पर हाथ रखो तो पैर के अंगूठे का नाखून कांप उठे···पलकों पर होंठ रखो तो पुतलियों से फूटते लावे की गर्मी महसूस हो···शरीर··· स्पर्श-सुख अनुपमेय···

उसने एक शाम कहा, "सुधीर, कब चलोगे ?"

"जब तुम कहो।"

"तो चलो, अभी चलते हैं, इसी वक्त !"

"होश में हो ?"

"हां, क्यों ?"

"अरे, कहीं ऐसे चला जाता है। कुछ सोचना पड़ेगा।"

"तो सोच लो, मैं आधे घंटे में तैयार होकर आती हूँ।"

कहकर वह उठकर चली गई थी और ठीक आधे घंटे में तैयार होकर आ गई थी।

दरअसल रजिया के अब्बा को पता चल गया था···गली में रहना दूभर हो गया था···रजिया बाप से यह न कह देती कि अगर उसने कुछ भी सुधीर से कहा तो वह ज़हर खा लेगी तो रजिया का बाप मिनट भर में सुधीर को उस गली से भगा देता···पर अब उसे और हथकंडे अपनाने पड़े···तंग होते सुधीर के कारण ही रजिया ने घर छोड़ने का फ़ैसला कर लिया था···

घर छोड़ दिया था···दूसरे शहर में चले आए थे···पर दूसरा शहर···बसाया था उसने उस शहर में घर···और खुद ही, नहीं, सब के साथ मिलकर उसे चूंट कर फेंक दिया था···तब से उसे घर शब्द से नफ़रत है···उसे लगने लगा था, घर का मतलब ही सुधीर और रजिया नहीं तो घर काहे का···जंगल के चारों तरफ दीवारें खींच देने से घर नहीं बनता···वह रजिया के होने का अहसास···

रजिया के अब्बा ने पुलिस में रजट दर्ज कर दी थी और इन्हीं कौल साहब ने···

ठहरो सुधीर···वह सब याद मत करो···माथे की नस फट जाएगी···दरवाज़े पर पड़ी दस्तक की खड़खडाहट से रजिया कैसे कांप कर रह गई थी···कुछ ही देर पहले तो कह रही थी यह, "सुधीर, बहुत डर लग रहा है···"

"किससे ?"

"यों ही।"

"मुझसे डर रही हो ? और तो यहां कोई है नही।"

रजिया चुप हो गई थी।

"तुम्हें पता है रजिया जब कोई लड़की किसी लडके से डरती है, तो समझो उसे···"

"क्या फिल्मी 'डायलॉग' बोल रहे हो। मुझे तुमसे कभी डर नहीं लगा। तुम्हारा मतलब है—"

और किबाड़ों को किसी ने जोर से भड़भडा दिया था···

उसके बाद···

"साहब खडे क्यो हैं ? बैठ जाइए ना ?"

रैस्ट्रां का मालिक काउंटर से उठकर सुधीर के पास आ गया है, और कह रहा है, "यह कमिश्नर साहब आप के दोस्त हैं ?"

सुधीर जागा है। अपनी स्थिति देखी है, फिर पूछा है, कौन कमिश्नर साहब ?"

"अरे यही, जो अभी आपसे हाथ मिलाकर गए है।"

"कौल साहब !"

"हां-आं, पुलिस कमिश्नर आर० एन० कौल। वही तो थे। आप के दोस्त हैं, शायद ?"

सुधीर समझा। धीरे से बोला, "मैं किसी पुलिस कमिश्नर कौल को नहीं जानता।"

कहकर सुधीर रैस्ट्रां से बाहर निकल आया है। सड़क पर। भीड़ में खाने के लिए। धूप में···

···वह घर की तरफ चल दिया है···

"'वह'''किस क़दर रोई थी रजिया जब'''छोड़ो'''क्या याद करना है'''

दीवारों से घिरे जंगल की तरफ भागो'''चारों तरफ का माहौल जल रहा हो तो जंगल बड़ी राहत देता है'''

घर में घुसते ही सुधीर ने सामने कुर्सी पर बैठी रमा से कहा, "पलंग ठीक कर दो, लेटूंगा।"

"क्या हुआ, मुक़दमा बिगड़ गया ?"

"नहीं, तारीख लग गई।"

"तो ?"

सुधीर झुंझला उठा, "जिरह ही करती रहोगी या'''"

रमा उठ गई। पलंग ठीक ही था पर सुधीर की यह आदत थी। लेटने से पहले चद्दर वगैरह झड़े नहीं तो उसे बहुत किचमिचा लगता था। रमा पलंग ठीक करती रही और सुधीर एक हाथ दीयार पर टिकाए खड़ा रहा। ठीक हो गया तो बिना कपड़े बदले वह पलंग पर ढेर हो गया। रमा पास खड़ी देखती रही। बोलने का साहस उसमें ऐसे समय में नहीं हुआ। वह जानती है, यह व्यक्ति बहुत से विस्फोटक तत्व सिर में छपाए घूमता है। जिस समय लावा उबल रहा हो उस समय किसी को भी आवाज़ बहुत घातक असर डालती है। पर अन्दर की उत्कण्ठा उसका दम घोंट रही थी। कहीं मुक़दमा तो नहीं बिगड़ गया ? पर इस समय कुछ भी पूछना—

"रेमा!"

रमा ज़रा-सा पास खिसक आई।

"एक कृपा करो। कुछ देर के लिए कमरा बाहर से बन्द कर दो और कहीं पड़ोस में बैठ आओ।"

"अच्छा।"

"संदीप और समीर तो स्कूल गए होंगे। कब तक आएंगे।"

"काफी देर है उनके आने में। कोई एक घंटा।"

"और संज्ञा ?"

"वह तो शाम तक आती है।"

"ठीक है। तुम जाओ। बच्चे आ जाएं तो आना, बुरा न मानना।"

रमा मुड़ गई। दरवाजे तक पहुंची कि उसकी आंखें छलछला आईं। वह मुड़ी। पलंग तक पहुंची और एकदम सुधीर पर झुक कर बोली, "क्या हुआ ? बताओगे नहीं।"

सुधीर एकदम ठंडा हो गया। चुप पड़ा रमा की बिह्वलता देखता रहा। रमा ने अपनी उंगलिआं सुधीर के बालों में डाल दीं, एकदम उबलते स्वर में बोली, "मुझे नहीं बताओगे ? मुझसे नाराज हो ?"

सुधीर ने आंखें मूंद लीं।

"मैं तुम्हें बहुत कष्ट देती हूं ?"

सुधीर धीरे से बुदबुदाया, "नहीं।"

"मेरा मतलब, मेरा यहां होना'''"

"पागल'''तुम अच्छी हो'''राहत हो'''सच'''पर इस वक्त तुम जाओ'''मैं हाथ जोड़ता हूँ'''

रमा चली गई। बाहर से किवाड़ बन्द कर गई। और दरवाजा बंद होते ही सुधीर फफक

कर रो उठा। बहुत अर्से बाद आज वह रोया है। कौन जान सकता है, क्यों आज यह रोना फूटा है? खासतौर से कारण क्या है? इतने धागों से उलझा सुधीर मुड़ी उंगलियों से धागों का और उलझते जाना ही देख सकता है। उसकी इच्छा-शक्ति तो जाने कब से समाप्त हो चुकी है। अब तो लगता है आदिम जिजीविषा ने भी चेतना से बाहर चूना शुरू कर दिया है। कितना सुख है, चले जाने में—चुपचाप। तो जाए···पर जाने के लिए जिस इच्छा-शक्ति की जरूरत होती है···वह, हां···रजिया में थी वह···कैसी जीवन्त और जीवनदायिनी रहती थी हर समय···चली गई···उसकी सोच चलती रहती है···

सुनो सुधीर, रजिया की मौत के कारण क्या तुम नहीं थे···

मैं तो खुद मानता हूं। तुम इतनी जोर से चीख कर क्यों कह रहे हो। धीरे बोलो। धीमी आवाज का अर्थ साफ समझ में आता है···

अर्थ? अर्थ समझने की सामर्थ्य तुममें होती तो इतने सारे अनर्थ तुम्हारे गिर्द न घटते···

सुधीर! इस व्यथा से छुटकारा पाना चाहते हो तो···

तो···?

एक ही रास्ता है, खुद से छुटकारा पा लो···

यानी, आत्महत्या कर लूं···

नाम पर न जाओ। नाम भ्रामक होते हैं। हत्या की तो फांसी मिलेगी और आत्महत्या करो तो नरक···पागल लोग···तुम्हारा जीवन है, जीना चाहो जिओ, न जीना चाहो तो···सुधीर, सब अपनी-अपनी ज़िन्दगी जीते हैं···और उन्हें पूरा अधिकार होना चाहिए कि···

बिना मतलब सोच में सिलवटें डालने से कोई फायदा नहीं है···सोच को जरा-सा सपाट कर लो, जिन्दगी भी आसान हो जाएगी और चाहोगे तो मौत भी···

सोचते-सोचते सुधीर का सिर एकदम खाली हो गया···खालीपन बहुत तेजी के साथ फैलता है···रोना तो सोच शुरू होने के साथ ही रुक गया था···शरीर फैलते शून्य में लिपटकर शून्य हो जाता है···कैसी सुखद आत्महत्या है···संवेदनशील प्राणी इस तरह की आत्महत्या शायद रोज़ करता है···अस्थायी···इसलिए उसे इसका फल नहीं मिलता···शायद यह सार्थक आत्महत्या की रिहर्सल है···या शायद यह चेष्टाहीन आत्महत्या है, इसीलिए न फल देती है न सिद्ध होती है···बस, कुछ घुलता है, कुछ टूटता है और वक्त और शरीर की गर्मी से यथापूर्व होने का आभास देता है···आदमी ज़िन्दा रहता है···सुधीर ज़िन्दा है···

सुधीर सो रहा है···

17

रमा ने सुधीर को झिंझोड़ कर उठाया। वह जोर-जोर से चीख रही है, "उठो, उठो, पुलिस आई है।"

सुधीर उठकर बैठ गया। सोते-सोते उसने कहा, "पुलिस आ गई।"

अपने ही वाक्य के झटके से वह जागा, उसने देखा, एक सब-इंस्पेक्टर और एक सिपाही

उसके कमरे में कुर्सियों पर बैठे हैं।

इंस्पेक्टर ने उसकी खुली आंखों में झांकते हुए कहा, "आप क्या सपना देख रहे थे?"

"नहीं तो।"

"पुलिस आ गई तो आपने ऐसे ही कहा जैसे सपने में इन्तज़ार कर रहे हों।"

"नहीं, मैं सपना नहीं देख रहा था। कहिए?"

इंस्पेक्टर मिनट भर उसे देखता रहा, फिर उसने हाथ में पकड़ी फाइल खोली और पूछताछ शुरू की।

"आपका ही नाम सुधीर है?"

"हां।"

"आप किसी आनन्द नाम के व्यक्ति को जानते हैं?"

"आनन्द? आनन्द मेरा दोस्त है। क्या हुआ उसे?"

"आप कल शाम उसके घर गए थे?"

"हां गया था। फिर? पर हुआ क्या है उसे?"

"क्यों गए थे?"

सुधीर झुंझला उठा, "दोस्त के घर आदमी क्यों जाता है?"

इंस्पेक्टर पल भर चुप रहा, फिर बोला, "कुछ बता सकते हैं, उस समय वह किस 'मैंटल स्टेट' में था।

"मैंटल स्टेट? पर हुआ क्या है उसे?"

इस बार इंस्पेक्टर ने स्वर कुछ अतिरिक्त ठंडा कर लिया। धीरे-धीरे बोला, "आनन्द ने आत्महत्या कर ली। उसका मृत शरीर आज सुबह उसके बिस्तरे पर पड़ा मिला। 'सुइसाइड नोट' तो वहां कोई नहीं मिला पर एक चिट्ठी मिली है जिसमें आपका नाम है···वही चिट्ठी लेकर हम आपके पास आए हैं। चिट्ठी ले लिजिए। हमने भी यह चिट्ठी पढ़ी है। हमें कुछ इसमें अपने काम का नहीं मिला। आप इसे पढ़िए···"

"तो आनन्द ने आत्महत्या कर ली?"

"अभी तक तो यही माना जा रहा है।"

"और क्या हो सकता है।"

"अभी कुछ नहीं कह सकते।"

सुधीर चुप ही रहा।

इंस्पेक्टर ने फिर कहा, "शाम को पांच बजे आप थाने आइएगा। क्योंकि आनन्द की चिट्ठी सिर्फ आपके नाम है इसलिए बयान जरूरी है। यह चिट्ठी पढ़कर साथ लाइएगा।"

"उसका शव?"

"वह पोस्टमार्टम के लिए गया है। आप 'क्लेम' करेंगे तो आपको मिल जाएगा।"

इन्स्पेक्टर और सिपाही चले गए।

घर में एक सन्नाटा छा गया।

सुधीर चुपचाप चिट्ठी पढ़ने लगा। लिखा था—

सुधीर,

तुम आए···चले गए···मैं जा रहा हूं···कारण खोजने की कोशिश—मौत का—उतनी ही

निरर्थक है, जितनी अर्थ खोजने की कोशिश करना—जिंदगी का—मैंने कोशिश की थी कुछ लिखकर···और इस तलाश को जीवन की सार्थकता मानने लगा था···क्या हाथ लगा···शायद अपने निरर्थक होने का बोध बढ़ा ही···जितना सह सकता था, सहा···अब, इसलिए कि मर नहीं सकता, जी नहीं सकता···हम सब दरअसल जितनी चाहे कोशिश कर लें, दायरे से बाहर आएंगे ही···फिर इतना-सा सन्तोष छीन लेना कि अपनी मर्ज़ी से···समझ गए ?···पर, मैं आज मानता हूं कि यह भ्रम दुनिया का सबसे बड़ा भ्रम है कि कोई तुम्हारी बात समझ सकता है···

ठीक है···

आनन्द

सुधीर का चेहरा एकदम पीला ज़र्द पडा है। नजरें छत के एक कोने में लटकी हुई हैं··· बहुत देर बाद रमा और संझा ने डर कर सुधीर को जगाया है···

प्रतीति

आनन्द को निपटे कई महीने बीत गए। इस अर्से में सुधीर लगभग घर में ही बन्द रहा। प्रतिभा के यहां भी कुल तीन बार गया। उसे शायद सुकून की जरूरत ही नहीं है···कभी-कभी मानसिक क्लेश में भी एक खास क़िस्म का मज़ा आता है···फिर प्रतिभा सुकून देती है, तो उद्वेग बढ़ाती भी है···यह गलती तुम्हारी है, सुधीर···प्रतिभा पूरा सुख दे सकती है, तुम दुख के बीज न बोओ···

छोड़ो, यह व्यक्तिगत किस्सा···वह क्या बात याद आ रही थी तुम्हें ? जिस पर तुम्हें हँसी आ रही थी ! वह···हां, बात तो हँसने योग्य है···सच और झूठ के हाइफन की करामात···वह···

सुधीर अपने कमरे में एक आरामकुर्सी पर बैठा है···सिर कुर्सी की पीठ पर टिकाए···एकदम कहीं डूबा हुआ···खिड़की से आती सूरज की रोशनी में नहाता···घर के सब लोग कहीं बाहर गए हैं···

कुछ याद आ रहा है उसे, और हँसी आ रही है···

कोई एक बात नहीं है···बहुत-सी बातें हैं, गड्डमड्ड···

ये सब लोग कहां गए हैं ?

गए होंगे कहीं···कितना सुकून है···अंधेरा होने वाला है···किवाड़ खोल लें···नहीं, सुकून बाहर निकल जाएगा···

'हां, किवाड़ खोलने से कोई अन्दर आए न आए कुछ बाहर ज़रूर निकल जाता है···

वह···रजिया को लेकर उस छोटे शहर में जब वह एक रात के लिए उन वैद्य जी के यहां ठहरा था···वयोवृद्ध वैद्य जी उसके पिता के पक्के दोस्त थे···कट्टर आर्यसमाजी···शुद्धि आंदोलन में, पिता बताया करते थे कितनी ही मुसलमान लड़कियों को वैद्य जी ने उड़ाया, शुद्ध किया और आर्य समाज मंदिर में हिंदू लड़कों से शादिएं कराईं···प्रचार किया जाता कि ये वह लड़किएं हैं जो पहले हिंदू थीं···वैद्य जी कैसे-कैसे लड़की को नरक से निकाल कर लाए, इसकी रोमांचक कहानियां सुधीर ने सुनी थीं···उसी सब के भरोसे वह रजिया को लेकर उनके घर पहुंच गया था···एक-दो रात वहाँ बिताने के लिए··· वैद्य जी ने बहुत स्नेह से उन्हें ग्रहण भी किया था···

पहली रात···

हां, शायद वह पहली ही रात थी जब इस तरह पूरी रात के लिए वह और रजिया, एक ही कमरे में पास-पास पड़ी दो चारपाइयों पर लेटे थे···कमरा अन्दर से बन्द···कमरे में घुप अंधेरा···भय और निश्चयहीनता का चिपचिपा-सा वातावरण···दोनों सपाट लेटे थे···

सुधीर ने करवट लेकर···रजिया के चेहरे सिलहुट पर अपना दायां हाथ टिका कर धीरे से कहा था, "रजिया, आज पहली रात है।"

रजिया ने भी करवट ली थी। बोली कुछ नहीं थी। चन्दन का स्पर्श सुधीर को उद्दीप्त कर रहा था···

"डर रही हो ?"

"नहीं तो।"

"डरो, डर आदमी को पिघला देता है। तुम्हें मालूम है रजिया, जो आदमी डरता नहीं प्यार नहीं कर सकता। कैसा डर लगता है···"

"तुम्हारे पास आ जाऊं ?"

"अरे पगली, कूदकर···"

दोनों हल्के से हँस दिए थे।कूदकर शब्द को लेकर उनका एक पेटेंट मज़ाक था···भूल-चूक से भी यह शब्द बीच में आ जाए तो दोनों बेपनाह हँसते थे···

रजिया उसकी चारपाई पर आ गई थी···

रजिया चुप थी···

सुधीर ने उंगलियों से उसकी आंखें टटोली थीं···

नहीं, नम नहीं हैं···

"रजिया, देखो, वह जुगनू···"

रजिया ने देखा था···कमरे के घुप अंधेरे में एक जुगनू फँस गया है···यहां से वहां बाहर निकलने की राह टटोल रहा है···कितना प्यारा लगता है···राह टटोलता हुआ···अपनी ही आग में चमक-चमक कर···इतने घुप अंधेरे में··

'स्पेस मे लटका एक आदमी'···आनन्द का एक वाक्य याद आया है···

लटका नहीं···उड़ता हुआ···

सुधीर रजिया के बिना गॉठ के शरीर पर गॉठ ढूँढ रहा है···

रजिया धीरे-धीरे पगला रही है···

"सुधीर···"

"हूँ···"

."आज नही।"

"क्यों ?"

"तुम इतनी बहस क्यों करते हो ?"

"तुम हर समय 'ना-नू' क्यों करती हो ?"

"इसलिए कि औरतों को करना चाहिए···"

"तो ठीक है, तुम अपना काम करो, मैं अपना काम करता हूँ···"

कहकर सुधीर ने रजिया के पूरे शरीर को चुम्बनों से गीला कर दिया···जहां कपड़ा आड़े आता वह उसे शरीर पर से उधेड़ कर एक तरफ फेंक देता···सुधीर के होंठों की सख़्त पकड़ रजिया के कोमल शरीर पर चकत्ता डाल देती···रजिया सीत्कार भरती, हल्के-से 'जंगली जानवर' या 'शोहदा' कहती और सुधीर से लिपट जाती···

पर उससे पहले रजिया ने कहा, "इस जुगनू को बाहर निकाल दो।"

"इसके आंखें नहीं हैं।"

"मेरे तो हैं। इसे निकाल दो। अहसास रहता है, किसी के होने का।"

"पागल हो?"

"हां, उसे निकाल दो।"

"इसे निकालना आसान काम है?"

"कुछ भी हो, इसे निकाल दो।"

"मैं मारूंगा···पागल···यह भी कोई ज़िद हुई···सारा मज़ा···"

रजिया बिफर गई, जोर से बोली, "तुम मुझे मारोगे। मुझे घर से भगा लाए हो तो जो मर्जी आएगी, करोगे···जब मर्जी आएगी, करोगे···तुम···"

"मैं तुम्हें भगाकर लाया हूं?"

"और नहीं तो क्या? मैं तुम्हें भगाकर लाई हूं? किसी से पूछ लो?"

"रजिया, यह क्या मज़ाक है?"

"पड़ के सो जाओ···दरिंदे कहीं के···कभी चैन किया करो···"

"रजिया! यह क्या है?"

इस बार रजिया खूब जोर से बोली, "घर से ले आए हो तो इसका यह मतलब नहीं है कि वेश्या हूं, जहां चाहोगे दबोच लोगे···चाहे सड़क हो, चाहे बरामदा···सोओ पड़कर और तब तक मुझे न छूना जब तक मुझे मेरे घर में···"

कहकर रजिया सुबककर रो दी थी। घण्टों लगा था सुधीर को उसे शान्त करने में। बच्चे की तरह पुचकार दुलार कर उसे शान्त किया था, उसको कपड़े पहनाए थे और अपनी ही चारपाई पर छाती से चिपकाकर सुला लिया था···मिनट नहीं बीते थे कि वह सो गई थी···

···हां, वह सो गई थी···अच्छा ही हुआ···उसे कुछ पता नहीं चला बाद की रात में क्या हुआ···पता चलता तो शायद डर से बेहोश हो जाती···

···रजिया सो गई थी, पर उसे फिर नींद नहीं आई थी···ले तो आया रजिया को, अब कैसे क्या करना है···

···तभी कमरे के किवाड़ खुले···अंधेरे में से ही सुधीर ने पहचाना, दबे पाँव वैद्य जी घुस रहे हैं···सुधीर ने सांस रोक ली···रजिया पर उसने एक हाथ रख लिया···

···वैद्य जी घुसे···वह बाहर से आए···अन्दर का कुछ उन्हें नहीं दीख रहा था···टटोलते हुए वह रजिया की खाट तक पहुंचे···सुधीर ने सोचा—अगर यह उसकी खाट होती···वैद्य जी खाट टटोल रहे हैं···खाट खाली है···वैद्य जी सीधे खड़े हो गए हैं···शायद कुछ सोच रहे हैं···क्या करेंगे?···क्या मालूम···सुधीर सांस रोके लेटा है···

···जुगनू किवाड़ खुलते ही बाहर निकल गया है···

···वैद्य जी उसी तरह काफ़ी देर खड़े सोचते रहे हैं···फिर जैसे आए थे वैसे ही दबे पाँव बाहर निकल गए हैं···किवाड़ उड़काते हुए···

···सुधीर उठा है···किवाड़ अन्दर से बन्द किए हैं···पहले शायद बन्द करना भूल गया था···या शायद जानबूझकर नहीं किए थे···बुरा लगता···वैद्य जी तो अकेले हैं···पूरे मकान में उनके सिवाय कोई नहीं···बन्द किवाड़ उनके प्रति अविश्वास होता···पिता के दोस्त—वृद्ध—

—क्यों आए थे, वैद्य जी इस तरह ? रजिया के लिए ?

और क्या, पैसे-धेले के लिए आता वह ? शहर का इतना सम्मानित प्राणी—पैसा क्या उसके पास कम है—

पिता के मित्र ?—पिता भी क्या ?—इतने अविश्वसनीय ?

—मैं जाग जाता तो मुझे क्या वे छुरा पिस्तौल दिखाकर चुप करते

—रजिया उसकी खाट पर सोई है—और रजिया की खाट पर वह चुप-सुन्न बैठा है—

…कल कहीं और…

रजिया जागी तब भी काफी अंधेरा था…उसने आंख खुलते ही उससे पूछा, "तुम उठकर वहां क्यों बैठ गए ?"

"मेरे वहां होने से तुम्हारी नींद खराब हो रही है, मुझे लगा।"

"गुस्सा हो गए ?"

"पगली ! बात ठीक थी तुम्हारी। मैं माफी मांगता हूं। घर में होने वाले काम घर में ही होने चाहिएं।"

रजिया उठी। उठकर बैठ गई। कुछ देर सुधीर की तरफ देखती रही, फिर बेहद मीठी आवाज़ में बोली, "तुम्हें मालूम है, तुम्हारे बारे में क्या सोचती हूं ?"

"क्या ?"

"सोचती हूं, ऐसे भी मर्द होते हैं।" कहकर वह खिलखिलाकर हँस पड़ी। हँसी रुकी तो बोली, "अब कर लो।"

"नही।…पहले…घर…"

रजिया ने अचानक पूछा, "अरे, वह जुगनू कहां गया ? तुम किवाड खोलकर बाहर गए थे ?"

"जुगनू मर गया। अंधेरे में।"

कहकर, सुधीर को याद है वह चारपाई पर लेट गया था और बहुत देर गुम रहा था। रजिया बोलती रही थी। क्या ? उसे कुछ याद नहीं है।

2

भड़ाक् से किवाड़ खुले तो सुधीर कुर्सी पर से ऐसे चौंककर उठा जैसे दरवाज़े से भूचाल की खबर आई हो। संज्ञा की आदत है, वह इसी तरह किवाड़ खोलती है।…और सुधीर को इस बात से सख़्त चिढ़ है। संज्ञा घर में घुसी तो पिता के चेहरे पर हक्का-बक्कापन पुता देख वह खिलखिलाकर हँस पड़ी।

"क्या हुआ पापा ?"

"यह कोई किवाड़ खोलने का तरीक़ा है ?"

संज्ञा और हँस पड़ी, "यह तुम हर समय सोते क्यों रहते हो ? हल्के से हल्की आवाज़ तुम्हें डरा देती है।"

"हल्की आवाज ! यह हल्की आवाज थी ?"

"बम फटेगा पापा किसी दिन तो तुम्हारा क्या हाल होगा ?" कहकर उसने ध्यान से सुधीर की तरफ देखा तो और भी खिलखिलाकर हँस पड़ी···इस कदर हँसी···इस क़द्र हंसी कि पेट में बल पड़ गए···

सुधीर झुंझलाकर उठ खड़ा हुआ तो एकदम मीठी आवाज में बोली, "तुम तो पापा, बस लेखक हो।"

"पगली !"

पर संज्ञा हँसती ही गई और चुप तभी हुई जब रमा को कमरे में घुसते पाया।

रमा ने आदत के अनुसार कहा, "आ गई ?"

संज्ञा को फिर हँसी आ गई।

रमा ने कहा, "बहुत हँसी आ रही है···और तुम खड़े क्यों हो ?···ऐसे···जैसे स्कूल में सजा पाए लड़के खड़े होते हैं।"

सुधीर अन्दर से कहीं आहत महसूस कर रहा था पर इस संज्ञा से दरअसल वह इतना अधिक प्यार करता था कि कभी इस पर आक्रोश निकाल ही नहीं पाया। फिर भी आज उसे लगा जैसे लड़की एकदम हाथ से निकली चली जा रही है।

बैठकर धीरे से कहा, "यह अशिष्टता है संज्ञा।"

"सॉरी पापा ! पर तुम इतने गुमसुम रहते हो कि सच हँसी आती है और अम्मा हमारी तो वह बीरबल के चुटकले वाली बात याद दिलाती हैं, वह···क्या कर रहे हो बीरबल ?···तुम्हें याद है न पापा, तुमने ही तो सुनाया था, बचपन में···घर में खड़ा देखेंगी और पूछेंगी, आ गई ?"

"आदमी-आदमी के सम्बन्ध गणित के सपाट फारमूले नहा होते और हर वाक्य का अर्थ उस वाक्य के अर्थ से अतिरिक्त भी कुछ होता है···" सुधीर ने गम्भीर स्वर में कहा।

"दर्शन छोड़ो पापा, ये सब उलझाने वाली बातें हैं। जब कुछ समझना न चाहो तो इस तरह के वाक्य बोल दो। मेरी इन बिना कते रूअड़ के जालों में कोई रुचि नहीं है···और गणित उतना सपाट नहीं होता जितना तुम समझते हो। कितनी उलझनों के बाद एक फारमूला बनता है, पर गणित के लोग दो को ढाई और माइनस को प्लस कभी नहीं कहते। जो होता है, देखते हैं और वही कहते हैं। दूसरी बात कि गणित के फारमूले उलझन सुलझाते हैं, और उलझाते नहीं···पर पापा, आई एम रीयली सॉरी···तुम जानते ही हो मैं तुमसे कितना प्यारी करती हूं, और हँसता आदमी उस पर है जिसे···एक कप चाय पिला दो न माँ···मुझे अभी जाना है···और मैं सुबह आऊंगी।"

"सुबह ?"

"हां पापा, हम लोगों ने एक प्रोग्राम बनाया है। आज सारी रात उसकी तैयारी होनी है।"

"कैसा प्रोग्राम ? रात को बाहर रहेगी ?" रमा ने थोड़ा घबराकर पूछा।

संज्ञा फिर हँस दी, बोली, "अम्मा जी, रात और दिन में कोई मौलिक फ़र्क नहीं होता। हर वह काम जो रात से हो सकता है, दिन में भी हो सकता है···और···पापा, मैं जाऊं ?"

"हां-हां, क्यों नहीं, जरूर-जरूर !"

"तुम्हें मुझ पर विश्वास है न पापा ?"

"अरे, पगली ! सौ फीसदी, बल्कि दो सौ फीसदी।मैं तुमसे प्रभावित हूं संझा...तुमसे, सच मानो, कुछ सीखना चाहता हूं पर मेरी बुद्धि कुछ कुंद..."

"एक बात कहूं पापा ?"

"कहो।"

"तुम फिर से नौकरी कर लो।"

सुधीर थोड़ा हतप्रभ हुआ। इतना सीधा प्रस्ताव उसको कभी कोई देगा, इसकी उसे आशा नहीं थी। प्रतिभा ने एक दिन कहा था पर बहुत घुमा-फिराकर—नौकरी करने में हर्ज क्या है, सभी करते हैं, इत्यादि इत्यादि, रमा ने कभी नहीं कहा...पर संझा...!

संझा ने सुधीर को सोचते देखा तो एक और चोट की, "हां पापा, सब जगह अपमानित होने से अच्छा है आदमी एक जगह अपमानित हो। फिर एक जगह आदमी लड़ सकता है, सब जगह लड़ते घूमना बहुत नुकसानदेह है...बुरा न मानना अगर मैं कहूं कि तुमसे पैसे लेकर खर्चते मुझे शर्म आती है...कालिज की फीस, बदन के कपड़े...सब...जब तक समझते नहीं थे, तब तक ठीक था, पर अब...तुम्हें मालूम है पापा, तुम्हारे मन में यह इतना सारा धुंध क्यों रहता है ?"

सुधीर की पलकें गीली हो गई थीं। वह कुछ नहीं बोला, बस संझा की तरफ नजरें उठा दीं—

संझा ने देखा। पर उसके मन में सहानुभूति की जगह वितृष्णा उभरी। स्वर तीता हो उठा, "क्योंकि तुम चलते आगे हो और देखते पीछे हो। जो है उसकी चुनौती से बचने के लिए हमेशा जो नहीं रहा उसे साथ रखते हो। ऐसे सिर नहीं चकराएगा तो क्या होगा ?"

रमा भौंचक्की थी, चीखकर बोली, "संझा !"

पर संझा हतप्रभ नहीं हुई। कद को और ऊंचा करके बोली, "ठहरो मा, मुझे इनसे बात करने दो, ये मेरे पापा है। मैं इनके रुपये पैसे की ही नहीं, इनके कर्मफल की भी उत्तराधिकारिणी हूं, मुझे इनसे बात करने का हक है। मैं इनकी लड़ाई अपने कन्धों पर लेने को तैयार हूं, अपने को तैयार कर रही हूं...पर पहले समझ तो लूं, इनकी लड़ाई है क्या ? अन्दर बाहर की धुंध के कारण ये निकम्मे हैं या इनके निकम्मेपन के कारण यह धुंध पैदा हुई है...पर...मां, चाय नहीं पिलाओगी...रहने ही दो। देर हो जाएगी...मैं जाऊं पापा ?"

"हां।"

रमा ने पूछा, "सुबह किस वक्त आएगी ?"

"मां बस, सुबह होते ही।"

और संझा चली गई। उसके निकलते ही रमा ने सुधीर से कहा, "तुमने इस लड़की को बहुत सिर चढ़ा रखा है।"

अब तक सुधीर संभल गया था, बोला, "हमला मुझ पर बोल कर गई है, तुम्हें कष्ट क्यों ?"

"ऐसे बोलना चाहिए, बाप से ?"

"सच बात का बुरा नहीं मानना चाहिए रमा जी। काश ! तुममें सच बोलने की इतनी

ताकत होती तो मेरी—"

"अरे छोड़ो, घर से निकाल देते।"

सुधीर भावुक हो उठा, "नहीं रमा, ऐसा हो ही नहीं सकता था। मैंने इसे कभी सिर्फ अपना घर नहीं समझा।" कहते-कहते सुधीर ने सामने खड़ी रमा का हाथ अपने हाथ में ले लिया और धीरे-धीरे उसे सहलाने लगा।

यह क्या होता है ? शरीर का स्पर्श मन के लिए साबुन का काम करता है। रमा के मन का सारा मैल अचानक घुलकर साफ हो गया। चेहरे पर एक दीप्ति उभरी। वह सुधीर के और पास खिसक आई। फिर धीरे से, और लाड़ से बोली, "आजकल बड़े संत हो रहे हो ? बात क्या है ?"

"बात क्या होती ?"

रमा हँस दी, "मेरा मतलब, भूख मर गई है या खुराक कहीं और मिल रही है ?"

"और कहां ?"

"यह भी मैं ही बताऊं ? आदमी का कुछ पता लगता है ?"

"ऐसा आदमी हूं मैं ?"

"बहुत सीधे भी नहीं हो। और फिर आदमी तो सिर्फ आदमी होता है…"

सुधीर हँस पड़ा, "अब तुमने सच बोलना शुरू कर दिया ?"

रमा को भी हँसी आ गई। फिर कुछ सोचती-सी बोली, "मैं संज्ञा के सच को सच नहीं मानती। मैं जानती हूं, तुमने पिछले सालों में कितनी मेहनत की है।"

"जो जैसे जानता है उसी को सच मानता है। आदमी को अपना सच ही बोलना चाहिए। मुझे खुशी है कि संज्ञा में अपना सच बोलने की हिम्मत है। दूसरे का सच बोलने वाले या मूर्ख होते हैं, या धूर्त्त ! तुम चिन्ता न करो संज्ञा की अम्मा, लड़की तुम्हारी होनहार है।"

"और मैं ?" रमा ने सुधीर को उकसाने वाली अदा से कहा।

"तुम ? तुम दरअसल न मूर्ख हो, न धूर्त्त और बदकिस्मती से न होनहार…!"

"तो क्या हूं ?"

"बस, औरत हो।"

"औरत तो मूर्ख भी होती है और धूर्त्त भी ? होनहार चाहे न भी हो।"

"फिर इसका मतलब हुआ कि तुम औरत भी नहीं हो।"

"धत्…!"

सुधीर भड़क उठा। बोला, "देखोजी, हमें यह औरतों वाला धत्-वत् बिलकुल पसन्द नहीं है। जो चाहिए साफ बोलो, मुँह से, नाम लेकर !"

"हुंह्, पागल कहीं के, नाम लेकर ?"

पर उससे पहले कि दोनों के बीच की 'कोल्ड वॉर' असली संघर्ष का रूप ले संदीप और समीर कूदते-नाचते कमरे में प्रविष्ट हुए। देखते ही दोनों बीच में फट गए। चेहरे विकृत हो गए। रमा तो जरा रुककर हँस दी, पर सुधीर का मन गहरी वितृष्णा से भर उठा। संज्ञा की बातों ने जीवन के प्रति जिस संचित वितृष्णा को खौला दिया था और जिसे वह शरीर से निचोड़कर निकालने की तैयारी कर रहा था वह अचानक सिटकनी गिर जाने के कारण शरीर-रन्ध्रों में तेज़ाब की तरह रिसने लगी। सिंधड़ते शरीर से वह उठा और कपड़े बदलने लगा। कहीं जाने

के लिए।

"कहीं जा रहे हो ?" रमा ने पूछा।

"हां।"

"कहां ?"

"कहीं भी।"

"इस वक्त ? शाम होने वाली है।"

"तो और यहां बैठकर क्या करूं ?"

"कुछ लिखो।"

"हुंह ! कुछ लिखो ! इतने उल्लूखाड़े में लिखा जाता है।"

"हमेशा लिखते रहे हो।"

"वह सब नहीं करना चाहता जो हमेशा करता रहा हूँ।"

"तो और कुछ करो।"

"कुछ नहीं करना मुझे।"

"इन दोनों को भेज दूं ?" रमा कहकर हँस दी। .

"रमा ! तुम्हें मज़ाक उडाने का कोई हक़ नही है।"

रमा और जोर से हँस दी, बोली, "क्यों बच्चों की तरह रूठ रहे हो। अभी तो कह रहे थे—मैंने कभी नहीं माना, घर सिर्फ़ मेरा है। अब···"

"झगड़ा करना चाहती हो ?"

"हां।"

"तो करो, मैं जा रहा हूं।"

रमा को उदास खडी छोड़ सुधीर घर से बाहर निकल आया।

शाम का वक्त। सूरज डूब रहा है। कालोनी का पूरा विस्तार एक सुन्न उदासी सी आक्रान्त है। क़तार में खड़े आदमी उदास हो जाते है। क़तार में खडे क्वार्टर उदास हैं। धूप-बारिश ने रंग मटमैला कर दिया है। पीला तो पहले ही था। उनके आसपास खड़े खजूर अपनी ऊंचाई के कारण उदास दीखते हैं। मुसर्रत पानवाले की दुकान पर कोई ग्राहक नहीं है। रेल की पटरी पुलिया के नीचे झांकने की कोशिश कर रही है। पुलिया के नीचे से नहीं जाना। पगली बैठी होगी, रमा की धोती में लिपटी। पीठ इस तरफ होगी तो रमा का आभास देगी। ग़लती की रमा ने। अपनी धोती नहीं देनी चाहिए थी। उधर से निकल चलते हैं। लाइनों के ऊपर से। नहीं। चटर्जी का घर है। बाहर बैठा होगा। होगा तो चिपट जाएगा और वह न इस क़ैद से बाहर जा सकेगा न घर की क़ैद में वापिस। रमा उदास हो गई थी। हो जाने दो। पूरा माहौल उदास है। पुलिया के नीचे से ही चलते हैं। पगली चटर्जी से ज्यादा समझदार है। हां, यह ठीक है। चलो।

सुधीर ने डूबते सूरज को देखा। किसी के हल्के नीले स्निग्ध शरीर से बहते कोढ़ का गोल चकत्ता···मन के विष को इतनी दूर मत उछालो सुधीर, अपने अन्दर के चकत्ते औरों के शरीर पर मत चिपकाओ। खूबसूरती की तरफ से आंखें मूंद लो पर बदसूरत नजरों से देखकर उसे बदसूरत मत करो। सुधीर, तुम्हारे अन्दर के नासूर बदबू फैलाने लगे हैं। इस नासूर ढोते शरीर की बलि दे दो। वातावरण उपकार मानेगा। तुम भी शापमुक्त हो जाओगे···फैसला लो

और कुछ पल निष्कृति की सांस लो···जैसे आनन्द ने किया है···पर तुम्हें ऐसा दुःख क्या है, भूल जाओ, जो बीत गया···भूल जाऊं ? पर कैसे भूल जाऊं ?···क्या तरीका है, उसका···भूल जाने का···सिवाय उसके जो आनन्द ने अपनाया।

अरे ! यह आज इस चिमनी का धुआँ इतना गाढ़ा क्यों है ? धुआँ नहीं, धुएं का रंग···हमेशा तो सुनहरा पीला होता है···कहीं-कहीं लाल दाने लिए···आज एकदम उन्नाबी है, खून के रंग जैसा···जमा हुआ खून···खून, जमा हुआ, धुआँ बनकर उड़ रहा है, आसमान में···चिमनी के नीचे कोई दैत्याकर मानव खून की उल्टिएं कर रहा होगा···उसे भाप बनाकर उड़ाया जा रहा है···मानव-समाज को नुक़सान न हो इसलिए···

प्रतिभा के यहां चलें···

इस वक्त ?

सवाल ही पैदा नहीं होता।

बहुत दिनों से गया नहीं। विष इसीलिए पूरे सिर में भाप बनकर भर गया। नहीं···?

वही है जो उसे इस जुगुप्सा के प्रभाव से बचा सकती है···

पर···

फोन करके देखते हैं···

पुलिया पार हुई। गली पार की और सुधीर मेन रोड पर आ गया। उसने एक लम्बी सांस ली और बाहर फेंकी, जैसे पूरी कालोनी को शरीर में से खींचकर बाहर फेंक रहा हो···

फोन करूं—उसने खुद से पूछा।

3

प्रतिभा ने फोन पर कहा, "जरूरी हो, तो कुछ देर के लिए आ सकते हो, खुशी से।"

सुनकर सुधीर दंग रहा गया। उसे आशा नहीं थी। शायद।

वह प्रतिभा के घर की तरफ भाग लिया···

···पर प्रतिभा को लेकर अनेक प्रश्न···उसके अनेक बिम्ब···उसकी अनेक भंगिमाएं···उसके दिमाग के भंवर में डूबने-उतरने लगे···

कौन है प्रतिभा ? क्या सम्बन्ध है इसका उससे ? क्या वह उससे प्रेम करने लगा है ? प्रेम ? अभी कुछ ही दिन पहले तो वह इस शब्द का भरपूर मज़ाक उड़ा रहा था···आज इस तरह मोहान्ध हो उठा है···उसे प्रेम है उससे या वह उसमें चल रही किसी अतिन्द्रिय प्रक्रिया को उद्दीप्त करती है और उसे मानसिक सुख देती है···या सिर्फ रूप का छलावा उसे जकड़ बैठा···या उसका धन, उसकी सामाजिक स्थिति उसे अपनी ओर खींचती है···क्यों जी करता है, हर समय कि उसके सामने मन के सब भेद, सब गांठें खोल दे···खुद को नंगा कर दे···डरकर वह हमेशा के लिए मिलने से मना कर देगी यह खतरा मोल लेकर भी···वह उससे घृणा कर सकती है ? क्यों नहीं कर सकती···यदि करने लगी तो क्या करोगे ?···कहना मुश्किल है···पर···

···उस दिन धूप में बैठे थे बाहर···सिर हल्का-सा झुका रखा था उसने···चेहरे के दोनों तरफ बाल लटक रहे थे···मांग में से फटकर···सुनहरा नशीला पेय···लहरें लेता···

उसने पूछा था, "प्रतिमा, क्या कभी ऐसा हो सकता है कि तुम भी मुझसे प्रेम करने लगो ?"

"नहीं, कभी नहीं हो सकता। यह आशा कभी मत करना सुधीर, मैं···?"

"हां, क्या ? रुक क्यों गई ?"

"मैं शायद किसी से प्रेम नहीं कर सकती। कभी कर भी नहीं सकी···"

"क्या मतलब ? कभी नहीं।"

"ना ?"

"क्यों ?"

"क्यों क्या ? नहीं कर सकी, बस।"

"मेरा मतलब, आज तक कोई पुरुष नहीं आया ?"

"नहीं, ऐसा नहीं है। एकाध आदमी अच्छा लगा···पर···मैं कह नहीं सकती···शायद प्रेम में इन्तज़ार बहुत करना पड़ता है···और वह मेरे बस का नहीं है···बहुत धैर्य चाहिए प्रेम करने के लिए···मुझमें धीरज की कमी है···शायद वैसे मुझे ठीक मालूम नहीं···अपने बारे में मैं कम ही सोचती हूं।"

पर सुधीर उस दिन सोचता रह गया था। यह प्रतिमा अपने बारे में हमेशा उल्टा क्यों बोलती है···मुझमें धैर्य नहीं है···किसी के लिए रोना-धोना मेरे बस का नहीं है···मैं तो मानती हूं कि आदमी सिर्फ शरीर है, और कुछ नहीं। ये मन, चित्त प्रेम आदि शब्द मिथ्या हैं··· वगैरह-वगैरह; पर धैर्य उसमें कितना है, सुधीर जानता है, अपने अनुभव से···किसी भी ऐरे-गैरे नत्थू-खैरे के लिए उसका 'कन्सर्न' देखकर कभी-कभी उसे पागल कहने को जी करता है। घर की नौकरानी को लेकर एक दिन इतना ऊधम मचाया कि पूरा घर परेशान हो गया···किस्मत के मारे सुधीर का फोन उसी समय पहुंच गया तो उसे भी एक तरफ को दौड़ा दिया···समस्या हल हो जाएगी तो या तो उस पर इतना हँसेगी कि लगेगा हर संकट इसे रस देता है या फिर जिसके लिए कुछ करेगी उसे इतनी जली-कटी सुनाएगी कि भावना का सारा रंग धुल जाए···सुधीर से कहेगी—देखो भाई, मैं रोज़-रोज़ मिलने के खिलाफ़ हूं। मेरे पति कुछ नहीं कहते इसका मतलब यह नहीं है कि इसका तुम नाज़ायज़ फायदा उठाओ···और यह रोज़ विह्वल आवाज़ में मुझे फोन मत किया करो···मुझे रहम आ जाता है और तुम समझते होगे कि···यह साफ साफ 'इमोशनल ब्लैकमेल' है···फिर अचानक कहेगी, "और मैं मर गई तो किसे 'ब्लैकमेल' करोगे इस तरह, और कौन होगा, पागल, जो तुम जैसे मूर्ख आदमी से 'ब्लैकमेल' होगा।"

"मैं तुम्हें ब्लैकमेल करता हूं ?"

"जो तुम करते हो, उसे ब्लैकमेल नहीं कहते तो और क्या कहते हैं ?"

सुधीर सुन्न रह गया था···

एक दिन बोली थी, "रात हमारे यहां डिनर था।"

सुधीर ने हँसकर कहा, "तो ऐश रही होगी, खूब···"

"जरा बैरे को बुलाना सुधीर, कुछ खाऊंगी, भूख लगी है।"

बैरे को बुलाकर सुधीर ने पूछा था, "डिनर भूख बढ़ा देता है क्या ?"

"हां। घर के 'डिनर' के अगले दिन जब भी मिलोगे, मुझे भूखा पाओगे।"

"क्यों ?"

मिनट भर चुप रहकर अचानक बोल उठी थी, "छोड़ो, तुम्हारी समझ में नहीं आएगा। पर यह समझ लो कि जिस दिन घर में डिनर होता है, मेरे मुँह में कौर नहीं चलता"'बैठना तो साथ पड़ता ही है"'खाने का नाटक करना मन को भारी कर देता है"'प्लीज सुधीर, ऐसे मत देखो मेरी तरफ। मैं सच कह रही हूं'"

सुधीर चुपचाप उसकी तरफ देखता रहा था।

वही फिर बोली थी, "तुम्हें मालूम है, मुझे उन लोगों से चिढ़ है जो पंडाल के बाहर खड़े रहकर फिंकी झूठन इकट्ठी करते हैं। पर कभी-कभी सोचती हूं, घृणा तो उनसे करनी चाहिए जो पंडाल के अन्दर होते हैं, खोखले ठहाके एक-दूसरे पर उछालते हैं और बेतोल दारू और षट् रस व्यंजन पेट में उंडेलते जाते हैं और मैं उनमें से एक हूं'"मुझे अपने-आप से नफ़रत है, सुधीर'"

सुधीर ने आत्मिक वासना से उसकी तरफ देखा था'"

'"और एक दिन अचानक पूछ बैठी थी, "तुम मुझसे बहुत प्रेम करते हो ?"

सुधीर ने देखा था, उसकी आंखें लहक रही हैं'"

कहा था, "हां।"

"प्रेम में तो आदमी सभी कुछ करता है ?"

"हां, सभी कुछ जो कहो, करने को तैयार हूं।"

"मरने में मेरी मदद कर सकते हो ?"

"दोनों एक रैस्ट्रां में बैठे थे। हमेशा आमने-सामने की कुर्सियों पर बैठते थे। बराबर-बराबर कभी नहीं बैठे। सुधीर ने देखा, उसका एक हाथ बीच की मेज पर पड़ा है। बात सुनकर सुधीर अन्दर तक हिल-पिघल गया था। मेज पर पड़े छोटे-से हाथ को अपने लम्बे-चौड़े हाथ से पूरी तरह ढँककर उसने कहा था, "साथ चल सकता हूं। प्रतिभा, बता देना। मन में एक पल के लिए भी दुविधा आई तो फिर कभी तुम्हारे सामने नहीं आऊंगा। सच।"

कई मिनट प्रतिभा चुप रही थी'"अन्दर के विभोर भाव पर बाँध बाँधती'"फिर खिलखिला कर हँस दी थी'"सुगन्धित मीठी हँसी'"

बोली थी, "बच्चा हो, एकदम बच्चा।"

सुधीर ने समझा था, वह कह रही है, वह झूठ बोल रहा है। उसने जोर देकर कहा था, "मैं एकदम सच कर रहा हूं, प्रतिभा'"

"अरे वह नहीं, मुझे विश्वास है—तुम पागल हो'"मैं कह रही थी, एकदम बच्चा हो'"मेले का नाम लिया नहीं कि कपड़े पहनने शुरू कर दिए'"जैसे बस, बाहर कोई हार्न देकर बुला रहा है'"

इस बार सुधीर को भी हँसी आ गई थी। उसने अपना हाथ उठा लिया था, कहा था, "बड़ी क़िस्मत से नसीब होता है'"

सुधीर ने बस बदल ली है। वह प्रतिभा के पास जा रहा है। उसके मन के मैल को धोने के लिए, यह अमूर्त आश्वासन ही बहुत होता है। वह वहां तक पहुंचते-पहुंचते आधा तो ठीक हो ही जाता है। तभी उसे वे सब बातें भूल जाती हैं जो उसने अन्दर व्याप्त विषाद के दबाव में सोची

होती हैं। उसके दीखते ही नया कुछ सोचने की जल्दी में दिमाग एकदम शून्य में भटकता रह जाता है। हर बार उसे इस बात को लेकर शर्मिन्दगी उठानी पड़ी है। उसने यह कहकर प्रतिभा से मिलना तय किया है कि बहुत ज़रूरी बातें करनी हैं और मिलने पर वह कुछ बात नहीं कर पाया है और प्रतिभा ने···

पर आज वह एक प्रश्न पूछने जा रहा है और पूछ कर रहेगा···

सुधीर प्रश्न रट रहा है···इधर-उधर की बात करने से पहले ही प्रश्न सामने पटक देगा···तभी उसके दम में दम आएगा···

रात के चितकबरे अंधेरे में पहली बार सुधीर उस कोठी में घुस रहा है। धरती के ऊपर, पेड़ों की गहरी छाया में बनी एक बंकरनुमा चीज़···रोशनिएँ अपारदर्शी शीशों से झांकती हुई···कॉरीडोर अंधेरा···सीढ़ियां जगमग···

तेज चलता हुआ सुधीर ऊपर पहुंचा और बैल दबा दी···

वही ड्राइंग-रूम···वही सैटिंग···फर्क सिर्फ प्रतिभा के रंग में···मोतिया में हल्के आसमानी की झलक···कपड़े भी दूसरे···हरी सलवार, हल्के प्रिंट का लम्बा कमीज···हरी चुन्नी···एकदम छोटी-सी लड़की लग रही है···बालों को पीछे रबर के छल्ले में अटका रखा है···गांव की औरतों की तरह···छोटा-सा चेहरा रोशनी की तरफ···बड़ी-बड़ी आंखें प्रश्न भाव से उस पर···

नहीं, उसे यह सब नहीं देखना···उसका प्रश्न···

वह बैठ गया और बिना उसके बैठने का इन्तजार किए प्रश्न की चेतावनी फूँक दी···

"एक बात पूछने आया हूं।"

"क्या हुआ ?"

"हुआ कुछ नहीं, बस एक बात है जो बहुत परेशान कर रही है, और···"

"पूछो। तुम्हारे इस तरह इस वक्त आने पर जो कहना होगा, मैं बाद में कह लूंगी। पूछो···"

पल को सुधीर का उत्साह अचेत हुआ···फिर उसने अपनी इच्छा-शक्ति को जगाया और प्रश्न दाग़ दिया, "मैं पूछने आया हूं कि तुम्हारी तरफ से मेरे-तुम्हारे सम्बन्ध का आधार क्या है ?"

प्रतिभा हँस दी, "बस, यही पूछने आए हो ?"

"हां, और यह 'बस यहीं' नहीं है, मेरे लिए जिन्दगी-मौत का सवाल है···मैं एकदम 'सीरियस' हूं···"

"तुम क्या सोचते हो, क्या आधार हो सकता है ?"

सुधीर का स्वर जरा कर्कश हो उठा, "देखो प्रतिभा, इधर-उधर मत करो···जरा 'सीरियस' नहीं हो सकतीं ?"

"चलो, हो जाती हूं। पर ऐसे आनन-फानन कहीं सम्बन्ध शब्दों में बांधे जा सकते हैं।"

"नहीं जवाब देना तो साफ कहो। मैं चला जाता हूँ···"

प्रतिभा चुप बैठी रह गई···अजब पागल आदमी है···इतनी दूर से यह ज़रा-सी बात पूछने चला आया···उसने कभी इस तरह सोचा भी नहीं···यह उसका स्वभाव भी नहीं है···सम्बन्ध उसके लिए बहस का विषय कभी भी नहीं रहे···बस, उगते-फलते-फूलते पौधे होते हैं—जिंदा।

बड़ा हो गया तो रस देता है, आनन्द देता है···बड़ा नहीं हुआ तो नहीं हुआ, जड़ से उखाड़ो और बाहर फेंक दो···घर में कूड़ा-करकट इकट्ठा करने के पक्ष में वह कभी नहीं रही, ना ही आज है···मरे हुए पौधों को खाद की तरह इस्तेमाल करने से उसे सख़्त नफरत है···और यह पागल आदमी···पौधे की जड़ में तेज़ाब डलवाने आ गया है और खुद उसके हाथों···पर कुछ न बताया तो कहीं पूरे आदमी की जड़ में तेज़ाब···

···वह कौन-सा कवि था संस्कृत का—हां, कालिदास—जिस डाली पर बैठेंगे उसी को काटेंगे···

याद करके उसे हँसी आ गई···वह कुछ हल्की हो गई···

बोली, "अच्छा, ठीक है, बताती हूं। चाय बनाती हूं। साथ-साथ सोचती जाऊंगी। वक्त भी ज़रा कम है। विपिन आते ही होंगे। उनके सामने तुम्हारी ये ऊलजलूल बातें···

कहकर वह चाय बनाने रसाईघर में चली गई।

पर रसोईघर में पहुँचते-पहुंचते उसका मन बहुत खिन्न हो उठा···क्या बताऊं सुधीर को ? यह आदमी क्यों नहीं समझता कि···

पर बताना तो कुछ न कुछ पड़ेगा···और झूठ नहीं होना चाहिए···ऐसे आदमी से झूठ नहीं बोला जाता···तो ?

ज्यों-ज्यों प्रतिभा के मन की दुविधा बढ़ती रही उसके अन्दर का आक्रोश भी बढ़ता रहा। यह सुधीर हर बार उसे किसी- न- किसी संकोच की स्थिति में डाल जाता है। अच्छी मित्रता है। रात को यह बात पूछने चले आए। यह कोई वक्त है। ठीक है, विपिन और मेरा विश्वास खूब मज़बूत है पर अकारण उसे हल्की से हल्की चोट पहुंचाने से भी फायदा···मानती हूं, सुधीर के साथ बैठना—बात करना मझे अच्छा लगता है पर···

चाय बन गई। रसोईघर के आधुनिक साधन गृहणियों को सोचने का बहुत ही कम वक्त देते हैं···प्रतिभा तो खैर यहां आना पसन्द ही नहीं करती···सिर्फ अपने व्यक्तिगत मित्रों को चाय खुद बनाकर पिलाना उसे अच्छा लगता है, बाक़ी काम नौकर ही करता है···चाय लेकर प्रतिभा को ड्राइंग-रूम में आना पड़ा···

ड्राइंग-रूम में चाय के प्याले मेज़ पर रखकर प्रतिभा ने सुधीर की तरफ देखा और देखती रह गई···यह क्या हुआ इसे···क्या हुआ ?

यह कैसा चेहरा है ?

एकदम स्याह···लिसलिसा···और आंखें जैसे घंटों तक रोकर चुकी हों···उबली- उबली···

बैठकर चाय सुधीर के हाथ में थमाती हुई प्रतिभा बोली, "क्या बात है सुधीर ?"

पर अपना ही स्वर सुनकर प्रतिभा खुद चौंक उठी। स्वर स्नेह और करुणा से सराबोर था···

सुधीर ने भी ज़रा चौंककर प्रतिभा की तरफ देखा। पर उसकी तरफ देखते ही उसने अपनी बात दोहरा दी, "मेरी बात का जवाब दो प्रतिभा, वक्त कम है, तुम कह रही थीं···

"चाय पिओ।"

"हां। वह तो पी रहा हूं।"

"आज कोई नई बात घटी है ?"

सुधीर ने कहा, "प्रतिभा, मेरे जीवन में, पूरे जीवन में, कोई घटना पूरी नहीं घटी। घटना

का अधूरापन बहुत त्रास देता है…"

"वही मैं कह रही थी सुधीर। इसी अधूरेपन ने तुम्हारे व्यक्तित्व को एक खास किस्म की तरलता दी है; तुम्हारे चेहरे पर हर समय दुख की, पश्चाताप की एक झीनी-सी पतरी चढ़ी रहती है। उस पतरी में से तुम्हें, तुम्हारी 'सिनर्स सोल' को देखना बहुत मोहक लगता है…बहुत कम लोगों में 'गिल्ट' से उद्दीप्त चेतना दिखाई देती है…अपराध सभी करते हैं, पर 'गिल्ट' और वह भी पूरे व्यक्तित्व पर छाया हुआ…बस, वही मुझे तुम्हारी तरफ खींचता है…मन करता है, तुम्हारे इस 'गिल्ट' को शेयर करूं…"

"प्रतिभा !" सुधीर ने द्रवित कंठ से पुकारा।

"क्या ?"

"मैं तुम्हारे सामने 'कन्फैस' करना चाहता हूं। अपने अन्दर का सब कुछ उड़ेल देना चाहता हूं…जो-जो अपराध मैंने किया है, वक्त दोगी…?"

"जरूर। उससे तुम्हें शांति मिलेगी ?"

"शांति नहीं प्रतिभा, शायद रास्ता मिल जाए…दरअसल खुद से बोलते-बोलते मैं तंग आ गया हूं…बोलो, मेरी बात सुनोगी ?"

"जरूर सुनूंगी सुधीर और वह मेरे लिए सुख की बात होगी।"

"सुनने के बाद मुझसे घृणा तो नहीं करने लगोगी ?"

"नहीं, बिल्कुल नहीं।" प्रतिभा ने बेहद आत्मविश्वास के साथ कहा।

"शुक्रिया। ठीक है। चलता हूं। जब वक्त दोगी ?"

सुधीर के साथ-साथ प्रतिभा भी उठकर खड़ी हो गई। उठते-उठते उसने कहा, "सुधीर, एक बात…खुद को 'कान्फैस' करते हुए यह चिंता नहीं करनी चाहिए कि उसे सुनकर किसी में क्या भाव पैदा होता है। इस चिंता के साथ 'कन्फैशन' सिर्फ अपनी कहानी सुनना रह जाता है। नहीं ?"

सुधीर ने डूबे हुए स्वर में कहा, "रह जाता होगा। यह बड़ी बात है, बड़े लोगों की बड़ी बात ! मैं साधारण आदमी हूं। मेरे लिए अपने मन की शान्ति से भी अधिक तुम्हारे स्नेह की क़ीमत है…तुम्हें खुद पर भरोसा न हो तो बता दो, नहीं सुनाऊंगा ? मन का क्या है, उसने शान्त रहना सीखा होता हो…"

प्रतिभा ने जल्दी से बात काटकर कहा, "नहीं-नहीं, सुनाना…जरूर सुनाना…निश्चिंत रहो…"

और सुधीर बाहर निकलते-निकलते बोलता रहा, "जो लोग भगवान में विश्वास करते हैं बड़ी सुविधा में रहते हैं। ऐसा कोई खतरा उन्हें नहीं होता…पर मुझे एक लम्बी खोज के बाद अपना खुदा मिला है, मैं उसे किसी भी क़ीमत पर खो नहीं सकता…तुमने मेरी बात सुनने का हौसला दिखाया है, आभारी हूं…मैं मानता हूं, सिर्फ औरत, औरत और खुदा दोनों हो सकती है, आदमी में वह कलेजा नहीं होता, वह आधार छोड़कर या तो ऊपर चढ़ता चला जाता है या नीचे ग़र्क होता हुआ…जाता हूं प्रतिभा, तुम्हारा बहुत-बहुत शुक्रिया…आज मैं भी कह सकता हू, मैंने भी इस जिन्दगी में कुछ हासिल किया…"

सुधीर बाहर निकल गया…प्रतिभा भावविह्वल उसे जाते हुए देखती रही…वक्त ने एक पल रुककर करवट ली फिर यथा-सहज भाव से बह निकला…

वक्त बहते-बहते बहुत कुछ साथ बहा ले जाता है···आनन्द बह गया···रज़िया बह गई···नदी सहज गति से बहती है तो सब कुछ समय पर बहता है पर बाढ़ आती है तो समय से पहले ही बहुत कुछ बह जाता है···दोनों तरफ के किनारे भी और किनारों पर रुके घर-मकान भी···बाढ़ तेज़ हो तो किनारे से दूर के मकान भी लपेट में आ जाते हैं और···और भी तेज़ हो तो···

सुधीर के दिमाग में बाढ़ आ गई है। आनन्द की मौत ने रेत के बने कटूर ढहा दिए। ढेर की ढेर मवाद बहकर बाहर आने लगी। घर की बिगड़ती आर्थिक स्थिति ने जख़्म को गहरा खोदना शुरू कर दिया। संज्ञा के सीधे हमले चोट में ठसक की तरह दर्द उभार जाते और रमा की मौन भर्त्सना सुधीर के सिर में फँसे इंटरोड़ों को हिला-बजा कर उसे लगभग अचेत कर देती। ले-देकर प्रतिभा उसे जगाती पर जाग कर सुख उसे मात्र रोने का ही मिलता और रोते-रोते वह फिर बेहोश हो जाता···जागता हुआ पर बेहोश···

वक्त बहता रहा···

···और ठूँठ की तरह कटा खड़ा सुधीर बहते वक्त को प्यासी दृष्टि से देखता रहा···

घर की आर्थिक स्थिति ढलान पर से अनथक लुढ़कती रही···

लिखने के नाम पर सुधीर ने अनगिनत अधूरी कहानियां लिखीं जो पूरी होने से पहले ही फ्यूज़ हो जाती रहीं और सुधीर में झुंझलाहट बढ़ाती रहीं···लेखक बनने का उसका भ्रम टूटने लगा···

प्रतिभा के यहां से इस-उस बहाने से पैसा आता रहा···जीते रहने के लिए···जीते रहने की बाध्यता की मानसिकता ने सुधीर के परिवार के क्षितिजों पर धूल ही धूल बिखेर दी···

मुक़दमा एक विशालकाय जानवर की तरह जमीन पर पूँछ पटकता रहा और धूल उड़ाता रहा···

प्रतिभा चकित थी···कहीं उसने इस आदमी की तकलीफ को कम करने के बजाय बढ़ा तो नहीं दिया।

संज्ञा का विद्रोह फन पटकता रहा···

रमा हतप्रभ, कुंठित, रुँआसी-सी सब कुछ होता हुआ देखती रही···

सुधीर चारों तरफ की ऊहापोह, सबके अन्दर पनपते संदेह से परिचित रहा, देखता रहा, पर ऐसे ही जैसे आदमी सपना देखता है···प्रति-क्रिया-विहीन, निष्क्रिय, तन्द्रा'जड़···

और साल बीत गया। सुधीर की तंद्रा नहीं ही टूटी···

फिर एक दिन···

एक ही दिन में तीन-चार छोटी-छोटी घटनाएं घट गईं। संज्ञा ने सुबह-सुबह बताया, "कल पापा, मेरी फीस जाएगी। आखिरी तारीख है। एक सौ अस्सी रुपये।"

सुधीर एक मिनट तो खबर निगल कर जुगाली करता रहा फिर एकदम चीखकर बोला, "कल आखिरी तारीख है और आज बता रही हो।"

"आज से पहले बताने से क्या हो जाता। बैंक से निकालने के लिए, एक दिन का नोटिस

काफी है।"

"बोलने बहुत लगी हो। मेरी ही दी गई कटार मुझे ही झोंक रही हो।"

"बोलने की आजादी कटार होती है ?"

"होती ही है। इस बात पर मुनस्सर करता है, कौन उसे कैसे इस्तेमाल करता है।"

संज्ञा ने हँसकर कहा, "अच्छा विषय है पापा, कभी इस पर बात करेंगे। इस वक्त तो···पर कल फीस जरूर जाएगी, याद रखना।"

संज्ञा कालिज चली गई।

रमा आकर सुधीर के सामने खड़ी हो गई।

"क्या है ?"

"शाम के लिए आटे से नमक तक कुछ नहीं है।"

"अच्छा।"

रमा जाने लगी तो सुधीर ने पूछा, "क्या बजा है रमा ?"

"आठ। अब चाहो तो उठ जाओ।"

"संज्ञा आज इतनी जल्दी कालिज क्यों गई है ?"

"कोई मीटिंग-वीटिंग बता रही थी। मुझे तो ठीक से समझ नहीं आया।"

"एक कप चाय का और मिल सकता है ?"

"नहीं···अच्छा, देखती हूं।"

"छोड़ो, रहने दो···यह बहुत सुबह, पीछे, शोर-शराबा कैसा था ?"

"अरे, वह हरद्वारी रहता है ना पीछे, उसकी बहू मर गई, जल कर। कोई कहता है स्टोव पर गिर पड़ी, कोई कहता है, जानबूझकर मर गई, और कोई कहता है जानबूझकर मार दी गई, यानी हरद्वारी, उसकी मां और उसकी बहिन ने बांध-जूड़कर जला दी, मार डाली···बड़ी अच्छी थी बेचारी···उम्र ही क्या थी···पिछले साल तो शादी हुई थी···मुश्किल से सोलह-सत्रह की रही होगी···"

"सुबह शोर काहे का था ?"

"पुलिस आई थी और ज्यादा शोर पगली मचा रही थी।"

"उसने क्या किया ?"

"पता नहीं क्या नाच रही थी, किसी की समझ में नहीं आया। पर पुलिस ने उसका नाच बड़े ध्यान से और शौक से देखा।"

सुधीर चुप हो रहा।

पाँच मिनट में रमा चाय बना लाई। प्याला सुधीर के हाथ में थमाती हुई बोली, "अब और मत माँगना। डिब्बा निचोड़ कर चीनी डाल दी है।"

"अच्छा।"

"सुनो, मैंने अपने लिए एक नौकरी तलाश की है। सौ रुपये महीना देने को तैयार हैं। कल से जाऊंगी।"

सुधीर अचानक उठकर बैठ गया···

"कब से ?"

"कल से।"

"मुझसे पूछा तक नहीं। मुझे सिर्फ खबर दे रही हो।"

"नहीं, पूछ रही हूं अभी एक दिन बाक़ी है और नौकरी तो करनी ही है। संझा भी ट्यूशन ढूँढ़ रही है। घर तो चलाना है ना!"

"ओह!"

रमा चली गई। सुधीर फिर लेट गया। और भी सपाट भाव से। सोच तक के स्तर पर सपाट···

···हां, कुछ दिनों से सुधीर की सोचने की शक्ति कुछ कुन्द हो गई है···वह कभी-कभी सोचता है, वह क्या सोचे?

बाहर तो उठकर जाना ही पड़ेगा···

फीस का इन्तज़ाम तो होना ही है···

चाय पीकर सुधीर की तन्द्रा गाढ़ी होती है···

वह सुषुप्त चेतना की खाई में लुढ़क गया···

···कुछ टूट रहा है···

···कुछ हो रहा है···गहमागहमी है···आपाधापी···

हर आज़ादी की शर्त है, आदमियों का मरना···जब आदमी नहीं मरते और कुछ हो जाता है तो ऐसा लगता है, कुछ हुआ ही नहीं··· हिन्दुस्तान को आज़ादी मिली है और अनगिनत आदमी मर रहे हैं···और देशों में आज़ादी से पहले मरते हैं···यहां बाद में मर रहे हैं···गांधी भला आदमी था··· आदमियों को मारने से बचाने की भरसक चेष्टा करता रहा, पर अब···

गांधी दरअसल नास्तिक था···भगवान के काम में बांधा···दंड दिया भगवान ने उसे इसका···महात्मा कहलाया और शिकार की तरह मारा गया···ठांय···और महात्मा की आत्मा परमात्मा के चरणों में···बुद्ध बेचारा···और उस करुणा-कुंज बुद्ध ही का क्या हुआ? सूअर का मांस पेट में और करुणा का सूर्य अस्त···कहते हैं सूर्य अस्त हो भी जाये, पर प्रकाश रह जाता है···हां, वह तो है···पर अन्धकार भी रह जाता है···हिरोशिमा और नागासाकी का अन्धकार आज हर जीवित आदमी की चेतना में घुला मिलेगा···और वह···वह मानी सुधीर···उसने भी तो एक छोटा-सा हिरोशिमा अपने अन्दर आबाद किया था···गुप्ती घूमी···एक आदमी मर गया···एक बटन दबा और एक लाख आदमी मर गये···दोनों में क्या फ़र्क है? जिसने लाख को मारा वह पागल हो गया···उसने देखी थी अपनी की, वह विनाश लीला, ऊपर से···भगवान की तरह···भगवान कभी पागल नहीं होता···ऊपर से सब देखता है···सुधीर उसी भगवान का अंश है···पागल नहीं हुआ···बच्चे पैदा किये और अब उनकी फीस, उनके खाने, उनके लिए कपड़ों का इन्तज़ाम करता घूमता है···वह पागल नहीं हुआ···देखा था उसने भी तीन दिन बाद जाकर उसे···सड़ी लाश···लम्बे-लम्बे कीड़े···सड़क के किनारे···सिर नाली में लुढ़का हुआ··· गुप्ती ने जो सूराख बनाया था, वह उसी के लहू ने मूँद दिया था···

सूराख के मुँह पर लहू जम गया और सूराख बन्द हो गया···

सूराख···?

क्या कहा करता था वह? वह कौन? कोई भी। कहता था, "इस डेढ़ इंच के सूराख के

लिए बड़ी-बड़ी लड़ाईयां हुईं। हज़ारों लाखों लोग मारे गए। बन्द करा दो इन सब साले सृष्टि-द्वारों को, मिट्टी-गारे से'''"

ओह! पर कोई भी सूराख जब बन्द होता है, तो अपने ही जमे लहू से'''उसने देखा था, उसकी गुप्ती-से बना सूराख'''

नहीं, जागो नहीं, देखो'''देखो'''सुनो'''

हर-हर महादेव'''अल्लाहो-अकबर'''

चार गलियां'''समानांतर'''दो हिन्दुओं की'''दो मुसलमानों की'''दो गलियां चारों को जोड़ती हुई'''दोहरी सीढ़ी'''

जन्माष्टमी का दिन'''कृष्ण जन्म लेंगे'''हर साल लेते हैं'''पर इस साल'''

हर-हर महादेव'''अल्लाहो अकबर'''

जापान के नागासाकी की आग बुझ गई'''सुधीर का नागासाकी आज भी दहक रहा है'''रोज आग तेज हो जाती है'''सब जलकर भस्म हो जाएगा'''

चार गलियां'''चहल-पहल'''छोटे-बड़े बच्चे'''पिट्ठू-बारी, आंख-मिचौनी'''भागम-भाग'''कौन हिन्दू, कौन मुसलमान'''कुछ पता नहीं'''हुँह, अनजान लोग'''

'''पर आज जन्माष्टमी है'''कृष्ण भगवान जन्म लेंगे'''

'''गली का वह नुक्कड़'''सड़क पर उतरता हुआ'''एक आदमी, वासुदेव'''कल तक इसका रंग गेहूँआ था आज कैसा काला है'''कृष्ण काले थे'''जन्म लेंगे'''गली के नुक्कड़ पर इसकी दूध की दुकान है'''और पीछे अखड़ा है'''मिट्टी में दंड पेलता है'''शादी जो नहीं की'''सब हँसते हैं'''

चारों तरफ कर्फ्यू है'''एक अमानवीय सन्नाटा'''बाहर कहीं कैसे मुसलमानों को पुलिस का सिपाही साथ लाकर उनकी गली तक पहुंचाता है'''

"वासुदेव, मुर्गा'''" एक फुसफुसाहट।

"कौन है साथ में ?" एक उत्साह-भरा प्रश्न।

"चन्द्रसेन।"

"हर हर महादेव। एक पुन्न और कमा लूं।"

'''सुधीर ने अपनी दीवार में सूराख करके उसमें आँख लगा रखी है'''एक आँख बन्द है'''

'''बारह मन की धोबन देखो'''आगरे का ताजमहल देखो'''दिल्ली का लाल किला देखो'''देखो-देखो'''जल्दी देखो'''बिड़ला मन्दिर'''

सत्रह साल का सुधीर देख रहा है'''

कितना मजा आया'''खाली मकान'''हिन्दुओं की भीड़ घुसी'''कुछ माल-पत्ता मिलेगा'''क्या ले गए होंगे साले साथ'''कल ही तो भागे हैं, पुलिस एस्कोर्ट में'''आपाधापी'''कहां है माल'''क्या खोलें, क्या तोड़ें'''सब एक-दूसरे को धकिया रहे हैं'''बद्री पहलवान को कौन धकियायेगा'''एक मुसलमान रोज मारने का मरण लिया है पहलवान ने'''उससे पहले थाली पर नहीं बैठेगा'''एक बड़े से ट्रंक पर झपटा है'''ट्रंक खुला'''ऊपर कपड़े'''कपड़ों के नीचे'''

ओह!'''कपड़ों के नीचे'''

"'एक बच्चा'''सोया हुआ'''मुश्किल से छह महीने का'''जिन्दा है, पर गहरी नींद सोया है'''अफीम का पानी दिया होगा'''

'''बद्री नाराज है'''भैन्चो, खोदा पहाड़ निकला यह चूहा'''उसने दोनों हाथ पकड़कर चूहे को अधर में लटका लिया है'''चूहा जाग गया है'''आँख खोलकर चारों तरफ देख रहा है'''दुनिया का पहला अहसास'''माँ न हो, तभी दुनिया को देखा जा सकता है'''

चारों और ठहाके गूंज रहे हैं'''

यह ठहाका उठान के आखीर में चीत्कार जैसा क्यों लगता है'''

'''बद्री के हाथ की किरपाण घूमी है और बंधे हाथ की मुट्ठी में दो छोटे-छोटे हाथ और आधा धड़ लटका रह गया है'''

दोनों छोटी-छोटी बांहों में फँसे सिर में उगी दो छोटी-छोटी आँखें अभी भी खुली हैं'''

सुधीर अपनी चेतना में बने सूराख में से देख रहा है'''

वासुदेव आगे बढ़ा है'''दबे पाँव'''हाथ में मजबूत लट्ठ'''तली में लोहे का कुन्दा'''

एक बुजुर्ग, सिर सफेद, दाढ़ी सफेद'''गोरा चमकदार रंग'''खरामा खरामा'''धरती की तरफ देखते हुए'''चल रहे हैं'''शायद खुदा को याद करते'''थोड़ी देर में घर आ जाएगा'''डर क्या है, सिपाही साथ है'''

साथ में चन्द्रसेन है'''सिपाही'''

चारों तरफ सन्नाटा'''सौप्तिक पर्व के अन्त में जो सन्नाटा पढ़ने वाले की चेतना पर छा जाता है'''वही, बाहर फैलकर जम गया है'''

वासुदेव दबे पाँव'''दिन में'''

अश्वत्थामा दबे पाँव'''रात को'''पांचों पाण्डवों के वध के लिए'''शकुनि और कृपाचार्य शिविर के बाहर'''अश्वत्थामा के लिए शुभ-कामना करते हुए'''

सुधीर ने देखा, वह खड़े शकुनि और कृपाचार्य गली के नुक्कड़ पर'''सांस बांधे'''

'''और वासुदेव का सधा हुआ हाथ घूमा'''घुस्स !'''नहीं'''बड़े मियां गिरे और ढेर हो गए'''

वासुदेव भागा'''कहीं कोई नहीं जिस का डर हो, पर वासुदेव भाग कर गली के नुक्कड़ पर पहुँचा'''

शकुनि और कृपाचार्य ने उसे गले लगा लिया'''

चन्द्रसेन सड़क पर सीधा चला जा रहा है'''

सुधीर की चेतना में बना सूराख फटकर चौड़ा हो गया है'''

दीखते दृश्य का दायरा बढ़ गया है'''

यह क्या हुआ ? यह बाइस्कोप में घूमती तस्वीरों की स्पीड कैसे बढ़ गई ? क्रम कैसा गड्डमड्ड हो गया है। एक ही वक्त दो तस्वीरें, ऊपर नीचे, एक दूसरे पर चिपकी हुई। कुछ दीख रहा है'''कुछ योंही नजरों के नीचे से निकला चला जा रहा है'''

चारों तरफ दुकानें···बहुत चौड़ी सड़क···सड़क के किनारे एक चिता जल रही है···किसकी चिता है, पता नहीं···इस बस्ती के सभी मुसलमान हजारों हजार के जुलूस में जा रहे हैं···एक औरत धोबियों के मौहल्ले से आई, भागती हुई, उस जुलूस में शामिल होने के लिए···पकड़ लिया, बोटी-बोटी उड़ा दी···दो आदमी उतरे ट्राम से···कल घर छोड़ कर गए थे···आज घर देखने आए हैं···पकड़ लिया दोनों को सड़क पर···जल रही चिता में धकेल दिया···उठ-उठ कर भागे···नहीं, मौत का घेरा नहीं टूटेगा···क्या किया तुम्हारे भाइयों ने हमारे भाइयों के साथ···वहां···बदला लेंगे···याद करोगे···

पर सुना नहीं किसी औरत ने किसी को मारा हो···फिर···? तिमंजिले मकान की छत···शाम का वक्त···जुलूस को गए दो घंटे हो गए···खाली मकानों की तलाशी ली जा रही है···खाली मकानों में आग लगाई जा रही है···क़ीमती सामान···

अरे ! यह जीने के किवाड़ उधर से बंद कैसे हैं ? ज़रूर छत पर कोई है···तोड़ो, किवाड़ तोड़ो···

एक छोटी-सी भीड़···सुधीर साथ है···

ताला टूट गया···छत खुल गई···

और···

सुधीर हड़बड़ा कर उठ बैठा। चारों तरफ देखा। फिर जोर से चीखा, "रमा, ओ रमा !"

रमा उसके सिरहाने कुर्सी पर बैठी थी। उठकर सामने आई। सुधीर की शक्ल देखकर घबरा गई। पूछा, "क्या हुआ ? सपना देखा ?"

"नहीं। सच।"

"पानी लाऊं ?"

"नहीं। एक बात बताओ। तुम भगवान में विश्वास करती हो ?"

सुधीर पलंग पर दोनों हाथों में अपना सिर लिए बैठा था। और अभी भी ऐसे बोल रहा था, जैसे सोते में बोल रहा हो। रमा ने चाहा कि उसे हल्का कर दे। बोली, "यह भगवान आज कहां से आ गया और मेरे विश्वास करने न करने से क्या होता है, तुम तो नहीं करते।"

"रमा !"

सुधीर ने जिस तरह पुकारा, रमा डर गई बोली, "हां।"

"जो पूछा है, उसका जवाब दो। तुम भगवान में विश्वास करती हो ?"

"हां, करती हूं।"

"मानती हो कि भगवान एक है ?"

"हां, मानती हूं।"

"और यह भी मानती हो कि सब जीवों में उसी का अंश होता है···या वही होता है···"

"हां, वह तो है ही···"

"तो जो पाप किसी मेरे दोस्त ने किया, सच नहीं है कि मैंने ही किया···"

"सच है···"

"तो अगर मैं अपने किए का पश्चाताप करूं और किसी और के किए का पश्चाताप भी करूं तो क्या तुम उस पश्चाताप में मेरी भागीदार होगी ?"

रमा को कुछ समझ नहीं आया कि क्या हो रहा है। वह घबरा गई। सुधीर के पास पलंग पर बैठ गई, बोली, "हुआ क्या है, बात बताओ ना।"

"ठीक है। नहीं दोगी। अच्छा, एक बात बताओ।"

"क्या ?"

"तुम पर मैंने बहुत अत्याचार किया है ?"

"पता नहीं।"

"बताओ।"

रमा खीझ गई, बोली, "यह क्या नाटक चल रहा है आज ? तुम्हें जाना नहीं है ? याद है ना, कल संज्ञा की फीस जानी है।"

"चली जाएगी"

"कहां से आएगी ?"

"आ जाएगी।"

रमा ने सुधीर की तरफ देखा, उठकर खड़ी हुई, फिर कहा, "कल से मैं नौकरी पर जाऊंगी। संज्ञा से मैंने पूछ लिया है। संदीप और समीर आधे दिन घर पर रहेंगे। और आधे दिन स्कूल में।"

सुधीर चुप बना रहा।

रमा मिनट भर खड़ी देखती रही फिर अन्दर रसोई में चली गई। उसे आशा थी, सुधीर कुछ कहेगा और दोनों के बीच की संवादहीनता टूटेगी पर...

दिन भर भटक कर आखिर शाम के पाँच बजे सुधीर प्रतिभा के पास पहुंच गया।

प्रतिभा उस दिन बहुत खुश थी। पता नहीं क्यों।

हर बात पर हँसती। बीच-बीच में सुधीर को घिस भी देती, "आज फिर मुँह लटका रखा है। क्या है ? कुछ हो सकता है कि किसी दिन हम सुधीर माइनस समस्या से मुलाकात करें।"

सुधीर बोलने को होता तो बात काट देती, "नहीं बाबा, नहीं। समाज नहीं। समाज को बीच में न लाओ। मैं जानती हूं, मतलब तुम से सुन-सुन कर जान गई हूं...समाज बहुत निर्मम है, निर्मोही है, क्रूर है और अन्यायी है; आज कोई नई बात करो।"

"क्या नई बात ? जैसे ?"

"जैसे तुमने कभी किसी से प्रेम किया हो ? या कभी किसी की हत्या की हो ? मेरा मतलब है, कभी आदमी जैसा बर्ताव किया हो ?"

"किया है।"

"क्या ? प्रेम या हत्या ?"

"एक ही बात है। हमारे यहां तो प्रेम भी हत्या की ही तरह किया जाता है। डरते-डरते करो और फिर जल्दी से जल्दी भागो...कहीं कोई देख न ले। यानी प्रेम करो या हत्या, एक ही बात है।"

"भई, तुमने क्या किया है ? प्रेम ? या हत्या ?"

"दोनों पे हाथ आजमाया है। पर बदकिस्मती देखो, दोनों में ही कुछ हाथ नहीं लगा।

प्रेम में लड़की नहीं मिली और हत्या में सजा···बनी बात, लड़की और सजा पर्याय, हैं ना।"

"और ये रमा जी?"

"राम-राम! रमा जी लड़की नहीं हैं, पत्नी हैं।"

अचानक बात रुक गई। दोनों को महसूस हुआ जैसे शून्य बीच में आ गया हो और बात करने को कुछ भी बाकी न हो। यह क्या हुआ? दोनों अचानक अपनी-अपनी कोठरी में बन्द हो गए। पर दोनों की ही समझ में नहीं आया कि ऐसा अकारण हुआ क्यों। प्रतिभा के मन में एक तीव्र भाव लहका—सुधीर फौरन उठे और चला जाए। सुधीर भी लगभग समझ गया कि वह असंगत हो चुका है, उसे उठ जाना चाहिए। संवादहीनता की यह स्थिति कुछ ही मिनट रही पर दोनों को लगा कि वे चुप्पी की गर्मी से पिघलने लगे हैं। इस चुप्पी के अतिरिक्त भी दोनों के अन्दर कुछ था जो दोनों को पिघला रहा था। सुधीर के मन में संज्ञा की फीस रेगिस्तानी चक्रवात उठा रही थी और प्रतिभा के मन में कुछ एक अमूर्त्त वेदना थी जो बीच में से चीरे दे रही थी। यह प्रतिभा का स्वभाव है जब वह कहीं गहरे में एक वेदना का अनुभव करती हो तो पहले बहुत हँसती है, खूब खिलखिलाती है, फिर अचानक अपने में घुट कर कमरे में चटखनी अन्दर से बन्द करके घंटों बिस्तर में पड़ी शून्य में ताका करती है। उस समय घर को कोई भी सदस्य कमरे के दरवाज़े पर हाथ नहीं रख सकता।

कुछ ही मिनट और खिसके होंगे कि प्रतिभा के लिए सुधीर का बैठे रहना असह्य हो गया। उसने एकदम बुझे स्वर में पूछा, "तुम्हें कुछ कहना है सुधीर?"

सुधीर चौंका, बोला, "नहीं", फिर एकदम खुद को सही करता हुआ बोला, "हां, कहना है।"

"कहो।"

"कुछ तुम्हारी तबीयत खराब हो गई है?"

"नहीं। कहो।"

प्रतिभा की आवाज़ के ठंडेपन ने सुधीर का नैतिक साहस धूल की तरह उसके मन पर से झाड़ दिया। पर परिस्थितिजन्य अनैतिक साहस ज़िद किए खड़ा रहा। उसे उठकर बाहर आ जाना चाहिए था पर वह बैठा रहा, चुपचाप।···वातावरण में एक धुआँ-सा भरने लगा।

"सुधीर, ज़रा जल्दी। मैं उधर जाना चाहती हूं।"

सुधीर चुप रहा। उसकी आंखों का पीला लेस पिघलने लगा। पर इस स्थिति में वह घबराता है। उसने जल्दी से कहा, "मुझे कुछ और पैसे चाहिएं।"

प्रतिभा ने सुना। उसे इसी वाक्य की आशंका थी। फिर भी यह आशा भी थी कि शायद इस वातावरण में सुधीर यह सब कह न पाए और वह एक भद्दी स्थिति से बच जाए। पर वाक्य आया और प्रतिभा के अन्दर की सारी भाव-जड़ता टूट गई। अजीब खुद में ग़र्क़ आदमी है। कोई दूसरा तो शायद इसके लिए इसके अपने दायरे से बाहर होता ही नहीं। तो?···नहीं, और नहीं। यह खेल है। अपने दायरे से बाहर जाकर खेलना खतरनाक है। इस आदमी को चेहरा देखकर जो करुणा मन में पैदा होती है उसे पिंजरे में बन्द रखना होगा। पिंजरे से निकला जानवर या खुद को खा जाता है, या सामने वाले को···न प्रतिभा खुद मरना चाहती है, न चाहती है कि सुधीर मारा जाए···नहीं, यह क्रम तोड़ना होगा···यह अस्वाभाविक क्रम···

उसने बहुत धीरे से, आवाज़ को ज़रा अतिरिक्त मीठा बनाकर कहा, "पर पैसे तो आज बिलकुल नहीं है, घर में, सुधीर। इस समय तो मैं कुछ भी नहीं कर सकती।"

सुधीर चुप रहा। उसकी आंखों का पीला मोम जलकर धुआँ बाहर फेंकने लगा। वह चुप, उंगलियों को मरोड़ता-तोड़ता बैठा रहा। मिनट भर बाद उसने प्रतिभा की तरफ देखा। देखते ही उसे झुरझुरी-सी आई जैसे किसी डरावने लिसलिसे समुद्री जानवर से छू गई हो। उसका मन हुआ, वह उठकर अन्दर भाग जाए। पर उसके हर समय सतर्क रहने वाले दिमाग ने उसे बताया कि भाग जाने से इस आदमी का दायरा फैल जाएगा और हो सकता है, वह स्थिति और भी खतरनाक हो। उसने फिर उसी मन्दी और मीठी आवाज़ में कहा, "आई एम सॉरी, सुधीर, आज घर में पैसा नहीं है।"

"ठीक है। अच्छा। दोहरा क्यों रही हो ?"

"यों ही। तुम्हें विश्वास न हो शायद।"

सुधीर के चेहरे पर एक कड़वी मुस्कराहट उभरी और डूब गई। उसने कहा, "विश्वास न होता तो शायद तुमसे मांगता नहीं।"

"क्या करूं ? आज घर में हैं ही नहीं।"

"ठीक है। चलता हूं।"

सुधीर उठकर खड़ा हो गया।

उसने चारों तरफ देखा···

···कितनी पीली रोशनी है···चारों तरफ की काली दीवारों पर पीले कागज़ की तरह चिपकी हुई···जगह-जगह कोनों में छोटे-बड़े जानवर बैठे हैं···अलग-अलग सूरत वाले···सामने दीखते काले स्क्रीन पर कुछ बहुत दीर्घकाय जानवरों की छायाएं हिल रही हैं···शायद वे जानवर अन्दर आने की कशमकश में हैं···प्रतिभा कोच में सिर झुकाए बैठी है···कैसा सांवला लग रहा है। रंग इसका···क्या हो गया इसे···?

···अरे, क्या हुआ इसे ? नहीं हैं तो नहीं हैं, इसमें···

सुधीर कोच की पीठ पकड़े खड़ा है···उसे घुमेर आ रही है···

उसने कहा है, "पाँच मिनट और बैठ सकता हूं ?"

प्रतिभा ने कहा है, "हां-हां, बैठो क्या हुआ ?"

"कुछ नहीं।" सुधीर बैठ गया है।

आगे सुधीर को कुछ मालूम नहीं क्या हुआ। उसे कुछ खाने को मिला। फिर तीन सौ रुपये मिले, इस वाक्य के साथ कि "यह मेरी तुम्हारी पैसे की आखिरी 'ट्रांजैक्शन' है।" सुधीर ने विदा ली। वह धीरे-धीरे चलकर जीना उतरा और फिर खिंचता हुआ सड़क पर आ गया···सड़क जो दूसरी सड़क तक पहुंचेगी और वह सड़क तीसरी तक और फिर वह लम्बी अजगरी सड़क जो उसे घर के पास उगल देगी···

पैदल चलें···?

हां, पैदल···धीरे-धीरे···बस में जेब बहुत कटती है···

सुबह संज्ञा की फीस जानी है···

इस इतने बड़े शहर में सड़कों पर कितना घिनौना अंधेरा रहता है···
क्या बजा होगा ?
क्या पता ?
चलो, सुबह से पहले तो पहुंच ही जाएंगे···
सुबह ही तो संज्ञा की फीस जमा होनी है···

5

अजगरी सड़क पर पहुंचने से पहले तक सुधीर सुन्न रहा। खुद से भी उससे एक शब्द नहीं बोला गया। पर उस सड़क पर उतरते ही पता नहीं क्या हुआ कि उसके भाव जगत् में से लावा ही लावा फूट कर बहने लगा। खुद सुधीर उस लावे की गर्मी और गति से दहल गया···कुछ देर चकित रहने के बाद वह उस विस्फोट का मूक दृष्टा मात्र रह गया···एक-एक शब्द उसकी नजरो के नीचे से होकर बहने लगा···

···मिल गए···सुधीर ने दायां हाथ छाती पर बनी जेब पर रखा···सौ-सौ के तीन नोटों की कड़कडाहट महसूस की···आवाज ने हाथ को छुआ···उसकी चेतना पर एक ठेस-सी लगी···हाथ छाती पर से गिर कर लटक गया···वह फिर होंठो ही होठों में बुदबुदाया, "मिल गए।"···कल संज्ञा की फीस चली जाएगी···फीस···आदमी को सुसंस्कृत बनाने की क़ीमत···या भविष्य में जैसे-जैसे नौकरी कर के जिन्दा रह सके उसका 'प्रीमियम'···पढने-लिखने से संस्कृति का तआल्लुक क्या है···राममनोहर कितना पढा-लिखा है ··कैसे साला बोलता है औरों के और औरतो के बारे में···संस्कृति ·सभ्यता···क्या कहता था यूनिवर्सिटी का वह प्रोफेसर एक दिन—मैं लोटे में दांतुन बजाने का आदी नही हूं—किसी सम्भ्रान्त महिला की बात चल रही थी और वहा बैठे सभी सम्भ्रान्त लेखक हँस पड़े थे इसे वे लोग 'सैन्स आफ ह्यूमर' कहते है। इसी की एक और मिसाल भी तो याद है सुधीर को—सस्कृति के एक प्रतिनिधि का औरतो के बारे में एक शाश्वत सत्य का उद्घाटन—कह रहे थे—इनके दो ही जगह खाज उठती है, एक गले मे और एक वहा दोनो जगह की खाज मिटाते रहो, औरत तुम्हारी है···यही है पढ़ाई-लिखाई से प्राप्त भाषा की परिष्कृति ··पहले शायद औरतो के बारे में ऐसे नहीं बोलते थे···क्या कहता था वह नेहरू—किसी समाज की सामाजिक-नैतिक स्थिति जाननी हो तो उस समाज मे स्त्री की क्या स्थिति है यह जान लो ··लेखक···व्यापारी···राजनेता···क्या फर्क है तीनों में ? तीनों की मूल प्रवृत्तियों में ··फिर यह नाटक क्यों·· बात यही हुई ना···आदमी आदमी है बाकी सब ऐसे हैं जैसे कोट, ओवरकोट, स्वेटर, पुल ओवर, धोती या कमीज, वगैरह-वगैरह·· वह 'असल' है ना, उर्दू का शायर···मतलब खुद को मानता है···लम्बी दाढ़ी, सिर पर लम्बे अनधुले बाल···कुछ सफेद, कुछ काले···पिछले सत्रह साल से वह उसका परिचित है···कभी-कभी तो उस पर बहुत प्यार आता है···सुधीर, यार पॉच रुपए तो दे···नहीं हैं···अच्छा काम्प्रोमाइज़, फिफ्टी-फिफ्टी, ढाई रुपए छोड़ दिए, ला, ढाई रुपए दे···क्या करेगा ?···यह पूछ ना 'आउट आफ ऐटिकेट' है; मैं कुछ भी करूं, रण्डीबाजी करूंगा, तू-कौन होता है साले पूछने वाला···ढाई रुपए में

रण्डीबाजी ?···यह तो एक रुपए में भी हो सकती है···तो ठीक है एक रुपया ले जा···

'असल' बीच सड़क पर खड़ा होकर चीखेगा···फोंश से फोंश गाली देगा, कहेगा, "यह चालाकी है। यह हरमज़दगी है, सुधीर। हम तुझ से मौहब्बत करते हैं। हमें तुझसे ऐसी उम्मीद नहीं थी, तू भी साले कमीना निकला···"

सुधीर एकदम गम्भीर बनकर कहेगा, "असल, हम भी तुझ से मौहब्बत करते हैं।"

"फिर यह टुच्चापन क्यों ?"

"डार्लिंग, मेरे पास देने के लिए एक रुपया ही है।"

"कितने रुपए हैं कुल तेरी जेब में ?"

"चार रुपए तीस पैसे।"

"हिसाब से फ़िफ्टी-फ़िफ्टी कर।"

"यह नहीं हो सकता।"

"क्यों नहीं हो सकता ?"

सुधीर ने कहा, "देख, हिसाब समझाता हूं तुझे। पहली बात यह कि तू इतने दिन बाद मिला है, यह 'आउट आफ ऐटिकेट' है कि साथ बैठकर चाय न पिएं। नम्बर दो यह कि खाली चाय न तुझे पसन्द है, न मुझे, तो एक-एक प्लेट समोसा भी चलेगा। अब जोड़—अस्सी पैसे दो चाय के और अस्सी-अस्सी पैसे की दो प्लेट समोसों की। एक रुपया नब्बे पैसे। है ना। अब यह तेरी 'चॉयस' है, चाहे नब्बे पैसे ले लियो या एक रुपया। बोल ?"

सुधीर को याद है 'असल' कई मिनट तक उसकी तरफ देखता रहा था। उसकी आंखों में चमक आ गई थी। पता नहीं मौहब्बत की या भूख मिटेगी, इस आशा के कारण। पर यह चमक फौरन मिट गई थी। उसने ढेर सारी गालियां उगलते हुए कहा था, "पर हरामजादे, तुझे पता कैसे चला कि मुझे भूख लगी है।"

सुधीर ने और छेड़ दिया, धीरे से बोला, "तू भी 'असल' बस पागल है।"

और फिर क्या नहीं हुआ। 'असल' ने सुधीर के पूरे खानदान को लपेट कर गालियां दीं। नई से नई गाली गढ़ने में 'असल' माहिर है। सुधीर को भी द्वेषहीन, स्नेहपूरित गालियां सुनने में बड़ा रस मिलता है। वह चुपचाप खड़ा सुनता रहा और 'असल' ठंडा होता गया। अचानक 'असल' चुप हो गया। मिनट भर सांस लेकर बोला, "तेरा ऑफर, अभी है ?"

"है, चल।"

"विदड़ा नहीं किया ?" साथ चलते-चलते 'असल' ने पूछा।

"मैं कोई पागल हूं।"

"तूने यह मज़ाक किया है ?"

"नहीं, 'सीरियसली' कह रहा हूं, मैं पागल नहीं हूं।"

"इसमें कोई और मतलब तो नहीं है ?"

"मुझे क्या पता ? मैं कह रहा हूं, मैं पागल नहीं हूं, कोई हो, मुझे क्या ?"

पर 'असल' चुप हो गया था। सुधीर ने प्यार से आदमी के उस अपरूप को देखा। मैले चीकट कपड़े, काले-सफेद सरकंडों में से उगा हुआ चेहरा, 'असल' को नयनवश तीखे पर वक्त की झाड़ू से पिटे। सुधीर ने बाँह पर से पकड़ा, कहा, "बताऊं तुझे, मुझे कैसे पता चला कि तुझे भूख लगी है ?"

"बता।"

"मोटी बात। मुझे भी भूख लगी है।"

"पागल का बच्चा। तेरे खयाल से जो और लोग मुझे मिलते हैं, उन्हें कभी भूख ही नहीं लगती। बहकाता है साले मुझे ?"

"उन्हें लगती है, पर वक्त पर। बस, बाहर भी भूख उन्हें उसी वक़्त दिखाई देती है। मैं और तू वक्त के मोहताज़ नहीं हैं। भूख किसी भी वक्त लग सकती है, इसलिए किसी भी वक्त जहां होती है, दीख सकती हैं।"

"सुधीर, तू साले, है जीनियस। उल्लू का पट्ठा। बहनचोद !"

आत्मविह्वल 'असल' को ले जाकर सुधीर ने रैस्ट्रां में बिठा दिया था और दो चाय और दो प्लेट समोसों का आर्डर दे दिया था। चील की तरह टूटकर 'असल' ने समोसे खाए थे। उसकी दाढ़ी मूँछों पर चटनी और समोसे की कतरनें अटकी रह गई थीं। सुधीर ने खुद कई सालों तक 'बोहेमियन' ज़िन्दगी बिताई है पर खाने-पीने में उंगलियों और चेहरे पर कुछ लगा रह जाए यह सुधीर को कभी अच्छा नहीं लगा। वह अपने को आज भी 'बोहेमियन' ही मानता है पर उसको सिद्ध करने के लिए चेहरे पर कुछ चिपकाया जाए यह न उसे पहले अच्छा लगता था न आज। उसे 'असल' का चेहरा देखकर मितली-सी आ रही थी। उसने फौरन बात शुरू कर दी, "असल, दू दाढ़ी मुंडवा ले।"

"क्यों ?"

"तुझे पता है, तू अगर दाढ़ी मुंडवा दे तो कितना खूबसूरत लगे ?"

"मालूम है। तो ?"

"मुंडवा दे। खूबसूरत लगेगा।"

"बेवकूफ। आदमी को खूबसूरत होना चाहिए। सिर्फ लगना नहीं चाहिए।"

"हो भी और लगे भी तो कोई हर्ज है। पर छोड़, वह सब तेरी समझ में नहीं आएगा, तू साले बुनियादी तौर पर पागल है। मैं तुझे एक और काम बताता हूं। वह करेगा ?"

"बता, सोचूंगा।"

"तू 'सुइसायड' कर ले।"

इस बार मिनट भर 'असल' टकटकी लगाकर सुधीर को देखता रहा, फिर ठठाकर हँस पड़ा, रुका तो बोला, "साला, मज़ाक कर रहा है।"

"नहीं 'असल', मैं सीरियस हूं।"

"सीरियस है ?"

"हां।"

"पर मैं क्यों कर लूं खुदकुशी ?"

इस सवाल का जवाब देना सुधीर को बहुत मुश्किल लगा। कुछ सोचकर उसने कहा, "देख, मैं बताता हूं तुझे···अच्छा, तू एक बात बता। तूने कभी कोई ऐसा धोबी देखा है जिसके पास धोने के लिए कपड़े तो हों नहीं फिर भी वह दिसम्बर जनवरी की कड़कड़ाती सर्दी में सुबह चार बजे अपने खाली गधे को लेकर जमना घाट जाता हो, और रोज़ जाता हो, बिला नागाह !"

"कोई हर्ज़ नहीं। गधे को 'मार्निंग वाक' पर ले जाना कोई जुर्म है ? ये साले कुत्ते ही

क्यों 'मार्निंग वाक' के लिए जाएं ?"

"तेरा खयाल है, मैं मज़ाक की मूड में हूं ?"

"और तेरा ख़याल है, मैं समोसे खाकर पागलपन की बातें करूंगा।"

सुधीर हतप्रभ रह गया। अब क्या बोले। पर मिनट बाद ही 'असल' ने उसे उबार लिया। बेहद मौहब्बत से बोला, "चल ठीक है, पूछ क्या पूछना चाहता है। जवाब देंगे। तू भी क्या याद रखेगा।··· मेरा खयाल है, तू यह पूछना चाहता है कि इतनी घटिया ज़िन्दगी बिताने के बावजूद मैंने ख़ुदकुशी क्यों नहीं की ?"

"हां, शायद यही।"

"तो सुन, मैं अपनी ज़िन्दगी को घटिया ज़िन्दगी नहीं मानता। मैं खुदकुशी क्यों करूं ?"

"यह बढ़िया ज़िंदगी है ?"

"तुझे तक़लीफ़ नहीं होती ?"

"नहीं। क़तई नहीं। तकलीफ़ उनको होती है जिन्हें हर वक्त अपना भविष्य बनाने की चिंता होती है। मैं तो बस, खुद को आज की भूख तक महदूद रखता हूं। तू सच पूछे तो 'आज' भी मुझे तक़लीफ़ कभी नहीं देता। भूख भी लगती है, कोइ- न-कोई तेरे जैसा यार आता दीख जाता है। फिर बता··· "

अजगरी सड़क थोड़ा सा बाईं तरफ घूम गई थी और सुधीर सीधा चलता हुआ सड़क के बीचोंबीच चल रहा था। एक ट्राम सीधे उसके मुँह पर लाइट फेंककर उसे न जगाता तो वह बीच सड़क ही चलता रहता। जागकर उसने देखा कि रात खुब गहरा गई है। चारों तरफ सपाट सन्नाटा है। दाईं-बाईं दोनों तरफ के लोग सोए पड़े हैं। इक्का-दुक्का मोटर-ट्रक-कार लहराती निकल जाती। चौंकाती हुई। पर सुधीर बहुत गहरे में चल रहा था। पल को जागता, फिर डूब जाता··· एक शब्द रह रककर उसके कानों में बजता और चेतना में उतरता चला जाता—चेतना से शरीर में विष की तरह फैलता और घुटी हुई शिथिलता फैलने लगती··· आत्महत्या··· उसे आत्महत्या कर लेनी चाहिए··· अब कुछ भी नहीं तैर रहा तो वही क्यों तैरता रहे ?··· डूब जाए··· हर क्षण घुटे दम से जीते से बेहतर है, एक-दो पाँच मिनट के लिए अचेत होकर दम घुटने का अनुभव करे··· जमना का पुल··· एक छलांग और···

··· कोई नहीं मरता किसी के बिना··· सब पल-बढ़ जाते हैं··· और न पलें, न हो बढ़ें··· क्यों ज़रूरी है कि सब बड़े हों ही··· कुछ यात्राएं क्या छोटी नहीं होनी चाहिएं··· छोटी-छोटी यात्राएं बहुत सुखद होती हैं··· यात्रा लम्बी हो जाएं तो यात्रा का 'थ्रिल' ही खत्म हो जाता है··· 'थ्रिल' खत्म हो जाए तो खुद नाव से कूद पड़ना चाहिए··· यह व्यक्ति का नैतिक कर्त्तव्य है··· मरा हुआ आदमी जिंदा आदमियों में बदबू फैलाने लगता है··· शव को श्मशान तक पहुंचाने की कितनी जल्दी मचाते हैं सगे-संबंधी··· उसी तरह ज़िदा लोगों के साथ भी तो··· जिनका मन मर गया हो, उन्हें सम्मान से बीच से हट जाना चाहिए··· मन क्यों मरा ? किसने मारा ? ये असंगत प्रश्न हैं। हर जिन्दा आदमी बराबर वाले को मारकर अपने जीवन को उद्दीप्त करता है··· शिकार का मज़ा लेता है··· आप शिकारी नहीं बन सकोगे तो शिकार बनोगे और हमेशा याद रखना, शिकारी बड़ा होता है, शिकार छोटा ?··· यह दुनिया का क़ायदा है··· इसे कोई बदल नहीं सकता··· और जहां तक छोटे-बड़े की भावना से मुक्त होने की बात है··· मुश्किल

है, ऐसा एक भी आदमी मिलना मुश्किल है··· तुम छोटे सिद्ध हो चुके हो सुधीर, जंगल छोड़ दो··· इससे पहले कि मारे जाओ, भाग जाओ··· किसी के तेज़ दांतों की पकड़ से बचना चाहते हो तो अपने पैरो की शरण में जाओ, भागो··· जंगल का मोह छोड़ो··· जंगल आखिर जंगल होता है···

क्या करूं ?

करना क्या है बस, विदा लो जंगल से।

साथी संगी ?

पागल हो ? खुश होंगे। आदमी कम होता है तो चीज़ खुद-न-खुद बढ़ जाती है··· वितरण में आसानी हाती है और कई छीना-झपटी की शर्म से बच जाते हैं··· कर डालो यह उपकार इस समाज पर···

तो कर डालूं ?

हां, तुम्हारा भला होगा और सब का भला होगा··· उनका भी जिनके पास कुछ नहीं है और जिन्हें ज़रूरत है और उनका भी जिनके पास बहुत है और जिनकी भूख अनन्त है···

तो ?

बस—वन लीप फॉरवर्ड···

ओ० के०। पर उससे पहले एक छोटी-सी बात···

क्या ?

आओ, गले मिल लें।

ठीक है, पर 'लीप फॉरवर्ड' से ठीक पहले···

मँजूर।

पुल आ गया··· गहरे अंधेरे के विस्तार में चमकता एक भ्रम, जो आदमी को इधर उतार देता है··· सुधीर तैयार है··· उसका विवेक खिसककर नेपथ्य में जा चुका है और उसकी आवाज़ बुदबुदाहट में बदल चुकी है··· मन मृत-शांत है··· काया मे नैसर्गिक शैथिल्य है··· बस, आंखें खुली हैं और अमूर्त्त ठोस काले विस्तार को ठोस काले पत्थर में बदल रही है··· यह प्रक्रिया जब पूरी हो जाएगी तो सुधीर धीरे से काले पत्थर पर जाकर खड़ा हा जाएगा··· और सब ठीक··· जिससे सुधीर गले मिलना चाहता था··· वह भी चला गया··· पता नहीं कब··· अब कहीं कोई आवाज़ नहीं··· बस, एक आवाज़ है, बहुत मधुर··· बहुत तरल··· बहुत वेदनामय··· अमूर्त्त के मूर्त्त में बदलने की··· पूरी बहती नदी के धीरे-धीरे जमकर बर्फ होने की··· पिघलकर बहने में शोर बहुत होता है··· पर बहते पदार्थ के जमने की प्रक्रिया एक विश्वग्रासी प्रशांति को उत्कीर्ण करती है··· और उसकी अनुभूति···

कोई किसी से बोल रहा है, "जा रहे हो ?"

"हां।"

"क्यों ?"

"पता नहीं। क्यों आया था यह भी किसी ने नहीं बताया।"

"सोचा है, पत्नी का, बच्चों का क्या होगा ?"

"जिन्दा रहेंगे। बाकी के लोग जिन्दा रहते हैं।"

"प्रतिभा ?"

"मुक्ति का सांस लेगी।"

"यह तुम्हारा पश्चाताप है ?"

"कुछ नहीं है, बस, यात्रा का अन्त है। एक निरर्थक यात्रा का अन्त।"

"तुमने कुछ किया क्यों नहीं, अपने जीवन में ?"

"पता नहीं। शायद सिर्फ कपास बोता-काटता रहा और कपड़ा बुनना··· तुम जाओ··· मुझे तंग न करो··· मेरे जाने का वक्त··· देखो, कैसा ठोस काले पत्थर का हिमालय मुझे पुकार रहा है···

"ठीक है, जाओ, फिर आना···

"इतनी बड़ी ग़लती··· फिर··· नहीं···"

पर पूरे जीवन में जो होता रहा, वही उस दिन हुआ··· सुधीर का हर प्रयास फुस्स होने के लिए शापग्रस्त है···

अंधेरे में रेत उसे पानी दीखा··· चोट तो बिलकुल नहीं आई पर दिमाग़ उसका एकबारगी ही विक्षिप्त हो उठा··· उसे गिरते देखकर बहुत से लोग नीचे रेत पर उतर आए और उसके चारों तरफ इकट्ठे हो गए··· किसी ने कुछ पूछा, किसी ने कुछ··· वह प्रश्न-भरी दृष्टि से सब की तरफ देखता रहा··· लोगों ने समझ लिया आधा पागल है··· घसीट-धकेल कर उसे ऊपर लाए और एक तरफ को खिसकाकर तितर-बितर हो गए··· सुधीर फिर अपने घर की तरफ खिसकने लगा··· अब भी उसके दिमाग़ में सवारी लेने की बात नहीं आई··· दिमाग़ उसका उस समय शायद काम कर ही नहीं रहा था···

आत्महत्या के प्रयास का केस सिर्फ इसलिए नहीं बना कि पुल पर तैनात सिपाही को उस पर रहम आ गया··· पागल है, जाण दो घर··· नहीं तो फँसा फिरैगा···

सुधीर घर पहुंचा···

"खाना ?" रमा ने पूछा।

"नहीं।"

"हो गया संज्ञा की फीस का इन्तज़ाम ?"

"हां।"

"यह तुम्हारे कपड़ों पर रेत···?"

सुधीर चुप रहा।

"कहीं गिर गए थे ?"

"हां।"

"कपड़े बदल लो।"

"मेरी खाट ?"

"क्या हुआ ? कुछ तबीयत खराब है ?"

सुधीर चुप रहा। इधर-उधर देखकर अपनी खाट पहचानी और गिरकर ढेर हो गया।

6

उस दिन की लिपटी काली चादर सुधीर के शरीर पर से कभी नहीं उतरी। सुधीर की बाईं आंख के ऊपर माथे पर उसी दिन से हल्का-हल्का दर्द रहने लगा। एक भारीपन-सा। जो कभी-कभी खूब तेज़ चसक जैसा हो जाता। चारों तरफ घूमती दुनिया में उसकी रुचि और भी कम हो गई। चीजों को उसने सिर्फ खबरों के स्तर पर पकड़ना आरम्भ कर दिया। संज्ञा और भास्कर बहुत नज़दीक आ चुके हैं। उन्होंने एक 'युवा ऋतवादी दल' बनाया है, जिसकी सक्रियता दिन पर दिन बढ़ती जा रही है। रमा नौकरी पर जाने लगी है। संज्ञा ने खुद कुछ ट्यूशन पकड़ लिए हैं। किसी ने पगली को जान से मारने की कोशिश की। वह बाल-बाल बच गई। रेल की पटरियों पर दो आदमी और कट गए। पीछे की पॉश कालोनी में दो रुपये और बीस रुपये का नोट और डाक टिकट छापने वाली एक मशीन पकड़ी गई। हरद्वारी बहू को जलाकर मारने के आरोप से बरी हो गया। कीकर के जंगल में दो गुटों की सारी रात लड़ाई हुई, पत्थरों और लाठियों से, बहुत लोग घायल हुए, मरा कोई नहीं। पुलिस ने सुबह फैसला करा दिया। सब ने हाथ पैर जोड़े···

सुधीर ने लिखने की बहुत कोशिश की। कुछ नहीं हुआ। रमा का काम करना उसको तकलीफ दे रहा था। उससे रहा नहीं गया। उसने भी थोड़ा-बहुत प्रूफ-रीडिंग का काम आसपास से पकडना शुरू कर दिया। पर उसे लगा यह काम उसके सिरदर्द को बढ़ाता है, उसमें पिनें चुभने का 'इफैक्ट' पैदा करता है···फिर भी···

हां, मुकदमे की तारीख के दो दिन पहले से वह बहुत सतर्क होता···

एक दिन संज्ञा ने कालेज से आकर कहा, "पापा आज शाम को मेरे कुछ दोस्त आएंगे। भास्कर भी; बातचीत में हिस्सा लोगे ?"

"लूंगा। श्रोता की हैसियत से।"

संज्ञा हँस पड़ी, बोली, 'आपकी जनरेशन, पापा, इतनी 'हिपोक्रेट' क्यों है ?"

"इसमे क्या 'हिपोक्रेसी' हो गई ?"

"मतलब कोई तुमसे कुछ पूछेगा, तो जवाब नहीं दोगे, कहोगे—मै श्रोता हूं। अरे, कहो उत्साह से कि हिस्सा लोगे। हम लोगो की चुनौती झेलने को तुम लोगों को तैयार होना चाहिए।"

"कोई चुनौती है, तुम्हारी तरफ से ?···पर छोड़ो, लेकिन मैं तो अपनी पीढ़ी का प्रतिनिधि नहीं हूं। वैसे भी मै हर दृष्टि से असफल आदमी हूं। मैं···"

संज्ञा बिलबिला गई, चेहरे पर गहरी भावना लाकर बोली, "मैं तुम्हें असफल आदमी नहीं मानती। जो आदमी हर परिस्थिति में अपनी ज़िद पर अड़ा रहे, अपने सिद्धान्त को न तोड़े और जिसका सोचने का अपना अलग तरीका हो, वह कभी असफल नहीं कहला सकता। तुम जिसे सबसे कम महत्व देते हो—पैसा और दुनियाबी कामयाबी—बेहद अफसोस की बात है, वही तुम्हारी हीनता-ग्रन्थि का कारण है। अपने ही अन्दर के सांप की कुडली मैं जकड़ा आदमी, पापा···तुम्हें इससे मुक्त होना चाहिए···तुम···"

"संज्ञा!"

"हां पापा!"

"तुमसे जरा-सी गलती हो गई पहचानने में।"

"क्या ?"

सांप तो मेरे ही अन्दर का है, पर वह उस कारण नहीं जन्मा जो तुम समझी हो, वह…"

"मैं नहीं सुनना चाहती वह किस कारण जन्मा है, मैं चाहती हूं, तुम उसे कुचल दो, उसके प्रभाव से मुक्त हो जाओ, सही मानी में मेरे पापा हो जाओ।" कहते-कहते संज्ञा विह्वल हो उठी। पलंग पर बैठे सुधीर के पास ही बैठ गई और उसकी तरफ टुकुर-टुकुर ताकने लगी।

संज्ञा की दृष्टि से बचने के लिए सुधीर ने कहा, "संज्ञा, एक कप चाय ही ले आ बनाकर, फटाफट।"

"कहती हूं अम्मा से।"

"ओफ़्फोह ! संज्ञा जी, अच्छी चाय चाहिए।"

"अम्मा अन्दर रसोई में हैं। तुम्हें डर नहीं लगता ?" कहकर संज्ञा हँस पड़ी।

सुधीर भी हल्का हो गया था। बोला, "लगता है, पर मुझे कैसे मालूम वह रसोई में है। मैंने तो समझा, अभी आई ही नहीं।"

"अरे पापा, तुम्हें इतने दिनों में इतना भी पता नहीं चला कि अम्मा जब रसोई में होती हैं तो ऐसा लगता है जैसे दसियों चूहे एक साथ खटर पटर कर रहे हैं।"

सुधीर लेकिन कुछ सोचने लगा था। मज़ाक का मज़ा नहीं ले सका। बोला, "पर आज जल्दी क्यों आ गइ ?"

"पता नहीं।"

"रमा, ओ रमा !" सुधीर ने अधीर होकर पुकारा।

रमा हमेशा की तरह धोती के पल्ले से हाथ पोंछती हुई अन्दर घुसी। आकर खड़ी हो गई। रोज़ की तरह 'क्या है' नहीं कहा।

सुधीर और संज्ञा, दोनों ने रमा का चेहरा देखा।…भारी था।

"क्या हुआ रमा ? जल्दी क्यों आ गई ?"

"नौकरी छोड़ दी।"

"अच्छा किया…बहुत अच्छा किया…पर हुआ क्या ?"

रमा के चेहरे पर एक गहरी वितृष्णा का भाव उभरा पर उसने फौरन ही उसे दबा दिया, कहा, "चाय रख दी है।"

"पर हुआ क्या ?"

"कोई और नौकरी तलाश करूंगी।"

"पर—"

"छोड़ो, यह पर-वर, चाय पियो और करो लफ़्फ़ाजी। जिनका पेट बातों से भरता हो, उन्हें क्या ज़रूरत है यह जानने की कि दुनिया में क्या हो रहा है।"

कहकर रमा अन्दर चली गई।

सुधीर और संज्ञा दोनों पर सकता छा गया। दोनों समझ गये, कुछ अनिष्ट घटा है। संज्ञा के चेहरे पर तनाव इतना गहरा हो गया कि सुधीर देखकर घबरा गया। उसका अपना मन बहुत तीता हो गया था और अचानक सिर में तीखे दर्द की लहरें उठने लगीं थीं। संज्ञा मिनट भर सुधीर का विकृत होता चेहरा देखती रही। उसे अन्दर से एक विरक्ति का अनुभव हुआ, एकदम

ठंडी आवाज में उसने कहा, "तुम्हें पता है पापा, अगर तुम दोनों में कभी झगड़ा हुआ तो मैं किसकी तरफ हूंगी ?"

सुधीर ने शुष्क स्नेह से संज्ञा की तरफ देखा और बेहद मन्दी आवाज़ में कहा, "पता है, रमा की तरफ, तुम ईमानदार लड़की हो !"

"तुम्हें दुख नहीं होगा ?"

"होगा। तुम्हारे बिछुड़ने का। पर तुम्हारी सही निर्णय लेने की क्षमता पर खुशी भी होगी।"

संज्ञा हतप्रभ रह गई। मुग्ध भाव से पिता की ओर देखती हुई बोली, "ओह ! पापा ! तुम बहुत 'डिसैप्टिव' हो, पता ही नहीं चलता कि—"

पर इससे पहले कि संज्ञा बात पूरी करती रमा ने दोनों के बीच चाय रखते हुए बात काट दी, "लो, चाय पिओ, गला सूख गया होगा।"

दोनों चुप होकर चाय पीने लगे। रमा का चेहरा अब कुछ सहज था। दोनों ने नहीं चाहा कि नौकरी की बात शुरू करके फिर उसका मूड खराब किया जाये।

चाय पीकर संज्ञा अपने दोस्तों के स्वागत की तैयारी में लग गई।

कुल मिलाकर छः लोग आए। भास्कर, सुनीला, मिलिन्द, राजीव, रेणू और मंजूषा। सब एकदम युवा। एकदम ताजे, हृष्ट-पुष्ट। सुधीर को बहुत अच्छा लगा। उसका मूड कुछ-कुछ ठीक हो गया। नये खून का अदृश्य प्रभाव उसे अनुभव होने लगा। सब बी० ए०, एम० ए० के छात्र थे। पहले तो कुछ देर फुटकर हँसी-मज़ाक और चाय होती रही। फिर अचानक संज्ञा ने जैसे 'क्लैप' कर दिया, "भास्कर, क्या कह रहे थे तुम उस दिन कि हमारा सारा भारतीय समाज अनैतिकता का नहीं एक सामूहिक निर्नैतिकता का शिकार है, हमें सबसे पहले इस पर चोट करनी चाहिए। अनीति से आदमी लड़ सकता है, पर निर्नीति से कैसे लड़े ? यही हमारे देश के बुद्धिजीवियों और राजनीतिज्ञों का संकट है कि वे इस तथ्य को पहचान नहीं पा रहे हैं। किसी भी तरह की 'मोरल सैन्स' का होना समाज-परिवर्तन के लिए बहुत आवश्यक है। यहां थी ना तुम्हारी बात ? एम बाई क्लीयर ?"

भास्कर ने कहा, "हाँ, मैं यही कह रहा था।...मेरी धारणा यही है। पर सुविधा के लिए इस प्रश्न को तीन हिस्सों में बाँट लें। यह स्थिति है या नहीं ? यह समाज-परिवर्तन की प्रक्रिया में बाधक है या सहायक और ऐसी स्थिति क्यों है ? क्यों सुधीर जी, आपका क्या मत है ? आप मेरी इस धारणा से सहमत हैं ?"

सुधीर ने इस दृष्टि से कभी नहीं सोचा था। पर बात कानों में पड़ते ही दिमाग़ को गुँजा गई। उसने कहा, "बात तो बहुत सच लग रही है। पर बहस से पहले मैं अनैतिक और निर्नैतिक का भेद समझना चाहूंगा। यानी 'एमॉरल' और 'इम्मॉरल' क्रियाओं को अलग-अलग पहचानने का मापदण्ड ?"

"यह बताना तो बहुत मुश्किल है।"

"तो पहले इसी पर बात करें।"

"आप बताइये।"

सुधीर सोचता रहा। फिर बहुत धीरे-धीरे बोला, "ये दो रुझान हैं, मानसिक, जिनका फर्क शायद वही समझ सकता है जो इनका भोक्ता है, बाहर का आदमी कैसे समझेगा। फिर भी मैं समझता हूं कि 'एमॉरल' में शायद 'गिल्ट' नहीं होता।"

"गिल्ट तो 'इम्मॉरल' में भी नहीं होता। पैदा हो जाये तो वह खुद को बदलना शुरू कर दे।" भास्कर ने तत्काल कहा।

इस बार सुनील बोला, "वैसे भी गिल्ट तो उनमें होगा जिनमें 'कान्श्यैन्स' होगी, उसके बिना गिल्ट कैसे होगा।"

"तो फिर कैसे पहचानें ?" मिलिन्द ने पूछा।

और सुधीर ने थोड़ा रुक कर कहना शुरू किया, "देखिए, मैं इसे ऐसे समझता हूं कि एमॉरल अपने सारे सामाजिक और व्यक्तिगत व्यवहार में एमॉरल होगा, जो मन आएगा सो करेगा, जो अच्छा लगेगा सो करेगा, क्योंकि पूरा मूल्य-तंत्र उसे छूता ही नहीं। न उसमें अपने किसी भी ऐसे कामों के परिणामों का भय होगा, न ही यह जोड़-तोड़ कि इस परिणाम से बचने के लिए यह करना है, क्योंकि समाज तो अपने नियम-क़ानून के तहत उसे सजा देगा ही। पर दूसरी तरफ 'इम्मॉरल' बहुत चालाक आदमी होता है। वह अपनी सुविधा के लिए कहीं बहुत मॉरल होता है और अपने सुख के लिए कहीं 'इम्मॉरल'। साथ ही परिणामों से बचने की वह भरकस कोशिश करता है। इस व्यक्ति की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि जो मूल्य खुद तोड़ता है, उसी मूल्य को यदि कोई दूसरा तोड़ता है तो इसे बहुत तकलीफ होती है इस प्रक्रिया में एक और तथ्य उजागर होता है, वह बहुत मनोरंजक है। अमीर लोग उन मूल्यों से खेलते हैं जो अधिक व्यापक महत्व के होते हैं और गरीब उन मूल्यों को तोड़ते हैं जो संकुचित प्रभाव के होते हैं। यह शायद इसलिए होता है क्योंकि अमीरों का परिणामों से बचने के लिए बना दुर्ग ज्यादा मजबूत होता है, और गरीबों के पास तो दुर्ग होता ही नहीं। ऊंची सोसायटी में एक खास बात और होती है कि वे इस सारी प्रक्रिया को एक 'क्लास मैनरिज़्म' का नाम देकर अन्दर और बाहर की हास्यास्पदता से बच जाते हैं। यह भी सम्भव है कि देश के साधनों को अधिक से अधिक अपने लिए सँजोने की प्रक्रिया में जो भारीपन उनके मन पर आता हो उसको यही तेज़ाब थोड़ा बहुत साफ कर पाता हो।"

"उसको मन वर वज़न आता है ?"

"हां, शायद जरूर आता है। आदमी आदमी ही रहता है, पत्थर नहीं बन सकता।"

इस बार संज्ञा ने कहा, "तो तुम्हारे हिसाब से तो पापा, भास्कर की बात ग़लत साबित हुई। हमारे समाज में स्थिति अनैतिक ही है, निर्नैतिक नहीं। और यह भ्रम सिर्फ इसलिए होता है क्योंकि बहुत बड़े पैमाने पर नैतिक मूल्यों की उपेक्षा की जा रही है। पर नैतिक मूल्यों की उपेक्षा या नकार और पूरे मूल्य-तंत्र से ऊपर उठना तो दो बातें हुईं ना ?"

"हां, बहुत फ़र्क है। और भास्कर मैं अपने पक्ष में एक बात और कहना चाहता हूं। तुम्हें चारों तरफ ध्यान से देखने से महसूस होगा कि हमारे यहां शायद ही कोई ऐसा आदमी मिले जिसमें किसी भी अपने बुरे काम को लेकर 'गिल्ट' हो। इतना उद्वेगरहित समाज शायद ही दुनिया के तख़्ते पर दूसरा हो। इस बात की चिन्ता में तो सब मिल जायेंगे कि देखो वह आदमी इतनी तरक्की कर गया और मैं पीछे रह गया, तो भागो। और तत्काल वे ही तरीके अपना लेंगे जो आगे वाले ने अपनाए होते हैं, पर कम ही लोगों को मैंने आत्मिक द्वन्द्व की स्थिति में देखा है और यही कारण है शायद कि हमारे यहां सोच का स्तर दिन-पर-दिन गिरता जा रहा है। सोच तो मानसिक द्वन्द्व में से आता है। अपने हिन्दी के लेखकों की ही बात लो...."

संज्ञा ने बात काट दी, "नहीं पापा, अपनी कहानी नहीं। यह बता सको तो बताओ कि

हम लोग क्या करें और शुरुआत कहां से हो।"

सुधीर एकदम संकुचित हो उठा, बोला, "मैं क्या बता सकता हूं। हां, इतना जरूर महसूस करता हूं कि हमारे समाज में सोच की सब प्रक्रियाएं सूखी पड़ी हैं। बुद्धिमान लोग तक सोचने से कतराने लगे हैं। इन्हें हरा कर सको तो शायद…"

"पर कैसे ?"

"यह मैं नहीं जानता। पर आप लोग तो कुछ काम शुरू कर चुके हैं ?"

"हां, कुछ कार्यक्रम किए तो हैं हमने मजदूर-बस्तियों में।"

सुधीर चुप हो गया। अचानक उससे कुछ नहीं कहा गया।

इस बार राजीव ने पूछा, "आप चुप क्यों हो गये ? हमें शुरुआत यहीं से करनी चाहिए ना ?"

सुधीर ने भास्कर की तरफ देखा। उसकी बड़ी बड़ी तेजस्वी आंखें उसी पर टिकी थीं। सुधीर ने कहा, "मेरे विचार से जडता यहां 'इलीट' में है, बुद्धिजीवियों में। उसे तोड़ना चाहिए पहले। मजदूर कभी जड़ नहीं होता। सोते आदमी को जगाओ, जागते को…"

"पर 'इलीट' तो यहां का बहुत निकम्मा है।"

"वही तो, उसमें एक 'मॉरल सैन्स' पैदा करने का प्रयास करना चाहिए। उनकी 'कान्श्यैन्स' को झिंझोड़ कर जगाने की कोशिश करनी चाहिए। जिससे वह खुद सोचना शुरू करे। कोई हर्ज नहीं, सोच किसी भी विचारधारा से मेल खाली हो। पर सोच सोच होती है। उसका प्रभाव बहुत व्यापक होता है…"

"पर प्रश्न तो यही है, यह हो कैसे ?"

सुधीर ने निराश भाव से कहा, "यह मैं नहीं जानता। मै यह कभी नहीं जान पाया। पर मेरा यह विश्वास है कि रास्ता यही है।"

"कुछ राजनीतिक पार्टियां कर तो रही हैं।"

इस बार सुधीर हँस पड़ा, बोला, "पार्टी के हैड-आउट रटवाने को नया बुद्धिजीवी तैयार करना नहीं कहते। अन्दर की आग के बिना बनी बनाई विचारधारा को याद कर लेना विश्वविद्यालयीय शिक्षा ही की तरह की चीज़ है। मैं उस आग को जलाने की बात कर रहा हूं जिसकी लपटें अपने स्वधर्म में से विचार बनाती हैं। मेरा मतलब…"

इस बार कई लोग इकट्ठे बोल उठे, "पर यह हो कैसे ? इसकी शुरुआत कहां से हो ?"

कुछ देर सब चुप रहे। फिर वातावरण को हल्का-फुल्का करने के लिए हँसी मज़ाक करने लगे। रमा ने संदीप और समीर की मदद से सबको चाय नाश्ता दिया। सुधीर को चाय देते हुए रमा ने हँसकर कहा, "तुम्हारा पेट तो भर गया होगा। नाश्ता तो क्या करोगे ?"

"चाय तो दो। जो खाया है, गले के नीचे उतरे।"

"किसी और को तो तुमने बोलने दिया नहीं। बिना बात बच्चों को बोर किया। कोई घर तुम्हारे आ ही जाये तो उसकी इतनी जान क्यों खाते हो कि दोबारा इधर का रास्ता ही न भूले।"

सुधीर खिसिया गया। झेंप मिटाने के लिए भास्कर की तरफ मुँह कर के बोला, "क्यों जी, भास्कर डियर, मैंने आप लोगों को बोर किया है ?"

भास्कर हँस पड़ा, बोला, "नहीं तो, बोर तो नहीं किया पर यह तो सच है ही की आपमें 'सेन्स आफ ह्यूमर' जरा कम है। बात को आप भारी तो बना देते हैं।"

सुधीर मान गया, "हां यार, यह रोग तो मुझे में है।"

सब हँस पड़े। वातावरण एकदम सहज हो गया। चाय पीकर एक-एक कर सब चले गये। भास्कर भी चला गया। सुधीर भास्कर से बहुत प्रभावित हुआ था। उसका बैठने-उठने का ढंग। दाढ़ी में से उगता हुआ चेहरा। सिर पर हल्के सुनहरे उलझे-उलझे घुंघराले बाल और दो बड़ी-बड़ी दार्शनिक आंखें, सुधीर को मोहित कर गई थीं। उसने संज्ञा से कहा, "प्रभावशाली आदमी है।"

"कौन ? " संज्ञा कुछ सोच रही थी।

"भास्कर !"

वह तो है ही।···पापा एक बात पूछूं ? बुरा तो नहीं मानोगे।"

"तुझे मेरे बुरा मानने की कब से चिन्ता होने लगी ?" सुधीर ने हँसकर कहा।

"फिर भी। बोलो ?"

"नहीं मानूंगा। पूछ।"

फिर भी मिनट भर संज्ञा चुप रही। अन्त में दुविधा जीतकर बोली, "ये, प्रतिभा जी भी काफी अमीर हैं ?"

"तो ?"

"तुम जो अमीरों के बारे में बोल रहे थे। उनके बारे में भी सच है ?"

अब सुधीर समझा। उसके चेहरे पर एक बहुत स्नेहसिक्त मुस्कान खिंच आई। उसने धीरे से कहा, "तुझे एक बात बताऊं संज्ञा ?"

"हां।"

"मैंने पिछले दो सालों में जो प्रतिभा से सीखा है, बीस सालों में अपने वर्ग से न सीख पाया।"

"कैसे ?"

"अपने वर्ग के अपराधों को लेकर जितना गिल्ट उसमें है अपने अपराधों को लेकर भी शायद ही किसी में मैंने देखा हो। तुझे मालूम है, किसी जगह किसी अपरिचित के भूख से मरने की खबर उसे कई-कई दिन के लिए खाने के विरक्त कर सकती है···संज्ञा, जो दूसरों के दुख को अपना दुख और किसी और के अपराध को अपना अपराध मान सकते हैं उनका कोई वर्ग नहीं होता···फिर स्त्रियों को तो वैसे भी इस सबसे अलग मानना चाहिए।

"क्यों ?"

"स्त्रियों का वर्ग-चरित्र उन पर आरोपित किया जाता है।"

संज्ञा पल भर चुप रहकर बोली, "पापा, किसी दिन उन्हें घर बुलाओ ना।"

"बुलाएंगे बेटे, जरा कुछ-ठीक-ठाक हो जाए।"

"सुन्दर बहुत है, सुना है।"

"संज्ञा, अन्तःकरण साफ हो, विवेक सजग हो, शरीर उद्दीप्त हो तो व्यक्ति सुन्दर लगता ही है।" सुधीर भावमुग्ध बोला। यह भूलकर कि वह किससे बोल रहा है।

पर संज्ञा सहज जिज्ञासा से भर गई थी। बोली, "तुम पापा, उन पर मोहित हो ?"

सुधीर ने संज्ञा की तरफ़ देखा। चेहरे पर व्यंग नहीं था, सहानुभूति थी। उसे बहुत अच्छा

लगा। बेटी दोस्त की तरह बोल रही थी। उसे थोड़ा गर्व भी हुआ अपने पर। ठीक शिक्षा दे रहा है वह बच्चों को। मानसिक रूप से स्वतंत्र हैं। कुछ और नहीं दे सका, कम-से- कम यह तो दिया। उसने संज्ञा का हाथ पकड़ कर पास ही पलंग पर बैठा लिया। छोटी-सी थी, कैसी बड़ी-बड़ी लगने लगी है। उसने धीरे से कहा, "हां, हूं तो। पर मैं अपनी सीमायें समझता हूं संज्ञा। तुझे मेरी वजह से कभी शर्मिन्दा नहीं होना पड़ेगा। फिर तू जानती ही है, मैं रमा से कितने गहरे में बंधा हूं। उसको अपमानित करने का मुझे कोई अधिकार नहीं है। और सबसे अधिक महत्व की बात यह है कि प्रतिभा मुझे तब मिली है जब मैं जाने की तैयारी में हूं।"

"जाने की तैयारी में ? कहां जाने की ?"

"तुझे खाना नहीं खाना ?"

"खा लूंगी। पर बताओ ना।"

"तू और बड़ी हो जा, बताऊंगा।"

पुराने स्टोव की आवाज़ का एक सुख यह है कि वह खाना बनाते आदमी को कुछ सुनने नहीं देता। संज्ञा खाना लगवाकर सुधीर के पास ही कमरे में ले आई। सुधीर की आदत है वह खाना सबसे बाद में खाता है। इसलिए कोई उससे नहीं पूछता। सबके खा लेने पर उसे ला दिया जाता है और वह चुपचाप खा लेता है।

संज्ञा ने खाते-खाते पूछा, "पापा ! एक बात बताओ ?"

"क्या ?"

"वह भी तुम से प्रेम करती हैं ?"

सुधीर हँस पड़ा। बोला, "मुझे नही पता। प्रेम का शायद मेरा कोई अनुभव भी नहीं है इसलिए जानता भी नहीं कि प्रेम कैसा होता है। पहले कई तरह के रिश्तों में प्रेम का भ्रम बनाया पर वह भ्रम जल्दी ही टूट गये। जहां तक प्रतिभा का सवाल है, वह मेरे शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के प्रति चिन्तित दीखती है और मेरा अस्तित्व बना रहे यह चिन्ता उसके दिल-दिमाग को कुरेदती है। मेरी सब व्यथाओं का जो मूल है, मुझे लगता है वह उसमें हिस्सा बटाना चाहती है। मुझे पता नही यह प्रेम है कि नहीं। पर यदि नहीं भी है, तब भी मेरे लिए यह बहुत है और शायद उससे बड़ी ही चीज़ है। एक बात और संज्ञा, और वह यह कि वह मेरी कमजोरियों के साथ मुझे स्वीकार करती है। यह शायद मेरे जीवन का पहला अनुभव है। पर छोड़ो··· संज्ञा, एक बात बताऊं आदमी को आदमी के रूप में स्वीकार करना बहुत मुश्किल काम है। नहीं ?

"वह काम अम्मा ने नहीं किया।"

"किया और बहुत सम्मानजनक तरीके से किया पर सम्बन्ध के कारण। महत्व बढ़ नहीं जाता, जब कोई बिना किसी स्वार्थ के, बिना किसी बाध्यता के, बिना किसी सम्बन्ध के करता है ?"

संज्ञा ने सोचते हुए कहा, "हां, बढ़ तो जाता है।"

"तू यह मानती है संज्ञा, मैं किसी के सामने रमा को छोटा करूंगा ?"

"नहीं पापा ! वह नहीं सोच रही। मैं तुम्हारे सुसंस्कृत मन से परिचित हूं··· पर···" संज्ञा ने कहकर अमित करुणा के भाव से सुधीर की तरफ देखा।

"पर क्या ? बात पूरी कर ना। संकोच क्या है ?"

"मैं कह रही थी, मां की तकलीफ···?"

सुधीर का स्वर बहुत मन्दा हो गया, बोला, "जानता हूं संज्ञा, उसकी मुझे बेपनाह तक़लीफ है, पर मैं खुद से झूठ नहीं बोल सकता। न तुम से, न रमा से, न प्रतिभा से। फिर वह मेरे अन्तःकरण को जगा रही है। कितने दिनों से मैं एक चलते-फिरते मुर्दे की तरह घिसट रहा था। मेरा स्वार्थ ही समझ लो, पर मैं चाहता हूं कि जब में मरूं तो लोग कहें कि एक 'आदमी' मरा है। बस, कम से कम तू···"

"मैं समझती हूं पापा, तुम्हारी तक़लीफ भी समझती हूँ। तुमने कभी कुछ बताया तो नहीं पर इतना तो साफ ही लगता है कि काफी सालों से, जब से मैंने होश सँभाला है, तुम तक़लीफ में हो और हम लोग सम्बन्धों की बाध्यता के कारण उस तक़लीफ में साझीदार हैं। दूर इसलिए नहीं कर सकते क्योंकि सम्बन्धी हैं। मैं जानती हूँ, तुम असमर्थ नहीं हो, तुम्हारी सामर्थ्य में घुन लगा है। पर पापा···"

"ठहरो संज्ञा! तुम लोग मेरी तक़लीफ में नहीं, उस तक़लीफ के परिणामों में साझीदार हो।"

"तक़लीफ तुमने कभी बताई ही नहीं।"

"वह कभी बताई नहीं जाती।"

"तो ?"

"बस, आदमी जान जाता है।"

"तुम्हारा मतलब, मैं या माँ तुमसे प्रेम नहीं करते ?"

"मैंने यह नहीं कहा।"

"और क्या मानी हैं तुम्हारी इस बात के ?"

सुधीर को लगा संज्ञा कहीं अन्दर चोट खा गई है। वातावरण को हल्का करने के लिए हँस पड़ा, बोला, "संज्ञा बेटे, गुस्सा नहीं हुआ करते।"

"मैं गुस्सा नहीं हूं, पर जवाब मुझे मिलना चाहिए।"

कुछ देर सुधीर चुप रहा। फिर बोला, "अभी ?"

"हां।"

"और अगर मैं कहूं, तुम जैसी समझदार लड़की को यह बात भी खुद ही समझ लेनी चाहिए थी।" चलो, मैं मूर्ख भी हूं। अब बताओ।"

"लड़ने की मूड में हो ?"

"मेरा हक़ है।"

"तो सुनो संज्ञा, मैं मानता हूं कि तुमने और रमा ने मुझसे प्रेम तो बहुत किया पर मेरे प्रति करुणा का अनुभव कभी नहीं किया। मैं करुणा को प्रभाव की व्यापकता में प्रेम से बहुत बड़ा मानता हूं। प्रेम टूटता-जुड़ता है, शरीर-मन पर अच्छे-बुरे प्रभाव पैदा करता है, करुणा में ऐसा कोई दोष नहीं है। हमेशा से शायद मुझे प्रेम से भी अधिक करुणा की जरूरत थी। मैं बीमार आदमी हूं···चलो छोड़ो, खाना खा लिया ?"

"हाँ।"

"तो पढ़ो। छोड़ो, इस सब वाहियात को।"

"प्रतिभा जी में तुम्हारे प्रति करुणा है ?"

"हां, शायद ढेर सारी।"

"कुछ दे देने को करुणा मानते हो ?"

"हां, और कुछ न देने को भी करुणा ही मानता हूं। पर संज्ञा, मैंने तुम्हें कहा ना और कुछ बड़ी हो जाओ। तब मैं और भी बिना संकोच के तुम से बात कर सकूँगा।...एक छोटी-सी बात और, जिनसे प्रेम किया जाता है, उन्हें अपमानित कभी नहीं किया जाता।...यह याद रखना उम्र भर।"

बात फिर भी खत्म नहीं हुई, टूट गई। संज्ञा ने बर्तन अन्दर रख दिये और यहां-वहां खड़ी होकर वह अपनी किताबें लेकर कुर्सी पर बैठ गई। संदीप और समीर की जोड़ी एक कोने में बैठी किताबें खोलकर पढ़ने का नाटक कर रही थी। जोर-जोर से पढ़ाई और लड़ाई की आवाजों का 'कोलाज' कमरे के विचार-जड़ वातावरण में इस का संचार कर रहा था। रमा शायद खाना बना चुकी थी। अचानक सुधीर को कुछ ध्यान आया। उसने जोर से पुकारा, "रमा!"

रमा ने अन्दर से ही कहा, "क्या है ?"

"क्या हुआ ? क्या कर रही हो ?"

"कुछ नहीं।"

"इधर आओ ना।"

"मैं लेट गई हूं।"

सुधीर बौखला गया, "अभी से ?" फिर संज्ञा से बोला, "देख तो संज्ञा, क्या हुआ ?"

"मैं पढ़ रही हूं" संज्ञा ने विरक्त भाव से कहा। साथ ही वह शोर मचाते दोनों भाइयों पर उबल पड़ी, "चुप होकर पढ़ो। क्या मछली बाजार बना रखा है। पढ़ना न लिखना। ऐसा लग रहा है जैसे चने बेच रहे हैं।"

सुधीर ने वातावरण में तुर्शी देखी तो फिर रमा को पुकार उठा, "अरे रमा, यहां आओ ना। ऐसा भी क्या है। आसन-पट्टा लेकर पड़ गईं अरे नौकरियाँ तो सब की छूटती हैं। हमें देखो...पर बताओ तो सही, हुआ क्या..."

रमा ज़िद कभी नहीं करती। अन्दर आकर कुर्सी पर बैठ गई। बोली, "बोलो, क्या है ? क्या लड्डू दे रहे हो।"

"क्या हुआ ?"

"होना क्या है, बस, छूट गई। और देख लूंगी।"

"पर हुआ क्या ? कैसे छूट गई ? उसने मना किया ?"

रमा तिलमिला गई। बोली, "वह क्या मना करता। जब तुम जैसा कठोर मालिक मुझे इतने सालों में नौकरी से नहीं निकाल पाया तो वह बेचारा क्या निकालता..."

"तो ?"

"अरे। नहीं मन हुआ। मना कर आई।"

सुधीर झुंझला उठा, "ठीक से बताओ, क्या हुआ ? बिना कारण तुम मना नहीं करोगी, मुझे मालूम है।"

"तो सुनो, वह बदतमीजी से बोला।"

"क्या कहा ?"

संज्ञा अब तक चुप थी। अपनी किताब में सिर गड़ाए। सुधीर के इस प्रश्न पर उसने सिर

उठाया और बेहद ठंडी आवाज़ में कहा, "यह बात पापा, उससे पूछी जाती है, जिसने बदतमीजी की होती है। तुम जानते हो, अम्मा झूठ नहीं बोलतीं। पर ये कुछ बतायेंगी तो बात हास्यास्पद हो जायेगी। चाहो तो सुबह उसी से पूछना···और इस समय कृपया यह स्नेह-सहानुभूति का नाटक बन्द करो। मुझे पढ़ने दो। कल मेरा 'ट्यूट है।"

'धीरे-धीरे घूमती वक्त की गरारी अचानक रुककर जाम हो गई। दोनों के सिर झुक गये। रमा तो उठकर चुपचाप रसोई में अपनी चारपाई पर लेट गई पर सुधीर बहुत देर तक सुन्न मानसिक स्थिति में कुर्सी पर बैठा, संज्ञा को पढ़ते देखता रहा।

उसे यह भी पता नहीं चला कि कब पढ़ते पढते संदीप और समीर वहीं जमीन पर लुढ़क कर सो गये हैं।

उसने सोचा, सोने दो, सर्दी नहीं हैं, गर्मी का मौसम है···

7

इतवार का दिन। अक्तूबर का महीना। सर्दी खिड़कियों से ताक-झांक करने लगी है। संज्ञा को इतवार के दिन देर तक सोने की आदत है। रमा तो सोते हुए कम ही दिखाई देती है। संदीप और समीर बहुत सुबह से उठकर पहले दिन के झगड़े निपटाते हैं और नये झगड़े की बुनियाद डालते हैं। दोनों के खेल सुधीर के मन को बहुत उत्फुल्ल करते हैं···आज वैसे भी सुधीर का मन कुछ कम उदास है···

यह उठकर कुर्सी पर बैठ गया है···सोच रहा है···

रमा चाय बना रही है···अखबार आ गया है, पर अभी सुधीर ने खोला नहीं है···

चाय दे दे रमा तो अखबार पढ़ा जाए···

रमा चाय दे गई···

खड़खड़ा कर अखबार खुला और बहुत सारी खबरों के साथ एक ऐसी खबर सुधीर की नज़रों के सामने फैल गई जिसने अचानक उसके चेतन मन को अवचेतन में धकेल दिया—सुधा गुप्ता के हत्यारे को दस साल की सख्त कैद—हत्यारा !···देखा था सुधीर ने उस हत्यारे को···मुश्किल से अठारह साल का होगा···सुनहरा रंग···लम्बी मजबूत काठी···घुँघराले बाल···नय नक्श थोड़े मोटे, पर आंखें बड़ी-बड़ी···उसकी भी तारीख थी उस दिन कचहरी में···पर वह अपना केस टलवा कर सारा दिन उस हत्यारे की कहानी सुनता रहा था···उसे याद थी। अखबारों की वे सारी खबरें जो उन दिनों छपती रही थीं···सुधा कालिज में पढ़ती थी···हत्यारा चार-पाँच साल से इसी घर में नौकर था···उस दिन घर में अकेली थी···नहा कर निकली···फिर पता नहीं क्या हुआ···डबल रोटी काटने के चाकू से नौकर ने सुधा को गोद-गोद कर मार डाला···उसके सिर के बाल उखड़े हुए अलग पड़े मिले···शरीर पर अनगिनत घाव बने···शरीर खून से लथपथ हो गया···

नौकर दो दिन पहले घर से भाग गया था···मालिक लोग उसे मना कर वापिस घर ले आए···सब उसे बहुत प्यार करते थे···घर का सारा काम वह घर के आदमी की तरह ही निपटाता था···फिर ? फिर यह क्या हुआ ?···सबने कहा—बच्चे की तरह पाला, और यह किया

हरामजादे ? ने…सुधा की शादी तय हो गई थी…घर में जेवर-कपड़ा आ रहा था…उसी पर नजर होगी…लड़की ने जान पर खेलकर मुक़ाबला किया…पर…

पर पुलिस ने बताया कि नौकर घर से एक पैसे का सामान भी नहीं ले गया…अगले दिन अपनी कोठरी में पड़ा पाया गया…

ये छोटे लोग होते ही ऐसे हैं…सुधा गुप्ता के घरवालों के भरसक कोशिश की कि नौकर को फांसी ही लगे…पर…जज को शायद दया आ गई और उसने उसे सिर्फ दस साल की सजा दी…यानी अठारह साल से अट्ठाईस साल तक…बाहर आएगा तो ठीक हो जाएगा…

सुधा गुप्ता के एक रिश्तेदार कचहरी में खड़े रहे थे—साले को सिर्फ फांसी मिलनी चाहिए…जिन्दा रहा तो वापिस आएगा और यहां-वहां ऊलजलूल बकेगा…ये कमीने लोग 'लूज़ टॉकिंग बहुत करते हैं।

सुधीर ने धीरे से कहा था उनसे—आप इसे इसके गांव भिजवा दीजिए ना। आप ऊलजलूल बातों से बच जाएंगे और इसकी जान बच जाएगी।

"और इस कुत्ते की औलाद ने हत्या जो की है ?"

सुधीर को हँसी आ गई थी, उसने कहा था, "देखा आपने, हमारे यहां की न्याय-प्रणाली कितनी पुष्ट है। कुत्तों तक का न्याय करती है। पर आपने एक कहावत सुनी है—आदमी जब कुत्ते की तरह इस्तेमाल किया जाता है तो बहुत खतरनाक जानवर होता है।"

"आप कौन हैं ?"

"कुत्ता। इसलिए इसका रिश्तेदार हुआ।"

वे साहब बहुत तैश में आ गए थे, मुँह से झाग टपकाते बोले थे, "वह संडासी देखी है जिससे सड़क पर आवारा घूमते कुत्ते पकड़ें जाते हैं।"

सुधीर ने देखी है वह संडासी। पेट पर या गले पर फंसती है और कुत्ता ऊपर उठ जाता है। फिर रोटी के साथ ज़हर की गोली और उसकी आवारगी खत्म। वर यह सिर्फ कुत्तों के साथ ही नहीं होता…

…क्या नाम था उन सेठजी का…विशालचन्द…एक नौकर मरवाकर उन्होंने दहलीज़ में गड़वा दिया था…कई साल बाद पता चला…मुकदमा चला और गवाहियों की कमी में फुस्स हो गया…सुना गया कि सेठजी की गैरहाजिरी में सेठानी उससे अपने सारे शरीर पर तेल मलवाती थी…कहते हैं उसका हाथ तेल मालिश का सिद्ध-हस्त था…एक दिन सेठ को पता चल गया…और…

किसी भी आदमी को गुलाम बनाने का एक मात्र तरीक़ा यह है कि उसके अन्दर की 'मॉरल सैन्स' को मार दो। वह आपका उम्र भर अहसान मानेगा और आपका गुलाम रहेगा। आदमी को सबसे अधिक तक़लीफ यह कम्बख्त 'मॉरल सैन्स' ही देती है। यह मरी नहीं कि सुख ही सुख। दुख फिर पास फटक नहीं सकता। अन्दर की लड़ाई खत्म हुई नहीं कि खुले मैदान की सामर्थ्य सौ गुनी हो जाती है। आदमी की तरक़्क़ी का असली राज़…

ठहरो सुधीर। बुद्धिवादी न बनो। तुम्हारी असफलता का कारण यह नहीं है कि तुममें 'मॉरल सैन्स' है पर यह है कि तुम उसकी आवाज़ को, उसके निर्देश को साफ-साफ सुन-समझ नहीं पाते। हमेशा दुविधा में रहते हो। जो आवाज़ देर से सुनाई देती है, भ्रम पैदा करती है। जो अन्तःकरण ठीक वक्त पर नहीं चेत पाता स्वस्थ नहीं होता…और सोचना कि सफल वही

हो सकता है जो पहले अपने अन्दर की आवाज़ को सुनना बन्द कर दे निहायत मूर्खता की बात है, सिले सूट को दोबारा थान में बदलने की कोशिश है··· यह झूठ है···

फिर सच क्या है ?

वह ढूँढ़ना पड़ेगा पर इसे सच मत मानो। झूठ को सच मानोगे तो मानसिक स्तर पर मर जाओगे।

मैं ज़िन्दा हूं ही कहाँ ?

हो सकता है इसका कारण यही हो कि तुम्हें झूठ को सच मानने की आदत हो।

हां, हो तो सकता है, पर···

···सुधा गुप्ता पहले उस नौकर से 'खेल' कराती थी। खेल-खेल में एक तरफ कुछ चिपचिपा पैदा.हो गया और इसी फरेब में फँसकर उमे खूबसूरत चेहरे का सींखचों के पीछे चले जाना झूठ; सेठानी का उस घटना के बाद भी हँस-हँसकर पार्टियों में शामिल होना झूठ है; हरद्वारी का पत्नी को मारकर निर्द्वन्द्व चाय बेचना झूठ है; सैकड़ों लोगों के मुँह से कौर छीनकर सेठों का ऐय्याशी की ज़िन्दगी बिताना और आदमी को कुत्तों की तरह इस्तेमाल करना झूठ है; पति का पत्नी को पत्नी का पति को उम्र-भर धोखे में रखना झूठ है कि आदमी अपनी यशलिटसा के लिए हजारों हजार, लाखों-लाख आदमियों को मरवाता रहा है और आज भी निस्संकोच मग्वा देता है; यह झूठ है कि आदमी कुछ पैसों के लिए या कोई काम निकालने के लिए अपनी पत्नी को रात भर के लिए कहीं भी छोडकर वापिस आ सकता है, अपनी पत्नी की इच्छा के विरुद्ध;···और ये तो सब छोटे-छोटे सच है, क्या यह सच नहीं है कि आदमी ने ऐसा बम बना लिया है जिसे किसी शहर पर छोडा जाएगा तो सब मारे जाएंगे, पर सम्पत्ति सुरक्षित रहेगी···वाह ! क्या प्रतीक-बम है, हमारी सभ्यता का ···आदमी मर जाएगा सम्पत्ति सुरक्षित रहेगी···यह काम तो यह सभ्यता बिना किसी बम के भी बखूबी कर रही है···इसके लिए बम की क्या ज़रूरत है··आदमी मर रहा है और सम्पत्ति···

और सुधीर यह बात भी तो सच है कि तुमने एक आदमी की जान ली जिससे तुम्हारी कोई व्यक्तिगत दुश्मनी नहीं थी···व्यक्तिगत क्या कैसी भी दुश्मनी नहीं थी···

वही तो, मैं तो कह ही रहा हूं, वह सच है···पर इसी तर्क पर और सब भी सच हुआ ना···

अब समझ में आया कि अनैतिक और निर्नैतिक में क्या फर्क है ?

क्या ?

अपना किया अपराध निर्नैतिक होता है और दूसरे का किया अनैतिक···

मैंने हमेशा उसे अनैतिक माना···

तो खुद को सज़ा दो···न्याय-व्यवस्था तुम्हें सजा नहीं दे रही इस सुविधा को अपने अस्तित्व की शर्त क्यों बनाए बैठे हो ?

हां, यह तो है···ऊपर से देखने से···

फिर झूठ बोल रहे हो। ऊपर नीचे से कुछ नहीं। तुमने शादी की। बच्चे पैदा किए। उनमें रस लेते हो···उत्तदायित्व निभाने के नाटक के नाम पर। खुद को सज़ा दो···और अब मैं पूछ रहा हूं कि क्या यह सच नहीं है कि उसके बाद तुमने अनेक अपराध किए और उन सबके लिए माफी सिर्फ इसलिए चाही क्योंकि वे सब एक बड़े अपराध के हैंग-ओवर में हुए। क्या यह सच

नहीं है कि औरों को अपराधी इसलिए कहते हो कि कोई और तुम्हें अपराधी न कहे। बता सकते हो तुमने उस मुसलमान को क्यों मारा ?

मैं 'सामूहिक फ्रेन्जी' का शिकार हो गया था।

फिर भी मानते हो तुम आदमी हो, बौद्धिक हो, लेखक हो और क्या यह सच नहीं है कि तुम आज तक अपने इस अपराध की कहानी को छिपाए फिरते हो···

हां, सच है, मुझमें साहस नहीं हुआ···

और क्या यह सच नहीं है कि तुम प्रतिभा के पास सिर्फ इसलिए जाते हो कि वहां बैठकर, उसके सौन्दर्य और उसके गुणों की प्रशंसा करके तुम एक आत्मिक तोष का अनुभव करते हो···उसके अच्छे प्रभाव को तुम अपने जख़्मों पर लेप की तरह इस्तेमाल करते हो···यह जानते हुए भी कि वह तुमसे प्रेम नहीं करती···जानते हो ना··· ?

जानता हूं···

फिर क्यों जाते हो उसके पास ?

तुम्हारी बात सच है···

यह स्वार्थ नहीं है ?

है।

फिर या तो उसके पास जाना छोड़ दो, या उसे बताओ कि तुम हत्यारे हो···

प्रतिभा के पास जाना नहीं छोड़ सकता···

तो उसे सब बता दो। और रमा को बता दो कि तुम प्रतिभा के पास जाना नहीं छोड़ सकते। उसके शरीर को उसके हाल पर छोड़ दो। कम- से- कम तुम्हें रमा को धोखा नहीं देना चाहिए···

यह धोखा है ? इससे बड़ा धोखा दुनिया में कोई नहीं। सब तरफ से अपने लिए लूटने की इच्छा में से ही इस तरह का धोखा आदमी अपने निकटतम सम्बन्धियों को देता है···इसको युक्तिसगत साबित करने के लिए बड़ी बड़ी दार्शनिक बातें करता है···जहां तुम नहीं हो, वहां होने का भ्रम पैदा करना धोखा नहीं तो क्या है ··और इतना समर्थ आदमी कैसे हो सकता कि एक ही वक्त में सब जगह रह सके तुम्हें रमा का साथ छोड़ देना चाहिए···

रमा को छोड दूं ?

नहीं, रमा को स्वतन्त्र कर दो···अपना अपराध कम करो···और मुझसे क्षणों को स्वतन्त्र रूप से भोगने की बात मत करना···यह सुविधा का दर्शन है···क्या तुम स्वतन्त्र हो सकते हो जो तुम्हारे साथ हुआ है···सुखद क्षणों के लोभ में क्षण की स्वतन्त्रता और दुखद क्षणों के प्रभाव से खुद को बचाने के लिए काल के नैरन्तर्य में शरण लेने की विडम्बना से खुद को बचाओ···अपराध तुमने किया है और तुम मानते हो कि तुम, सिर्फ तुम उसके लिए जिम्मेदार हो, तो इस स्थिति को, अपने मन को पूरी तरह धोने के लिए···

तुम बहुत भावनारहित हो···यह सब तुम आदमी के बारे में बोल रहे हो या···

तुम आदमी हो ना···मैं तुम्हारे बारे में बोल रहा हूं···

रमा ने अचानक आकर सोच के प्रवाह को तोड़ दिया, "चाय और पियोगे ?"

रमा को पहचानने में सुधीर को देर लगी, पहचानते ही कहा, "पी लेंगे।"

"अरे, तुमने सुना ?"

"क्या ?"

"हरद्वारी बरी हो गया।"

"तो मैं क्या करूं ?"

"तुम क्या करोगे ? मैं कह रही थी कि कैसे लोग खून करके भी—"

अचानक सुधीर जोर से चीख उठा, "तुम चाहती हो रमा, उसकी जगह मैं फांसी पर चढ़ जाऊं ?"

"अरे ! पागल हो गए हो तुम ? मैंने यह कब कहा ?"

"और क्या कहा तुमने ? बोलो ? और क्या मतलब है, तुम्हारी बात का ?"

रमा रुंआसी हो उठी, बहुत धीरे से बोली, "मैंने तो यों ही कहा था···सुना था···तुम्हें तो मेरा बोलना ही बुरा लगता है···"

"तो क्या सजा है इसकी ?"

"सजा ? किसकी सजा ?"

"इसकी कि मुझे बोलना बुरा लगता है।"

"क्या हो गया तुम्हें आज ?"

"पागल हो गया हूं। बोलो। बुलाओ चार आदमी। पकड़कर करा दो पागलखाने में जमा···"

रमा एकदम रो पड़ी। सुधीर के सामने से हट गई। रसोई में बैठकर रोने लगी। चुपके-चुपके। संज्ञा ने सोते-सोते सब सुना था। उठकर बैठ गई। सुधीर की तरफ एक वितृष्णाभरी नजर से देखा। फिर उठकर रसोई में आ गई और माँ के ठीक सामने बैठ गई धीरे से कहा,

"चुप रहो।"

संदीप और सुधीर भी पास आकर बैठ गए। संज्ञा ने दोनो को देखा, कहा, "जाओ, बाहर खेलो जाकर।"

दोनों उठने लगे तो पूछा, "चाय पी ली ?"

"हां", दोनों ने एक स्वर में कहा।

"तो ज़ाओ।"

दोनों चले गए तो रमा से बोली, "माँ।"

रमा ने संज्ञा की तरफ देखा। फिर नजरें झुका लीं। रमा की आँख लाल थीं।

संज्ञा ने कहा, "माँ, दुख मत करो। मैं हूं।"

झटके से रमा की झुकी गर्दन और झुक गई। रुंधे गले से बोली, "नहीं, दुख नहीं कर रही। और होने को तो सभी कोई है।"

"सिर्फ होने के लिए होने से क्या होता है।···अरे माँ, मुझे याद ही नहीं रहा बताना। हम लोग तुम्हारे उस मालिक से मिले थे।"

"किससे ?"

"अरे वही जिसके यहां तुमने नौकरी की थी। जिसने तुमसे पूछा था कि घर काम करोगी

क्या, चौके-बर्तन का, या आया का···!"

रमा की गरदन और झुक गई। बोली, "तो तू वहां हो आई?"

"मैं नहीं माँ हम गए थे। मैं, सुनील, भास्कर और मिलिन्द। बात की तो घिघियाने लगा। माफी मांगने लगा। बड़ा मजा आया।···पर एक बात बताओ मां, बात सिर्फ इतनी ही थी कि···"

"तेरे लिए चाय मैं बनाऊं या खुद बनाएगी? मेरे हाथ की बनी चाय तो तुझे पसन्द आती नहीं।"

संझा सब समझ गई। इसलिए बात खत्म करके हँसती हुई बोली, "तुम्हें चाय बनानी आती ही नहीं मैं क्या करूं। चाय में दूध का स्वाद अलग, पत्ती का अलग और चीनी-पानी का अलग···अब तुम्हीं बताओ, ऐसी चाय किसे अच्छी लग सकती है? बताओ?"

"अच्छा बाबा, बना ले खुद। मुझे तो तेरी समझ में कुछ नहीं आता। बस।"

"नहीं, ऐसी बात तो नहीं है। रोना तो खूब आता है।"

"ठीक है, तू भी कह ले क्यों कसर रखती है?"

संझा ने अपनी चाय बनाना शुरू कर दी। बनाते-बनाते बूढ़ी-दादियों की तरह बोलती रही, "कहूगी नहीं। मैंने तो एक दिन नानी से कह दिया था कि नानी, इस हमारी माँ को कुछ तो सिखाया होता। तो मालूम है माँ, नानी क्या बोली थी?"

"क्या?"

"कहने लगी कि कि अरी बेटी, हमने कब सोचा था कि लड़की हमारी ऐसे घर में जाएगी कि बस हाथ मले और बर्तन मसले। भगवान की दया से आज भी घर में सब कुछ है। अपने मामा की बात छोड़, इतना तो अभी भी म ही निकाल दूं कि छोटा मोटा काम अपना कर लें। यहीं कर लें, इसी शहर में। पर उसमें, हमसे पैसा लेने में तेरे बाप की नाक नीची होती है। और उनकी बात क्या कहूं हमारी अपनी जाई को यह बिलकुल पसन्द नहीं है। अम्मा, नानी के पास आज भी बहुत पैसा है?"

रमा को यह सब कभी सुख नहीं देता। उसने कहा, "होगा हमें क्या। दूसरों के पैसों पर नजर नहीं रखनी चाहिए। अपनी रूखी-सूखी दूसरे की घी-चुपड़ी से प्यारी होती है।"

"वह दूसरी कहां से हो गई। तुम्हारी माँ है।"

"मैंने कभी अपनी माँ से कुछ नहीं मांगा। तीज-त्यौहार पर या ब्याह-टेहले पर। कभी नहीं। जो दे दिया हाथ पसार कर ले लिया। और मांगा तो मैंने इनसे भी कभी कुछ नहीं पूछ ले, कभी कहा हो कि चार इंच कपड़ा ला दो, या कभी कहा हो कि—"

संझा दुःख और क्रोध से भर आई, बोली, "इसे क्या गुण मानती हो? बड़ा तीर मारा है कि नहीं मांगा।"

रमा हँस पड़ी, स्नेह से बेटी की तरफ देखती हुई बोली, "तू कमाने लगे तुझसे मांग लिया करूंगी।"

"मुझ पर यह इनायत क्यों?"

"क्योंकि तू मुझसे वाक़ई प्रेम करती है।"

"तुम्हारी माँ ने तुमसे प्रेम नहीं किया?"

"किया होगा। याद नहीं है।"

"क्या मतलब ?"

"पुराने घरों में सिर्फ लड़कों को प्रेम करने की प्रथा थी। वही हमारे घर में था। लड़किएं तो घर की केंचुल कहलाती थीं। बढ़ी और उतार कर फेंक दी।...संज्ञा, जो आदमी अपने से प्रेम न करे उससे कुछ भी मांगते बहुत संकोच होता है..."

"हां माँ, वह तो है।"

दोनों चुप हो गई। संज्ञा चाय पी रही थी। रमा बैठी पैर की चुकटी घुमा रही थी। सुधीर बाहर के कमरे में अपनी कुर्सी में धँसा बैठा था। चुपचाप। घर में एक सन्नाटा व्याप्त था कि उसे फोड़ते हुए संदीप और समीर किवाड़ खोलकर घर में घुसे, आगे-पीछे, चिल्लाते हुए, "पुलिस, पापा, पुलिस। मोटर भर कर..."

संज्ञा और रमा बाहर निकल आई।

"क्या है समीर, क्यों चीख रहे हो ?"

"अम्मा, पुलिस आई है। हमारे यहाँ।"

"हमारे यहाँ। हमारे यहाँ क्यों आएगी ?"

"नहीं अम्मा। हमारे यहाँ आई है। हमारा पता पूछ रहे थे। एक आदमी बता रहा था।"

दोनों साथ-साथ बोल रहे थे और हांफ रहे थे।

इस बार संज्ञा और रमा ने सुधीर की तरफ देखा, सफेद सुधीर अपनी कुर्सी में जड़वत बैठा था।

रमा ने कहा, "ये कह रहे हैं, हमारे यहां पुलिस आ रही है।"

"आने दो। मैं हूं तो, तुम्हें क्या चिन्ता है ?"

वैसे तो इस कालोनी में पुलिस अकसर आती है। एक बार आई थी कि एक क्वार्टर में रहने वाला एक रिक्शेवाला स्मगलरों का स्वयंसेवक पाया गया था और उसकी बीवी उसके समूह की सेविका। बीवी खूबसूरत थी। छरहरा बदन और छोटी-सी गर्दन पर रखा ग्रामीण पर खूब आकर्षक चेहरा। रोज सुबह वह पति के रिक्शे को पानी से धोती और सूखे कपड़े से रगड़-रगड़कर साफ करती। पति चला जाता तो बहुत देर तक क्वार्टर के बाहर खड़ी होकर वह अपने अर्धनग्न शरीर का प्रदर्शन करती। पड़ोसी उसकी आलोचना करते पर अकसर रिक्शेवाले के जाते ही उससे गपशप करने अपने-अपने क्वार्टर के बाहर आ खड़े होते। वह ज्यादातर ब्लाउज़-पेटीकोट में ही होती, और उसकी चाल उसके बदन के सारे जोड़-मोड़ 'कैमरा-आई' पर उभार देती। एक दिन किसी पड़ोसी स्त्री ने कह दिया था कि, "तू धोती क्यों नहीं पहनती, बाहर खड़ी होती है जब ?"

तो उसने जवाब दिया था, "नहीं पहनती, हवा मेरे बदन में घुसती है, तकलीफ तुझे क्यों होती है ?"

पड़ोसिन ने हँसकर कहा था, "अरी, तेरे बदन में कुछ भी घुसे, तकलीफ होगी तो तुझे होगी। मैं तो इसलिए कर रही थी कि बुरा लगता है।"

"क्यों बुरा लगता है ?"

"ऐसे बाहर निकलना।"

"तो तेरा वह धुगड़ा, रिक्शेवाले के मोड़ पर मुड़ते ही, किवाड़ खोलकर क्या अपनी माँ

के पैर छूने को निकलता है।"

"क्या कहा ? कौन निकलता है ?"

"वह, तेरा बाबू।"

"वह तेरी तरफ को मुँह करके थूके भी नहीं।"

"हां, थूकता तो वह तेरी ही तरफ मुँह करके है। मेरी तरफ तो वह भरी नजर से देखता है। अच्छा लगता है, कभी-कभी तो "

एक दूसरी पड़ोसिन ने पहली को समझाया, "अरे, किसके मुँह लग रही है, यह तो रंडी है रंडी···तू भी···"

रिक्शेवाली बिखर गई। भयानक वाक-युद्ध हुआ। बहुत मुश्किल से, बहुत लोगों के बीच-बचाव के प्रयास से दोपहर तक युद्ध शीत युद्ध की स्थिति तक पहुंचा। देशों की लडाई मे पहले शीत-युद्ध होता है, फिर युद्ध और औरतो की लड़ाई मे पहले युद्ध फिर शीत-युद्ध। शाम को औरतो के पतियों के युद्ध के मनोरंजन से जनता वंचित रह गई क्योंकि पुलिस ने आकर एक दूसरा ही नाटक मच पर बिखेर दिया। मनोरंजन उसमें भी बहुत था पर थोडा भय भी था, क्योंकि पुलिस भी थी। इस पोशाक के पात्र अकसर भय का सचार करते हैं और नाटक के अन्त को गुह्य रखने में आस्था रखते हैं। इस भी अन्त के प्रति सबकी जिज्ञासा कुंठित ही रह गई। जो मंच पर हुआ वह सिर्फ इतना था। पुलिस के आने के कुछ ही देर बाद एक कार और दो मोटर साइकिलें आकर रुकी। कुछ भारी भरकम इज्जतदार से लोगों ने क्वार्टर मे बैठकर पुलिस से बातचीत की। फिर सब चले गए। सुबह सबने देखा रिक्शेवाला रिक्शा खुद धो रहा है···पड़ोसियो को निराशा हुई···पर तीन दिन बाद जब फिर रिक्शे के पास वही पेटीकोट लहराता दीखा तो सबने छोटी-छोटी लम्बी सासे फेंककर मन रोज के काम मे लगा दिया··

सबने तय किया, इसे रंडी कहना ग़लत है। नही कहना चाहिए

···और पुलिस उस दिन भी आई थी जिस दिन दो रुपये के नोट और डाकखाने के टिकट छापने वाले लोग पकडे गए थे। उनमें एक नेताजी भी थे, कोलोनी के। रामलीला, देवी का जागरण और जन-सेवा में सबसे आगे रहते। एक बार को रामलीला मे पूरे पॉच सौ रुपये दे दिए थे। संयोजक ने रुंधे गले से मंच पर से कहा था, "लालाजी, हमारी कालोनी की ही नही, हमारे देश की शोभा हैं। ऐसे ही लोगों के भरोसे स यह धरती खडी है। इनके चेहरे पर वही प्रभामंडल है जो कृष्ण के मुख पर था, राम के मुख पर था, और···और "आगे तीसरा नाम याद न आने के कारण संयोजक महोदय मंच पर खड़े खड़े ही रो पड़े थे·

नाटक का अन्त इस मामले में भी गुह्य ही रह गया था। लालाजी अगले दिन मुस्कराते घूमते पाये गए थे—और बहुत दिनो बाद पता चला था कि उस केस मे मशीन-मैन को पॉच साल की सजा हो गई थी क्योंकि मशीन उसके घर पर लगी पाई गई थी···लालाजी ने तो पहले ही कालोनी में संस्कृति की बागडोर अपने हाथ में ले ली थी··

और एक बार चोरी की तलाश में···एक बार रेल से कूदे डकैतों का पीछा करते हुए···

दिल्ली और उत्तरप्रदेश की सीमा पर बनी इस कालोनी का अपना एक महत्व है···

पर आज पुलिस एक बहुत ही अलग तरह के उद्देश्य से आई थी· संदीप और समीर का ख़याल ग़लत निकला। पुलिस उनके यहां नहीं, उनके ठीक बराबर के क्वार्टर मे आई थी। उसे

खाली कराने…

भटनागर से मकान खाली कराने…

भटनागर के परिवार की एक कहानी है…

…वह पहले एक अखबार के दफ़्तर में काम करता था। टाइम-कीपर था। साढ़े तीन सौ रुपये महीना तनख्वाह मिलती थी। पत्नी, एक चौदह-पन्द्रह साल की लड़की और दो छोटे लड़के। सबका रंग निहायत गोरा। लड़की का क़द लम्बा, बदन इकहरा। बाल ताँबे के रंग के। नयनक़्श इतालवी और आँखें भटकी हुई। दोनों लड़कों के बालों का रंग ठीक-ठीक सुनहरा। दोनों आगे-पीछे भागते तो बहुत ख़ूबसूरत लगते। बच्चों की माँ पूरे ब्लाक के मनोरंजन का साधन। छोटी से छोटी बात पर लड़ने-मरने को तैयार। सिर के आधे बाल सफ़ेद, आधे काले। नयनक्श असाधारण तौर पर तीखे। आँखें बहुत बड़ी-बड़ी पर रूखी। चेहरा भरा-भरा पर खुरदुरा। चलने-फिरने के ढंग में एक अस्वाभाविक उतावलापन। लड़ाई के वक्त का वाक्य-विन्यास अनोखा। जैसे – "चंडाली, बात बनाई, ले के बात बनाई, बाल झुलस दूं, आग लगा दूँ, मेरे बच्चों को लावारिस समझे है, लड़की को नाम रखे, हाँ, ले के बात बनाई, धीजाई नहीं है कम्बखत के, मैं सब जानूं सबके लच्छन, हां, ले के बात बनाई, किसी के खाने नहीं जाते हैं, ये हरामजादा ऐसा न होता तो…ले के बात बनाई…"

बच्चों को पीटने का उसका ढंग भयानक। कपड़ों को भी शायद ही कोई इतनी निर्ममता से कूटता हो। बच्चों के चिचियाने की आवाज़ आती तो सुधीर खाने की थाली छोड़ कर हट जाता। बच्चे कमरे में पिटते तो पूरे ब्लाक की रूह कांप उठती। पर बाहर पिटते तो बच्चे चारों तरफ खड़े होकर तालियाँ पीट-पीट कर हँसते। छोटे-छोटे दो बन्दरनुमा बच्चे जब जान बचाने के लिए इधर-उधर भागते तो बन्दरिया के नाच का मज़ा देते। सब निस्संकोच मज़ा लेते। बीच-बचाव करने का साहस तो भला था ही किसमें। कौन बला मोल ले सिर। पर एक दिन के हंगामे ने पूरे पड़ोस की शान्ति को भंग कर दिया।

भटनागरनी को फूल पौधों का शौक। हर क्वार्टर के बाहर पड़ी दस गुना इस की पथरीली ज़मीन को लॉन बनाने की उसने भरपूर कोशिश की। भटनागर को भेज कर कही-कही से पौधे मंगाए। कुछ बाहर घूमते पौधोंवाले से खरीद लिए, उधार। छोटे बच्चों को वह दिन भर एक ही काम पर लगाए रहती। ईंटें इकट्ठी करके लाओ। क्यारियों की सुरक्षा के लिए मजबूत दीवार खड़ी करनी होगी। घर में खाना बने या न बने, नया पौधा दीखेगा तो घर में आएगा। उधार बढ़ता गया। नौकरी के बावजूद घर की हालत निहायत खस्ता कि पूरे ब्लाक को एक दिन सूचना मिली कि भटनागर की नौकरी छूट गई। पैसों की ज़रूरत के दबाव में अपनी टाइम-कीपरी का नाजायज इस्तेमाल किया और नौकरी से छुट्टी। भटनागरनी को भी पता चला। एकदम बिखर गई। भटनागर की आदत थी शाम के वक्त 'नीचे पैंट और ऊपर कुछ नहीं' पहनकर वह अपने मिनी बगीचे में खाट पर बैठकर बीड़ी पीता था। उस दिन भी पी रहा था कि हाथ में बांस की लम्बी-सी खपच्ची लेकर भटनागरनी आई और उसी तेवर से जैसे वह बच्चों को पीटती थी भटनागर को पीटना शुरू कर दिया। पहले तो भटनागर चुपचाप बैठा पिटता रहा। चारों तरफ खड़े लोग देखते रहे और हँसते रहे। पीठ लहूलुहान हो गई फिर वह अचानक फुदककर उठा और तेजी से कमरे में घुस गया। दर्शकों की सांस रुक गई। [illegible]

कि कहानी में जोर आया। भटनागर को गुस्सा आ गया है। यह बात सच है, पड़ोस के लोगों को भटनागर में गुस्सा देखकर सुखद आश्चर्य होता। किसी पड़ोसिन ने धीरे से कहा भी, "मर्द की जात है, आखिर कब तक गुस्सा नहीं आएगा, आज खाल उधेड़ देगा रखकर···ऐसा तो कहीं देखा न सुना।"

पर सारे दर्शकों ने एक सांस में सिसकारी भरी जब उन्होंने पाया कि भटनागर अन्दर डण्डा लेने नहीं सिर्फ कमीज़ पहनने गया था। और अब वह बिलकुल ऐसे जैसे शाम की सैर को निकला हो रेल की पटरी की तरफ जा रहा है। बच्चों ने उसके पीछे भागने की कोशिश की है पर माँ ने चीखकर उन्हें रोक लिया है और उसी आवाज में अपने पति को बता दिया है कि 'शरमदार है तो फिर घर में वापिस मत अइयो।"

पास-पड़ोस की शान्ति गरीब-परिवार से भंग नहीं होती गरीबी से पैदा हुई उस परिवार की विकृतियों से होती है। उस दिन वाक़ई पूरे पड़ोस पर सकता छा गया। कहीं भटनागर···

और जो जाग रहे थे उन्होंने देखा कि रात के ग्यारह बजे भटनागर उसी चाल से वापिस घर आ रहा है। मुँह में उसके बीड़ी का पटबीजना है। सांस पंख खोलता है तो पटबीजना चमक उठता है···

भटनागरनी अपने बगीचे में चारपाई पर जागती लेटी है। पति को देखकर उसने मुँह घुमा लिया है। पर पास लेटी लड़की उठकर बैठ गई है। पिता के साथ उठकर कमरे में आई है। मदद करके उसकी कमीज़ उतरवाई है। खून के धब्बों में रंगी कमीज़। पीठ देखी है। खिड़की की मुंडेर पर से एक डिबिया उठाई है और कमर पर देख-देख कर लगाने लगी है। धीरे से पूछा है, "बहुत लगी है ?"

"नहीं। तेरी माँ ने खाना खा लिया ?"

"हां···नौकरी कैसे छूट गई ?"

"और मिल जाएगी।"

लड़की चुप हो रही है।

"यहां भी लगा ज़रा-सा। यह डिबिया कहां से आई ? घर में थी ?"

"मैं लाई थी।"

"कहां से ?"

"कहीं से भी। तुम्हें क्या। खाना दू ?"

"तूने खा लिया ?"

"हां।"

"नहीं खाया होगा तूने, मैं जानता हूं।"

"तुम्हें खाना है या जाऊं बाहर ?"

"मैं ले लूंगा, तू जा।"

रात बीत गई। सुबह आई। भटनागर पत्नी के जागने से पहले ही घर से भाग गया। लड़की किसी पड़ोसी से कुछ आटा-बाटा मांग कर लाई। नौ बजे भटनागरनी भी निकल गई। नौकरी की तलाश में। बच्चों को कह गई, घर का ख़याल रखना और कहीं मत जाना।

पन्द्रह दिन की दौड़-धूप के बाद भटनागरनी को सत्तर रुपए महीने और भटनागर को

सौ रुपए महीने की नौकरी मिल गई। सुबह आठ बजे दोनों निकल जाते और शाम को सात बजे वापिस घुसते दोनों बच्चे दिन भर घर के बाहर उदास बैठे रहते। कभी-कभी इधर-उधर खेलते तो कोई- न- कोई पड़ोसी किसी- न- किसी बात पर धमका देता और वे फिर उदास होकर खाट पर टाँगें नीचे लटकाकर स्थापित हो जाते। एक दिन भूखे थे, किसी पड़ोसिन ने खाना दे दिया। शाम को भटनागरनी के आने पर स्नेह से कहा, "अरी, कम से कम बच्चों को बिलबिलाता कोई नहीं छोड़ता इस तरह। हम से तो देखा नहीं जाता, पड़ौस के बच्चे, आज मैंने खिलाया दोनों को सामने बिठलाकर। ऐसे खाया दोनों ने, जैसे…

भटनागरनी के आग लग गई। अचानक उसके मुँह से निकला, "क्यों, अनीता तो थी यहां।"

पड़ोसिन ने आश्चर्य के भाव को चेहरे पर क्रीम की तरह पोत कर कहा, "अनीता ? वह तो दिन भर यहां नहीं दिखती। हमने तो समझा, उस का भी कहीं काम लग गया है।"

कहकर पड़ोसिन धोती के पल्ले से हँसी छिपाती अन्दर घर में घुस गई और किवाड़ अन्दर से बन्द कर लिए।

और पहली दफा देखने वालों ने देखा कि भटनागरनी निढाल होकर चारपाई पर बैठ गई है। पर पाँच मिनट ही बैठी रही वह। उठकर खड़ी हुई। दोनों छोटे बच्चे कांपते हुए एक कोने में खड़े थे। पहले एक-एक चपत उन दोनों को पड़ा। फिर वह कमरे में गई। किवाड़ अन्दर से बन्द किए। अनीता खाना बना रही थी। बाहर की बातचीत वह सुन रही थी। अपना भविष्य जानती थी। माँ को आते देखा तो अँगीठी के पास से हट गई। आग का डर। माँ ने उसे देखा तो शेरनी हो उठी। चुटिया पकड़कर लड़की को ज़मीन पर पटका और हाथों से, लातों से धुआँधार वार करती हुई बोली, "मैं भी तो कहूँ, रोज कौन दे-दे है तुझे उधार, अब पता चला कि चाम की कुल्हड़ी में से निकाल-निकाल कर खिला रही है…चंडाली, नाम डुबा दिया खान्दान का…"

कार्यक्रम लम्बा चलता पर भटनागर आ गया। भटनागर का तो खैर कुछ नहीं था पर उसके साथ कोई और भी था। बात चुक गई। पर अगले दिन से भटनागरनी के दिमाग़ की तुर्शी और बढ़ गई। तीनों बच्चों को वह ताले में बन्द करके जाती। कोई उसके फूल-पौधों या ईंटों को छू भी देता तो उससे लड़ती। रात के आठ-नौ बजे अक़सर किसी- न- किसी से लड़ती पाई जाती। ब्लॉक के लोग खुश, रोज का तमाशा, रोज की रौनक। बिना टिकट का। लड़-झगड़ कर वह सर्दी हो या गर्मी, नहाती। लड़ते-लड़ते कोई उसके बगीचे में घुस आता तो वहां पानी छिड़कती। घर के लोगों के लिए तो सख़्त कानून था ही। 'लैट्रिन' में कोई पेशाब करने भी घुसेगा तो उसे नहाना पड़ेगा। रोज काम पर से आने के बाद पहले नहाती फिर घंटे पानी छिड़कती घूमती। लोग हँसते तो उन्हें गालियां देती।

पर इतनी सफाई-पसन्द औरत ने अपनी जिन्दगी की लड़ाई में एक नया आयाम जोड़ दिया। रात-भर लड़की और दोनों लड़कों को साथ लेकर वह चारों तरफ से गोबर बीनती और सुबह चार बजे उपले पाथती। तभी सबको नहलाती और सुला देती। खुद न सोती। सोते तो उसे कभी किसी ने देखा ही नहीं था। पतले दुबले बदन की इस औरत में ग़जब का जोर था। रात-दिन की यह मेहनत भी लड़ने के उसके उत्साह को कभी कम नहीं कर पाई। पर घर

धीरे-धीरे कगार खोता रहा। सुबह-शाम पैसे मांगने वालों की भीड़ लगी रहती। घर में हर समय अकाल की स्थिति रहती। बगीचा धीरे-धीरे प्लाट हो गया। अनीता धीरे-धीरे बहुत से लोगों की प्यारी हो गई। क्वार्टर का मुकदमा चला। एक महीने के अन्दर-अन्दर 'मकान खाली करो' का हुक्म जारी हो गया, कचहरी से, और आज लेबर ऑफिस के कारिंदे आ गए हैं कचहरी के हुक्म की तामील कराने। पुलिस साथ है कि कहीं कोई गड़बड़ न हो।

इन क्वार्टरों की भी एक कहानी है। यह जमीन डी० डी० ए० की है, क्वार्टर सी० पी० डब्ल्यू० डी० ने बनाए हैं, मिल्कियत लेबर मिनिस्ट्री की है और मिनिस्ट्री की तरफ से लेबर, कमिश्नर फैक्ट्री मालिकों की जमानत पर मजदूरों को किराये पर देता है। किराया फैक्ट्री मालिक मजदूरों की तनख्वाह में से काटकर लेबर कमिश्नर को देता है। अगर किसी मजदूर की नौकरी छूट जाए तो छै महीने के अन्दर-अन्दर क्वार्टर खाली करना होता है, न करने पर उसको किराये का लगभग तीन गुना भुगतान करना पड़ता है। इन छै महीनों का किराया मजदूर को चुकता देते वक्त मालिक काट लेता है और लेबर कमिश्नर को भेज देता है।

फैक्ट्री मालिक को भी इस सारे मकड़ी जाल में थोड़ा-सा फायदा होता है। एक तो मजदूर जरा दबकर रहते हैं क्योंकि उन्हें मालूम होता है कि नौकरी गई तो क्वार्टर भी जाएगा और यह तय है कि किसी भी कम-आमदनी वाले आदमी के लिए नौकरी छूटने से भी अधिक खतरनाक स्थिति मकान छूटने की होती है। खास तौर से बड़े शहर में। बच्चों के स्कूल, चारों तरफ फैला लेन-देन, मकानों के निरन्तर बढते किराये··· फिर व्यवस्थित घर और भटनागर के घर में तो···

पुलिस पीछे और लेबर आफिस के लोग आगे-आगे। पीछे-पीछे बच्चो की भीड। एक मनोरंजक तमाशे की उम्मीद। पड़ोसी दफ्तर जाते-जाते रुक गए। सब को आशा थी कि पुलिस लाख जोर मारे भटनागरनी से क्वार्टर खाली नही करा सकती। सब की जुबान पर—देखें, क्या होता है ?

हुआ कुछ खास नहीं। भटनागर और भटनागरनी दोनो अपने अपने काम पर चले गए थे। अनीता भाग कर बुलाकर लाई। दोनों ने एक-दूसरे की तरफ देखा। फिर पुलिस की तरफ और फिर चुपचाप सामान निकाल कर बाहर रखना शुरू कर दिया। पडोसी बहुत निराश हुए। कोई रौनक़ नहीं हुई, यह क्या बात हुई ? दफ्तर से रुके लोग चले गए। बचा ही क्या है, देखने के लिए। एक रेढ़ा आएगा और सामान उठा ले जाएगा। दोनों मिया-बीवी और तीनों बच्चे पीछे-पीछे होंगे, पैदल।

चलो, एक बला टली।

पर जिनकी ज़िन्दगियों में तमाशा होता है, वह लोगों को तमाशे का रस देकर ही रहते हैं। सामान बाहर निकल गया। सामान बाहर निकला रखा रहा। क्वार्टर पर सरकारी ताला लग गया। दोनों पति-पत्नी कुछ देर खड़े सोचते रहे। दोनों छोटे बच्चों को दूह बने सामान पर बिठा दिया गया। अनीता सामान के आगे बगीचे की तरफ पैर करके बैठ गई। पति-पत्नी नये मकान की तलाश में निकल गए।

और वह सामान चार दिन तक उसी स्थिति में पड़ा रहा। बच्चे वहीं बैठे रहे। अनीता यहा-वहां से लाकर कुछ उन्हे खिलाती रही, दोनों पति-पत्नी मकान ढूँढ़ते रहे और चारों तरफ

के लोग ठहाके लगा-लगाकर हँसते रहे…

8

घटना बीत गई। पर उसका प्रभाव सुधीर के मन को पूरी तरह विकृत कर गया। चार दिन तक सुधीर जब भी अपने किवाड़ खोलता और भटनागर के बच्चों को सामान के पास बैठे देखता तो मिनट भर बाद ही वे दोनों बच्चे संदीप और समीर बन जाते और पास बैठी अनीता की जगह संज्ञा उन्हें खाना खिलाती होती। वह झटके से किवाड़ बन्द करता और घूमकर कुर्सी में धँस जाता, हांफता हुआ। रमा हँस पड़ती, कहती, "कहीं बाहर क्यों नहीं घूम आते ?"

पर घर से बाहर सुधीर सामान उठने के बाद ही जा सका। पता नहीं क्यों उसे लगता रहा कि कुछ होगा और उसके घर का सामान भी साथ ही साथ उठ कर चला जाएगा। वह जानता था कि जब तक केस कोर्ट में है, ऐसा नहीं हो सकता, पर एक सैकिण्ड के लिए भी यह भय वह अपने अन्दर से नहीं निकाल सका। पाँचवें दिन घर से बाहर निकला तो बाहर की दुनिया को पहचानना बहुत मुश्किल पड़ा। बस्ती, पटरियां पान की दुकान, पगली, गली, फिर बड़ी सड़क। उसे लगा वह किसी एकदम अनजान दुनिया से निकल कर बाहर आया है। सड़क पर आते ही वह सवाल उसके सामने जमकर खड़ा हो गया। कहां जाए ? और क्यों जाए ? एक ही सिक्के की दोनों तरफ ये दो सवाल लिखे हैं और वह सिक्का सडक पर आते ही उसके अन्दर उछलने लगता है। चित पट के खेल की तरह। कभी एक सवाल ऊपर होता है तो कभी दूसरा। पहले सिक्के की इस चित पट का सुधीर मज़ा लिया करता था पर आज सिक्के के धारदार किनारे उसके भीतर के मांस को कहीं कुतर रहे हैं और उसे सांस लेना दूभर हो रहा है। अचानक उसके सिर में एक सवाल बड़ी तेजी से घूमा है, उसके ठीक सामने, सिर से निकल कर धरती पर गिरा है और दीवाली के उत्सव में छूटने वाली चकरी की तरह घूमते-घूमते ही बड़ा होता गया है। सुधीर ने ध्यान से सवाल का मजमून पढ़ा है—यह तुम खुद से इतने अपरिचित क्यों रहते हो ? सवाल उसने कई बार पढ़ा है। मतलब समझने की कोशिश की है। कौन किससे अपरिचित रहता है ? सुधीर सुधीर से ? या नम्बर डाले जा सकते हैं ? सुधीर नम्बर एक सुधीर नम्बर दो से और नम्बर दो नम्बर तीन से… और…

क्या कर डाला सुधीर तुमने अपने साथ ? तुमने कुछ ऐसा किया जो शायद तुम्हारे स्वभाव के विपरीत था। कुछ तुम्हारी समझ में ही नहीं आया कि कौन तुम्हारे अन्दर बैठा हर समय सियार की तरह रोया करता है। उस आवाज को अनसुना करने के लिए तुमने कुछ ऐसे कारनामे करने शुरू किए जो तुम्हारे स्वभाव के और भी विरुद्ध थे। तुम्हारा 'लघु-शरीर' हर समय तुम्हारे सिर पर सवार रहने लगा। शरीर को तुम नमक की तरह घुलाने लगे। शरीर को घुलाने के लिए तुमने हर अच्छे-बुरे तरीके से यहां-वहां से पैसा खींचा। अन्दर रोते सियार की आवाज और तेज़ हो गई। पर और इतने सियार चारों तरफ इकट्ठे होकर रोने लगे कि उसकी आवाज अलग से पहचानना मुश्किल हो गया। फिर एक दिन प्रतिभा दीखी, मिली, बोली और उसने एक ही इशारे में बहुत से रोते सियारों को चुप करा दिया और अब पहले सियार की आवाज़ कितनी साफ, कितनी ऊंची और कितनी कर्ण-कठोर हो उठी है… शरीर कैसा सुन्न रहने लगा है…

कितने दिन हो गए रमा के साथ सोए··· उसका शरीर एकदम अपरिचित-सा हो उठा है··· लगने लगा है, कभी कोई स्त्री-शरीर देखा ही नहीं··· कभी-कभी देखती है रमा अनबूझ दृष्टि से··· पर वह क्या करे ?··· प्यास उसे न लगती हो ऐसी बात नहीं, पर उठकर पानी पीने का सारा उत्साह ही खत्म हो गया है। कभी-कभी शरीर में ऐसी जलन उठती है जैसे सारा शरीर किसी तेज़ लपट से झुलस गया हो। तब रमा के होते हुए वह अपना काम तमाम खुद कर लेता है, और सो जाता है··· उस रात उसे बहुत वीभत्स, डरावने सपने दीखते हैं··· नौकरी उसने छोड़ दी है··· पैसों की आमद का कोई जरिया नहीं··· लेखक बनने की लालसा को तो बहुत पहले मर जाना चाहिए था, पर लिखने बैठता है तो सिर में बस धुंध होती है··· पहले सियार की आवाज को दबाने के लिए पूरा परिवार बना लिया और अब परिवार का हर सदस्य सियार की तरह बोलता दिखाई देता है। और सुधीर नम्बर एक का गला घोंटने की प्रक्रिया में पैदा हुए दूसरे सुधीरों की संख्या बढ़ती जा रही है··· असली सुधीर और प्रतिभा का सुधीर एक तरफ और अन्य अनेक सुधीर··· लड़ाई जारी है··· देखो, प्रतिभा जीतती है कि दुनिया···

अपने जिन्दा रहते प्रतिभा को हारने दोगे ?

नहीं, प्रतिभा जीतेगी···

पर, यह शरीर, इसको जिन्दा रखने के साधन··· और वह शरीर को झुलसा देने वाली लपटें···

कुछ भी हो, जैसे भी हो, प्रतिभा को जीतना ही चाहिए··· नही तो आदमी आदमी से सहानुभूति रखना छोड देगा···

हां, प्रतिभा को जीतना चाहिए···

सुधीर सोचता खडा था कि बस आ गई। सब भाग-दौड़कर चढ़ गए। बस खिसकने लगी तो अनमने मन से सुधीर भी चढ गया···

अजीब मौसम है आज। पूरे आकाश में धुंध जैसे बादल घिरे हैं। कैसे होता है कि मौसम का धुंध दिमाग़ की पोरों मे फैल जाता है और पूरे शरीर को, पूरी चेतना को कुतरने लगता है। सुधीर इस समय बहुत कोशिश कर रहा है कि यह सोचे कि उसकी इस स्थिति का कारण क्या है। वह अपने सिर को कुरेद रहा है। धागे का एक सिरा मिल जाए जिसके सहारे वह कारण तक पहुँच सके। पर धागे ही धागे हैं, सिरा कोई नहीं।··· प्रतिभा को देखते ही धागों पर लिपटी मैल तो साफ हो जाती है पर सिरा उसे तब भी नहीं मिलता। बचपन की बातें उसे याद हैं। पागल-सा लड़का था वह। गरीब मॉं-बाप। बाप एकदम सपनों में जीने वाला। मॉं बहुत भावुक, बहुत कोमल हृदय की, पर कुरूप। ग्रामीण कुरूपता। उबकाई पैदा करने वाली एक बड़ी बहिन वह बहुत छोटा था कि उसकी शादी हो गई थी। उसके बाद से हमेशा ग़मों में लिपटी रही। पति की क्रूरता ने उसका जोड़-जोड़ ढीला कर दिया था। आत्महत्या शब्द से पहला परिचय इस बहिन के माध्यम से ही हुआ था। एक दिन वहां पहुंची जहां पिता काम करते थे। वह कहीं गए थे। सन्देश छोड़ गई कि वह जा रही है, हमेशा के लिए।··· पिता आए। एक पल सोचा और स्टेशन की तरफ भागे···लड़की मिल गई। रेल का इन्तजार करती हुई। घर आई। सुधीर ने समझा तो कुछ नहीं, पर उससे लिपटकर बहुत रोया। पिता को किसी ने दूसरी दफ़ा रोते देखा। पहली दफ़ा वह तब रोये थे जब लड़की की विदा हो रही थी। पिता, गुमसुम प्राणी। सुधीर को याद नहीं, कभी उसकी पिता से कोई बात हुई हो। पिता ने 1942 तक देश की स्वतन्त्रता की

लड़ाई में आत्महोम के अन्दाज़ में हिस्सा लिया। अगस्त क्रान्ति में अंग्रेज़ी सरकार ने सारा कारोबार लील लिया। पिता ने शहर बदल लिया। पहले बड़ी लड़ाई में डूबे रहते थे, बोलने की फुरसत ही नहीं थी अब छोटी लड़ाई इतनी भारी पड़ रही थी कि बोलने को मन ही न करता।...कभी-कभी सुधीर का मन करता कि उनसे बात करे...पर पिता होते ही कहां थे, सिर्फ उनका आतंक घर में छाया रहता था...

एक भाई भी था सुधीर का। था नहीं है। दूसरे शहर में रहता है।

हां, था नहीं, है...

बस भागी जा रही है।

बाहर की धुंध और गहरा गई है।

सुधीर खिड़की के पास वाली सीट पर बैठा है। बाहर देख रहा है। क्या भागमभाग है। पहले साइकिल आगे, फिर कार आगे, फिर ट्रक आगे और आदमी मुसल्सल पीछे छूटता हुआ।...गाड़ियों की बात छोड़ो, एक आदमी दूसरे आदमी से पीछे छूटता हुआ। सुधीर ने सोचा और हँस पड़ा। बचपन में हमेशा वह सबसे पीछे खड़े रहना पसन्द करता। कभी घर में सबके फोटो खिचते तो वह भागकर कहीं छिप जाता। लाइन में चलना उसके लिए हमेशा बड़ा कष्ट कर काम होता। उसके क़दम लड़खड़ा जाते हैं कोई न देखे इसलिए हर पी० टी० में वह हमेशा लाइन मे सबसे पीछे रहने की कोशिश करता। वैसे संकोची वह नहीं था। स्कूल के दिनों में हर अध्यापक के यहां उसका आवागमन था। दोस्तों का उसका इतना बडा दायरा था कि घरवालों को देखकर डर लगता। स्कूल की ज़िन्दगी के बाद भी उसके दोस्तों का दायरा बढ़ा ही, घटा नहीं। हर काम वह बढ़कर करता पर उसी काम के लिए यदि कोई उसकी तारीफ़ करने लगता तो वह इतना संकुचित हो उठता कि जैसे उठकर भाग जाएगा।

भागने की वैसे उसे आदत रही है। बचपन से लेकर आज तक कितनी ही दफ़ा वह घर से भागा और वापिस लाया गया या खुद आया। पर जब से शादी हुई है, एक ही दफ़ा, पांच-छै दिन के लिए गायब हुआ था और फिर खुद ही आ गया था। रमा ने उन छ. दिनों में, उसने ही बहुत दिनों बाद बताया था, कई बार आत्महत्या करने की सोची। पर खुद ही वह हँसकर बताती कि जैसे ही वह संज्ञा की तरफ देखती यह एक रहस्यमय-सी हँसी हँस देती। तीन-चार साल की थी संज्ञा उन दिनों। रमा का साफ मत था, संज्ञा ने उसे मरने से बचा लिया। संदीप-समीर तब नहीं थे। सुधीर ने ही बाद में पूछा था, "आत्महत्या क्यों करना चाहती थी?"

रमा ने हँसकर कहा था, "तुम्हारी वजह से नहीं। तुम तो जैसे घर में कभी रहे ही नहीं। पर मैं सोचती, तुम नहीं आए तो संज्ञा का क्या होगा? मैं उसे पाल-पोसकर बड़ी कर सकूंगी? कोई भी हुनर मेरे पास था नहीं। मजदूरी करने या खुद को बेचने का संस्कार नहीं था और सबसे अधिक यह कि पता नहीं तुम कहां होगे। तुम सुनकर थोड़ा-सा फूल सकते हो कि अपने शरीर का जो उच्छिष्ट मुझे देते रहे हो उस पर मेरा मोह है, और जब तक जिन्दा हूं, रहेगा..."

"तुम मुझसे बहुत प्रेम करती हो रमा?"

रमा हँस पड़ी थी, कहा करती।" फिर कुछ देर रुककर कहा था, "तुम्हें एक बात बताऊं। हम जो रात को करते हैं, लुक-छिपकर, उसका विरह प्रेम के विरह से ज्यादा धार वाला होता है। कभी-कभी उसको हम प्रेम का विरह मान लेते हैं। पर..."

वह बहुत देर तक हँसती रही थी। फिर चुप होकर बहुत गम्भीर होकर कहा था, "यदि

मैं तुमसे प्रेम करती होती, तो तुम्हें ठीक से जानने के बाद एक मिनट भी तुम्हारे पास न रहती।"

"क्या मतलब ?"

"नहीं समझे ?"

"नहीं।"

"नहीं ही समझे हो खुद, तो मेरे समझाने से क्या समझोगे ?"

"फिर भी ?"

देखो, लेखक महोदय, बात यों है शायद कि प्रेम करने या पाने के बाद आदमी शेर हो जाता है, अपने जंगल का राजा, और तुमने सुना ही होगा कि शेर भूखा मर जाता है, घास नहीं छूता··· तुम नही मानते कि प्रेम के अनुभव के बाद बाकी की तमाम दुनिया घास-फूँस हो जाती है···

"तुम्हारे ख़याल से प्रेम इतना संकीर्ण होता है···"

"हॉं, सकीर्ण तो होता ही है, 'प्रेम गली अति सॉंकरी, या में दो न समाएं··· '"

"तो ···"

रमा के चेहरे पर उद्वेग उभर रहा था, उसने जल्दी से बात काट कर कहा था, "क्यों, तुम नही जानते मुझे छूते हुए तुम्हारे हाथ ठंडे क्यों हो जाते हैं ?" तुम, काम पूरा करने के लिए जबर्दस्ती खुद मे गर्मी नहीं भरते···?"

"पर···"

"और यही चीज मुझे तुमसे बॉंधे हुए है··· तुम कहीं ईमानदारी की उम्मीद की जा सकती है।"

बहुत पुरानी बात है। संज्ञा तब मुश्किल से पॉंच की रही होगी। उन दिनों रमा के तेवर कुछ और ही होते। बात को सीधे और चुभते ढँग से कहना उसे आता था। अब तो वह बुझ चुकी है। संज्ञा जब साफ सुथरी बातें करती है तो बस मुग्ध भाव से उसकी तरफ देखती रहती है। एक दिन बेहद आवेश में उसने कहा था ··लडकी एकदम मुझ पर गई है। उन दिनों की रमा की मुस्कराहट कितनी मनोहारी होती थी। अब तो ·

उन्ही दिनों एक दिन सुधीर ने कहा था, "तुम आज भी किसी से सम्बन्ध बनाओ तो मुझे कोई एतराज नहीं हैं।"

रमा हॅंस दी थी, कहा था, "अर्जी सीधी लिखो ना, लेखक महोदय, हेरा-फेरी क्यों करते हो ?"

"हेरा-फेरी क्या है इसमें ?"

"वह, क्या कहते हैं, दीवाली को—'आपको दीवाली की बधाई' और क़दम-से-क़दम मिलाकर वाक्य आता है—'आपको भी'। यही बात है ना।"

सुधीर झुँझला उठा था। बोला था, "तुम तो हर बात का ग़लत मानी लेती हो।"

रमा जोर से हँस पड़ी थी, हँसते-हँसते कहा था, "चोरी पकड़ी गई, लेखक महोदय की। मुझे इजाज़त दे रहे हैं। भई, व्यक्ति की स्वतंत्रता में विश्वास करते हो तो उंगली खड़ी करके रास्ता क्यों दिखा रहे हो। सुख की होड़ में हो तो लूटो। मेरी मर्ज़ी होगी···"

"सुख की नहीं प्रेम की बात कर रहा हूं।"

"यह प्रेम क्या चीज होती है ? मुझे मालूम है, औरतें इस शब्द से चिढ़ती हैं।"

"तुम्हारा दिमाग़ खराब है।"

"अरे नहीं जी, दिमाग़ खराब होने की कोई बात ही नहीं है। जो पौधा बिना बीज के पैदा हो, उसमें हम औरतों की कोई रुचि नहीं होता।"

"तुम क्या सारी औरतों की नुमाइन्दा हो।"

"मैं उन्हें जानती हूं···ठीक कह रही हूं। इसीलिए औरतें ज्यादा शक्की होती हैं, अपनी बिरादरी को जानती हैं।"

क्यों आ रही हैं ये सब बातें याद उसे? रमा का पुराना स्वरूप! संज्ञा का वह बाल-रूप! उसके वह छोटे-छोटे खेल! अदना, पर कितने रसभरे! वह खाना खाने बैठता, तो उसके सामने, पर जरा पीछे हटकर बैठ जाती। हर आधा मिनट के बाद थाली अपनी तरफ घसीट लेती और उसमें दोनों मुट्ठियाँ टिकाकर झुक जाती। सुधीर के लिए थाली छुड़ाना मुश्किल हो जाता। थाली छुड़ा ली जाती तो रोती। तब कोई डेढ़ साल की थी···फिर छः साल कि हुई··· आँखें खोल-खोल कर दुनिया देखने लगी···बातें सुनने लगी···माचिस जलाती और तिल्ली को यहाँ-वहाँ फेंकती···मजा लेती···और एक दिन एक भयानक खेल खेल डाला···तिल्ली से एक कागज़ जलाया और जला हुआ कागज़ सर्दियों के कपड़ों में फेंक दिया···कपड़े जलने लगे तो तालियाँ पीट-पीट कर हँसने लगी··· रमा कहीं बाहर थी···घर में धुआँ···

सुधीर को याद है वे सारी सर्दियाँ उन तीनों ने एक ही पलंग पर एक ही रज़ाई में बिताई थीं···

इस समय वह कहाँ जा रहा है?

राममनोहर की तरफ चलते हैं···

वहाँ जाकर क्या होगा?

कुछ काम की तलाश करें। ऐसे कितने दिन चलेगा।

नहीं। मुझे काम नहीं करना। क्या होता है काम करके? आर्थिक समस्या तो वहीं की वहीं खड़ी रहती है। राममनोहर का कितना काम किया? पर तब भी हर समय भिखारी ही बने रहते थे। कभी ऐसा नहीं हुआ कि···

तो कहां जायें?

यह बस तो थेड़ी देर में उतार देगी···

प्रतिभा के यहाँ चलें?

पर···

फोन पर पता चला प्रतिभा घर में नहीं है···अच्छा ही हुआ···इस समय उसके लिए कोई भाव नहीं है मन में···मिलती है तो अजीब-सा लगता है···दोपहर हो गई है चलें, कुछ देर पार्क में चल कर लेटें···शादी से पहले के कितने ही दिन पार्कों में ही बीता करते थे···कितनी ही रातें भी···अलग-अलग शहरों में···वह कौन से शहर की बात है ··सर्दियों की रात···एक पार्क में सोया हुआ था वह···सर्दी में सिकुड़ा हुआ···एक निहायत पतला-सा कम्बल था उसके पास···उसी में उसने अपने शरीर की गठरी बाँध रखी थी···सर्दी फिर भी बहुत लग रही थी···एक सिपाही आया था···उसे जगाया था उसने, हाथ के डंडे से कुरेदकर···जाग तो वह रहा ही था···उठकर बैठ गया···सिपाही ने पूछा—यहाँ कोई जगह है सोने की, तुझे पता नहीं कि यहाँ

सोना मना है।...वह चुप रहा था...सिपाही ने फिर कहा था—चल भाग यहाँ से...वह उठकर खड़ा हो गया था...चुपचाप...पर पता नहीं सिपाही को क्या सूझी थी कि उसने सुधीर के बदन पर लिपटा कम्बल उतार लिया था और यह कहता हुआ वहाँ से चला गया था कि—न कम्बल होगा, न यहाँ सोयेगा, साला, कानून तोड़ना है...

आज भी याद करके उसे हँसी आ गई...आज पार्क में सोया जा सकता है। न कम्बल है, न रात है, न उतनी सर्दी है...बदन का कम्बल न हो तो क़ानून तोड़ने की सज़ा भी कोई क्या देगा...

पार्क में घुसकर उसने एक अच्छी-सी जगह टटोली और लेट गया... लेटते ही उसे नींद आ गई...सोते-सोते उसने खुद से कहा, कितनी बढ़िया नींद आती है, पार्क में....'

सुधीर की आंख खुली तो शाम होने वाली थी। पार्क में गहमा-गहमी बढ़ गई थी। चारों तरफ बच्चे खेल रहे थे। खेलते बच्चों के बीच सोया एक आदमी जरूर मनहूस लग रहा होगा...उसने सोचा। उनके खेल में बाधा पड रही होगी, उसके होने से। वह उठा और पार्क के गेट पर जाकर खड़ा हो गया..

उसका दिमाग़ इस समय बिलकुल खाली है...

...यह कौन-सी जगह है, जहां वह खड़ा है...

...कौन-सा शहर...

सोने से पहले का कुछ उसे याद नहीं है...

इस जगह वह पहले कभी नहीं आया...

अब कहाँ जाना है...

कहाँ जाये ?

जाना तो कहीं-न-कहीं पडेगा ही...

कुछ दूर चलकर सुधीर एक बस-स्टाप पर खड़ा हो गया है...एक बस आई है...बिना नम्बर देखे वह उस पर चढ़ गया है...

बस में भीड़ बहुत है...सुधीर ढूँढ़ रहा है कौना... सबसे पीछे...पर उस कोने में कोई खड़ा है...उसकी तरफ देख रहा है...सुधीर ने भी देखा है... कैसी नजर है...उसे झुरझुरी-सी आई है... वह आगे खिसक जाना चाहता है...पर भीड़...वह फँसा खड़ा है...

नजरें उस पर टिकी हैं...वह आगे खिसकना चाहता है...पर भीड़ के शिकंजे में हिलने-डुलने की कोई गुंजाइश नहीं है...वह खिड़की से बाहर देख रहा है...कुछ ही दूर बस के साथ-साथ एक रेल भाग रही है...कभी रेल आगे तो कभी बस...सुधीर सोच रहा है...बस से कूद पड़े...रेल पकड़ ले...

बस ने उसे उगल दिया और रेल गायब हो गई...

वह एक तरफ चल दिया है...पैदल...सामने दीखते जंगल की तरफ...शाम का वक्त है...जंगल में घुसते-घुसते रात हो जायेगी...

जंगल में घुसते ही वह जंगल का हिस्सा हो जायेगा...अलग से आदमी नहीं रहेगा...

सुधीर चल रहा है...सुधीर भाग रहा है...सब पीछे छूटा जा रहा है...नहीं, सब नहीं...जो

उसकी चेतना के अंश नहीं थे, पीछे छूट गये हैं···पर उसको हमेशा सजग रखने वाला···उसमें लगा घुन···उसे लग रहा है, उसी की घटती-बढ़ती रफ्तार से कोई उसके पीछे भाग रहा है···वह दीखता नहीं है···पर है जरूर···

कितना अघोरी अकेलापन है···

सब छूट गये हैं···

क्या यह सच है कि प्रतिभा अपने नाखूनों की चिमटी से इस कनखजूरे को पकड़कर उस में से बाहर फेंक देना चाहती थी···होगा सच···रुककर सोचने की सुविधा नहीं है···वह पास आता जा रहा है···तेज़···भागना है जंगल की तरफ···

हर शहर एक दायरा होता है···भागते-भागते सुधीर दायरे से बाहर निकल आया है···और तभी किसी ने जोर से उसे आवाज़ दी है···

वह ठिठक गया है···अब बचने की कोशिश बेकार है···उसे डर लग रहा है···वह सुन्न है···पर उसे पता है वह दायरे से बाहर आ गया है और अब किसी तक उसकी आवाज़ नहीं पहुंच पाएगी···आवाज़ वह देगा भी क्यों···मदद उसे नहीं चाहिए···

तभी पीछे के आदमी ने पास आकर उसकी तरफ दोस्ती का हाथ बढ़ा दिया है···

उसने पाया है, उसका हाथ उठ रहा है···मिलाने के लिए···

···ओह ! कैसा बर्फ़ीला हाथ है···जैसे किसी मुद्दत से मरे पड़े आदमी का हाथ हो···

